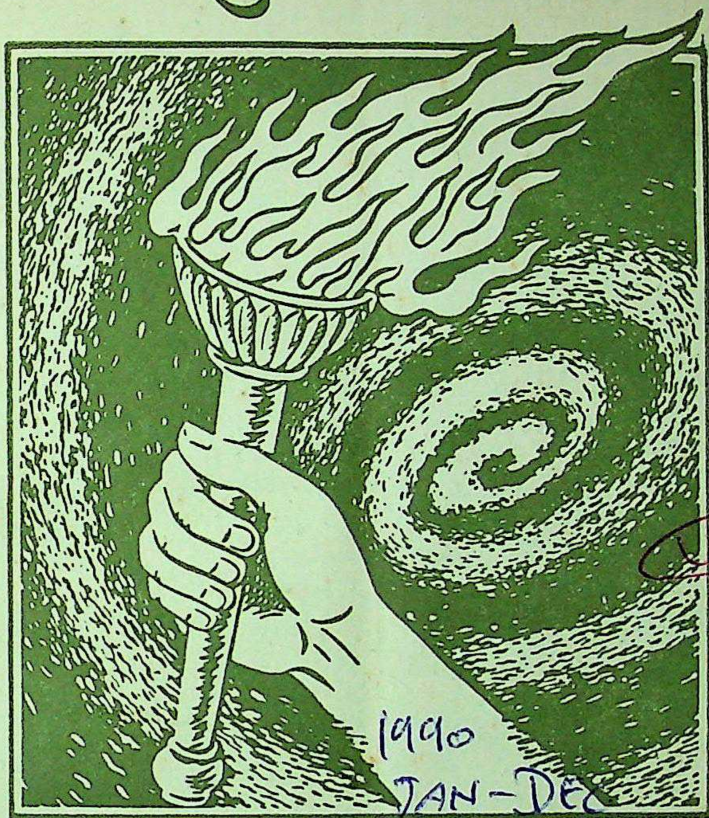
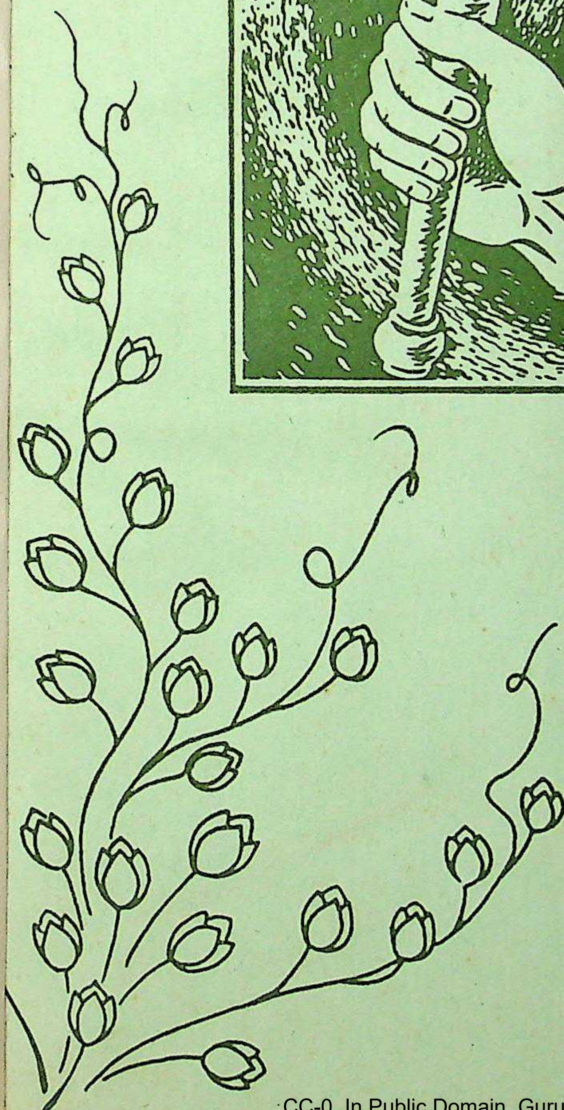
PURODHA 1990 Jan-Dec

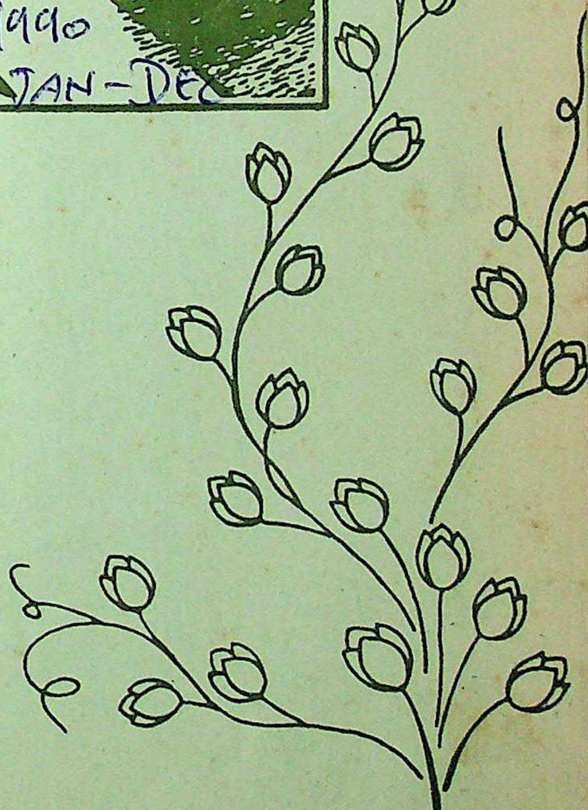


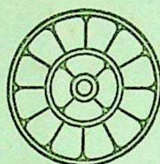
जनवरी १९९०

पुरोधा









All sincere prayers are granted, but it may take some time to realise materially.

With my blessings

M.

*उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत*

पुरोधा जनवरी १९९० **वर्ष २८, अंक ४, पूर्णांक २७८**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

सम्पर्क-सूत्र—सम्पादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

सम्पादक : रवीन्द्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२

प्रार्थना और ध्यान

२६ नवम्बर १९१२

मैं हर क्षण तेरी ओर कृतज्ञता-प्रकाशन के गीत कैसे न गाऊं ! हर जगह और मेरे चारों ओर हर चीज में तू अपने-आपको प्रकट करता है और मेरे अंदर तेरी इच्छा और तेरी चेतना अपने-आपको अधिकाधिक स्पष्टता से प्रकट करती हैं, यहांतक कि मैं लगभग पूरी तरह ''मैं'' और ''मेरे'' का स्थूल भ्रम खो बैठती हूं। अगर उस महान् प्रकाश में, जो तुझे अभिव्यक्त करता है, कुछ छायाएं और कुछ त्रुटियां दिखायी दें, तो वे तेरे देदीप्यमान प्रेम की अद्भुत दीप्ति को लम्बे समय तक कैसे सह सकेंगी ? तू जिस तरह से उस सत्ता को गढ़ रहा है जो ''मैं'' थी; आज सवेरे उसकी जो चेतना मुझे प्राप्त हुई, मोटे तौरपर उसे यूं कहा जा सकता है कि वह एक बड़ा हीरा था जिसे नियमित ज्यामिति के आकारों में तराशा गया था, जो संसक्ति, दृढ़ता, शुद्ध स्वच्छता, पारदर्शकता की दृष्टि से तो हीरा था लेकिन अपनी तीव्र, सदा प्रगतिशील जीवन की दृष्टि से तेजस्वी, कान्तिमय ज्वाला है। लेकिन वह था उससे भी कुछ अधिक, उस सबसे अधिक अच्छा था; बाहरी और भीतरी प्रायः सभी संवेदनों का अतिक्रमण हो गया और जब मैं बाहरी जगत् के साथ सचेतन संपर्क की ओर लौटी तो मेरे मन में केवल वही एक छवि बनी रही।

तू ही अनुभूति को उर्वर, तू ही जीवन को प्रगतिशील बनाता है, तू ही प्रकाश के आगे अंधकार को निमिषमात्र में विलीन हो जाने के लिये बाधित करता है, तू ही प्रेम को उसकी सारी शक्ति प्रदान करता है। तू ही हर जगह जड़ पदार्थ को इस तीव्र और अद्भुत अभीप्सा में अनंतता की इस लोकोत्तर तृष्णा में जगाता है।

''तू'' ही सब जगह और सदा है; सारतत्त्व में हो या अभिव्यक्ति में ''तेरे'' सिवा कुछ भी नहीं।

हे छाया और भ्रम-भ्रांति, घुल जाओ ! हे दुःख-कष्ट, मुरझाते हुए अदृश्य हो जाओ ! हे परम प्रभो, क्या तुम नहीं हो ?

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा फरवरी १९९० **वर्ष २८, अंक ५, पूर्णांक २७९**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरूद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२

प्रार्थना और ध्यान

२८ नवंबर १९१२

क्या बाहरी जीवन, प्रतिदिन और प्रतिक्षण की क्रियाशीलता हमारे ध्यान और निदिध्यासन के घंटों की अनिवार्य पूरक नहीं है ? और क्या हर एक को दिये गये समय का अनुपात उस अनुपात का ठीक चित्र नहीं है जो तैयारी के लिये किये गये प्रयास और उपलब्धि के बीच है ? क्योंकि ध्यान, निदिध्यासन और ऐक्य प्राप्त परिणाम हैं—वह फूल हैं जो खिला है और दैनिक क्रिया-कलाप वह निहाई है जिसपर सभी तत्त्वों को शुद्ध और परिष्कृत होने के लिये बार-बार गुजरना होता है, निदिध्यासन से मिलनेवाले आलोक के लिये उन्हें नमनीय और परिपक्व बनाना होता है, इससे पहले कि बाह्य क्रिया-कलाप पूर्ण विकास के लिये अनावश्यक बने इन सब तत्त्वों को एक के बाद एक करके कुठाली में से गुजरना होगा। तब यह क्रियाशीलता तुझे अभिव्यक्त करने के साधन में बदल जायेगी ताकि चेतना के अन्य केंद्रों को भट्टी और प्रदीप्ति के एक समान दोहरे कार्य के लिये जगाया जा सके। इसीलिये घमंड और आत्मसंतोष सबसे बुरी बाधाएं हैं। हमें बड़े विनीत भाव से अगणित तत्त्वों में से कुछ को गूंधने और शुद्ध बनाने के छोटे-से-छोटे अवसर का लाभ उठाना चाहिये ताकि उनमें से कुछ को हम सुनम्य और निर्वैयक्तिक बना सकें, उन्हें अपने-आपको भूलना, आत्म-त्याग, भक्ति, कोमलता और सौम्यता सिखा सकें; और जब सत्ता के ये सब तरीके अभ्यासगत हो जाएं तो मनन-चिंतन में भाग लेने के लिये और तेरे साथ परम एकाग्रता में एक होने के लिये वे तैयार होते हैं। इसलिये मुझे लगता है कि सबसे अच्छों के लिये भी काम लंबा और धीमा होगा और असाधारण परिवर्तन सर्वांगीण नहीं हो सकते। वे सत्ता के दिग्विन्यास को बदल देते हैं, वे उसे निश्चित रूप से सीधे रास्ते पर ले आते हैं परंतु सचमुच लक्ष्य पाने के लिये कोई भी व्यक्ति हर क्षण, हर तरह की अनगिनत अनुभूतियों से नहीं बच सकता।

. . . हे परमोच्च प्रभो, जो मेरी सत्ता में और हर चीज में चमकता है, वर दे कि तेरा प्रकाश अभिव्यक्त हो और सबके लिये तेरी शांति का राज्य आये।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा मार्च १९९० **वर्ष २८, अंक ५, पूर्णांक २७९**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा... में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२

प्रार्थना और ध्यान

२ दिसंबर १९१२

जबतक सत्ता का एक भी तत्त्व, विचार की एक भी लहर बाहरी प्रभावों के आधीन है, पूरी तरह तेरे आधीन नहीं है—तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि सच्चा ऐक्य सिद्ध हो गया है, अभीतक भयंकर मिश्रण है जिसमें कोई व्यवस्था या प्रकाश नहीं है—क्योंकि वह तत्त्व, वह लहर एक जगत् है, अव्यवस्था और अंधकार का जगत्; उसी तरह जैसे जड़-भौतिक जगत् के अंदर समस्त पृथ्वी, जैसे समस्त विश्व के अंदर जड़-भौतिक जगत्।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अप्रैल १९९० **वर्ष २८, अंक ७, पूर्णांक २८१**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

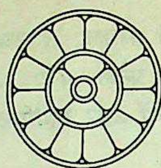
	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरूद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

३ दिसंबर १९१२

पिछली रात मुझे तेरे पथ-प्रदर्शन के प्रति विश्वासपूर्ण समर्पण की प्रभावशीलता का अनुभव हुआ; जब यह जरूरी हो कि कोई चीज जानी जाये तो हम उसे जान लेते हैं और मन तेरे प्रकाश के प्रति जितना अधिक निश्चेष्ट हो, अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक स्पष्ट और अधिक पर्याप्त होती है।

कल तू जो कुछ मेरे अंदर बोला था, उसे मैंने सुना, मैंने चाहा कि तूने जो कुछ कहा मैं उस सारे को लिख लूं ताकि तेरा दिया हुआ सूत्र अपनी यथार्थता में गुम न हो जाये—क्योंकि अब मैं उस समय जो कहा गया था उसे दोहरा न सकूंगी। फिर मैंने सोचा कि सुरक्षित रखने का यह विचार तेरे प्रति विश्वास का अपमानजनक अभाव है, क्योंकि तू मुझे वह सब बना सकता है जो कुछ होने की मुझे जरूरत है; और उतनी मात्रा में जितनी में मेरी मनोवृत्ति तुझे मेरे ऊपर और मेरे अंदर काम करने दे, तेरी सर्वशक्तिमत्ता की कोई सीमा नहीं। यह जानना कि हर क्षण जो होना चाहिये वह निश्चित रूप से, यथा-संभव पूर्णता के साथ उन सबके लिये होता है जो तुझे हर चीज में और हर जगह देखना जानते हैं! अब और कोई भय नहीं, और कोई परेशानी नहीं, और कोई तीव्र व्यथा नहीं; पूर्ण प्रसन्नता के सिवा कुछ नहीं, पूर्ण विश्वास, परम निष्कंप शांति।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा मई १९९० — **वर्ष २८, अंक ८, पूर्णांक २८२**

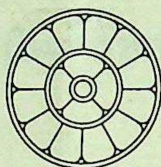
विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र — संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी — ६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी — ६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी — ६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

५ दिसंबर १९१२

शाश्वत शांति और नीरवता में प्रकट होते हैं, किसी चीज से तुम अपने-आपको क्षुब्ध न होने दो तो शाश्वत अभिव्यक्त होंगे। सभी के आगे पूर्ण समानता रखो तो शाश्वत उपस्थित होंगे . . . हां, हमें बहुत अधिक तीव्रता न रखनी चाहिये, तुझे खोजने का बहुत अधिक प्रयास न करना चाहिये; प्रयास और तीव्रता तेरे सामने पर्दा बन जाते हैं। हमें तुझे देखने की इच्छा न करनी चाहिये क्योंकि वह एक मानसिक हलचल है जो तेरी शाश्वत उपस्थिति को धुंधला बना देती है; संपूर्ण शांति, निरभ्रता और समानता में सब कुछ तू होता है, —जैसे तू ही सब कुछ है और इस पूर्णतया शुद्ध और निश्चल वातावरण में जरा-सा स्पदंन भी तेरी अभिव्यक्ति में बाधक होता है। कोई जल्दबाजी नहीं, कोई बेचैनी नहीं, कोई तनाव नहीं; तू, तेरे सिवाय कुछ भी नहीं, बिना विश्लेषण के या विषय-निष्ठता के, और तू बिना किसी संभव संदेह के उपस्थित होता है क्योंकि सब कुछ पवित्र शांति और पावन नीरवता बन जाता है।

और यह संसार के सभी ध्यानों से श्रेष्ठ होता है।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जून १९९० **वर्ष २८, अंक ९, पूर्णांक २८३**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

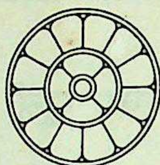
	पुरोधा	*अग्निशिखा*	*दोनों मिलाकर*
आजीवन सदस्यता शुल्क	*२७५*	*२२५*	*५००*
वार्षिक शुल्क	*१४*	*१०*	*२४*

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

७ दिसम्बर १९१२

नीरवता में जलनेवाली ज्वाला की तरह, ऐसी सुगंध की तरह जो कांपे बिना सीधी ऊपर को उठती है, मेरा प्रेम उस बालक की तरह तेरी ओर जाता है जो तर्क नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, मैं अपने-आपको तेरे सुपुर्द करती हूं ताकि तेरी इच्छा पूर्ण हो, कि तेरा प्रकाश अभिव्यक्त हो, तेरी शांति विकीरित हो, तेरा प्रेम सारे जगत् को ढक ले। जब तू चाहेगा मैं तेरे अंदर होऊंगी, तू होऊंगी और कोई भेद-भाव न रहेगा। मैं किसी भी तरह की अधीरता के बिना उस धन्य घड़ी की प्रतीक्षा करती हूं, अपने-आपको अबाध गति से उसकी ओर बहने देती हूं जैसे शांत सरिता असीम सागर की ओर बहती है।

तेरी शांति मेरे अंदर है और उस शांति में मैं शाश्वत की शांति के साथ केवल तुझे हर चीज में उपस्थित देखती हूं।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जुलाई १९९० **वर्ष २८, अंक १०, पूर्णांक २८४**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

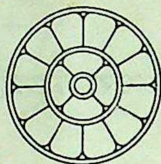
	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

१० दिसंबर १९१२

हे परम प्रभो, शाश्वत गुरु, मुझे फिर से यह अवसर प्रदान किया गया है कि तेरे पथ-प्रदर्शन में पूर्ण विश्वास की अद्वितीय प्रभावकारिता को जांच सकूं। कल तेरा प्रकाश मेरे मुख द्वारा अभिव्यक्त हुआ और उसे मेरे अंदर कोई प्रतिरोध न मिला, यंत्र इच्छुक और वश्य था और उसकी धार पैनी थी।

हर चीज में और हर सत्ता में तू ही कर्ता है और जो तेरे इतने निकट हो कि सब क्रियाओं में बिना अपवाद के तुझे देख सके, वह जान जायेगा कि हर क्रिया को आशीर्वाद में कैसे बदला जाये।

एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है सदा तेरे अंदर निवास करना, हमेशा, सदा-सर्वदा तेरे अंदर निवास करना, इंद्रियों के भ्रमों और धोखों के परे, काम से पीछे हटकर उससे इंकार करके या उसे अस्वीकार करके नहीं—क्योंकि यह तो व्यर्थ का विषैला संघर्ष है—बल्कि जो भी काम क्यों न हो, उसमें सदा-सर्वदा तुझे ही जीना; तब भ्रम तितर-बितर हो जाता है, इंद्रियों के मिथ्यात्व लुप्त हो जाते हैं, कार्य-कारण के बंधन कट जाते हैं; सब कुछ तेरी शाश्वत उपस्थिति की महिमा की अभिव्यक्ति में रूपांतरित हो गया है।

भगवान् करे ऐसा ही हो।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अगस्त १९९० — वर्ष २८, अंक ११, पूर्णांक २८५

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

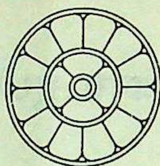
	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

११ दिसंबर १९१२

मैं प्रतीक्षा करती हूं, बिना उतावली के, बिना बेचैनी के, मैं एक और पर्दा फटने की और तेरे साथ अधिक पूर्ण ऐक्य की प्रतीक्षा करती हूं। मैं जानती हूं कि पर्दा छोटी-मोटी अपूर्णताओं, अनगिनत आसक्तियों की भरपूर राशि से बना है . . .। ये सब कैसे अदृश्य होंगीं ? धीरे-धीरे, छोटे-छोटे अनगिनत प्रयासों के परिणाम-स्वरूप, एक क्षण के लिये भी न चूकनेवाली जागरूकता के फल-स्वरूप या अचानक तेरे "सर्वशक्तिमान् प्रेम" के महान् प्रकाश द्वारा ? मैं नहीं जानती, मैं अपने-आपसे यह प्रश्न भी नहीं करती; मैं प्रतीक्षा करती हूं, जितनी अच्छी तरह हो सके निगरानी रखती हूं, इस विश्वास के साथ कि तेरी इच्छा के सिवा और किसीका अस्तित्व ही नहीं है, कि केवल तू ही कर्ता है और मैं यंत्र हूं और जब यंत्र अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये तैयार हो जायेगा तो बिल्कुल स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति होगी।

अब भी पर्दे के पीछे से प्रसन्नता की शब्दरहित स्वर-संगति सुनायी देती है जो तेरी भव्य उपस्थिति को प्रकट करती है।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा सितंबर १९९० **वर्ष २८, अंक १२, पूर्णांक २८६**

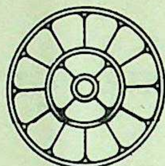
विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरूद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

५ फरवरी १९१३

मेरे हृदय की निश्चलता में तेरी आवाज सुरीले राग की तरह सुनायी देती है और मेरे मस्तिष्क में ऐसे शब्दों में अनूदित होती है जो अपर्याप्त होते हुए भी तुझसे भरपूर हैं। और ये शब्द पृथ्वी को संबोधित करते हुए उससे कहते हैं :—बेचारी दुःखी पृथ्वी, याद रख कि मैं तेरे अंदर उपस्थित हूं और आशा न छोड़। हर प्रयास, हर दुःख, हर खुशी, हर पीड़ा, तेरे हृदय की प्रत्येक पुकार, तेरी अंतरात्मा की हर अभीप्सा, तेरी ऋतुओं का हर पुनर्नवीकरण, सबके सब, बिना अपवाद के, जो तुझे दुःखपूर्ण लगता है और जो तुझे सुखद मालूम होता है, जो तुझे कुरूप लगता है और जो तुझे सुंदर मालूम होता है, सभी तुझे निरपवाद रूप से मेरी ओर लाते हैं और मैं अनंत शांति, छायाहीन प्रकाश, पूर्ण सामंजस्य, निश्चिति, विश्राम और परम धन्यता हूं।

सुन, हे धरित्री, उस उत्कृष्ट वाणी को सुन जो उठ रही है।

सुन और नया साहस जगा !

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाना, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अक्तूबर १९९० **वर्ष २९, अंक १, पूर्णांक २८७**

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

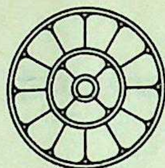
	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

८ फरवरी १९१३

हे प्रभो, तू मेरा आश्रय और मेरा वरदान है, मेरा बल, मेरा स्वास्थ्य, मेरी आशा और मेरा साहस है। तू ही परम शांति, अमिश्रित आनंद, पूर्ण स्वच्छता है। मेरी पूरी सत्ता असीम कृतज्ञता और अनंत पूजा में तेरे आगे साष्टांग दंडवत् है; और वह पूजा मेरे हृदय और मेरे मन से तेरी ओर उसी तरह उठती है जैसे भारत की सुगंधित धूप का शुद्ध धुंआ।

वर दे कि मैं मनुष्यों में तेरा अग्रदूत होऊं ताकि वे सब जो तैयार हैं उस आनंद का रस ले सकें जो तू मुझे अपनी अनंत करुणा में प्रदान करता है, वर दे कि तेरी शांति धरती पर राज्य करे।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा नवंबर १९९० वर्ष २९, अंक २, पूर्णांक २८८

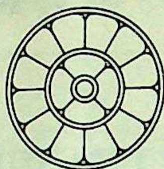
विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

१० फरवरी १९१३

मेरी सत्ता तेरी ओर कृतज्ञता के साथ उठती है, इसलिये नहीं कि तू इस दुर्बल और अपूर्ण शरीर का उपयोग अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिये करता है बल्कि इसलिये कि तू **अपने-आपको अभिव्यक्त करता है,** यही भव्यताओं की भव्यता, आनंद का आनंद, चमत्कारों का चमत्कार है। जो लोग तुझे उत्साह के साथ खोजते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि जब कभी तेरी जरूरत होती है तो तू उपस्थित रहता है; और अगर उनके अंदर यह परम श्रद्धा हो कि तुझे खोजना छोड़ दें, बल्कि तेरे लिये प्रतीक्षा करें, हर क्षण अपने-आपको सर्वांगीण रूप से तेरी सेवा में रखें तो जब कभी तेरी आवश्यकता होगी तो तू मौजूद होगा; और क्या हमारे साथ हर समय तेरी आवश्यकता नहीं होती, चाहे तेरी अभिव्यक्ति के कितने ही भिन्न और बहुधा अप्रत्याशित रूप क्यों न हों?

वर दे कि तेरी महिमा घोषित हो,
वर दे कि जीवन उसके द्वारा पवित्र हो;
वर दे कि वह मनुष्यों के हृदयों को रूपांतरित करे,
वर दे कि तेरी शांति पृथ्वी पर राज्य करे।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा दिसंबर १९९० **वर्ष २९, अंक ३, पूर्णांक २८९**

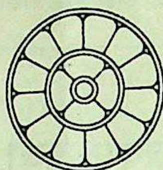
विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



प्रार्थना और ध्यान

१२ फरवरी १९१३

जैसे ही किसी अभिव्यक्ति से समस्त प्रयास लुप्त हो जाता है, सारी चीज बहुत सरल हो जाती है, खिलते हुए फूल की तरह सरल जो बिना शोर मचाये, बिना प्रचंड इंगितों के अपनी सुंदरता को प्रकट करता और सुगंध को फैलाता है। और इस सरलता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति होती है, ऐसी शक्ति जो कम-से-कम मिश्रित होती है और कम-से-कम हानिकर प्रतिक्रियाओं को जगाती है। प्राण की शक्ति पर अविश्वास करना चाहिये, यह कार्य-पथ पर प्रलोभन देनेवाली होती है और इसमें हमेशा पिंजरे में जा गिरने का भय होता है क्योंकि इससे तुम्हें तुरंत मिलनेवाले फल का चस्का लग जाता है और काम अच्छी तरह करने की अपनी पहली आतुरता में हम अपने-आपको इस शक्ति का उपयोग करने के लिये बह जाने देते हैं। परंतु शीघ्र ही वह हमारे समस्त कर्म को उचित मार्ग से भटका देती और हम जो कुछ करते हैं उसमें भ्रम, भ्रांति और मृत्यु का बीज बो देती है।

सरलता, सरलता ! तेरी उपस्थिति की शुद्धि कितनी मधुर है ! . . .

—श्रीमां

काम

प्रस्तुत कविता के बारे में कवि की टिप्पणी : "एक धारणा के अनुसार काम स्त्रष्टा है और पदार्थों अथवा विषयों का प्रतिपालक भी—काम और अज्ञान। काम-रहित होने पर व्यक्ति अज्ञान से परे चले जाता है, वैसे ही अज्ञान से परे जाने पर व्यक्ति काम-रहित हो जाता है, इस स्थिति में यह सृष्ट संसार अतिक्रांत हो जाता है और आत्मा दिव्य सत्ता में प्रवेश करती है। प्रस्तुत कविता में काम स्त्रष्टा 'कामशक्ति' का प्रतीक है, जो उस दिव्य सत्ता के आनंद से बहिर्गमन कर रही है, जिसके पास व्यक्ति, कामना का त्याग कर, ब्रह्मानन्द को धारण करता हुआ लौटता है—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'।"

ओ विशाल वीरानो, ओ जनविहीन
आकाशी समुद्रो, अनुर्वरा ज्योति के प्रदेशो,
जीवन्त रूपाकारों के साथ बन जाओ बहुविध अनेक
काम मोहित ! मैं प्रेषित करता अपना श्वास-समीर
सत्ता के हृत्-केन्द्र में और मधुर आकर्षण का झंझावात
भग्न कर देता इसकी प्रशांत स्थिरता
कम्पित भावाकुल प्रगाढ़ता से,
और निश्चल नीरवता बन जाती एक सुरीली पुकार,
और सारा जगत् उठ खड़ा होता। मेरे हृदय से
सूर्य प्रदीप्त हो उठते निर्दय रिक्त शून्यता के अंदर
और नक्षत्र चमत्कारी नृत्यों में करते परिक्रमा
मर्त्य जीवन का जाला बुनते हुए। क्योंकि मैं
प्रेम हूं, कामना हूं। मैं रचता संसार।
केवल मैं ब्रह्मा हूं। मेरी इच्छा
लेती अनेक रूप; मैं बदलता, घूमता, दौड़ता
और मेरे साथ दौड़ती यह सारी संसृष्टि। मैं परिरक्षित रखता
क्योंकि मैं प्रेम हूं। मैं स्वयं से हो जाता श्रान्त,
और तब जगत् पीछे चक्राकार लौटता विराट् के भीतर।
हर्ष और हास्य हाथ में हाथ डाले संचरण करते
चलते मेरे साथ, और मैं खेलता शोक और पीड़ा के संग।
मैं कृष्ण का नृत्य हूं, मैं नृत्य हूं
काली का, बल और प्रभुत्व मेरे हैं।
मैं रच सकता क्रीड़ारत बालक के हृदय को,
हर वस्तु की आत्मरूप आनन्दमयी नारी को।
बुभुक्षा और पिपासा, उठो और रचो यह संसार।
आनन्दभाव, नीचे जाओ और इसे शक्ति दो जीने की।
ओ आकाश, बदलो ! ओ विषय-वस्तुओं के प्रश्वास, परिपूर्ण बनो
निरन्तर घूर्णन से। फूट निकलो, ओ अग्नि,

जादुई वर्ण के समुद्रों में, अनन्त तरंगें
इन्द्रधनुषी ज्योति की। ओ तरल तत्त्व, तुम
बन जाओ रस, बन जाओ स्वाद हर सृष्ट वस्तु में
इन्द्रियों के सुख के लिये। तू, ओ ठोस धरा,
जीवन के कण-कण में प्रवेश कर, लोकों का आधार बन।
मैं संप्रेषित करता हर्ष जन-मानस को प्रमुदित करने के लिये,
मैं संप्रेषित करता विधान सुव्यवस्था और प्रशासन के लिये।
और जब ये कार्य संपन्न हो जायें, जब मनुष्य जान लें
मेरा सौंदर्य, मेरी वांछनीयता, मेरा आनंद,
मैं स्वयं को तिरोहित कर लूंगा उनकी कामना से
और इस चिरन्तन अनुधावन का यह नियम बना दूंगा,
"वे जो मेरा त्याग करेंगे, ग्रहण और धारण करेंगे
सर्वकाल तक; और जो मेरे अनुगामी-अनुसेवी होंगें, सब खो देंगे।"

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविन्द

————

सारी प्रकृति मूक भाषा में उसे ही पुकारती है ताकि वह अपने चरणों से उसके जीवन की दुखती हुई धड़कनों को मुक्त कर सके और मानव की धुंधली आत्मा पर लगी मुहरों को तोड़ सके और वस्तुओं के बंद हृदय में अपनी ज्वाला धधका दे। एक दिन यहां जो कुछ है वह सब उसकी मधुरता का आवास होगा, सभी परस्पर विरोधी बातें उसके सामंजस्य को तैयार करेंगी। हमारा ज्ञान उसकी ओर आरोहण करता है। हमारे आवेश उसी ओर टटोलते हैं। हम उसके चमत्कारी आनंद में निवास करेंगे। उसका आलिंगन हमारे कष्टों को आनंद में बदल देगा। हमारी आत्मा उसके द्वारा सबके साथ एक-आत्मा होगी, उसके अंदर रूपांतरित होकर उसीमें अनुमोदित होगी। हमारा जीवन उसके पूर्ण प्रत्युत्तर में ऊपर असीम नीरव आनंद और नीचे दिव्य आलिंगन का चमत्कार पायेगा।

इस गोचर और दृश्य जगत् का गुप्त कारण है निश्चेतन भौतिक द्रव्य में अतिचेतन आत्मा का अंतर्लयन। धरती की पहेली का संकेत शब्द है, एक छिपी हुई असीम चेतना और शक्ति का—जड़ दीखनेवाली परंतु भयंकर रूप से चालित संज्ञाहीन प्रकृति में से—क्रमशः विकास। पार्थिव जीवन महान् देव का अपना चुना हुआ आवास है और उनकी चिरकालिक इच्छा है कि उसे अंधे कारागार से भव्य भवन और स्वर्गतक पहुंचनेवाले उच्च मंदिर में बदल दे।

*

मैं इस तर्क को नहीं समझ पाता जो कहता है कि चूंकि एक चीज पांच सौ वर्षों से चली जा रही है अतः उसे युगोंतक बनाये रखना चाहिये। न तो प्राचीनता और न अर्वाचीनता ही सत्य की कसौटी या उपयोगिता की कसौटी हो सकती हैं। सभी ऋषि भूतकाल के ही नहीं थे, अवतार अब भी आते हैं, अंतःप्रकाश अब भी जारी है।

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जनवरी

१. वर दे, नव वर्ष की उषा हमारे लिये भी एक नये और अधिक अच्छे जीवन की उषा हो।

२. भगवान् के लिये स्नेह : एक मधुर, विश्वासपूर्ण कोमलता जो अपने-आपको अविरत रूप से भगवान् के अर्पण करती है।
भगवान् को उग्रता द्वारा नहीं लिया जा सकता। केवल प्रेम और सामंजस्य द्वारा ही तुम भगवान्‌तक पहुंच सकते हो।

३. जैसे-जैसे हम प्रगति करते और अपने-आपको अहंकार से शुद्ध कर लेते हैं, वैसे-वैसे भगवान् के साथ हमारी मैत्री अधिकाधिक स्पष्ट और सचेतन हो जाती है।
चेतना, समता और प्रेम के विकास के साथ भगवान् की समीपता हमेशा बढ़ेगी।

४. हमेशा अपनी पूर्णतम और सत्यम पूर्णता को चरितार्थ करने की अभीप्सा में रहो।
और आरंभ के लिये स्वयं अपने ऊपर लगाये गये नियंत्रण में ईमानदार, सच्चे, सीधे-सादे, उदात्त और पवित्र होने की चेष्टा करो।
मैं हमेशा सहायता करने और राह दिखाने के लिये तुम्हारे साथ रहूंगी।

५. जब तुम्हारा भागवत प्रेम के साथ संपर्क हो जाये तो तुम हर चीज में, हर परिस्थिति में इस प्रेम को देखते हो।
भागवत प्रेम और ज्ञान को हमेशा हमारे विचारों और क्रियाओं पर शासन करना चाहिये।

६. सारी शरारत संतुलन के अभाव से आती है।
अतः हम सर्वदा, सभी परिस्थियों में अपना संतुलन बनाये रखें।
धन की हानि कम महत्त्व रखती है परंतु संतुलन की हानि बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है।

७. शूरता है सभी परिस्थितियों में परम सत्य के लिये डटे रह सकना, विरोध में भी उसकी घोषणा करना और जब कभी आवश्यकता हो तो उसके लिये युद्ध करना।
और हमेशा अपनी ऊंची-से-ऊंची चेतना के द्वारा काम करना।

८. **प्रश्न**—मानसिक जड़ता से कैसे पिंड छुड़ाया जाये ?
उत्तर—इसका इलाज मन को जगाने का प्रयास नहीं है। उसे अचल, नीरव अवस्था में ऊपर की ओर अन्तर्भासिक ज्योति के क्षेत्र की ओर स्थिर, शान्त अभीप्सा में मोड़ो और नीरवता में प्रतीक्षा करो ताकि ज्योति नीचे उतरे और तुम्हारे मस्तिष्क में बाढ़ ला दे। इससे मस्तिष्क थोड़ा-थोड़ा करके इस प्रभाव की ओर खुलेगा और अन्तर्भास को ग्रहण और प्रकट करने योग्य बनेगा।

९. बच्चा अपने विकास के बारे में चिंता नहीं करता, वह बस बढ़ता जाता है।
बच्चे के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।

१०. सफलता को लक्ष्य न बनाओ, हमारा लक्ष्य है पूर्णता। याद रखो तुम नये जगत् की देहली पर हो, उसके जन्म में भाग ले रहे हो और उसके सृजन में सहायक हो। रूपांतर से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं है। इससे अधिक मूल्यवान् कोई हित नहीं है।

११. सत्य ही तुम्हारा स्वामी और तुम्हारा पथ-प्रदर्शक हो।
हम अपनी सत्ता और अपने क्रिया-कलाप में सत्य और उसकी विजय के लिये अभीप्सा करते हैं।
सत्य के लिये अभीप्सा ही हमारे प्रयासों की गति और ऊर्जा हो।
हे सत्य ! हम तेरा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। धरती पर तेरा ही राज्य आये।

१२. जब कोई सत्य में निवास करता है तो वह सभी विरोधों के ऊपर होता है।

१३. हमारे साहस और हमारी सहनशीलता को हमारी आशा के जितना महान् होना चाहिये और हमारी आशा की कोई सीमा नहीं।
हमारी आशाएं कभी इतनी बड़ी नहीं होतीं कि वे अभिव्यक्त न हो सकें।
हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो हो न सके।

१४. प्रसन्न हो मेरे वत्स, प्रगति का यह सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

१५. हमेशा अच्छे बने रहो तो तुम हमेशा खुश रहोगे।
हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शांत और सुखी रहेंगे।
हम अपनी खुशी केवल भगवान् में ही खोजें।

१६. निश्चय ही हमें शांति और सामंजस्य की चाह करनी चाहिये और उसके लिये यथासंभव अधिक-से-अधिक काम करना चाहिये—लेकिन उसके लिये उत्तम कार्य-क्षेत्र हमेशा हमारे अंदर होता है।
एक गहरी और सत्य चेतना है जिसमें सभी प्रेम तथा सामंजस्य के साथ मिल सकते हैं।

१७. भगवान् से प्रेम करने और धरती पर उनकी सेवा करने का सबसे अच्छा तरीका है अथक, स्पष्टदर्शी और व्यापक शुभ-चिन्ता जो सभी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो।
मेरा मतलब है विचारों और वाणी में सच्ची, निष्कपट और सहज शुभ-चिन्ता, क्रिया में वह दिखावटी शुभ-चिन्ता नहीं जिसके साथ कृपालुता दिखानेवाली श्रेष्ठता का भयंकर भाव होता है जो मुख्य रूप से मानव दर्प के लिये मंच का काम देता है।

१८. स्वाधीनता बाहरी परिस्थितियों से नहीं, आंतरिक मुक्ति से आती है।
अपनी अंतरात्मा को खोजो, उसके साथ एक हो, उसे अपने जीवन पर शासन करने दो तो तुम **स्वाधीन** हो जाओगे।

१९. सद्भावना रखनेवाले हर व्यक्ति में सत्य के लिये प्रयास होना चाहिये।
हमारे जीवन को सत्य के लिये "प्रेम" और "प्रकाश" की प्यास द्वारा शासित होना चाहिये।
अगर व्यक्ति भगवान् के समीप रहना चाहता है तो उसके जीवन पर पूर्ण सत्य का शासन होना चाहिये।

२०. सत्य का प्रकाश जगत् के ऊपर मंडरा रहा है ताकि उसमें व्याप्त होकर भविष्य को गढ़े।
सत्य को अपनी शक्ति मानो, सत्य को अपना आश्रय मानो।
सत्य हमारे अंदर है, हमें केवल उसके बारे में अवगत होना है।

२१. सत्य मिथ्यात्व से कहीं अधिक बलवान् है। एक अमर शक्ति जगत् का शासन करती है। उसके निश्चय हमेशा सफल होते हैं। उसके साथ हो जाओ तो तुम अंतिम विजय के बारे में निश्चित रहोगे।
जब मनुष्य मिथ्यात्व से ऊब जायेंगे, जिसमें वे निवास करते हैं, तब संसार सत्य के राज्य के लिये तैयार होगा।

२२. सत्य मन से ऊपर है, नीरवता में ही मनुष्य उसके साथ नाता जोड़ सकता है।
भगवान् से प्रार्थना करना और अपने-आपको पूरी तरह पूरी सचाई के साथ उनके अर्पण कर देना आवश्यक प्राथमिक शर्तें हैं।
जो सचाई के साथ सत्य की सेवा करना चाहता है वह सत्य को जान जायेगा।

२३. बाह्य अनुशासन की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि जब तुम्हारी कोई राय हो और तुम उसे प्रकट करो तो याद रखो कि यह केवल एक राय, देखने और अनुभव करने का एक तरीका है तथा अन्य लोगों की राय और उनके देखने और अनुभव करने के तरीके भी तुम्हारे तरीकों के जितने ही

न्यायसंगत हैं और उनका विरोध करने की जगह तुम्हें उन सबको **जोड़कर** एक अधिक सत्य और व्यापक समन्वय पाने की कोशिश करनी चाहिये।

२४. सभी रायों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। वस्तुतः क्रोध किये बिना औरों की राय सुनना एक बड़ी और उपयोगी चीज है।

२५. ईमानदारी सबसे अच्छी सुरक्षा है।
सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।
हमेशा सच बोलना आभिजात्य का सबसे ऊंचा पद है।

२६. सबसे अधिक आवश्यक बात है ज्योति की ओर मुड़ने का निरन्तर प्रयास करते रहना। हम जितना समझते हैं उसकी अपेक्षा ज्योति हमसे अधिक नजदीक है और कभी भी उसका समय आ सकता है।
एकमात्र वही जीवन जीने योग्य है जो भगवान् के साथ एकात्मता के लिये निवेदित हो।

२७. पर, जो हो, भागवत शक्ति पीछे निरन्तर कार्य कर रही है और एक दिन, जब कोई शायद ही आशा करता हो, बाधाएं भंग हो जाती हैं, बादल विलीन हो जाते हैं और फिर से प्रकाश और धूप छा जाती है। ऐसे समयों में सबसे अच्छी बात, यदि कोई कर सके तो, यह है कि उद्विग्न न हुआ जाये, हतोत्साह न हुआ जाये, बल्कि चुपचाप अड़े रहा जाये और श्रद्धा के साथ उसके आने की प्रतीक्षा की जाये : मैंने देखा है कि यही चीज इन अग्निपरीक्षाओं को हल्का बना देती है।
(श्रीअरविंद)

२८. अपने धार्मिक चिंतन और अनुभव में से निकाल फेंको समस्त नीचता, संकीर्णता और स्थूलदर्शिता। विशालतम क्षितिजों से भी अधिक विशाल बनो, उच्चतम कांचनजंगा से भी अधिक उच्च, गभीरतम समुद्र से भी अधिक गभीर बनो।
तथाकथित मानवीय बुद्धिमत्ता की समस्त जटिलताओं से ऊपर भागवत कृपा की ज्योतिर्मयी सरलता विद्यमान है और वह कार्य करने के लिये तैयार है—यदि हम उसे करने दें।

२९. वह समय आ गया है जब हमें एक चुनाव—मौलिक और सुनिश्चित चुनाव करना होगा।
हे प्रभु! हमें ऐसी शक्ति दे कि हम मिथ्यात्व का त्याग करके तेरे सत्य में ऊपर उठ सकें, विशुद्ध और तेरी विजय के उपयुक्त पात्र बनकर उठ सकें।

३०. हे प्रभु! समस्त मानवजाति तुझसे प्रार्थना करती है कि तू उसे बार-बार समान मूर्खताओं में जा गिरने से बचा।
ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचानी जा चुकी हैं वे फिर से नये सिरे से दुहरायी न जायें।
अंत में वर दे कि मनुष्यजाति के कर्म उन आदर्शों को ठीक-ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करें जिनकी उसने घोषणा की है।

३१. अचंचल रहना और एकाग्र होना, ऊपर से शक्ति को अपना काम करने देना, यह किसी भी बीमारी और हर एक बीमारी को ठीक करने का सबसे निश्चित तरीका है। अविचल श्रद्धा और मजबूत संकल्प के साथ अगर इसे समय पर और पर्याप्त समय के लिये किया जाये तो ऐसी कोई भी बीमारी नहीं जो इसका प्रतिरोध कर सके।

महान् कर्म

वास्तविक कठिनाई हमारे परिवेश में नहीं, हमेशा हमारे अंदर होती है। मनुष्य को अजेय बनाने के लिये तीन चीजें जरूरी हैं, इच्छा, अनासक्ति और श्रद्धा। हमारे अंदर अपना उद्धार करने की इच्छा तो हो सकती है पर पर्याप्त श्रद्धा की कमी हो सकती है। हमें अपने चरम उद्धार पर श्रद्धा हो सकती है, पर आवश्यक साधनों के उपयोग के लिये इच्छा की कमी हो सकती है; और अगर इच्छा और श्रद्धा भी हों तो हम उनका उपयोग अपने काम के फल के प्रति उग्र आसक्ति के साथ घृणा के आवेशों, अंधी उत्तेजना या जल्दबाजी में बल लगाकर कर सकते हैं जिससे बुरी प्रतिक्रियाएं आ सकती हैं। इसी कारण इतने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये यह जरूरी है कि अभूतपूर्व बाधाओं को जीतने के लिये हम शरीर और मन से अधिक ऊंची शक्ति का आश्रय लें। साधना की इसीलिये आवश्यकता है।

भगवान् हमारे अंदर हैं, वे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ शक्ति हैं। हम और वे एक ही प्रकृति के हैं और अगर हम उनके साथ संपर्क स्थापित करें और अपने-आपको उनके हाथों में सौंप दें तो वे हमारे अंदर अपनी शक्ति उड़ेलेंगे और हम अनुभव करेंगे कि हमारे अंदर भी देवत्व का, सर्वशक्तिमत्ता का, सर्वव्यापकता का और सर्वज्ञता का अपना भाग है। मार्ग लंबा है, परंतु आत्म-समर्पण उसे छोटा बना देता है, रास्ता कठिन है परंतु पूर्ण विश्वास उसे सरल बना देता है।

इच्छा सर्वशक्तिमान् है परंतु होनी चाहिये वह भागवत इच्छा, निःस्वार्थ, शांत और परिणामों के बारे में निश्चिन्त। ईसा ने कहा था, "अगर तुम्हारे अंदर राई जितनी श्रद्धा भी हो तो तुम इस पहाड़ से कहोगे आओ और वह तुम्हारे पास आ जायेगा।" यहां श्रद्धा शब्द का अर्थ पूर्ण श्रद्धा के साथ संकल्प से था। श्रद्धा तर्क नहीं करती, वह जानती है, क्योंकि उसका दृष्टि पर अधिकार होता है। वह जानती है कि भगवान् क्या चाहते हैं और वह जानती है कि भगवान् जो चाहते हैं वह होकर रहेगा। श्रद्धा—वह अंधी नहीं होती बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि का उपयोग करती हुई सर्वज्ञ बन सकती है।

इच्छा सर्वव्यापक भी है। वह जिनके संपर्क में आती है उनके अंदर अपने-आपको निक्षिप्त कर सकती है और उन्हें सामयिक या स्थायी रूप से अपनी शक्ति, अपने विचार और अपने उत्साह का एक भाग दे सकती है। निःस्वार्थ और आश्वस्त इच्छा के प्रयोग से एक अकेले आदमी का विचार एक राष्ट्र का विचार बन सकता है। एकमात्र शूर की इच्छा करोड़ों भीरुओं के हृदयों में साहस फूंक सकती है।

हमें यही साधना चरितार्थ करनी है। हमारे उद्धार की यही शर्त है। हम अपूर्ण इच्छा का अपूर्ण श्रद्धा और अपूर्ण निःस्वार्थता के साथ उपयोग करते आये हैं। लेकिन हमारे आगे जो कार्य है वह पहाड़ को हिलाने से कम कठिन नहीं है।

जो शक्ति यह कर सकती है वह उपस्थित है लेकिन वह हमारे अंदर एक गुप्त कक्ष में छिपी है और उसकी चाबी भगवान् के हाथ में है। चलो, हम उन्हें खोजें और उसकी मांग करें।

—श्रीअरविंद

अपनी सत्ता को जानो और तुम असत् को और सबके ईश्वर को जान जाओगे। बहुत गंभीरता से चिंतन करो और तुम्हें पता चल जायेगा कि "मैं" नाम की कोई चीज है ही नहीं। हर प्रकार के विश्लेषण का अंतिम परिणाम है भगवान्। जब अहंभाव विलीन हो जाता है तब भगवान् अभिव्यक्त होते हैं।

"भारतीय संस्कृति के आधार" पर आधारित :

अवनति का कारण

हमने अपने पिछले लेख में इस बात की चर्चा की थी कि चूंकि राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप में भारत कभी एक नहीं रहा, करीब सौ वर्षोंतक विदेशी जूए के अधीन रहा, उसने अन्य देशों की तरह अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये लूट-पाट की नीति अपनाने की चेष्टा कभी नहीं की, राजनीतिक दृष्टि से एक-राष्ट्र होकर जीने में बहुत सफल नहीं हो पाया, अतः, राजनीतिक दृष्टि से उसके हाथ असफलता के सिवाय और कुछ न लगा। भारतीय आलोचकों ने इसी बात को बहुत महत्त्वपूर्ण मानकर भारत को एकदम निचली श्रेणी में ला बिठाया लेकिन अगर हम अतिशयोक्तियों को त्यागकर यथार्थ तथ्यों को देखें, भारतीय मानस की प्रवृत्तियों तथा सिद्धांतों पर दृष्टिपात करें तो चीज अधिक स्पष्ट होगी। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि यदि किसी जाति या सभ्यता की महानता का मूल्य उसके राज्य-विस्तार, दूसरे राष्ट्रों के साथ युद्ध में सफलता इत्यादि से आंकना हो तो भारत महान् जातियों में कहीं नहीं टिक सकता क्योंकि ऐसा लगता है कि भारत अपनी सीमाओं के परे आक्रमण द्वारा अपना राजनीतिक विस्तार करने के लिये कभी प्रवृत्त नहीं हुआ, भारतीय सफलता के इतिहास में इस तरह के आक्रमणों इत्यादि की महान् गाथाएं नहीं लिखी गयीं। जिस विस्तार, आक्रमण या विजय के लिये उसने एकमात्र महान् प्रयास किया वह था अपनी संस्कृति का विस्तार, बौद्ध विचार तथा अपनी आध्यात्मिकता, कला तथा विचार-शक्तियों के प्रवेश द्वारा पूर्वीय जगत् पर आक्रमण तथा विजय। और यह युद्ध का नहीं बल्कि शांति का आक्रमण था क्योंकि बल का प्रयोग करके तथा भौतिक विजय के द्वारा—जैसी कि अन्य राष्ट्रों की सामान्य नीति रही है—आध्यात्मिक सभ्यता का प्रसार करना भारत के मन और स्वभाव की रचना तथा धर्म के आधारभूत विचार के विपरीत होता। धर्म के प्रसार के लिये उसने बहुत चेष्टा की, साम्राज्य का, यहांतक कि जगत्-साम्राज्य के विचार का भी भारतीय मन में अभाव न था लेकिन उसका जगत् था भारतीय जगत् तथा उसका उद्देश्य था धर्म द्वारा एकता की स्थापना।

यह विचार, इस आवश्यकता का बोध, इसकी पूर्ति के लिये निरन्तर आवेग भारत के इतिहास में आद्योपान्त झलकता है। ये विचार प्राचीन वैदिक युग से आरंभ हुए और रामायण तथा महाभारत की परंपराओं द्वारा तथा मौर्य और गुप्तवंशीय सम्राटों से होते हुए मुगलोंतक आये जबतक कि अंतिम असफलता ने न आ घेरा, अर्थात् सभी संघर्षरत शक्तियां विदेशी जूए के नीचे एक ही स्तर पर न पहुंच गयीं यानी एक स्वतंत्र जाति की स्वतंत्र एकता के स्थान पर परतंत्रता की शिकार न हो गयीं। प्रश्न यह है कि क्या एकीकरण की प्रक्रिया की मन्दता तथा विफलता का कारण यह था कि भारतवासियों की सभ्यता या राजनीतिक चेतना में कोई मौलिक दुर्बलता थी या इसके मूल में कोई और ही शक्तियां काम कर रही थीं। इधर भारतवासियों के एक होने की अयोग्यता उधर यूरोप की कुशल राजनीति के बारे में बहुत कुछ कहा गया है लेकिन प्रश्न है कि क्या यूरोप में सचमुच इतनी कुशल राजनीति थी? क्या वह सचमुच एक था? सच पूछा जाये तो यूरोप की सच्ची एकता को क्रियात्मक रूप में सिद्ध करना आजतक असंभव रहा है जब कि भारत ऊपरी दृष्टि से हमेशा छोटे-छोटे राष्ट्रों में पृथक् होने पर भी एकसूत्र में काफी हदतक बंधा रहा। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत और यूरोप दोनों की अवस्थाएं एकदम से अलग ढंग की थीं। यूरोप की जातियां ऐसी जातियां हैं जो अपने व्यक्तित्व में एक-दूसरे से बहुत तीव्र रूप से भिन्न हैं और ईसाई धर्म में उनकी आध्यात्मिक एकता या यहांतक कि उनकी सांस्कृतिक एकता भी कभी इतनी वास्तविक या पूर्ण नहीं थी जितनी भारत की प्राचीन आध्यात्मिक एवं

सांस्कृतिक एकता, यूरोप की वह एकता उनके जीवन का वास्तविक केन्द्र भी न थी, उसके अस्तित्व का दृढ़ आधार भी न थी बल्कि एक तरह से ऊपरी तौर की सतही एकता थी—सतही इस कारण क्योंकि यूरोप के देश राजनीतिक और आर्थिक जीवन की डोरों से ही आपस में बंधे थे, और चूंकि राजनीतिक तथा आर्थिक चेतना हमेशा बदलती रहती है अतः उन डोरों का खिंचना, तड़कना और टूटना भी हमेशा बना रहा। लेकिन भारत में अत्यंत प्राचीन काल में ही आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक अर्थात् आंतरिक एकता पूरी तरह से स्थापित हो चुकी थी और वही जन-जीवन में व्याप्त थी। प्राचीन भारत की जातियां यूरोप की जातियों की तरह ऐसी विभिन्न जातियां कभी न रहीं जो पृथक् राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन के द्वारा एक-दूसरे से तीव्र रूप में विभक्त हों बल्कि वे एक महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्र की उपजातियां थीं। इतना सब होते हुए भी कहा जा सकता है कि भारत राजनीतिक दृष्टि से लम्बे समयतक अपनी एकता को स्थापित न कर पाया और अवनति में जा गिरा। वह असफल क्यों रहा इसके कारण को अधिक गहराई में जाकर ढूंढ़ना होगा जिसकी चर्चा हम फिर कभी करेंगे।

—वन्दना

सांध्य वार्ताएं :

अतिमानसिक स्तर इत्यादि के बारे में

२८-९-१९२६

शिष्य—सत्ता के प्रत्येक स्तर, भौतिक, प्राणिक और मानसिक पर से जगत् को देखते हुए पुरुष के विशेष लक्षण क्या होते हैं?

श्रीअरविंद—पुरुष जगत् को उसी तरह से देखता है जैसे प्रकृति उसे उपस्थित करती है। मानसिक स्तर पर प्रकृति विचारों, भावों, संक्षेप में कहें तो सभी मानसिक गतिविधियों के रूप में प्रस्तुत करती है। प्राणिक स्तर पर प्रकृति स्वयं को कामनाओं के द्वारा, संक्षेप में कहें तो प्राण-शक्ति की क्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। भौतिक स्तर पर वह अपने-आपको भौतिक जीवन के अपरिवर्तनशील विधान के रूप में प्रस्तुत करती है।

शिष्य—जब पुरुष अपने-आपको प्रकृति से अलग करता है तो उसके लिये किसी उच्चतर चीज के लिये अभीप्सा करना कैसे संभव होता है?

श्रीअरविंद—पुरुष नहीं प्रकृति द्वारा अभीप्सा करवानी चाहिये और उसे उपयुक्त बनाना चाहिये। पुरुष तो नीरव, निष्क्रिय होता है और प्रकृति को देखता रहता है।

शिष्य—अतिमानस से पृथ्वी को देखने का पुरुष का विशिष्ट तरीका क्या है?

श्रीअरविंद—अतिमानस पुरुष उसी तरह देखता है जैसे सत्य देखता है।

शिष्य—और सत्य कैसे देखता है इस जगत् को?

श्रीअरविंद—(हाथ ऊपर उठाकर) तुम वहांतक उठ जाओ तो देख लोगे।

शिष्य—तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—विज्ञान यज्ञ को प्रसारित करता है। जो वस्तु प्रिय है वह उसका शिर है, आनंद उसका दाहिना पार्श्व है और अति आनंद बांया पार्श्व। आनंद शरीर है और ब्रह्म निचला भाग, आधार। (*तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा*)।

श्रीअरविंद—यहां पुच्छम् या पूंछ का अर्थ है छोर या आधार। उसका अर्थ है कि आनंद का आधार अनंत है, ब्रह्म है।

शिष्य—और आगे कहा है, "उससे भरा हुआ है, श्रद्धा उसका सिर है, गति का सत्य दांया पार्श्व, सत्ता का सत्य बांया पार्श्व। ऐक्य, शरीर है; महर्लोक, निचला भाग है—आधार।"

(तेनैव पूर्णः . . . तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः।
सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।)

श्रीअरविंद—इसका मतलब यह हुआ कि अगर तुम अतिमानसतक उठना चाहो तो तुम्हें महस् को प्राप्त करना होगा—बृहत्, अनंत और वैश्व चेतना जो उसका आधार है। ऋतम् का अर्थ है गति का सत्य, सत्यम् है सत्ता का सत्य, श्रद्धा है जब सत्य उपस्थित हो तो उसकी स्वीकृति।

शिष्य—जब सत्य अतिमानस स्तर पर मौजूद है तो श्रद्धा की क्या जरूरत?

श्रीअरविंद—श्रद्धा का यहां मतलब यह है कि जब तुम सत्य को देखो तो उसे स्वीकार करने के लिये तैयार रहो। योगात्मा का मतलब है कि निम्नतर सत्ता को उच्चतर सत्ता के साथ ऐक्य पाने की जरूरत है ताकि मन से उच्चतर स्तरतक पहुंच सके।

शिष्य—उसमें प्राणायाम के बारे में भी कहा गया है और यह भी कि इसीके द्वारा वह संपन्न होता है।

श्रीअरविंद—इसमें कहा गया है कि मनोमय प्राण से अधिक ऊंचा है और इसके द्वारा संपन्न होता है।

शिष्य—उसमें यह भी कहा गया है कि यज्ञ शिर है, ऋक् दक्षिण पार्श्व है, साम वाम पार्श्व है, आज्ञा अंतरात्मा है और अथर्वांगिरस पुच्छ या आधार है।

श्रीअरविंद—ऋक् का मतलब है, 'मन में अंतर्भासात्मक गति', साम है, 'गति और सामंजस्य की लय', अथर्व का अर्थ है, 'भौतिक स्तर का प्रभावोत्पादक कर्म', कम-से-कम वेद में अंगिरस का अर्थ है अग्नि की शक्ति जो गौओं को मुक्त करती है पणियों की गुफा से, यानी प्रकाश को अंधकार से और यह **शब्द** तथा इंद्र और अन्य देवों की सहायता से होता है।

शिष्य—क्या ईसाइयों की त्र्यी ब्रह्मा, विष्णु, महेश से मेल खाती है?

श्रीअरविंद—नहीं, भारतीय त्रयी वे वैश्व शक्तियां हैं जो विश्व की अमुक गतिविधियों का नियंत्रण करती है जैसे ब्रह्मा सृजन का, जब कि ईसाई 'पुत्र' शायद 'मनुष्य के अंदर भगवान्' है, 'पवित्रात्मा' शायद 'दिव्य चेतना' है।

३-१०-१९२६

श्रीअरविंद—सच्ची (ह्यूमिलिटी) दीनता या विनय वह है जब तुम अपने दोषों को स्वीकारने के लिये तैयार हो लेकिन इसके लिये अपने-आपको अधम मानने की जरूरत नहीं। तुम अनुभव करते हो कि तुम्हारे अंदर वे सब दोष हैं जो वैश्व प्रकृति में हैं और व्यक्तिगत रूप से तुम किसी से भी श्रेष्ठतर नहीं हो। तुम्हें यह भाव तक नहीं बनाये रखना चाहिये कि ये दोष चले जायें और यह न रटते रहना चाहिये, "मैं कुछ नहीं हूं। मैं पापों से भरा हूं"—साथ ही उसके बारे में तुम्हारा सिर फूला न होना चाहिये, सचमुच यह घमंड का अभाव है। ह्यूमिलिटी अच्छा शब्द नहीं है।

शिष्य—क्या आध्यात्मिक पूर्णता में विनोद-भाव का कोई स्थान है?

श्रीअरविंद—अगर सिद्ध कभी नहीं हंसता तो यह एक अपूर्णता है।

(पुराणीकृत श्रीअरविन्द की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

'कुछ माताजी के बारे में' :

योग में प्रगति

कहा गया है कि योग में प्रगति करने के लिये साधक को अपने जीवन की छोटी-से-छोटी चीज और अपनी छोटी-से-छोटी क्रिया भी भगवान् को समर्पित कर देनी चाहिये। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है ?

योग का अर्थ है भगवान् से एकता, और यह एकता आत्मोत्सर्ग द्वारा आती है—इसका आधार है अपने-आपको भगवान् के हाथों में दे देना। आरंभ में तुम साधारण रूप से अपने-आपको देना शुरू करते हो मानों सदा के लिये तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो : "मैं भगवान् का सेवक हूं, मेरा जीवन पूर्ण रूप से भगवान् को दिया गया है, मेरे सब प्रयत्न दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये हैं।" पर यह तो केवल पहला कदम है; केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्प के बाद भी, इस निश्चय के बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवन को भगवान् के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवन में प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और इसे अपने प्रत्येक ब्योरे में चरितार्थ करना होगा। तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान् के हो, तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ सोचते या करते हो, उसमें हमेशा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज न होनी चाहिये जिसे तुम अपना कह सको, जो कुछ तुम्हारे पास आये उसे भगवान् के यहां से आया हुआ अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोत की भेंट कर दो। इस अनुभूति को प्राप्त कर लेने पर अत्यंत सामान्य-से-सामान्य चीज, जिसपर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और तुम्हारी दृष्टि के सामने दूरतक देख सकने के लिये एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

सामान्य रूप से किये गये उत्सर्ग को जीवन के प्रत्येक ब्योरे में लाने का तरीका यह है : हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपनी समस्त चेष्टाओं का इसीके प्रति उत्सर्ग करो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव का ही नहीं, बल्कि अत्यंत साधारण और बाह्य क्रियाओं का भी, उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही खा रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक अखण्ड जीवन में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अंदर भेद-भाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् के अर्पित हो और बाकी भाग अपनी साधारण वृत्तियों में पड़े रहें और साधारण चीजों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे संपूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का संपूर्ण रूपांतर होने लगेगा।

पूर्ण योग में पूरे ब्योरे के साथ संपूर्ण जीवन का रूपांतर करना होगा, उसे दिव्य बनाना होगा। यहां कोई चीज नगण्य या तुच्छ नहीं है। तुम यह नहीं कह सकते : "जब मैं ध्यान करता हूं, दर्शनशास्त्र-संबंधी पुस्तकें पढ़ता हूं या इस वार्तालाप को सुनता हूं तब तो मैं भागवत ज्योति की ओर खुलने और उसे बुलाने की अवस्था में रहूंगा। किंतु जब मैं टहलने जाऊं या किसी मित्र से मिलूं तब मैं इन बातों को भुला सकता हूं।" इस भाव को बनाये रखने का अर्थ होगा कि तुम्हारा रूपांतर कभी न हो सकेगा

और तुम्हें भगवान् के साथ सच्ची एकता कभी प्राप्त न होगी। तुम्हारे सदा दो भाग बने रहेंगे, अधिक-से-अधिक तुम्हें इस महत्तर जीवन की कुछ झांकियां मिल सकेंगी। हो सकता है कि ध्यान के समय तुम्हारी आंतर चेतना में कतिपय अनुभूतियां और साक्षात्कार मिल जायें, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपांतरित हुए बिना ही रह जायेगा। जिस आंतर प्रकाश का शरीर और बाह्य जीवन पर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोग का नहीं होता, क्योंकि वह इससे जगत् को जैसा-का-तैसा छोड़ देता है। अभीतक लगातार यही होता आया है। वे लोग भी जिन्हें अतिमहान् और शक्तिशाली उपलब्धियां हुई थीं, वे अपनी आंतर स्थिरता और शांति में अक्षुब्ध रूप से रहने के लिये जगत् से अलग हट गये। और जगत् को अपने ही मार्ग पर चलते रहने के लिये छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि विश्व-सत्ता की इस भौतिक भूमिका पर दुःख और जड़ता, मृत्यु और अज्ञान का राज्य पहले की तरह अबाध गति से जारी रहा। जो लोग इस प्रकार किनारा कर लेते हैं उनके लिये इस उपद्रव से त्राण पाना, इन कठिनाइयों से दूर भागना और दूसरे लोक में अपने लिये एक सुखी अवस्था पा लेना भले ही सुखकर हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे इस जगत् और जीवन को अमार्जित और अरूपांतरित अवस्था में छोड़ जाते हैं; यही नहीं, वे अपनी ब्राहरी चेतना को भी अपरिवर्तित अवस्था में और अपने शरीर को सदा की न्याई असंस्कृत अवस्था में छोड़ देते हैं। भौतिक जगत् में वापस लौटने पर संभव है कि इनकी दशा साधारण मनुष्य से भी बुरी हो, क्योंकि ये लोग स्थूल वस्तुओं पर प्रभुता प्राप्त करने की शक्ति गंवा देते हैं, अतः संभव है कि भौतिक जीवन के साथ इनके व्यवहार में फूहड़पन हो और इनकी गतिविधि बिलकुल असहाय और हर गुजरती हुई शक्ति की दया पर निर्भर हो।

इस प्रकार का आदर्श उनके लिये भले ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किंतु यह हमारा योग नहीं है। क्योंकि हम इस जगत् पर तथा इसकी समस्त गतियों पर भगवान् की विजय चाहते हैं और यहीं, इस पार्थिव जगत् में ही भगवान् की उपलब्धि चाहते हैं। परंतु यदि हम भगवान् के राज्य के लिये इच्छुक हों तो हम जो कुछ हैं, जो कुछ हमारे पास है और हम जो कुछ करते हैं, उस सबको हमें भगवान् के अर्पण कर देना चाहिये। यह सोचने से काम नहीं चलेगा कि कोई बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओं से दिव्य जीवन का कोई संबंध नहीं है। यदि हम ऐसा मानें तो हम वहीं पड़े रहेंगे जहां सदा से पड़े रहे हैं और इस बाह्य जगत् पर कभी विजय नहीं मिलेगी, उसमें कोई चिरस्थायी काम न हो पायेगा।

सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा

सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि सच्ची शिक्षा के संबंध में जितनी भी अस्पष्ट धारणाएं हैं उनसे छुटकारा पाकर हम ठीक-ठीक यह समझें कि सच्ची शिक्षा क्या है, उसका यथार्थ अर्थ क्या है, उसका मूल उद्देश्य और गभीर तात्पर्य क्या है? तभी हम इस विषय में निश्चित हो सकते हैं कि हमारा आरंभ ठीक है और हम जो शिक्षा शब्द के साथ 'राष्ट्रीय' विशेषण जोड़ रहे हैं उसके यथार्थ स्थान और संपूर्ण तात्पर्य को सुनिश्चित रूप में स्थिर करने के लिये अग्रसर हो सकते हैं। बल्कि यहां हमें निस्संदिग्ध रूप में यह जान लेना चाहिये कि स्वयं शिक्षा क्या चीज है अथवा वह कैसी होनी चाहिये। उसके बाद ही हम सुनिश्चित रूप में यह जान सकते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा क्या चीज है, अथवा कैसी होनी चाहिये।

अब, हम अपने आरंभिक कथन से आरंभ करें जिसके विषय में शायद बहुत अधिक मतभेद नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि सच्ची और सजीव शिक्षा का विचार करते समय हमें तीन बातों का

विचार अवश्य करना चाहिये—(१) मनुष्य, अपने सामान्य रूप में तथा अपनी विशेषता के साथ व्यक्ति, (२) जाति या राष्ट्र और (३) समस्त मानव-जाति। इससे स्वतः ही यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्ची और सजीव शिक्षा केवल वही कही जा सकती है जो मनुष्य को इस तरह सहायता दे कि उसके अंदर जो भी शक्ति-सामर्थ्य निहित है वह बाहर अभिव्यक्त होकर उसके जीवन में अपना पूरा लाभ प्रदान करे तथा मनुष्य-जीवन का जो भी संपूर्ण उद्देश्य और संभावना है उसकी संसिद्धि के लिये उसे तैयार करे। इसके बाद उसे ऐसी सहायता दे जिससे मनुष्य अपनी जाति या राष्ट्र के जीवन, विचारधारा और अंतरात्मा के साथ और उसके साथ-ही-साथ उस मनुष्यजाति के महान् समष्टि-जीवन, विचारधारा और अंतरात्मा के साथ, जिसकी कि वह स्वयं एक इकाई है और उनकी जाति या राष्ट्र एक सजीव और पृथक्, पर फिर भी अविच्छेद्य अंग है, अपना यथार्थ संबंध स्थापित कर सके।

जब हम इस विशाल और संपूर्ण सिद्धांत के प्रकाश में इस समूचे प्रश्न पर विचार करेंगे, तभी हम इस सुस्पष्ट भावना को अच्छी तरह पकड़ पायेंगे कि हम अपनी शिक्षा को क्या पूरा रूप देना चाहेंगे और राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा कौन-सा उद्देश्य सिद्ध करने का प्रयास करेंगे। आज भारत में इस विशाल दृष्टिकोण और आधार की बहुत अधिक आवश्यकता है। आज भारत अपनी भवितव्यता के एक संगीन मोड़ पर खड़ा है, इसलिये उसके जीवन-कार्य को संपन्न करनेवाली संपूर्ण शक्ति को उसकी एकमात्र महान् आवश्यकता की पूर्ति में ही नियोजित कर देना होगा और वह आवश्यकता है व्यष्टि और जाति के अंदर विद्यमान उसकी सच्ची आत्मा को ढूंढ़ना और नये रूप में गठित करना तथा इस प्रकार अपनी आंतरिक महानता को फिर से पाकर मानवजाति के जीवन में अपना समुचित और स्वाभाविक अंश और स्थान फिर से प्राप्त करना।

मनुष्य और उसके जीवन के संबंध में, राष्ट्र और उसके जीवन के संबंध में, मनुष्यजाति और उसके जीवन के संबंध में बहुत-सी अलग-अलग धारणाओं का होना संभव है और उस विभिन्नता के अनुसार शिक्षा-संबंधी हमारी भावना और प्रयास में काफी विभिन्नता आ सकती है। इन चीजों के विषय में भारत की अपनी निजी विशिष्ट धारणा और दृष्टि रही है और हमें यह देखना होगा कि क्या वही चीज वास्तव में, हमारी शिक्षा के मूल में रहेगी या नहीं, रहनी चाहिये या नहीं और वही एकमात्र वस्तु है या नहीं जो कि उसे वास्तव में राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करेगी।

भारतीय विचारधारा में मनुष्य को इस रूप में नहीं देखा गया है कि वह भौतिक प्रकृति द्वारा विकसित किया हुआ एक जीवंत शरीर है जिसने कुछ प्राणिक प्रवृत्तियों को विकसित कर लिया है, एक अहंभाव, मन और बुद्धि को उत्पन्न कर लिया है, जो एक वर्ग का पशु है और हमारी श्रेणी की दृष्टि से मानव-पशु है; इसके समूचे जीवन और शिक्षा को इन्हीं प्रवृत्तियों की तृप्ति की दिशा में मोड़ देना चाहिये और एक सुशिक्षित मन के शासन के अधीन रखकर व्यक्तिगत और राष्ट्रीय अहं के अधिक-से-अधिक हित में नियुक्त करना चाहिये। फिर भारत के मन का झुकाव इस तरह का भी नहीं रहा है कि वह मनुष्य को प्रधानतया एक तर्कशील पशु समझे, अथवा सुपरिचित परिभाषा को विस्तृत करके यों कहें कि चिंतनशील, अनुभवशील और इच्छा-संपन्न एक प्राकृत सत्ता समझे, भौतिक प्रकृति का मनोमय पुत्र माने, और उसकी शिक्षा को मानसिक क्षमताओं का ही अनुशीलन समझे अथवा मनुष्य का वर्णन एक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सत्ता के रूप में करे तथा उसकी शिक्षा को एक ऐसी शिक्षा माने जो उसे समाज और राज्य का एक सुयोग्य, उत्पादनशील और श्रेष्ठ अनुशासित सदस्य बना दे। निःसंदेह ये सब चीजें मानव-प्राणी के ही अलग-अलग स्वरूप हैं और भारत ने अपनी विशाल दृष्टि के अधीन इन सबको भी यथेष्ट प्रधानता दी है, पर ये सब बाहरी चीजें हैं, मनुष्य के मन, जीवन और कर्म के उपकरण समूह के अंग हैं, सच्चे मानव का संपूर्ण स्वरूप नहीं हैं।

भारत ने सदा ही व्यष्टि-मानव के अंदर एक अंतरात्मा को, भगवान् के एक अंश को देखा है जो मन और शरीर से आवृत है, प्रकृति के अंदर विश्वात्मा परम देव का सज्ञान प्रकाश है। सर्वदा ही उसने मनुष्य के अंदर एक मानसिक, एक बौद्धिक, एक सक्रिय और व्यावहारिक नैतिक पुरुष, एक सौंदर्यप्रेमी और सुखोपभोगवादी पुरुष, एक प्राणिक और भौतिक पुरुष को अलग-अलग देखा और उनका विकास किया है, परंतु इन सबको उसने एक अंतरात्मा की शक्तियों के रूप में देखा है जो इनके द्वारा अभिव्यक्त होती और इनके विकास के साथ विकसित होती है, और फिर भी ये सब चीजें संपूर्ण अंतरात्मा नहीं हैं। क्योंकि यह अंतरात्मा अपने आरोहण के अंतिम शिखर पर पहुंचकर इन सबसे कहीं अधिक महान् एक चीजतक पहुंच जाती है, एक आध्यात्मिक सत्ता में चली जाती है, और इस महत्तर आध्यात्मिक सत्ता में ही भारत ने मानव आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति तथा उसके सर्वोच्च दिव्य मानवत्व को, उसके 'परमार्थ' तथा उच्चतम 'पुरुषार्थ' को देखा है।

ठीक इसी तरह भारत ने राष्ट्र या जाति का अर्थ कोई सुव्यवस्थित राजतंत्र अथवा कोई सशस्त्र और कार्यक्षम समाज नहीं माना है जो जीवन-संघर्ष के लिये और राष्ट्रीय अहंकार की सेवा में सब कुछ बलिदान कर देने के लिये अच्छी तरह तैयार हो; सच पूछो तो वह अहं तो केवल लौह-कवच का एक छद्मवेश होता है जो राष्ट्रीय पुरुष को छिपाये रखता तथा भाराक्रांत कर रखता है। भारत तो राष्ट्र या जाति को इस रूप में देखता है कि एक महान् समष्टि-आत्मा और समष्टि-जीवन संपूर्ण समाज के अंदर प्रकट हुआ है तथा उसने अपना एक निजी स्वभाव और अपने स्वभाव का एक धर्म—स्वभाव और स्व-धर्म—अभिव्यक्त किया है एवं उसे अपने बौद्धिक, सौंदर्यबोधात्मक, नैतिक, सक्रिय सामाजिक और राजनीतिक आकारों और संस्कृति के अंदर मूर्तिमान किया है।

फिर इसी तरह भारत की प्राचीन दृष्टि के अनुरूप मनुष्यजाति के विषय में हमें एक उच्च धारणा बनानी चाहिये। भारतीय दृष्टि में मनुष्यजाति के रूप में स्वयं विश्वात्मा ही प्रकट हुआ है, प्राण और मन के भीतर से होकर वही एक परम उच्च आध्यात्मिक उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये धीरे-धीरे विकसित हो रहा है : इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्यजाति की भी एक अंतरात्मा है, उसका विराट् आत्मा है और वह संघर्ष और सहकारिता के द्वारा एकत्व की ओर बढ़ रहा है, अपनी अनेक जातियों की विभिन्न संस्कृतियों तथा जीवनोद्देश्यों के द्वारा अपने अनुभव को बढ़ा रहा है तथा आवश्यक बहुत्व को बनाये रखता है, व्यक्ति की शक्तियों के विकास के द्वारा तथा एक दिव्यतर स्वरूप और जीवन की ओर होनेवाली उसकी प्रगति के द्वारा पूर्णता की खोज करता है, पर साथ ही जाति के जीवन में भी, यद्यपि बहुत धीरे-धीरे, उसी प्रकार की परिपूर्णता लाने का प्रयास करता है।

यहांपर यह तर्क उठाया जा सकता है कि क्या यह मनुष्य या राष्ट्रीय सत्ता का सच्चा वर्णन है, पर यदि एक बार इसे सच्चा वर्णन स्वीकार कर लिया जाये तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि केवल वही शिक्षा सच्ची शिक्षा होगी जो व्यक्ति और राष्ट्र के मन और शरीर में होनेवाली आत्मा की इस सच्ची क्रिया का यंत्र बनेगी। यही वह सिद्धांत है जिसपर हमें निर्माण करना होगा, यही होगा हमारा केन्द्रीय हेतु और मार्गदर्शक आदर्श। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो व्यक्ति के प्रसंग में अपना प्रधान लक्ष्य बनायेगी मानवात्मा और उसकी शक्तियों और संभावनाओं का विकास करना, राष्ट्र के प्रसंग में पहले अपनी दृष्टि में रखेगी राष्ट्रीय आत्मा और उसके धर्म की रक्षा करना, उसे शक्तिशाली और समृद्ध बनाने का कार्य तथा उसके बाद इन दोनों को मानवजाति की जीवनी शक्तियों में, उसके आरोहणकारी मन और आत्मा में उठा ले जायेगी। और वह मनुष्य के उच्चतम उद्देश्य को, उसकी आध्यात्मिक सत्ता के जागरण और विकास को कभी अपनी आंखों से ओझल नहीं करेगी।

—श्रीअरविंद

जाबाल सत्यकाम

जाबाल सत्यकाम की कहानी उपनिषदों की विशिष्ट कहानियों में से है। वह वेदान्त की शिक्षा से भरी है। लेखक यह आशा करता है कि श्रोता पहले से ही बहुत कुछ जानता है यहांतक कि जिसने अपने-आप योगाभ्यास न किया हो वह इसकी मोटी-मोटी बातों को छोड़कर और कुछ न समझ सकेगा। शंकर से लेकर अन्य सभी भाष्यकारों ने इसका उपयोग अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिये किया है। श्रीअरविंद ने ऐसी बातों की ओर ध्यान दिया है जिन्हें यूरोपीय विद्वान् बच्चों की बड़बड़ाहट मानते हैं परंतु जो योगियों की दृष्टि में अनंत सत्य हैं।

सत्यकाम जाबाल ने अपनी मां जबाला से कहा, "मैं ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहता हूं । बोलो, मेरा गोत्र क्या है?" मां ने कहा, "बेटे मैं नहीं जानती कि तुम कौन से गोत्र के हो लेकिन मेरा नाम है जबाला और तुम्हारा सत्यकाम इसलिये तुम हुए जाबाल सत्यकाम।"

सत्यकाम गौतम ऋषि के पास आकर बोला, "भगवन्, मैं आपका अन्तेवासी बनना चाहता हूं। मुझे अपने यहां शरण दीजिये।" गुरु ने नाम-गोत्र पूछा तो उसने कहा, "मेरी मां कहती है अपने यौवन में उसने कइयों की सेवा की है अतः वह नहीं कह सकती कि मेरा गोत्र क्या है, हां उसका नाम जबाला है और मेरा सत्यकाम।" गुरु इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "ब्राह्मण के सिवा किसी और में यह बात कहने का साहस नहीं होता। जाओ वत्स, समिधाएं इकट्ठी करो। तुम सत्य से नहीं डिगे इसलिये मैं तुम्हें अपनाता हूं।"

गुरु ने सत्यकाम की प्रशंसा की और उसे चार सौ दुबली-पतली मरियल-सी गाएं सौंपते हुए कहा, "लो वत्स, तुम जंगल में जाकर इनकी देखभाल करो और जबतक इनकी संख्या एक हजारतक न पहुंच जाये तबतक मत लौटना।"

कहानी बड़ी सरल-सी मालूम होती है लेकिन इतने से अंश में ही उस समय के वेदान्त के कई गूढ़ रहस्य छिपे हैं। अन्य कई स्थल पढ़ने से मालूम होता है कि छांदोग्य उपनिषद् की रचना से कुछ ही पहले सत्यकाम एक बहुत बड़ा गुरु हो गया था। लेकिन उसका जन्म बहुत ही नीच स्तर पर हुआ था। उसकी मां किसी एक की दासी न थी कि वह मां के स्वामी का गोत्र ले सकता। वह तो भाड़े की परिचारिका थी, उसका कोई गोत्र न था।

इस कहानी से और अन्य संदर्भों से भी पता चलता है कि यद्यपि वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी लेकिन वह किसी की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक न होती थी। क्षत्रिय ब्राह्मणों को शिक्षा दे सकते थे, बिना पिता की अनेक संतान उच्चतम और शुद्धतम लोगों के गुरु के आसन पर बैठ सकती थीं। यह कोई अनोखी या असंभव बात नहीं है क्योंकि पुराकाल का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा है। जात-पांत के आधार पर किसी के लिये आध्यात्मिक जीवन के द्वार बंद करना बहुत पीछे की बात है। सामान्य प्रथा के अनुसार बड़े-बड़े आध्यात्मिक गुरु अधिकतर उच्चतर कुलों के होते थे परंतु यह बात स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुसार थी किसी विधिनिषेध के कारण नहीं। इस उदाहरण से हमें मालूम होता है कि पुत्र की स्थिति निश्चित करने में मां का नहीं, बाप की स्थिति का अधिक महत्त्व था। शायद गोत्र का महत्त्व दीक्षा-संबंधी अनुष्ठानों के कारण अधिक था, शायद सत्यकाम भली-भांति जानता होगा कि वह एक परिचारिका का अवैध पुत्र था फिर भी गुरु के आगे सच्ची बात कहने के लिये वह मां से अपने बाप का नाम पूछता है। निकृष्टतम बात जानकर भी वह उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के लिये आग्रह करता रहा। उसे इस नीच आधार के कारण उस उच्च पद से वंचित किये जाने का कोई भय न था। गुरु भी उसकी स्पष्टता और सच्चाई से प्रभावित हुए। उन्होंने कह दिया ब्राह्मण के सिवा कोई और ऐसी

सच्ची बात स्वीकारने की हिम्मत न करेगा। यह स्पष्ट है कि गुरु का मतलब यह नहीं हो सकता कि सत्यकाम का पिता ब्राह्मण रहा होगा बल्कि यह कि सत्यकाम की सत्यवादिता उसे ब्राह्मणत्व प्रदान करती है। क्षत्रिय ऐसी बात खुलकर कहने से सकुचाता क्योंकि स्वभावतः क्षत्रिय मान-मर्यादा प्रिय होता है और अपमानजनक बात से दूर रहता है लेकिन सच्चा ब्राह्मण मान-अपमान को समान रूप में लेता है। वह केवल सत्य और उचित की परवाह करता है। गुरु इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सत्यकाम सत्य से च्युत नहीं हुआ इसलिये वह साधक होने योग्य, उच्चकोटि का ब्राह्मण है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दीक्षा देने के तुरंत बाद गुरु ने अपने इस होनहार शिष्य को कोई शिक्षा देने की जगह चार सौ मरियल गाएं सौंप दी जिनके स्वस्थ होने की अपेक्षा मरने की संभावना ज्यादा थी। आखिर यह व्यवस्था क्यों? क्या यह परीक्षा थी? क्या यह अनुशासन था? लेकिन गुरु तो पहले ही परीक्षा ले चुके थे और शिष्य कसौटी पर खरा उतरा था। फिर यह नयी चीज क्या थी?

पूर्ण मनुष्य में चौमुखी सत्ता होती है और वैदान्तिक साधना पूर्ण या सिद्ध मानव तैयार करना चाहती है। जब ईसा ने कहा था "वैसे ही पूर्ण बनो जैसे स्वर्ग में रहनेवाले तुम्हारे पिता पूर्ण हैं" तो वे वेदान्त के साधर्म्य—भगवान् जैसे बनने—की शिक्षा को साधारण लोगों की भाषा में रख रहे थे।

(अपूर्ण)

(दिसम्बर ७९ आर्काइव्ज में छपे अपूर्ण लेख "वैदिक इंटरप्रेटेशन्स" के आधार पर)

स्मृति—मानसिक और चैतन्य

हम बातें भूल क्यों जाते हैं?

ओह! मेरे विचार में इसके कई कारण हैं। पहला, क्योंकि व्यक्ति याद रखने के लिये स्मरण-शक्ति का प्रयोग करता है। स्मृति एक मानसिक उपकरण है और मस्तिष्क की रचना पर निर्भर है। तुम्हारा मस्तिष्क लगातार विकसित होता रहता है, जबतक कि उसका ह्रास ही न शुरू हो जाये, किंतु तो भी उसका विकास बड़े लम्बे समयतक चलता रह सकता है, शरीर के विकास से कहीं अधिक लम्बे समयतक। और इस विकास में, आवश्यक रूप से कुछ वस्तुएं दूसरी वस्तुओं का स्थान लेंगी। और जैसे-जैसे मानसिक यंत्र विकसित होता जायेगा, वैसे-वैसे जिन वस्तुओं का काम या विकास की क्रिया में जिनका अस्थायी समय समाप्त हो गया है वे अपना स्थान इस सबके परिणाम को देकर मिट सकती हैं। इस प्रकार जो कुछ तुम जानते हो उस सबका परिणाम उसके अंदर, सजीव रूप में, रह जाता है, किंतु जिस मार्ग से उसतक पहुंचा गया है वह पूरी तरह से धुंधला पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्मृति अच्छी तरह कार्य कर रही है तो इसका यह अर्थ होगा कि केवल परिणाम ही याद रहेगा ताकि वह आगे बढ़ने के लिये और नयी रचना के लिये आवश्यक तत्त्वों को सुरक्षित रख सके। यह बात मन में कठोर रूप से वस्तुओं को जमा रखने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अब, एक पक्ष इसका और भी है। मानसिक स्मृति दोषपूर्ण चीज है, उसके बाहर भी चेतना की अवस्थाएं हैं। व्यक्ति चेतना की जिस किसी अवस्था में हो, वह अवस्था उस समय के देखे हुए विषयों को, वे चाहे जो क्यों न हों, अंकित कर लेती है। यदि तुम्हारी चेतना पारदर्शी, विशाल एवं सशक्त रहती है, तो तुम किसी भी समय, एकाग्र होकर, उस सबको जो तुमने पहले कभी किया, सोचा, देखा, परखा है अपनी सक्रिय चेतना में ला सकते हो; अपने अंदर चेतना की उसी अवस्था को लाकर इस

सबको याद कर सकते हो। और वह फिर कभी नहीं भूलता। हजारों वर्ष जीवित रहने पर भी तुम उन्हें याद रख सकते हो। अतएव, यदि तुम किसी वस्तु को भूलना नहीं चाहते, तो उसे तुम्हारी चेतना को याद रखना होगा, मानसिक स्मृति को नहीं। तुम्हारी मानसिक स्मृति तो मिट भी जायेगी, धुंधली भी पड़ जायेगी, और फिर नयी वस्तुएं पुरानी वस्तुओं का स्थान ले लेंगी। किंतु तुम जिन वस्तुओं के प्रति सचेतन हो, उन्हें कभी नहीं भूलते। तुम्हें केवल चेतना की उसी अवस्था को वापिस लाना होगा। और इस प्रकार तुम हजारों वर्ष पहले की बातें भी याद रख सकते हो, पर केवल तब यदि तुम चेतना की उसी अवस्था को लाना जानो। इसी प्रकार व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों को याद रख सकता है। वे कभी नहीं मिटतीं, जब कि जो कुछ तुमने अपने बचपन में भौतिक रूप में किया था वह याद मिट जाती है, तुम्हें ऐसी कई बातें बतायी जायेंगी जो तुम्हें इस समय याद नहीं। वह सब तत्काल ही धुल-पुंछ जाता है। कारण, मस्तिष्क लगातार बदलता रहता है और कुछ निर्बल कोषाणुओं के स्थान पर नये अधिक सशक्त कोषाणु आ जाते हैं, और अन्य संयोग एवं मस्तिष्क-संबंधी रचनाएं आती हैं। इस प्रकार, जो पहले था वह मिट जाता है या विकृत हो जाता है।

हजारों वर्ष पहले जो हुआ था वह भी याद रह सकता है!

हां, यदि तुम उस विशेष स्थान पर जाओ, यदि तुम हजारों वर्षों पहले के स्थान के संपर्क में आने में सफल हो सको। एक बात और है (मेरा ख्याल है मैंने यह कहीं लिखा भी है), पृथ्वी की चेतना का अपना लिखित अभिलेख है, और यदि तुम उस स्थान पर पहुंचना जान जाओ, तो तुम केवल अपने जीवन को ही नहीं बल्कि उस सबको भी जान सकते हो जो पृथ्वी पर घट चुका है। वहां सब अंकित रहता है, और यह चेतना का तथ्य है।

किंतु, मां, व्यक्ति यह सब कैसे याद रखता है, क्योंकि जब वह अपना शरीर बदल लेता है, तो मन . . .

मैंने अभी तो बताया है, मेरे बच्चे, शायद तुमने सुना नहीं कि मैंने क्या कहा। मैंने कहा था कि मानसिक स्मृति के साथ सब कुछ मिट जायेगा; अपने वर्तमान जीवन में भी तुम ऐसी कई बातों को जो बीस, तीस या चालीस वर्ष पहले हुई थीं, याद नहीं रख सकते। किंतु चेतना की अवस्था मानसिक अवस्था नहीं होती। इसका मन से कोई संबंध नहीं होता। यह सच है कि अधिकतर मन शरीर के विघटन के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, सिवाय उस अवस्था के जब कोई भली-भांति निर्मित, बहुत अच्छी तरह से "सुगठित" एवं संघटित विशेष रचना हो जो टिक सकती है। किंतु ऐसा बहुत कम होता है। ये केवल अपवाद ही होते हैं। किंतु चेतना बिलकुल ही दूसरी चीज है। चेतना एक सनातन अवस्था है। चेतना की अवस्था एक शाश्वत अवस्था है। सृष्टि चेतना से ही उत्पन्न हुई है और यदि चेतना खींच ली जाये, तो सृष्टि भी न रहेगी। और यदि तुम चेतना के संपर्क में आ जाओ, तो तुम सृष्टि का पूरा इतिहास जान सकोगे, क्योंकि सृष्टि चेतना से ही आती है। चेतना सनातन वस्तु है।

(श्रीमातृवाणी खंड ६ से)

अनोखा अतिथि

बात एक अनोखे देश की है। वहां की हर चीज अनोखी थी। वहां के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी निराले थे। लेकिन सबसे अद्भुत और अनोखी थी एक हिरनी। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें हीरों-सी चमकती थीं, उसका कोमल, सुन्दर शरीर सुनहरी झलक से झिलमिलाता था, छलांग मारती तो आकाश को भी नीचे छोड़ जाती। उस अनोखे प्रदेश की हरी-भरी सुगंधित दूब चरते-चरते एक दिन हिरनी ने नीचे झांका। अरे, यह क्या ? . . . नीले, हरे रंग का एक गोला सफेद बादलों के बीच नाच रहा था। हिरनी ने अपनी आंखों को फैलाकर अच्छी तरह देखा। टप . . . टप . . . उसकी विशाल आंखों से मोती टपकने लगे। हाय . . . नाचती गेंद दुःख के भार से दबी जा रही थी। कितने प्राणी रोते थे, चिल्लाते थे और बिलखते हुए टूट-टूट पड़ते थे। उसने देखा हिरनों के झुण्ड भागे जा रहे हैं। उनकी बदहवासी देखकर हिरनी का सिर चकरा उठा। जी में आया आखें बंद कर ले। लेकिन नहीं, वह कायर नहीं है! उसने फिर देखा, सुन्दर सुनहरे सिंह निरीह हिरनों का पीछा कर रहे थे और मौका पाते ही उनके सुकुमार शरीर को तोड़-मरोड़ कर कवलित कर लेते। दोपाये प्राणी तो और भी अजीब थे, बेबात के लड़ पड़ते और बिना कारण अपनी जाति को मारकर फेंक देते या धरती में गाड़ देते।

करुणा से आर्द्र हिरनी ने सोचा, "आह ! क्या जीवन है ! कष्ट, दुःख और आंसू, यही इस गोले की गाथा मालूम होती है। चलो, मैं उस गोले पर ही चलकर देखूं। उनके आंसू पोछूंगी, उनके दुःख-दर्द दूर करूंगी, यहां के जीवन का समाचार सुनाकर उनमें आशा का संचार करूंगी। बेचारे कैसे तड़प रहे हैं। इतने प्रकाश के होते हुए भी अंधों की तरह एक-दूसरे से टकराते रहते हैं, ठोकरें खाकर गिरते हैं और दूसरे उन्हें कुचलते हुए निकल जाते हैं। लेकिन आगे चलकर खुद उनकी भी तो यही दुर्दशा होती है। हाय, आंखें होते हुए भी ये अंधे दीखते हैं। हर एक दूसरे का दुःख बढ़ाने में लगा है। यह प्रकाश और जीवन फैलाता हुआ सूर्य, यह सुधा बरसाता हुआ चन्द्र, ये किरणों के रेशमी सोपान इनके लिये कुछ अर्थ नहीं रखते ? देखने में कितने सुन्दर हैं ये दोपाये ! पर इनके अंदर . . . "

हिरनी सिहर उठी। वह गोले की ओर आंखें गड़ाये देखती गयी, देखती ही गयी। अचानक एक जोर की चीख सुनायी दी। बहुत-से दोपाये मिलकर गोले को फोड़ने की कोशिश कर रहे थे। हिरनी से और न देखा गया। उसने बिजली की तरह छलांग मारी और एक कौंध के साथ धरती पर जा पहुंची। दोपायों में खलबली मच गयी। ऐसा सौंदर्य, ऐसा तेज और ऐसा माधुर्य उन्होंने कभी न देखा था। सौंदर्य पर उनकी आंखें न टिकती थीं, पास जाने का साहस न होता था। हिरनी का जबर्दस्त आकर्षण था लेकिन डर भी कम न था।

हिरनी घने जंगल में इधर-से-उधर टहलने लगी। यहां के वन-वाटिका, यहां के पर्वत और उपत्यकाएं देखकर वह मग्न हो रही थी। जहां इतना सौंदर्य है, जहां की हवा में आनन्द भरा है वहां का जीवन कुत्सित कैसे हो गया ? यह दुर्गन्ध कहां से आ गई ? यह भय, यह दुःख, यह विलाप कैसे समा गया ? विचारमग्न हिरनी आगे बढ़ती गयी, बढ़ती, बढ़ती ही गयी। अब उसने अपने-आपको दोपायों के नहीं, चौपायों के बीच में पाया। थोड़ी-सी देर में उसके इर्द-गिर्द विस्मित प्राणियों का जमघट लग गया। हर प्राणी हिरणी को अपनी ओर बुलाता था। हिरनी अनायास आगे बढ़ती तो बुलानेवाले प्राणी भाग खड़े होते। हिरनी आश्चर्य में पड़ गयी : "क्या रहस्य है इसमें ? यहां की तो हर बात निराली है, हर चीज में विरोध दीखता है। ये जानवर मेरी ओर देखते हैं, मुग्ध दृष्टि से देखते हैं और फिर ऐसे भागते हैं मानों उनकी जान पर बन आयी हो।"

उस तरफ बहुत से जानवर भागे जा रहे थे। एक भागते सिंह को रोककर हाथी ने पूछा : "अरे !

वनराज ! भागते क्यों हो ?" सिंह ठिठका, सकपकाया, फिर इधर-उधर देखकर बोला : "अरे, देखते नहीं ? उसकी हीरों-सी आंखों में से ज्वाला निकल रही है। मुझे मरना थोड़े ही है, अपनी खैर चाहो तो तुम भी भाग चलो।"

सिंह से लेकर सियारतक सबका यही हाल था। हिरनी को बुरा तो लगा पर कर ही क्या सकती थी ? वह धीरे-धीरे जंगल के एक छोर पर आकर खड़ी हो गई। दूर से भयंकर कोलाहल जंगल की ओर आता हुआ सुनाई दिया। समान शत्रु की गंध पाकर सांप भी नेवले का डर भूल जाता है। दोपायों का कोलाहल सुनकर जानवर भी हिरनी का डर भूल गये। उससे भी भागने का आग्रह करने लगे। हिरनी ध्रुव बनी खड़ी रही। अपनी जान सभी को प्यारी होती है। हिरनी को उसके हठ के साथ छोड़कर सभी प्राणी अपने-अपने प्राण बचाने के लिये सिर पर पैर रखकर भागे। कोलाहल पास आता गया। जंगल के चौपाये इससे परिचित मालूम होते थे पर उसके लिये तो यह नया अनुभव था। झुंड में अनेक दोपाये थे। प्रत्येक का रंग अलग, रूप अलग और शरीर का गठन भी अलग था। कइयों के हाथ में विचित्र चीजें थीं जिनसे वे भयंकर आवाजें निकालते थे। दोपाये जिस प्राणी की ओर उस चीज को फेंकते वही ढेर हो जाता था। दोपाये खुशी-खुशी उसके पास जाते, उसे घसीटते, उसकी खाल खींचते और टुकड़े करके उसे चबा जाते।

हिरनी का हृदय मुंह को आने लगा। ओह! ये प्राणी अपने-आपमें काफी सुंदर थे किंतु इनके काम कैसे असुन्दर, असुन्दर ही नहीं, घिनौने थे ! हिरनी को देखते ही भीड़ ठिठक गयी। धीरे-धीरे कानाफूसी होने लगी। आपस में कुछ बात करके बहुत से प्राणी अदृश्य हो गये। फिर धीरे-धीरे एक दोपाया जरा-सी घास लेकर पुचकारता हुआ हिरनी के नजदीक आने लगा।

हिरनी को उसकी मूर्खता पर दया भी आयी और हंसी भी। सोचने लगी : "सचमुच यह प्राणी आंखोंवाला होते हुए भी अंधा है। मेरे चारों ओर घास है, फिर भी वह मुझे घास दिखाकर ललचाने की कोशिश कर रहा है। क्या हर्ज है ? चलो, चली जाऊं उसके पास। मैं यहां मदद करने ही तो आयी हूं, उसे अपने इन्द्रधनुषी रंगों से झिलमिलाते सुन्दर प्रदेश और उसके प्राणियों की बातें सुनाने आयी हूं। पास न गयी तो बात कैसे होगी ? उसके दुःख को कैसे हल्का करूंगी ?"

अपनी नाजुक गर्दन को आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ाते हुए हिरनी दोपाये के पास आकर खड़ी हो गयी। दोपाये ने एक हाथ से कुछ इशारा किया और कहीं से एक प्राणी झटपट निकल आया। दोनों फुसफुसाने लगे। एक बोला : "वाह ! देखा कैसा फंसाया !"

दूसरा गर्व से फूलकर बोला : आखिर मुझे समझ क्या रखा है ? उड़ती चिड़िया गिरानेवालों में से हूं।"

हिरनी ने उनकी बकवास सुनी तो मन-ही-मन मुस्कराई। "सच, यह प्राणी है तो महामूर्ख, पर समझता है अपने-आपको बुद्धि का खजाना। सच यह प्राणी महामूर्ख है !" हिरनी ने मन-ही-मन कहा। "खैर, जैसा भी हो, मैं उसकी मदद करने आयी हूं, उसके दोष देखने नहीं।"

थोड़ी देर बाद हिरनी ने देखा कि धीरे-धीरे सारे दोपाये उसे घेरकर खड़े हो गये। हिरनी सबकी ओर बढ़ती, कोई उसका सिर सहला देता और कोई उसे घास खिला देता। हिरनी हर एक के पास बिना झिझक चली जाती थी। फिर से दोपाये आपस में कानाफूसी करने लगे।

हिरनी ने सोचा : "हां, अब सबके साथ मेरी अच्छी दोस्ती हो गयी है। अब समय आ गया है कि मैं उनको उस प्रदेश की कहानी सुनाऊं और उस प्रदेश के प्राणियों की बात कहूं, लेकिन कैसे कहूं ?"

अचानक उसे ख्याल आया : "मैं गाना गा सकती हूं। मैं इन्हें गाना गाकर सुनाऊंगी।"

और हिरनी ने बहुत ही मधुर मृदु कंठ में गाना गाना शुरू किया। और गाने-ही-गाने में सूर्य के

प्रदेश, इन्द्रधनुष के देश और अनोखे प्राणियों की बातें सुनाने लगी। सारे-के-सारे प्राणी एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। उनमें से एक ने कहा :

"हूं ! भाई, गाना लगता तो बहुत अच्छा है, मधुर गला है उसका, लेकिन पता नहीं क्या बकर-बकर कर रही है।"

तो दूसरा बोला : "हां, भई, आखिर हम हैं मनुष्य, सबसे ऊंचे प्राणी। और वह ठहरी हिरनी। चाहे जितनी सुंदर क्यों न हो, चाहे जितनी अच्छी क्यों न हो, है तो हिरनी, यानी, जानवर। वह क्या बोलेगी हमारे सामने ?"

ये लोग अपने-आपको शिकारी कहते थे, शिकार इनका पेशा था। ये जानवरों को मारते और मारकर गर्व से फूल उठते थे। शिकार ही इनका मुख्य भोजन था। हमारी हिरनी शिकारियों से घिरी थी—क्रूर, जीभें लपलपाते, खून के प्यासे शिकारियों से। लेकिन उनमें एक शिकारी का चेहरा सौम्य था। इनमें से वही सबसे अच्छा और सहृदय दीखता था। उसने कहा :

"अरे, तुम समझ नहीं पा रहे हिरनी गाना गाकर क्या कह रही है ? जरा कान लगाकर सुनो, हिरनी कह रही है : 'हे दोपायो, मैं उस सूर्य के प्रदेश से आयी हूं जहां सब कुछ सुंदर है, सब कुछ प्रकाशमय है, जहां सिर्फ मैत्री-ही-मैत्री है। मैं तुम्हें उस देश की राह दिखाऊंगी; चलो, मेरे साथ चलो'।"

दूसरों ने कहा : वाह ! बनता है, इसे कैसे मालूम कि वह क्या कह रही है ? जानवरों की बोली समझता है यह ?

सौम्य दीखनेवाले शिकारी ने उत्तर दिया : "मैं भली-भांति समझता हूं इसकी भाषा। कभी-कभी जब मैं ऊपर देखता था तो मुझे यह हिरनी दिखायी देती थी। इसे धरती पर बुलाने की उत्कट इच्छा थी मेरे अंदर, आश्चर्य नहीं मेरी पुकार सुनकर ही धरती पर आयी हो।"

"हुं", एक ने कहा, "तू तो हमेशा कहानियां बनाता रहता है। हमें तो बिलकुल ढपोर शंख समझ लिया है तूने। अच्छा, बोल, वह और क्या कह रही है ?"

"वह कह रही है उस प्रदेश में तुमसे भी सुंदर प्राणी हैं।"

एक मोटे थुलथुले आदमी ने अपनी तोंद को बड़े अहोभाव से देखते हुए कहा : "मनुष्य से भी सुंदर प्राणी ! हां ! कभी सुना भी है ? गप, कोरी गप !"

सौम्य व्यक्ति ने कहा : "हमें बिना जाने निर्णय न करना चाहिये। मुझे उसकी बात असंभव नहीं लगती। देखो, जब धरती पर बंदरों का राज्य रहा होगा तो सभी सोचते होंगे : 'आहा ! बंदर कितना होशियार है ! कितना चपल है, कितना सुंदर है !' कहते हैं हम उसी बंदर से विकसित हुए हैं। उसी तरह हो सकता है कि मनुष्य से भी सुन्दर कोई और जाति बाद में आनेवाली हो।"

ये बातें चल ही रही थीं कि इनमें से किसी बुद्धिमान् ने कहा : "अरे, भई, हिरनी का क्या है ? वह तो जंगलों में मारी-मारी फिरती है। हम उसके पीछे-पीछे कहां खाक छानते फिरेंगे। और तू, भाई सौम्य, तू कहता है कि हिरनी किसी और प्रदेश की बात कर रही है। वह कह रही है, 'तुम सब सूर्य-किरणों द्वारा सूर्य के साथ जुड़े हुए हो। सूर्य के अंश हो। तुम लोग आपस में लड़-झगड़ कर क्या पाते हो ? तुम आपस में एक-दूसरे को पहचानो तो तुम्हारे दुःख-दर्द सब खतम हो जायेंगे।" यह सब तो ठीक है, लेकिन देखा किसने है कि सूर्य के साथ सचमुच हमारा नाता है भी ? देखा किसने है उस प्रदेश को जिसके बारे में हिरनी इतनी कहानियां सुनाती है ? ना, भई, मैं तो नहीं जाऊंगा वहां।"

दूसरा कहने लगा : हां, भई, तू ठीक कहता है। ऐसे इधर-उधर मारे-मारे घूमते रहने से कभी कुछ हुआ है ? हिरनी का क्या है ? वह तो एक छलांग मारकर यह जा वह जा। हम से कहती है, 'मेरे गले से लिपट जाओ, मैं खुद तुम्हें उठाकर ले जाऊंगी उस प्रदेश में।' उसका भरोसा क्या ? कहीं गिर गयी

तो उसकी हड्डी-पसली एक हो जायेगी, शायद मरकर अपने प्रदेश में जा पहुंचे। उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन हमारा क्या होगा ? हं . . . हमारे घर हैं, द्वार हैं, कितने लोग हैं, कितने बच्चे हैं हमारे ! कलप-कलप कर बेहाल हो जायेंगे। ना, बाबा, मुझे नहीं पड़ना इस झमेले में . . .। लेकिन हिरनी को छोड़ना भी तो मुश्किल है। ओह ! कितनी मनोहर है ! कितनी सुंदर है ! कितने मीठे गले से गाना गाती है ! भई, क्या कहूं, मुझे तो इस हिरनी ने फांस लिया है बुरी तरह से। कहीं इसके पीछे पागल न हो जाऊं। मैं न तो इसे छोड़ सकता हूं और न इसका साथ दे सकता हूं। वह जो बातें कर रही है वे मुझे सनक से भरी लगती हैं। न तो मेरे पल्ले पड़ती हैं और न मेरे गले से उतरती हैं। क्या करूं ?''

एक और शिकारी बोल पड़ा : ''अच्छा, हम ऐसा क्यों न करें ? हिरनी के साथ जाने की जगह हिरनी को यहीं रख लें, इसे जाने ही न दें।''

एक और बोला : ''ठीक बात है। लेकिन मेरे मन में एक और विचार आया है। आम के आम और गुठलियों के दाम। यह भी रहेगी और हमारी जेबें भी भारी हो जायेंगी। हिरनी को ले जाकर चक्रवर्ती महाराज मानसिंह के पास बेच देंगे। कैसी हीरों जैसी आंखें हैं उसकी, और कैसा सुनहरा रंग। कौन जाने, सचमुच सोने की बनी न हो। महाराज बहुत खुश होंगे इसे पाकर। मैं सोचता हूं एक करोड़ से कम तो क्या देंगे।''

दूसरे ने विरोध करते हुए कहा : ''हं . . . हं . . . एक बार बेच दिया तो फिर हमे क्या मिलेगा ? चलो, हम ऐसा करते हैं, जैसे सरकस में लोग जानवरों को पकड़कर चालाकियां करना, गुल्लाटियां खाना, कलाबाजियां करना, आग के चक्करों से कूदकर निकल जाना सिखाते हैं, वैसे ही हम भी हिरनी को ये सब तमाशे सिखायेंगे। और चारों ओर तमाशा दिखाते फिरेंगे, इससे खूब पैसा आयेगा और हम धनवान् बन जायेंगे। मेरा ख्याल है कि हिरनी को भी अच्छा ही लगेगा और न लगे तो हमारी बला से ! चाबुक सब कुछ अच्छा लगवा देगा। कहो क्या राय है ?''

हिरनी इन सब की ये स्वार्थ-भरी ऊटपटांग बातें सुन-सुन कर दुःखी होती और आश्चर्य से कभी इसकी ओर, कभी उसकी ओर ताकती थी। अबतक उसे पता लग चुका था कि इसी दोपाये प्राणी का नाम मनुष्य है, और ये सब शिकारी हैं। मन-ही-मन हिरनी कहने लगी : ''ओहो, मनुष्य कितना भोला है, कितना मूर्ख है और साथ ही कितना अंध-विश्वासी ! सत्य से तो वह बिदकता फिरता है। मेरे लिये इतना प्रेम दिखाता है, पर मेरी बात पर भी विश्वास नहीं करता।''

उसी समय सौम्य बोल पड़ा : ''तुम लोग विश्वास करो या न करो, मुझे हिरनी की बात पर विश्वास है। मैं उस देश में जाने के लिये तैयार हूं।''

हिरनी बहुत खुश हो गई। चमकती हुई आंखों से उसने सौम्य की ओर देखा। सौम्य हिरनी की गरदन पर प्यार से हाथ फेरता हुआ बोला : ''चलो, हम तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे। तुम्हारे साथ पहाड़ चढ़ने पड़ें या नदियां फांदनी पड़ें, सभी में एक आनंद होगा। मुझे तो यहांतक विश्वास है कि तुम्हारे साथ रहकर गिरने में और चोट खाने में भी मजा आयेगा। बहुत हुआ तो किसी कगार से फिसल जायेंगे या नदी में जा डूबेंगे। यह भी कोई बड़ी बात न होगी।''

सौम्य के साथ-ही-साथ हिरनी का जादू और कइयों पर चल गया। न चाहते हुए भी कई उसके पीछे हो लिये। हिरनी उन सबको लेकर पहाड़ियों की ओर जाने लगी। बीच-बीच में जब शिकारी और मनुष्य थक जाते या शंकाएं करके उसे रोकने की कोशिश करते तो हिरनी अपने मधुर स्वर में गाना गाकर उनके अंदर नया उत्साह जगाती और आगे बढ़ने की प्रेरणा देती। इस तरह वे सब चलते, ठिठकते, रुकते और दौड़ते पहाड़ की एक ऊंची चोटी पर जा पहुंचे।

यहांतक पहुंचते-पहुंचते कई मनुष्य रास्ते में ढेर हो चुके थे। उनका स्थान लेने के लिये बहुत से नये लोग आ जुटे थे। भीड़ बढ़ती जाती थी, लेकिन उधर हिरनी का शरीर दुर्बल होता जा रहा था। आंखों में वही चमक थी, वाणी में वही उल्लास था, उसके गीतों में और भी मादकता आ गयी थी। जो एक बार सुन लेता वह उसका हो जाता था, लेकिन जहां कड़ी चढ़ाई होती, जहां तेज धारा दिखायी देती, किसी तरह भी जान जोख़िम में होती तो अपना भार हिरनी पर लादने में, फल-फूलों की कमी होती तो उसका हिस्सा भी उदरस्थ करने में किसी को संकोच न होता था। इसे तो वे अपना अधिकार और हिरनी की भलाई मानते थे।

अब अंतिम चढ़ाई नजदीक थी। पहाड़ सरो के पेड़ से भी ज्यादा सीधा खड़ा था। पैर रखने के लिये जगह न थी। रपटने पर भीषण खाई गोद में लेने के लिये बैठी थी। हिरनी ने आगे बढ़ने के लिये इशारा किया। शिकारी एक कदम बढ़ने को तैयार न थे। इस जगह की सुविधा छोड़कर कौन संदिग्ध आनंद के लिये जान की बाजी लगाये। वह उन्हें आगे ले जाने पर कटिबद्ध थी और वे उसे रोके रखने के लिये कृत-संकल्प। प्रेम का तंतु पीछे न हटने देता था और वर्तमान का मोह पैरों को जकड़े हुए था।

हिरनी की समझ में न आता था कि उसकी सहायता के बावजूद इन्हें इतना डर क्यों लग रहा है। वह उन्हें आगे ले जाने के लिये, उन्हें सूर्य-लोक में पहुंचाने के लिये उत्सुक थी, वे उसे नीचे खींचने के लिये लालायित। वे चौबीसों घण्टे उसे घेरे रहते थे। हिरनी ने धीरे-धीरे उनकी दी हुई दूब, घास या छोटे-मोटे फूल खाना भी छोड़ दिया। सारे शिकारियों की चिंता और बढ़ गयी क्योंकि पहले चाहे कुछ रहा हो, अब हिरनी सब को बहुत प्रिय थी। कोई नहीं चाहता था कि हिरनी उन्हें छोड़कर चली जाये।

वे सोचते थे : "अब क्या होगा? हिरनी को कुछ हो गया तो?"

लेकिन कोई उसका साथ देने को भी तैयार न था। एक सौम्य ही हिरनी के पीछे-पीछे कहीं भी जाने को तैयार था। सब यही सोचते थे कि हिरनी उनकी बात मानकर सुरक्षित स्थानों की ओर चलना स्वीकार कर लेगी। लेकिन धीरे-धीरे क्या देखा उन्होंने, हिरनी का शरीर दुर्बल होने लगा। उसकी चमकती हुई हीरे-सी आंखें छोटी होती गयीं, उनकी ज्योति बुझती गयी। सब-के-सब मनुष्य चिंतातुर हो उठे। सब उसे घेरकर और भी ज्यादा प्यार दिखाने लगे। अपनी ओर से पूरी कोशिश करने लगे कि हिरनी कुछ खाये, कुछ पिये, लेकिन सब बेकार। अब चतुर सयाने शिकारी आशा छोड़कर बैठ गये। उन्हें दुःख तो बहुत था पर वास्तविकता से आंखें कैसे मूंद लेते? उनमें कानाफूसी होने लगी :

"अब यह जा तो रही है, फिर इसका लाभ क्यों न उठाया जाये?"

छिपे-छिपे उसके मांस और चमड़े का भाव-ताव होने लगा। सौम्य यह सब देखता था और खून के घूंट पीकर रह जाता था। वह हिरनी से सटा बैठा रहता और कभी-कभी आंसू बहाया करता।

शिकारियों की आंखें हिंसा-भाव से भर उठीं। वे धीरे-धीरे हिरनी के नजदीक आते गये। सौम्य का माथा ठनका और वह उछलकर क्रुद्ध सिंह की तरह खड़ा हो गया। वह आग बरसाती हुई आंखों से चारों ओर देखकर चिल्लाया :

"खबरदार, एक कदम भी आगे न रखना। मैं अकेला ही तुम सब से लोहा लेने के लिये काफी हूं। हिरनी की ओर बढ़ने से पहले मेरे साथ ताकत आजमानी होगी।"

सौम्य की ललकार सुनते ही सारे शिकारी ठिठक गये। उनकी आंखों में हिंसा की जगह भय ने ले ली। उनके पांव जमीन में गड़ गये। जो जहां था वहीं पथरा गया। हिरनी भी हिले-डुले बिना आंखें फाड़े सौम्य की ओर एकटक देखने लगी। शायद उसके चेहरे पर स्मित खेल रहा था। लेकिन उसे देखने की सुध ही किसे थी? सौम्य की समझ में न आ रहा था कि अब क्या करे। उसका मस्तिष्क एकदम खाली था।

अचानक सौम्य की आंखें भगवान् भास्कर की ओर उठ गयीं और उसके हाथ जुड़ गये। दिव्य मधुर कंठ से निकलनेवाली प्रार्थना सारे वातावरण में फैल गयी। धरती और गगन का एक-एक कोना गूंजने लगा। ऐसा लगता था मानों स्वयं धरती के हृदय से निकलनेवाला स्वर आलोक को निमंत्रण दे रहा था, प्रेम का आवाहन कर रहा था। शिकारियों के तपते दिलों ने शीतल समीर के झोंके का अनुभव किया। उन्हें लगा कि उनके बंधन टूट रहे हैं और वे हल्के होते जा रहे हैं।

निःस्वार्थ प्रार्थना के उत्तर में निरभ्र आकाश से वर्षा शुरू हो गयी। हल्की-फुल्की वर्षा, मानों फूल झर रहे हों। और फूल भी कैसे ! सुनहरी ज्योति की फुहारों से बने ! विस्मित सौम्य उस स्निग्ध वर्षा में नहाने लगा। उसे लगा कि वर्षा हिरनी और शिकारियों को भी भिगो रही है। आनंदमग्न होकर सौम्य ने फिर से गगनमंडल की ओर ताका। उसने देखा एक भव्य और शालीन हिरन नीचे की ओर झांक रहा था। उसका शरीर भी हिरनी की तरह स्वर्णिम था। उसके सींग बहुरंगी रत्नों से जगमगा रहे थे मानों किसी सम्राट् का मुकुट हो। हिरन ने एक छलांग मारी और हिरनी के सामने आ खड़ा हुआ। उसकी आंखें भी हीरों-सी चमक रही थीं। उसमें से मधुर, शीतल ज्योति निकल रही थी। वह ज्योति सभी दोपायों के हृदयों को भेदती हुई उनकी अतल गहराइयोंतक जा रही थी। उसके आगे कोई परदा न टिक सकता था।

कौन जाने यह विलक्षण हिरण भी सूर्य के प्रदेश से ही आया हो। देखने में इतना विशालकाय, पर भार में फूलों की सुगन्ध से भी हल्का। उसका आकर्षण भी हिरनी से कम न था लेकिन उसके साथ आंखें मिलाने का साहस न होता था किसी को।

उसने हिरनी को अपने सींगों पर उठा लिया। धरती से एक आर्तनाद उठा :

"नहीं, नहीं, जाओ मत। हमें छोड़कर मत जाओ। हम सब तुम्हारे हैं। हमें अपना लो।"

धरती की उस गूंज ने शिकारियों के अंतर की आंखें खोल दीं। अचानक उनके हृदय में सूर्योदय हुआ और शायद पहली बार वे हिरनी के बलिदान को समझे। शिकारियों के दल ने एक स्वर हो कहना शुरू किया :

"हे मुक्तिदायिनी, हे अमृतवाहिनी, अपने अगाध प्रेम के कारण ही तू हमारे बीच में उतरी थी। तेरी आहुति ने हमारी आंखें खोल दी हैं। हम पूरी तरह से तेरे हैं।"

हिरन के पीठ पर लेटी हिरनी न मालूम कब गायब हो गयी। उसके स्थान पर एक अद्भुत देवी की आकृति खड़ी थी। सौम्य ने सुना था कि वैदिक काल में मनुष्यों को देवी-देवताओं के दर्शन हुआ करते थे। सौम्य ने उनका वर्णन तो पढ़ा था पर यह आशा न की थी कि उन्हें देख पायेगा। देवी के भी मनुष्य जैसे ही हाथ-पांव थे, हां, मनुष्य के-से किंतु कितने भिन्न। ऐसा लग रहा था कि उनका शरीर ज्योति और आनंद की सघनता से बना है। देवी ने मुड़कर हिरन की आंखों में देखा मानों सूचना दे रही हों कि समय आ गया है। देखते-देखते हिरन भी एक ज्योर्तिमय कनकोज्ज्वल देव के रूप में बदल गया जिसकी आंखों में से प्रेम की ज्वाला निकल रही थी। दोनों ने सौम्य और उसके साथियों की ओर दृष्टि डाली।

सबने अनुभव किया कि वे किसी अथाह आनंद के सागर में खो गये हैं। किसी को अपनी सुध-बुध न थी। नयी सृष्टि का संगीत शुरू हो चुका था।

"प्राणानामयि सत्य केवल भवन् प्राणोऽसि नो ज्योतिषां
ज्योतिस्त्वं ननु लोकतारक परप्रेमन् प्रसीद प्रभा।
संवित्तौ तव सन्निधेः स्थितिमतो विच्छेदलेशं विना
पूर्णं पूर्णमहं विभातविभवैरुन्निद्रितः स्यामहम्॥

(हे जीवन के एकमात्र सत्य, तू हमारा जीवन है, तू ज्योतियों की ज्योति है। हे जगदुद्धारक परम प्रेम, प्रभो, हमपर कृपा कर। वर दे कि हम तेरी उपस्थिति के भान में अधिक-से अधिक जाग्रत् हों।)

—अनुबेन

श्रीअरविंद का कार्य और उनकी शिक्षा

श्रीअरविंद का कार्य है एक अनोखा पार्थिव रूपांतर।

*

श्रीअरविंद ने अतिमानसिक चेतना को मानव शरीर में अवतरित किया। उन्होंने लक्ष्यतक पहुंचने के लिये जिस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये उसकी प्रकृति और उसपर चलने का तरीका भी बताया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि के द्वारा हमारे सामने उदाहरण भी रखा; उन्होंने हमारे सामने प्रमाण रखा कि यह किया जा सकता है और बताया कि उसे करने का समय यही है।

*

क्षण-भर के लिये यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि श्रीअरविंद ने परिवर्तन का जो महान् कार्य ले रखा है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है : हमने हाथ में जो काम लिया है उसके बारे में संदेह की कोई छाया भी नहीं है . . . । रूपांतर होनेवाला है : कोई चीज उसे नहीं रोक सकती, सर्वशक्तिमान् के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने से पहले, जब यह लंबा युद्ध चिर-विजय में बदल जायेगा, कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो।

*

हमें श्रीअरविंद पर श्रद्धा है।

वे हमारे लिये उस चीज के प्रतिनिधि हैं जिसे हम अपने लिये शब्दों के द्वारा गढ़ते हैं, जो हमें अपने अनुभव को व्यक्त करने के लिये अधिक-से-अधिक यथार्थ मालूम होते हैं। स्पष्ट है कि ये शब्द अपने अनुभव को रूप देने के लिये हमारी दृष्टि में अच्छे-से-अच्छे हैं।

लेकिन अगर हम अपने उत्साह में यह विश्वास कर लें कि ये शब्द ही, श्रीअरविंद क्या हैं और उन्होंने हमें क्या अनुभूति दी है इसे व्यक्त करने के लिये उपयुक्त हैं, तो हम मतांध बन जायेंगे और एक मजहब की नींव डालने की तैयारी में होंगे।

जिसे आध्यात्मिक अनुभूति और श्रद्धा हो, वह उसे अपने योग्य सबसे अधिक उपयुक्त शब्दों में रूपान्वित करता है।

लेकिन अगर उसे यह विश्वास हो कि इस अनुभूति और श्रद्धा को रूपान्वित करने के लिये बस यही एकमात्र शुद्ध और उपयुक्त रूप है, तो वह मतांध बन जाता है और एक मत बनाने की ओर प्रवृत्त होता है।

*

हर एक के अपने विचार होते हैं और वह श्रीअरविंद के लेखों में से अपने विचारों का समर्थन करनेवाले वाक्य खोज निकालता है। जो लोग इन मतों का विरोध करते हैं वे भी उनके लेखों से

अनुकूल वाक्य पा सकते हैं। पारस्परिक विरोध इसी तरह काम करते हैं। जबतक वस्तुओं के बारे में श्रीअरविंद की समग्र दृष्टि को न लिया जाये तबतक सचमुच कुछ नहीं किया जा सकता।

(१० अक्तूबर, १९५४)

संभवन की शाश्वतता में प्रत्येक अवतार एक अधिक पूर्ण सिद्धि का उद्घोषक और अग्रदूत होता है।

फिर भी लोगों में हमेशा यह वृत्ति रहती है कि भविष्य के अवतारों के विरुद्ध भूतकाल के अवतार की पूजा करें।

अब फिर से श्रीअरविंद आगामी कल की उपलब्धि की जगत् के सामने घोषणा करने आये हैं; और फिर से उनके संदेश का उसी तरह विरोध हो रहा है जैसा उनसे पहले आनेवालों का हुआ था।

लेकिन आगामी कल उनके द्वारा प्रकाश में लाये गये सत्य को प्रमाणित करेगा और उनका कार्य पूरा होगा।

(२१ फरवरी, १९५७)

*

तुम्हारी मुख्य भूल यह थी कि तुमने श्रीअरविंद की शिक्षा को आध्यात्मिक शिक्षाओं में से एक मान लिया—और यहां होनेवाले कार्य को भागवत कार्यों के बहुत से पहलुओं में से एक जाना।

इसने तुम्हारी आधारभूत स्थिति को मिथ्या बना दिया और यही सभी कठिनाइयों और गड़बड़ों का कारण है।

अगर तुम्हारे मन और तुम्हारी वृत्ति में यह भूल ठीक कर दी जाये तो दूसरी सब कठिनाइयां आसानी से गायब हो जायेंगी।

तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि विश्व-इतिहास में श्रीअरविंद जिस चीज के प्रतिनिधि हैं, वह कोई शिक्षा नहीं है, कोई अंतःप्रकाश भी नहीं है; यह सीधा परम प्रभु से आया हुआ **निर्णायक कार्य** है।

और मैं बस उस कार्य को पूरा करने की कोशिश कर रही हूं।

(१९६१)

*

एक मित्र के गांधीजी के बारे में लिखे गये निबंध की आलोचना करते हुए मैंने अहिंसा तथा कुछ अन्य सिद्धांतों पर श्रीअरविंद के उद्धरण दिये थे। इन विषयों को गांधीवाद में "स्वतः प्रमाण" माना जाता है। मेरे मित्र ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि श्रीअरविंद के लिये आदर-सम्मान के कारण मुझे अन्य महापुरुषों के बारे में अंधा न हो जाना चाहिये : उसके अनुसार, सभी ने 'सत्य' की झांकी पायी है। मुझे लगा कि औरों के साथ श्रीअरविंद की बात रखकर मैंने भूल की। मैं इस बारे में विस्तार से उत्तर देना चाहता हूं। लेकिन मैं तभी लिखूंगा जब आपकी स्वीकृति मिल जाये। अगर आप अपना उत्तर दे सकें तो मुझे बहुत खुशी होगी।

सत्यतक पहुंचने और उसे अभिव्यक्त करने के लिये मानव जाति ने जो प्रयत्न किया है उसमें उन सबका स्थान है जिन्होंने कोई शोधकार्य किया है, वह चाहे जितना छोटा क्यों न हो, और गांधी उनमें से एक हैं।

लेकिन हमेशा यह बड़ी भूल होती आयी है कि इन आंशिक शोधों को परम सामंजस्य में एक करने की जगह इनका विरोध किया गया है। इसीलिये मानवजाति अभीतक अंधेरे में टटोल रही है।

श्रीअरविंद यह प्रकट करने के लिये आये हैं कि यह परम सामंजस्य विद्यमान है। वे हमें उसे खोजने का मार्ग दिखाने आये हैं।

(मार्च १९७०)

(एक समस्या के बारे में)

तुम्हें श्रीअरविंद की चीजें पढ़कर उत्तर जान लेना चाहिये।

(१९ अक्तूबर, १९७२)

*

अगर कोई सावधानी से श्रीअरविंद की चीजें पढ़े तो वह जो कुछ जानना चाहे उसका उत्तर मिल जाता है।

(२५ अक्तूबर, १९७२)

*

श्रीअरविंद ने **सभी विषयों** पर जो कुछ कहा है उसका सावधानी के साथ अध्ययन करने से तुम इस जगत् की सभी चीजों के पूर्ण ज्ञानतक पहुंच सकते हो।

*

श्रीअरविंद का अध्ययन करो और उनकी साधना का अनुसरण करो।

—श्रीमातृवाणी खंड १३

'गैर्वाणी' :

सरस-शिक्षा

प्रस्तुता एका बोधकथा :—

आसीत् कश्चित् महान् पराक्रमी राजा। बहुवारं सः विहाराय नगरात् बहिरगच्छत्। अथ एकदा इत्थमेव विहरन् पथिच्युतः स्वसैनिकैः पृथक् भूत्वा वराकः तान् बहुशः अन्वैषयत् किन्तु असफलः तत्प्रयासः। रात्रिः आपतिता, 'रात्रौ अत्रैव कस्यापि गृहे विश्रामः कर्तव्यः मया सम्प्रति' इति विचार्य समीपस्थं कमपि खेटकं प्रविष्टः, तत्र आसीत् कृषकस्य वृद्धा माता। सादरं सा अतिथिम् उपावेशयत् तस्य परिचयं च अपृच्छत्। 'कश्चित् पथिकोऽस्मि मातः' इति कथयित्वा राजा स्वेच्छया स्वपरिचयं न अददात्। श्रान्तः, पिपासितः राजा उपविश्य एव जलं पातुम् ऐच्छत्।

वृद्धया चिन्तितम्—कश्चित् पथिभ्रष्टः जनः गृहमागतः, अस्मै केवलं जलं न दातव्यम्, इक्षुदण्डानां ऋतुः, तावत् इक्षुरसं दद्याम्। तत्क्षणं क्षेत्रात् एकम् इक्षुदण्डं कर्तित्वा राज्ञः सम्मुखे एव सः तस्य रसं

निष्पीड्य चषकमितम् अददात्। साक्षात् अमृतमासीत् रसः। राजा परितृप्तः, उत्सुकतावशात् अपृच्छत्—मातः ! तव क्षेत्रस्य इक्षुदण्डाः तु शर्करा इव मधुराः।

वृद्धा अभणत्—वत्स, न अस्माकं क्षेत्रमिदम्। राज्ञः अस्ति, वयं तु क्षेत्रपालाः।

'अहो ! तदा त्वं राज्ञे अस्य क्षेत्रस्य करं ददासि' इति अपृच्छत् राजा।

प्रसन्नवदना वृद्धा माता पुनः अगदत्—वत्स ! न जानासि अस्य देशस्य राजा अतिदयालुः, सः अत्यल्पं करं गृह्णाति। प्रचुरं क्षेत्रं वर्तते किन्तु कररूपेण केवलं पञ्चरूप्यकाणि एव देयानि।

वृद्धायाः वचनानि श्रुत्वा हठात् राज्ञः मनसि लोभः जागरितः। तेन चिन्तितम्—अहो ! सत्यमेव, अहम् अत्यल्पं करं गृह्णामि, न एतत् उचितम्। मया नगरं गत्वा महामन्त्रिणा सह अस्य सम्बन्धे विमर्शः कर्तव्यः, ईषत् करं वर्धयित्वा न वस्तुतः कापि हानिः।

राजा निर्वाक् इति दृष्ट्वा वृद्धा अपृच्छत्—वत्स ! किं जातम् ? हठात् चिन्ताकुलः कुतो जातः ?

'न हि मातः न कोऽपि विशेषः। चिन्तयामि केवलं कथं प्राप्स्यामि स्वगृहम् ? मम हितैषिणः चिन्ताकुलाः भविष्यन्ति।' इति उदतरत् राजा।

सस्नेहं वृद्धा अवदत्—पुत्र, अलं चिन्तया। स्वगृहं मत्वा अद्य अत्रैव विश्रम्य, श्वः प्रभाते सुखेन गृहम् गच्छ। सम्पूर्णं दिनमातपे भ्रमित्वा पूर्णतया क्लान्तः राजा किञ्चिदेव परं पुनः पिपासितः जातः, इक्षुरसस्य अमृतसदृशः स्वादः अधुनापि तस्य जिह्वाग्रे अवर्तत, पुनरपि भृशमिच्छा उद्भूता इक्षुरसं पातुम्। राजा मनसि अकथयत् यत् यस्य जनस्य सम्मुखे जनाः करबद्धाः तिष्ठन्ति, यः सर्वदा सर्वेभ्यः ददाति सः एव अद्य चषकमितस्य इक्षुरसस्य अर्थे पुनरपि याचिष्यति ? न एतत् राज्ञः शोभते इति चिन्तयित्वा सः इच्छन् अपि स्वाभीष्टं न प्राकाशयत्। वृद्धा मन्ये अन्तर्यामिनी आसीत्। पलद्वयात् परमेव पुनरपि राज्ञः सकाशं आगत्य अपृच्छत्—'वत्स ! तव पिपासा शान्ता अथ वा दास्यामि अधिकम् इक्षुरसम् ?'

नेत्रहीनः किम् इच्छेत्, नेत्रद्वयम् ! राजा स्वजीवने कदापि पूर्वं तावत् प्रसन्नः न जातः। तत्क्षणं तेन स्वीकृतम्—मातः। कृतार्थः खलु भविष्यामि यदि त्वं किञ्चित् रसं दास्यसि मह्यम्।

'अहो ! किमर्थं पूर्वं न कथितं त्वया ? अपि न कथितं मया यत् स्वगृहवदेव आचर अत्र' इति आक्षेपं कुर्वती वृद्धा अन्यम् इक्षुदण्डमानेतुम् अगच्छत्। अस्मिन् वारे एकस्मात् इक्षुदण्डात् किञ्चिदेव रसः निःसृतः, वृद्धा अन्यं दण्डमानयत् किन्तु चषकः अर्द्धमपि न पूरितः। अन्ते पञ्चानाम् इक्षुदण्डानां रसं निश्चोत्य सा चषकमितं रसं राज्ञे दातुमशक्नोत्।

विस्मयान्वितः राजा अगदत्—मातः ! किमेतत् ! प्रथमं वारं एकस्य इक्षुदण्डस्य रसेन चषकः पूरितः, अस्मिन् वारे त्वया पञ्च प्रयुक्ताः।

वृद्धया भणितम्—वत्स, एतदेव आश्चर्यं तु अहमपि पश्यामि। न च बोधामि अस्य रहस्यम्। धरित्र्याः रसः तदा शुष्यति यदा देशस्य राजा लोलुपः स्यात्, प्रजाहितैषी न स्यात्, किन्तु नैव कथमपि बोधामि यद् अत्रान्तरे एतत् किं जातम् ? अस्माकं राजा तु अतिदयालुः, प्रजावत्सलः, परहितचिन्तकः अस्ति, तस्य राज्ये कथं धरित्र्याः रसः शुष्येत् !!

वृद्धायाः वचनं श्रुत्वा राज्ञः हृद्चक्षुः आर्द्रं जातम्। तेन आप्लावितं तस्य हृदयम्। मनसः सर्वं मालिन्यं तेन जलप्लावेन सह पूर्णतया प्रक्षालितम्। सः ईश्वराय स्वकृतज्ञताञ्जलिम् आर्पयत्—हे कृपाऽऽकर ! हे उद्धारक ! अद्य त्वया मह्यं जीवनस्य महार्घतमः हीरकः दत्तः। किं मूल्यं च गृहीतम्—चषकमितः इक्षुरसः !

प्रभाते कृषकगृहात् प्रस्थानपरः राजा वृद्धमातुः चरणधूलिं गृहीत्वा एतावदेव कथयितुमशक्नोत्—हे मातः ! स्वपुत्राय आशीर्वादान् देहि येन त्वया दत्तं अमृतरसं एषः आजीवनं स्मरेत्।

—वन्दना

पुस्तक परिचय

कल्कि : ले० देवकी नन्दन श्रीवास्तव; प्र० शकुन्तला श्रीवास्तव; १८ नीचू बंगला, शान्तिनिकेतन-७३१२३५; मूल्य २० रु.।

हमसे नहीं स्वयं लेखक से सुनिये—

"कल्कि" में नृसिंह की भयंकरता, परशुराम की उग्रता, राम की शालीनता और कृष्ण की सम्मोहकता एकाकार होकर कलियुग के अतल से सतयुग के परम व्योम की ओर अद्भुत आरोहण करती है जिसकी प्रक्रिया अनूठी और रहस्यमयी है। इसी प्रक्रिया को संकेत-सूत्रों के माध्यम से प्रस्तुत उद्घोष में उजागर किया गया है। "कल्कि" वस्तुतः वर्तमान के सचेतन आरोहण और भविष्य के भागवत अवतरण का काव्य है। सारा काव्य स्वयं "कल्कि" की वाणी का स्वच्छन्द अवतरण है अतः उनके और युग-चैतन्य के बीच भाववाही कवि की मुखरता कोरी धृष्टता होगी। अपनी वाणी का मर्म स्वयं "कल्कि" ही जानें और युग को समझने-बूझने की प्रेरणा दें—कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

और काव्य का आखिरी चरण भी देख लीजिये—

उस पावन प्रभात का आह्वान करो अविराम जब केवल वही केवल वही
विराजेंगे रज रज में राजाधिराज।
उस मादन मुहूर्त का प्रणिधान करो अविराम जब केवल वही केवल वही
पधारेंगे पग पग पर पथिकाधिराज॥
उस मोदन वसन्त का सन्धान करो अविराम जब केवल वही केवल वही
संवारेंगे वन वन को विश्वाधिराज।
उस शोभन सुयोग का शृंगार करो अविराम जब केवल वही केवल वही
दुलारेंगे पल पल को रसिकाधिराज॥

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER

"Work done in the right spirit is meditation."

अपने आदर्श के प्रति निष्ठावान् रहो और अपना काम भगवान् के अर्पण करो।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

मुक्ति

मैंने निकाल फेंका अपने अंदर से मन का उद्‌भ्रान्त नर्तन
और अब अवस्थित हूं आत्मा की नीरवता में स्वच्छन्द;
प्राणी-वर्ग के पार कालातीत और अमर.
मेरी आत्म-चिरन्तनता का अभ्यन्तर।

मैं हुआ निस्तीर्ण और लघु आत्मा हो गया निष्प्राण;
मैं हूं अनिर्वचनीय, केवली, अमर अनाशवान्;
मैं निकल गया उस विश्व से जिसका मैंने ही किया था निर्माण
और ऊपर उठ गया अनाम अप्रमेय अपरिमाण।

विशाल अनंत ज्योति में मौन हो गया मेरा मन,
मेरा हृदय आनंद और शांति का एकांत स्थान,
मेरी इंद्रियां शब्द, स्पर्श, रूप के पाश से निर्बन्ध,
शुभ्र अनंतताओं में एक बिंदु मेरा तन।

मैं उस एक परम सत्ता का अनन्य अविचल आनंद :
मैं नहीं पृथक्, मैं वह हूं जो यह सर्व पूरण।

अनु॰—अमृता भारती —श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

फरवरी

१. अपने-आपको भगवान् के प्रति अर्पित करना, भगवान् को ग्रहण करना और वही बनना, भगवान् को संचारित करना और फैलाना, ये तीन युगपत् होनेवाली गतियां हैं जिनसे भगवान् के साथ हमारा पूर्ण संबंध बनता है।

२. कोई चीज 'भागवत चेतना' के साथ एक होने से बढ़कर सुंदर नहीं है।
तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे—यदि तुम पूरी सचाई के साथ खोजो—क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अंदर ही है।

आखिर, यह बहुत सरल है, हमें केवल वही बनना है जो हम अपनी सत्ता की गहराइयों में हैं।

३. स्नेह और प्रेम के लिये प्यास मनुष्य की आवश्यकता है लेकिन वह केवल तभी बुझ सकती है जब वह भगवान् की ओर मुड़े। जबतक वह मनुष्यों में संतोष पाना चाहती है तबतक हमेशा निराश या घायल होती रहेगी।
प्रेम की ऐसी प्यास होती है जिसे कोई भी मानवीय संबंध नहीं बुझा सकता। केवल 'भागवत प्रेम' ही उसे संतुष्ट कर सकता है।

४. नम्र होने का मन, प्राण और शरीर के लिये अर्थ है यह कभी न भूलना कि **भगवान् के बिना** वे कुछ नहीं जानते, कुछ नहीं हैं और कुछ नहीं कर सकते। भगवान् के बिना वे अज्ञान, अव्यवस्था और असमर्थता के सिवा कुछ नहीं हैं। केवल भगवान् ही सत्य, जीवन, शक्ति, प्रेम और सुख-शांति हैं।

५. आदर्श बालक को भविष्य पर श्रद्धा होती है, भविष्य सौंदर्य और प्रकाश से भरा हुआ और आनेवाली उपलब्धियों से भरपूर है।
बचपन भविष्य का प्रतीक और आनेवाली विजयों की आशा है।

६. मधुर मां, क्या जब कभी मैं आपको बुलाता हूं तो आप सुन सकती हैं?
मेरे प्रिय बालक, विश्वास रखो कि तुम जब कभी मुझे बुलाते हो तो मैं सुनती हूं और मेरी सहायता और मेरी शक्ति तुम्हारी ओर जाती है।
मेरे आशीर्वाद सहित।

७. समस्वरता प्रकट करने के लिये सभी चीजों में दिव्य सरलता सबसे अच्छी है।
सरलता में महान् सौंदर्य है।

८. आध्यात्मिक शक्तियां अचंचलता, शांति और नीरवता में काम करती हैं।
सारी हलचल और उत्तेजना विरोधी प्रभाव से आती हैं।

९. तुम्हें अकेलापन इसलिये लगता है क्योंकि तुम प्रेम पाने की आवश्यकता का अनुभव करते हो। बिना मांग किये, केवल प्रेम के आनंद के लिये (संसार का सबसे अद्भुत प्रेम) प्रेम करना सीखो और तुम फिर कभी अकेला अनुभव न करोगे।

१०. तुम्हें **इसी** जगत् में बदलना होगा और परिवर्तन संभव है। अगर तुम इस जगत् से भाग जाओ तो तुम्हें वापिस आना पड़ेगा, शायद अधिक बुरी परिस्थितियों में आना पड़े और तुम्हें सारी चीज फिर एक नये सिरे से करनी पड़ेगी।

ज्यादा अच्छा है कि भीरु मत बनो, परिस्थिति का सामना करो और उसपर विजय पाने के लिये आवश्यक प्रयास करो। सहायता सदैव तुम्हारे साथ है, तुम्हें उससे लाभ उठाना सीखना होगा।

११. यह निश्चित रूप से जानो कि मनुष्य जो कुछ कर सकता है उसमें आत्महत्या सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण क्रिया है क्योंकि शरीर के अंत का अर्थ चेतना का अंत नहीं होता और जो चीज तुम्हें जीते जी तंग कर रही थी वही मरने पर तंग करती रहती है। जीते जी तुम मन की दिशा बदल सकते हो पर मरने पर यह संभावना नहीं रहती।

१२. समस्त भय, सारी अनबन, सभी झगड़े छोड़ दो। अपनी आंखें और अपने हृदय खोलो—अतिमानसिक शक्ति मौजूद है।

भौतिक अपने-आपको निष्कपट रूप से भगवान् के अर्पित करे तो वह रूपांतरित हो जायेगा। यह अपने-आपको अहं से मुक्त करने के संकल्प का प्रमाण है।

१३. अच्छा स्वास्थ्य आंतरिक सामंजस्य की बाहरी अभिव्यक्ति है। अगर हमारा स्वास्थ्य अच्छा है तो हमें गर्व होना चाहिये, उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

अबतक धरती पर सुख और अच्छा स्वास्थ्य स्वाभाविक अवस्था में नहीं हैं।

हमें सावधानी के साथ उनके विरोधियों की घुस-पैठ से उनकी रक्षा करनी चाहिये।

१४. शरीर की बीमारी हमेशा आंतरिक सत्ता के किसी असामंजस्य, किसी अव्यवस्था का अनुवाद, उसकी बाहरी अभिव्यक्ति होती है; जबतक यह आंतरिक अव्यवस्था ठीक नहीं हो जाती, तबतक बाहरी इलाज पूर्ण और स्थायी नहीं हो सकता।

१५. वे चीजें जो तुम्हारी प्रकृति में बदलना नहीं चाहतीं एक साथ मिल जाती हैं और बीमारी के रूप में बाहर आती हैं। सशक्त अभीप्सा और सर्वांगीण परिवर्तन ही करने लायक एकमात्र चीज है। तब सब ठीक हो जायेगा।

१६. अगर तुम बीमार पड़ते हो तो तुम्हारी बीमारी की इतनी व्याकुलता और भय से देख-रेख की जाती है, तुम्हारी इतनी परिचर्या की जाती है कि तुम उस एकमेव से सहायता लेना भूल जाते हो जो तुम्हारी सहायता कर सकता है और अपनी बीमारी में एक अस्वस्थ रुचि लेने लगते हो।

१७. मनुष्य अपने-आपको भगवान् से अलग कर सकने में सक्षम होते हैं, और बहुधा करते भी हैं लेकिन भगवान् के लिये अपने-आपको मनुष्यों से अलग कर लेना असंभव है।

१८. ...और केवल दर्द के लिये ही नहीं बल्कि अंगों की किसी भी क्षति को उस समय अधिक आसानी से ठीक किया जा सकता है जब चेतना को कष्ट से दूर हटा लिया जाये। और तुम भगवान् की ओर खुले रहो। भगवान् का एक रूप सत् है—ब्रह्मांड के ऊपर, परे या पीछे शुद्ध परम 'सत्' है। अगर तुम उसके साथ संपर्क बनाये रख सको तो सभी शारीरिक रोगों को दूर किया जा सकता है।

१९. मार्ग का अंततक अनुसरण करने के लिये तुम्हें बहुत धैर्यपूर्ण सहिष्णुता से सुसज्जित होना चाहिये। सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम अपना यंत्रवत् उपयोग करने देने के लिये किस शक्ति को चुनते हो। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण करना होता है।

तुम्हारे अंदर जो चीज साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिये अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज तुम्हारे अंदर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो।

२०. अपने और अपने स्वास्थ्य के बारे में कम सोचो।

निश्चय ही तुम अधिक बलवान् बनोगे।

लेकिन अगर तुम्हें विश्वास है कि तुम्हें कोई बीमारी है तो अस्पताल जाओ, निश्चय ही वे कोई बीमारी ढूंढ निकालेंगे।
स्वास्थ्य : उसमें तल्लीन न होना बल्कि उसे भगवान् के हाथों सौंप देना।

२१. **प्रश्न**—संकल्प-शक्ति को मजबूत बनाने के लिये क्या करना चाहिये।
उत्तर—उसे प्रशिक्षित करो, जैसे मांसपेशियों से काम लेकर उनसे कसरत करवायी जाती है, वैसे ही इससे कसरत करवाओ।

२२. **प्रश्न**—तो मैं कौन-सा रास्ता अपनाऊं? प्रयास करने का ठीक और सच्चा रास्ता कौन-सा है?
उत्तर—वही करो जो मैंने कल बतलाया था—नियमित और सुव्यवस्थित ढंग से पढ़कर अपने मस्तिष्क से काम करवाओ; तब उन घंटों में जब तुम पढ़ न रहे होगे, तुम्हारा मस्तिष्क काफी काम कर चुकने के कारण आराम कर सकेगा और तुम्हारे लिये यह संभव होगा कि अपने हृदय की गहराई में एकाग्र हो सको और वहां चैत्य स्रोत को पा सको; वहां तुम कृतज्ञता और सच्चे सुख, दोनों के बारे में सचेतन हो सकोगे।

२३. एकाग्रता के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

२४. केवल भागवत कृपा में अविचल विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरी तरह से शांत और निश्चल बने रहने से ही तुम परिस्थितियों को यथासंभव अच्छे-से-अच्छा पा सकते हो। उन लोगों के लिये **हमेशा अच्छे-से-अच्छा होता है** जो भगवान् और केवल भगवान् पर ही पूरा भरोसा करते हैं।
जब कभी, अपने जीवन में तुम्हें कठिनाई का सामना करना पड़े तो उसे प्रभु की कृपा के वरदान के रूप में लो और वह वही बन जायेगा।

२५. **सिर ठंडा** रखो, मजबूत और **बहुत शांत स्नायु** रखो और भगवान् की कृपा पर **पूरा भरोसा** रखो।
जब हम भगवान् की कृपा पर भरोसा करते हैं तो हमें अक्षय साहस मिलता है।

२६. शरीर को यह जानना और यह विश्वास रखना चाहिये कि उसका सारतत्त्व भागवत है और यह कि अगर भागवत कार्य के रास्ते में कोई बाधा न डाली जाये तो हमें कोई भी चीज हानि नहीं पहुंचा सकती। इस प्रक्रिया को स्थिरता के साथ तबतक दोहराते रहना चाहिये जबतक भय का आना एकदम बंद न हो जाये और अगर बीमारी प्रकट होने में सफल हो जाये तो भी उसकी शक्ति और उसकी अवधि कम बहुत कम हो जायेगी जबतक कि उसपर निश्चित रूप से विजय न पा ली जाये।

२७. अगर तुम्हारा अपनी कामनाओं पर कोई अधिकार नहीं है तो शक्ति काम नहीं कर सकती।
अगर शरीर नीरोग होने का निश्चय कर ले तो वह नीरोग हो जाता है।

२८. यह पृथ्वी तबतक सजीव और स्थायी शांति का उपभोग नहीं कर सकती जबतक मनुष्य अपने अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों में भी पूर्ण रूप से सत्यपरायण होना नहीं सीख लेते।
हे प्रभु! हम इसी पूर्ण सत्यपरायणता की अभीप्सा करते हैं।

————

अपनी पवित्र और ऋजु अभीप्सा को उस परम चेतना की ओर छलांग लगाने दो जो समस्त हर्ष और परम आनंद है।

—श्रीमां

भौतिक आधार

"मनुष्य के अंदर पैठी शक्ति को बढ़ाने और उसे ऐसे उपयोगों में लाने की, जिनसे उसे धारण करनेवाले व्यक्ति को या मानवजाति को लाभ हो, पहली और सबसे आवश्यक शर्त है ब्रह्मचर्य का अभ्यास। मनुष्य की सारी शक्ति का एक भौतिक आधार होता है। यूरोपीय जड़वाद के द्वारा की गयी भूल यह है कि वह भौतिक आधार को ही सब कुछ मान लेता है और उसे शक्ति का मूल-स्रोत समझने की गड़बड़ कर बैठता है। जीवन और प्राण-शक्ति का मूल-स्रोत भौतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक है, किंतु जिस आधारशिला पर जीवन और शक्ति स्थित और क्रियाशील हैं, वह भौतिक है। प्राचीन हिंदू कारण और कार्य—सत्ता के ऊपरी और निचले छोरों—के बीच के भेद को स्पष्ट रूप से समझते थे। पृथ्वी या स्थूल भौतिक तत्त्व कार्य है और कारण है ब्रह्म या आत्मा। भौतिक तत्त्व का आध्यात्मिक सत्ता में ऊपर उठना ही ब्रह्मचर्य है।

यह ब्रह्मचर्य का तात्त्विक सिद्धांत है। मूलभूत भौतिक इकाई है रेतस् (वीर्य) जिसमें कि मनुष्य के अंदर स्थित तेजस्, यानी, ऊष्मा और प्रकाश और विद्युत् शक्ति पैठे और छिपे पड़े हैं। सारी ऊर्जा वीर्य में छिपी हुई है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूप में खर्च की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। सारे मनोविकार, भोगेच्छा, कामना इस शक्ति को स्थूल रूप में या एक उत्कृष्ट सूक्ष्मतर रूप में शरीर से बाहर फेंककर उसे नष्ट कर देती हैं। अनैतिक आचरण उसे स्थूल रूप में बाहर फेंक देता है; अनैतिक विचार सूक्ष्म रूप में। दोनों में से प्रत्येक दशा में शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, और अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है वैसे ही मानसिक और वाचिक भी। इसके विपरीत, आत्म-संयम वीर्य में छिपी हुई ऊर्जा की रक्षा करता है और रक्षा के साथ हमेशा वृद्धि होती है। लेकिन भौतिक शरीर की आवश्यकताएं सीमित हैं और इस अतिरिक्त शक्ति से निश्चय ही उसमें एक संचित भंडार का निर्माण होगा जो भौतिक के अतिरिक्त दूसरे किसी उपयोग में प्रयुक्त होना चाहिये। प्राचीन सिद्धांत के अनुसार वीर्य है जल जो प्रकाश और ऊष्मा और विद्युत् से, एक शब्द में कहें तो तेजस् से भरा है। वीर्य का विशेष संचय सबसे पहले ऊष्मा या तपस् में बदलता है, जो सारे शरीर को प्रकाशित करता है, और इसी कारण आत्म-संयम और तपस्या के सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते हैं, क्योंकि वे ऊष्मा या उस प्रेरक शक्ति को उत्पन्न करते हैं जो शक्तिशाली कर्म और सिद्धि का मूल-स्रोत है; और फिर वह वास्तविक तेजस्, यानी, सत्य-प्रकाश में परिवर्तित होता है जो सारे ज्ञान का मूल उद्गम, शक्ति है; तीसरे, फिर वह विद्युत् में बदलता है जो सारे शक्तिशाली कर्म का आधार है, चाहे वह कर्म बौद्धिक हो या शारीरिक। और फिर विद्युत् में छिपा है ओजस् या प्राण-शक्ति। इस तरह अंतिम रूप ओजस् के रूप में ऊपर उठकर वह मस्तिष्क में पहुंचता है। वह ओजस् ही है जो आध्यात्मिक शक्ति या वीर्य को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक प्रेम और श्रद्धा, आध्यात्मिक बल प्राप्त करता है। इसका निष्कर्ष यह है कि हम ब्रह्मचर्य के द्वारा तपस्, तेजस्, विद्युत् और ओजस् के भंडार को जितना ही अधिक बढ़ा सकें, उतना ही अधिक हम अपने-आपको शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों के लिये पूर्ण एवं विशुद्ध शक्ति से भर देंगे।

प्राचीन हिंदू धर्म का यह मत था कि सारा ज्ञान अंदर है और शिक्षा का काम उसे बाहर से भीतर डालना नहीं, बल्कि उस अंदर के ज्ञान को जगाकर अंदर से बाहर प्रकट करना है। यह तो हम सब जानते हैं कि मानव प्रकृति की रचना तीन तत्त्वों—सत्व, रजस् और तमस्—से हुई है। तमस् है शारीरिक और मानसिक प्रकृति की जड़ता या निष्क्रियता जो अंतःस्थित ज्ञान को धूमिल कर देती है और अज्ञान, मानसिक जड़ता, विस्मृति, अध्ययन के प्रति अरुचि, वस्तुओं को समझने और उनके भेद को

पहचानने की असमर्थता को जन्म देती है। रजस् एक अनियंत्रित क्रिया है जो तीव्र कामना, आसक्ति, मिथ्या विचारों से ज्ञान को ढक देती है, सत्त्व है वह प्रकाश जो भीतर छिपे ज्ञान को खोलता और उसे बाहर ले आता है। अब शिक्षक की मुख्य समस्या थी तमस् को हटाना, रजस् को संयमित करना और सत्त्व को जगाना। उसे विद्यार्थी को भीतर से प्राप्त होनेवाले ज्ञान के प्रकाश के प्रति ग्रहणशील बनने के लिये प्रशिक्षित करना होता था। रजस् को एक कठोर नैतिक अनुशासन द्वारा संयत किया जाता था जो एक शांत, प्रसन्न ग्रहणशील मानसिक स्थिति लाता था—यही था ब्रह्मचारी का वह प्रसिद्ध अनुशासन जो आर्य-संस्कृति और आर्य-नैतिकता का आधार था। तमस् का बहिष्कार नैतिक पवित्रता के अनुशासन द्वारा किया जाता था जो शिष्य के मन, प्राण और शरीर की प्रकृति में तेजस् और विद्युत् की शक्ति को जाग्रत् करता था और तपस्या की शक्ति द्वारा उसे मानसिक शक्ति और स्पष्ट ज्ञान देता था। ज्ञान को जगाने का कार्य तीन चीजों से होता है : पुनरावृत्ति, ध्यान और विचार-तर्क। आवृत्ति का प्रयोजन था मन के उस भाग को शब्दों से भर देना जो संस्कार ले सकता है, जिससे अर्थ अंदर से अपने-आप उदय हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि यंत्रवत् पुनरावृत्ति शायद वह परिणाम नहीं ला सकती थी। होनी चाहिये प्रसन्न, अविचल ग्रहणशीलता और शब्द या वस्तु पर मन के चिंतनशील भाग की तल्लीनता—यही भारतीयों के अनुसार ध्यान का अर्थ था। किसी भाषा का अध्ययन करते हुए हम सबने यह अनुभव किया है कि एक ग्रंथ को समझने का कठोर प्रयत्न करते समय जो कठिनाइयां बहुत अधिक प्रतीत होती थीं वे पुस्तक को थोड़ी देर के लिये अपने मन से दूर कर देने पर बिना पुस्तक या अध्यापक की सहायता के ही अचानक विलीन हो जाती हैं और स्पष्ट बोध का उदय होता है। हममें से कइयों ने कुछ समय रुक जाने के बाद किसी भाषा या विषय के अध्ययन को पुनः आरंभ करने में भी यह देखकर विचित्रता का अनुभव किया है कि हमने जब उसे शुरू किया था तब की अपेक्षा अब हम उसे कहीं अधिक अच्छी तरह समझ लेते हैं, ऐसे शब्दों का अर्थ जान लेते हैं जिनसे पहले कभी हमारा परिचय नहीं था और हम उन वाक्यों को भी समझ सकते हैं जो अध्ययन स्थगित करने से पहले हमारी बुद्धि को चकरा देते थे। इसका कारण यह है कि हमारे अंतःस्थित ज्ञाता का ध्यान उस विषय में एकाग्र हो जाता है और वह विराम-काल में उस विषय के संबंध में ज्ञान के अंतःस्थित स्रोत से ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में व्यस्त रहता है। यह अनुभव केवल उन्हीं लोगों के लिये संभव होता है जिनकी प्रकृति का सात्त्विक या प्रकाशात्मक तत्त्व बौद्धिक स्पष्टता और गंभीर अध्ययन के अभ्यास के द्वारा प्रबल रूप में जाग्रत् हो चुका हो या सचेतन प्रयत्न से या अनजाने ही उचित रूप में कार्य करना सीख चुका हो। सात्त्विक विकास की सर्वोच्च पराकाष्ठा तब होती है जब हम प्रायः या हमेशा ही बाह्य साधनों—अध्यापक, पुस्तक, व्याकरण और शब्दकोश—के बिना काम चला सकते हैं और किसी विषय को अधिकांश या पूर्णतः अपने अंदर से ही सीख सकते हैं। लेकिन यह योगाभ्यास के सफल अनुसरण के द्वारा केवल योगी के लिये ही संभव है।''

—श्रीअरविंद

आश्रम-जीवन

यहां अनुभव के लिये यथासंभव अधिक-से-अधिक क्षेत्र हैं, क्योंकि वह अधिकतम भौतिक क्रिया-कलाप से लेकर अधिकतम आध्यात्मिक क्षेत्रोंतक फैला हुआ है जिसमें बीच के सभी स्तर आ जाते हैं।

इसलिये अगर, जैसा कि तुम कहते हो, तुम यहां से जाकर ''मनुष्य का अनुभव'' पाना चाहते हो, तो इसका कारण यह है कि तुम सत्य-चेतना के सीधे नियंत्रण में आये बिना, जो तुम्हें बतला देगी कि

ये मूर्खताएं हैं, मनमानी मूर्खताभरी बातें करने की स्वाधीनता चाहते हो।

व्यक्तिगत प्रगति के लिये जिन सच्ची अनुभूतियों की जरूरत है वे उन परिस्थितियों या उस वातावरण पर निर्भर नहीं हैं जिसमें तुम रहते हो, ये निर्भर हैं आंतरिक वृत्ति और प्रगति के लिये संकल्प पर।

*

अगर तुम अपनी अंतरात्मा को पाना, उसे जानना और उसकी आज्ञा मानना चाहते हो, तो चाहे जिस कीमत पर हो, यहीं रहो।

अगर तुम्हारे जीवन का लक्ष्य यह नहीं है और तुम अधिकतर मनुष्यों का जीवन जीने के लिये तैयार हो, तो निश्चय ही तुम अपने परिवार के पास वापिस जा सकते हो।

*

'क' जानना चाहती है कि क्या वह इस जीवन को स्वीकार कर सकती है या उसे सामान्य जीवन में जाना होगा।

यह तथ्य ही कि वह यहां है, यह प्रमाणित करता है कि उसकी सत्ता में कहीं पर अभीप्सा है और वह अभीप्सा पूरी सत्ता में फैल सकती है।

*

तुम्हारे इस प्रश्न के बारे में कि "तुम कहां ठीक बैठोगे," दुनिया तुम्हारे जैसे लोगों से भरी है, इसलिये तुम दुनिया में बिल्कुल ठीक बैठ जाओगे, अगर—इसमें एक अगर है—अगर तुम अपने अंदर विभक्त न हो। तुम्हारी सारी कठिनाई का कारण यह है कि तुम अपने साथ ही ठीक नहीं बैठते, बल्कि तुम्हारी बाहरी सत्ता और उसकी क्रियाएं तुम्हारी अंतरात्मा के साथ बिल्कुल मेल नहीं खातीं, और चूंकि तुम्हारी अंतरात्मा काफी जाग्रत् है, इसलिये यह संघर्ष तुम्हें मुश्किलों में डालता है।

एक बार तुम्हारे अंदर जाग्रत अंतरात्मा हो तो उससे पीछा छुड़ाना आसान नहीं होता। इसलिये ज्यादा अच्छा यही है कि उसका हुकुम माना जाये।

मैं तुम्हें जो अच्छी-से-अच्छी सहायता दे सकती हूं वह यही सलाह है।

*

क्या यह हो सकता है कि तुम जिसे अपनी मंथर प्रगति समझते हो उसके बारे में जरा अधीर हो?

क्या तुम अपने प्रयास का फल चखने के लिये बेचैन और उत्सुक हो?

और फिर मैं यह नहीं समझ पाती कि भले कुछ सप्ताहों के लिये क्यों न हो, फिर से उसी वातावरण में डुबकी लगाना तुम्हें "चिपकी रहनेवाली बाधाओं" से छुड़ाने में कैसे सहायता देगा। वही वातावरण तुम्हारी ऊपरी परत की मोटाई के लिये जिम्मेदार है जिसे तुम्हारी अंतरात्मा को छोड़ना होगा ताकि वह बाहरी ओर भी अपना प्रभाव डाल सके।

तुम अपनी आत्मा के लक्ष्य और अभीप्सा के बारे में काफी सचेतन हो; तुम इस बात से पूरी तरह

सचेतन हो कि तुम्हारी अंतरात्मा तुम्हें क्या बनाना चाहती है और तुमसे क्या होने की आशा करती है। केवल वर्तमान भौतिक रचना के परिणाम रास्ते में खड़े हैं, और अब, केवल इन बाधाओं पर निरंतर, धैर्य के साथ काम करने से ही तुम कठिनाई को हल कर सकते हो।

तो, योग के दृष्टिकोण से, ''छुट्टी लेना'' एक तरह से प्रतिरोध की हठ के आगे ''हथियार डालना'' है। मेरे लिये यह बिल्कुल स्पष्ट है।

लेकिन क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे मन के किसी कोने में आसक्ति की कोई स्मृति तो नहीं लुकी है जो बिना जाने तुम्हें बाहर से आनेवाले दबाव से उत्तर देने के लिये बाधित करती है ? उस हालत में समस्या पर एक और ही कोण से विचार करना होगा।

*

यह स्पष्ट है कि तुम्हारी आंतरिक सत्ता बहुत मजबूत नहीं है और उसमें निर्वीर्य संदेहों, पराजयवादी निराशा, अहंकार और विश्वासघाती, विषैले प्रभाव का प्रतिकार करने की शक्ति नहीं है।

हमारा मार्ग आसान नहीं है, वह बहुत साहस और अथक सहिष्णुता की मांग करता है। परिणाम पाने के लिये, जो कभी-कभी बाहरी तौर पर मुश्किल से दिखायी देते हैं, शांत स्थिरता के साथ, कठिन परिश्रम और महान् प्रयास की जरूरत होती है।

बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें अपने-आपको साफ करने की जरूरत अनुभव करने के लिये कीचड़ में लोटने की जरूरत होती है।

अगर कामना इतनी दृढ़ है कि तुम्हारे अंदर उसे जीतने की शक्ति नहीं है, तो अपनी जान-पहचान के लोगों से कहो कि तुम्हारे लिये कोई नौकरी ढूंढ़ दें (साधारणतः आश्रम से जानेवाले युवकों के लिये यह बहुत मुश्किल नहीं होता) और जाकर सामान्य जीवन का तबतक सामना करो जबतक तुम यह न जान जाओ कि जिस जीवन को तुम छोड़ आये हो उसका सही मूल्य क्या है।

अग्रदूत होने के लिये तुम्हारे अंदर वीरता होनी चाहिये; क्योंकि, साधारणतः, लोगों को उसीपर विश्वास होता है जो चरितार्थ हो चुका हो, प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता हो और जिसे बहुत अधिक संदेही या संशयी लोग भी स्वीकार करते हों।

*

तुम्हें जाते देखकर मुझे खेद होगा और मैं आशा करती थी कि इसकी जरूरत न होगी। लेकिन अगर तुम इतने दुःखी हो, अपने पर तुम्हें इतना कम विश्वास है, तो शायद कुछ समय के लिये जाना और अपना संतुलन ठीक कर लेना अच्छा हो। मैं तुम्हारे लिये दरवाजा खुला रखूंगी और जैसे ही तुम काफी मजबूत हो जाओ, तुम वापिस आ जाओगे।

मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं और रहेंगे।

और अगली बार तुम योग के लिये और भागवत जीवन के लिये वापिस आओ, तो सब कुछ आसान हो जायेगा।

*

मैं प्रसन्न हूं कि यहां रहने से तुम्हारी दृष्टि और समझ विशाल हुई है और तुम्हारी चेतना में गहराई आयी है।

—श्रीमां

''भारतीय संस्कृति के आधार'' पर आधारित :

मौलिक विशेषता

भारतीय मन का समस्त आधार है इसकी आध्यात्मिक तथा अंतर्मुखी प्रवृत्ति, आत्मा तथा आंतरिक सत्ता को सर्वप्रथम महत्त्व देना, उन्हें खोजना तथा अन्य सभी चीजों को गौण मानना या इस रूप में देखना कि वे आंतरिक सत्ता पर आश्रित हैं, वे केवल उच्चतर ज्ञान के प्रकाश में ही व्यवहार में लायी जा सकती और अपना मूल्य पा सकती हैं। वे गौण वस्तुएं वस्तुतः गभीरतर आध्यात्मिक लक्ष्य की अभिव्यक्ति, उनका क्षेत्र हैं। भारतीय मन की यह प्रवृत्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर है अर्थात् उसे जो कुछ निर्मित करना हो उसे पहले आंतरिक स्तर पर और बाद में उसके दूसरे पहलुओं में निर्मित करने की प्रवृत्ति। यह मनोवृत्ति और इसके परिणाम-स्वरूप अंदर से बाहर की ओर निर्माण करने की इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए यह अनिवार्य था कि भारत सबसे पहले जिस ऐक्य को अपने लिये निर्मित करे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ऐक्य ही हो। सबसे पहले तो यह कोई ऐसा राजनैतिक ऐक्य नहीं हो सकता था जो किसी राज्य के द्वारा या सैनिक-शक्ति अथवा कौशल द्वारा सबको एक ही झंडे के नीचे खड़ा करता हो, ऐसी बाह्य आरोपित एकता—जैसी कि रोम या प्राचीन फारस में की गयी थी—में हमेशा एक प्रकार का भय बना रहता है; लेकिन फिर भी, देश पर आरोपित इसी तरह के ऐक्य को उचित और सच्चा माना जाने लगा और भारत की खंडता के लिये उसपर यह आरोप लगाये जाने लगे कि उसने अपनी प्रजा को कभी शासन की एक ही बागडोर में नहीं रखा। भारत के आलोचकों का कहना है कि भारत की यह एक बहुत बड़ी भूल थी या यह उसकी अव्यावहारिक प्रवृत्ति का प्रमाण था; उसे पहले एक राजनैतिक संगठन का निर्माण करना चाहिये था और उसके बाद भारत के राष्ट्रीय साम्राज्य के विशाल संगठन में आध्यात्मिक एकता को सुरक्षित रूप में विकसित किया जा सकता था। लेकिन ऐसा करना भारत की प्रकृति के अनुकूल न होता। पहली समस्या तो यह थी कि भारत एक विशाल भूमि-खंड है जिसमें सौ से अधिक राज्य थे, उसमें कितने ही कुल, जातियां, कबीले इत्यादि निवास करते थे, इस बात में वह दूसरा ग्रीस था, लेकिन बड़े पैमाने पर ग्रीस, वह करीब आधुनिक यूरोप के जितना ही विशाल था। जिस भांति ग्रीस में एकत्व की भावना पैदा करने के लिये सांस्कृतिक एकता आवश्यक थी उसी तरह यहां भी उससे कहीं अधिक अनिवार्य रूप से एक सचेतन आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक एकता पहली और अनिवार्य शर्त थी, जिसके बिना कोई भी स्थायी एकता संभव नहीं हो सकती थी। इस मामले में भारतीय मानस और उसके महान् ऋषियों तथा उसकी संस्कृति के संस्थापकों की सहज़ प्रवृत्ति सर्वथा उचित थी। और अगर हम यह मान भी लें कि प्राचीन भारत की जातियों में रोमन राज्य की तरह सैनिक तथा राजनैतिक उपायों द्वारा बाहरी सामाजिक एकता स्थापित की जा सकती थी फिर भी हमें यह न भूल जाना चाहिये कि रोमन एकता स्थायी नहीं रही और पहले से ही आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक आधार स्थापित किये बिना भारत की विशाल भूमि पर इस प्रकार का प्रयत्न स्थायी रूप में सफल न होता। अगर यह दृढ़तापूर्वक कहा जाये कि आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक एकता पर बहुत अधिक बल दिया गया और इस कारण भारत ने राजनैतिक तथा बाह्य एकता की एक तरह से उपेक्षा की फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह प्रधानता देने का परिणाम केवल अनिष्टकारी हुआ और उसका कोई लाभ न हुआ। भारत की इस मौलिक विशेषता तथा अमिट आध्यात्मिक छाप के कारण, समस्त विभिन्नताओं के बीच इस आधारभूत एकता के कारण ही, भारत यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से अभीतक एक और संघटित राष्ट्र न हो लेकिन वह अभीतक जीवित है और अभीतक भारत ही है।

—वंदना

विभिन्न लोक

४-४-१९२४

शिष्य—भागवत में मानसिक और अन्य सूक्ष्म लोकों में रहनेवाली सत्ताओं के वर्णन हैं। जब अतिमानस पूर्ण हो जायेगा तब उसका इन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

श्रीअरविंद—तुम्हारा क्या मतलब है ? तुम मनुष्यों की बात कर रहे हो या उन सत्ताओं की जो सशरीर नहीं हैं लेकिन मनोमय लोक में रह रही हैं ? अगर तुम कहो कि अमुक लोक अतिमानस-भावापन्न हो गया है तो उस लोक की सभी सत्ताओं को अतिमानसिक हो जाना चाहिये तब तो रिक्शावाले का भी रूपांतर हो जायेगा। तुम यह आशा नहीं कर सकते कि वैश्व विधान इस तरह से बदलेगा। ये लोक और उनमें रहनेवाले तुम्हारे साथ संबंध में या तुम्हारे साथ संपर्क के अनुसार बदल सकते हैं लेकिन **वे तुम्हारी** साधना से नहीं बदल सकते।

शिष्य—मनोमय लोक के रहनेवाले हमारे साथ किस तरह संपर्क में आते हैं और वे किस तरह बदलते या साधना करते हैं ?

श्रीअरविंद—सत्ता के विभिन्न वर्गों में ये भेद तो रहेंगे ही अन्यथा केवल एक अतिमानसिक लोक ही रहेगा। लीला के चलने के लिये ये भेद जरूरी हैं; और फिर उन सत्ताओं में हर एक की अपनी नियति है जिसे उसे पूरा करना है। उन्हें अपने ही तरीके से चलना होगा।

शिष्य—अतिमानस योग पार्थिव लोक और इस विश्व के विधानों पर क्या प्रभाव डालेगा ?

श्रीअरविंद—अगर अतिमानसिक सत्य इस धरती पर एक तथ्य बन जाये, तो निश्चय ही तुम यह नहीं सोचते कि रिक्शावाला तुरंत बदल जायेगा। तब अन्य मनुष्यों के लिये सत्य को मूर्त रूप देना यानी अतिमानस को प्राप्त करना ज्यादा आसान हो जायेगा। वह जगत् में एक वातावरण पैदा कर देगा लेकिन वह सर्व-साधारण मनुष्यों में अचानक परिवर्तन न लायेगा। वह मनुष्यों की अधिक संख्या के लिये अंतर्भासात्मक स्तर को पाना ज्यादा आसान बना देगा। अभी ऐसे बहुत कम हैं।

जो मनुष्य अतिमानस सत्य को नीचे उतार कर लायेगा उसका प्रभाव उन लोगों पर अधिक होगा जो उसके संपर्क में आते हैं और यह उसके उच्चतर शक्तियों के प्रति खुलने के अनुपात में होगा।

शिष्य—क्या यह हो सकता है कि पृथ्वीलोक पर कोई असर न पड़े ?

श्रीअरविंद—जो शक्ति पहले नहीं थी वह अब **मौजूद है**, जो वातावरण पहले नहीं था वह भी मौजूद है इसलिये कुछ परिवर्तन अवश्यंभावी है लेकिन वह विश्व के नियमों में आमूल परिवर्तन न लायेगा।

मई १९२४

शिष्य—क्या अतिमानसिक लोक में असुर-सिद्ध के जैसा कोई उदाहरण है ?

श्रीअरविंद—नहीं।

शिष्य—आपने वर्गीकृत सत्ताओं में असुर की भी गिनती की है ?

श्रीअरविंद—वहां मैं वैदिक अर्थ में असुर कह रहा था। मानसिक असुर अतिमानस और आद्या शक्ति की किसी चीज का गलत अनुवाद है। शुद्ध शक्ति को असुर कहते हैं। यह वैदिक असुर है पौराणिक असुर नहीं। वेदों में असुर नाम सभी देवों को दिया गया है। कई स्थानों पर इंद्र को भी असुर

कहा गया है। बाद में सुर से असुर की व्युत्पत्ति हुई और अ-सुर दानव बन गया। मूलतः असुर उच्चतम शक्ति के अर्थ में था। शायद दसवें मंडल में असुर शब्द पौराणिक अर्थ में आया है।

९-१२-१९२५

बात 'क' के बारे में चली जो 'ख' से आग्रह करता था कि वह उसे भगवान् मान ले।

एक शिष्य—तो तुम उस भगवान् से बचे कैसे?

दूसरा शिष्य—'क' मेरे पास अपने "भागवत भाव" में आया करता था लेकिन मुझे तो वह असामान्य भाव मालूम होता था। तब वह बताया करता था कि वह भगवान् है। मैं चुप रहता था।

जब उसने मेरे ऊपर बहुत जोर डाला तो मैंने कहा, अच्छा आंगन में खड़े इस पेड़ को उखाड़ कर दिखाओ!

शिष्य—यह तो भगवान् के लिये बड़ी कड़ी परीक्षा हुई!

दूसरा शिष्य--तुम चाहते थे कि भगवान् कीकर सिंह हो। बड़ा पहलवान होगा तुम्हारा भगवान्! (हंसी)

इसके बाद बंगाल के एक और आध्यात्मिक व्यक्ति के बारे में बात हुई। उस गुरु के एक शिष्य ने एक पंडित के साथ खूब बहस की कि वह उसे अवतार मान ले लेकिन पंडित राजी न हुआ। रात को पंडित जब एक लोहे के पलंग पर सो रहा था, उन शिष्यों ने उसके पलंग में बिजली के धक्के दिये ताकि उससे अवतार को मनवा लें!

श्रीअरविंद—लेकिन मेरा ख्याल था कि वह तो हमेशा अपने अवतार होने का निषेध किया करता था।

शिष्य—जी, मैं भी यही समझता था; पर जब एक प्रसिद्ध नेता उसका शिष्य बन गया तो बात बदल गयी।

श्रीअरविंद—यह संभव है। सफलता ने उसका सिर फिरा दिया होगा। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि लोग अवतार के बाहरी चिह्नों की मांग क्यों करते हैं। उसका बाहरी जीवन से क्या संबंध?

शिष्य—विचार यह है कि ईश्वर के अवतार में ऐश्वर्य होना चाहिये।

श्रीअरविंद—ऐश्वर्य—दिव्य सत्ता की शक्ति—तो ठीक है पर वह चेतना की चीज है। भीतरी आध्यात्मिक जीवन के बाहरी लक्षण क्या हो सकते हैं?

शिष्य—लेकिन मेरा ख्याल है कि भीतरी आध्यात्मिक चेतना और ऐश्वर्य परस्पर-विरोधी चीजें तो नहीं हैं।

श्रीअरविंद—हर्गिज नहीं। लेकिन ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनमें शक्तियां हैं, वे चाहे जैसी शक्तियां क्यों न हों, पर आध्यात्मिक चेतना नहीं होती। जैसे डा॰ कूए में कुछ शक्ति है। यूरोप के कई गुह्यवादियों में है लेकिन वे किसी आध्यात्मिक शक्ति से बहुत दूर हैं। सामान्यतः ऐसी शक्तियोंवाला बहुत मामूली-सा होता है और अपनी प्राणिक गतिविधियों में नीचे की ओर प्रवृत्त होता है।

(कुछ रुककर) यह जरूरी नहीं है कि उच्चतर चेतना को जीवन में तथा क्रिया में बहुसंख्यक लोगों में प्रकट होना चाहिये। यह केवल शक्ति का ही प्रश्न नहीं है। सवाल यह है कि कौन-सी शक्ति प्रकट हो रही है, व्यक्ति उसे कहां से ला रहा है। उदाहरण के लिये नेपोलियन में कुछ शक्ति थी पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें आध्यात्मिक चेतना थी। अतः कोई शक्ति या शक्तियां हो सकती हैं पर कोई आध्यात्मिक चेतना न हो। आदमी जब ऊपर उठता है तो पता चलता है कि साधारण आदमी बहुत नीचे रह गया है। लोग उसतक नहीं पहुंच सकते अतः उसकी शक्ति उनपर कार्य नहीं कर सकती।

और फिर तुम अवतार से उसी तरह के काम की आशा नहीं कर सकते जैसे मनुष्यों से। वह सीधा वैश्व शक्तियों पर काम कर सकता है और इस तरह सारी मानवजाति पर काम कर सकता है और देखने में ऐसा लगेगा कि वह कुछ नहीं कर रहा, किसी को पता भी न लगेगा कि उसने क्या किया।

सुनने में हास्यास्पद और दर्पपूर्ण लगेगा अगर मैं कहूं कि मैंने रूसी क्रांति के लिये तीन वर्षतक काम किया और उसके सफल होने में यह भी एक प्रभाव था। मैंने तुर्की के लिये भी काम किया था।

शिष्य—और भारत के लिये ?

श्रीअरविंद—इसमें समय लगता है। मैंने कुछ लोगों के द्वारा काम किया लेकिन जब लोग सफलता के नशे में चूर हो जाते हैं तो शक्ति काम करना बंद कर देती है।

१२-१-१९२६

बात अवतार के बारे में चली—

श्रीअरविंद—उच्चतर चेतना द्वारा कुछ समय के लिये आधिपत्य पूरी तरह संभव है। लेकिन अगर अवतार को इस तरह की घोषणाओं और आत्म-विज्ञापन द्वारा अपनी मान्यता पानी पड़े तो मुझे इसका कोई लाभ नहीं दिखायी देता। रामकृष्ण ने यह कहा था और मेरा ख्याल है हर उस व्यक्ति ने, जिसे महान् आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त थी, कभी-न-कभी यह बात कही थी। इसमें कुछ भी असंभव नहीं है। चैतन्य पर भी इस तरह के सामयिक आधिपत्य हुआ करते थे और ऐसी स्थिति में वे प्रभु के रूप में बोलते थे।

पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से

'कुछ माताजी के बारे में' :

ध्येय

. . . तो क्या वास्तविक स्वतंत्रता जैसी कोई चीज है ही नहीं ? या सब कुछ, यहांतक कि जीव की स्वतंत्रता भी पूर्ण रूप से पूर्वनिर्धारित रहती है, और क्या प्रारब्धवाद ही परम रहस्य है ?

स्वतंत्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतना के विभिन्न स्तरों के सत्य हैं। अज्ञान के कारण मन इन्हें एक ही स्तर पर लाकर रख देता है और इनमें विरोध देखता है। चेतना एक ही प्रकार की सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमि जैसी नहीं है, उसके अनेक आयाम हैं। उच्चतम ऊंचाई पर परम पुरुष हैं और निम्नतम गहराई में जड़-प्रकृति है और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊंचाई के बीच में चेतनाओं की अनंत भूमिकाओं का क्रमविन्यास है।

जड़-प्रकृति के क्षेत्र में और साधारण चेतना के स्तर पर तुम्हारे हाथ-पैर बंधे रहते हैं। प्रकृति की यांत्रिकता के गुलाम होने के कारण तुम कर्म की सांकल से जकड़े हुए हो, और इस सांकल के बंधन में रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूप से पूर्वकर्मों के परिणाम-स्वरूप होता है। इस अवस्था में स्वतंत्र गति का जो भान होता है वह भ्रम है, यथार्थ में जो दूसरे करते हैं तुम भी उसीको दोहराते रहते हो, प्रकृति की जो विश्वगतियां हैं तुम उनकी प्रतिध्वनिमात्र हो, तुम उसके विश्व-यंत्र के कुचल देनेवाले माया-चक्र पर चढ़कर असहाय रूप से चक्कर खाते रहते हो।

परंतु यह होना आवश्यक नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थिति को बदल सकते हो और नीचे पड़े

रहकर रौंदे जाने या कठपुतली की तरह नचाये जाने के बदले ऊपर उठ सकते हो और वहीं से संसार-चक्र और उसकी अवस्थाओं को देख सकते हो तथा तुम अपनी चेतना के परिवर्तन द्वारा इस चक्र को घुमानेवाले किसी हत्थे को कब्जे में कर सकते हो जिससे इन अनिवार्य दीखनेवाली घटनाओं का परिचालन कर सको और निश्चित अवस्थाओं को बदल सको। एक बार तुम अपने-आपको इस भंवर से बाहर निकालकर ऊपर खड़े हो सको तो अपने-आपको मुक्त पाओगे, इतना ही नहीं कि विवशताओं से मुक्ति पाकर तुम प्रकृति के निष्क्रिय उपकरण न रहोगे, तुम उसके सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। केवल यही नहीं कि तुम अपने कर्मफलों के बंधन से मुक्त हो जाओगे, बल्कि तुम अपने कर्मफल को बदल भी सकोगे। एक बार तुम शक्तियों की लीला को देख पाओ, चेतना की उस भूमिका में ऊपर उठ जाओ जहां से शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्‌गमों के साथ अपने-आपको एक कर लो तो तुम उस श्रेणी के नहीं रहोगे जिसे परिचालित किया जाता है, बल्कि उस श्रेणी के हो जाओगे जो परिचालन करती है।

यही है योग का वास्तविक ध्येय—कर्म-चक्र से बाहर निकलकर भागवत गति में प्रवेश करना। योग के द्वारा तुम प्रकृति की उस यांत्रिक गति से छुटकारा पा सकते हो जिसमें तुम एक मूढ़ गुलाम, एक असहाय और बेबस उपकरण-भर हो। तुम एक दूसरी भूमिका में ऊपर उठ जाते हो जहां किसी उच्चतर भवितव्यता को कार्य में परिणत करने के लिये तुम एक सचेतन सहयोगी और सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतना की यह गति द्विविध होती है। पहले आरोहण होता है, तुम अपने-आपको जड़-प्राकृतिक चेतना की सतह से ऊपर उठाकर श्रेष्ठतर क्षेत्रों में ले जाते हो। परंतु निचले क्षेत्रों से उपरले क्षेत्रों में आरोहण ऊपर की चेतना को निचले क्षेत्रों में उतरने के लिये बुलाना है। जब तुम पृथ्वी से ऊपर उठते हो तो ऊपर की किसी चीज को भी इस पृथ्वी पर उतार लाते हो—किसी ऐसी ज्योति या शक्ति को जो इस पृथ्वी की पुरानी प्रकृति का रूपांतर कर देती है या उसे रूपांतरित होने के लिये प्रवृत्त करती है। और तब जो चीजें अभीतक एक-दूसरे से अलग, बेमेल और विषम थीं, तुम्हारे अंदर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, तुम्हारी सत्ता और चेतना के आंतर और बाह्य स्तर, एक-दूसरे से मिलते और धीरे-धीरे आपस में जुड़ जाते हैं तथा क्रमशः एक सत्य और एक सामंजस्य में परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह होते हैं। यह जगत् चेतना की अनेक भूमिकाओं से बना है और प्रत्येक भूमिका के अपने-अपने नियम हैं। एक भूमिका के नियम दूसरी भूमिका पर लागू नहीं होते। चमत्कार का अर्थ है किसी प्रकार का आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियों का—बहुधा प्राण की शक्तियों का—इस स्थूल भौतिक लोक में उतर आना। यहां की स्थूल भौतिक यंत्र-रचना पर किसी उच्चतर भूमिका की यंत्र-रचना हठात् उतर आती है। यह ऐसे होता है मानों हमारी साधारण चेतना के बादलों को चीरकर बिजली उतर आयी हो और उसने अन्य शक्तियों, अन्य गतियों तथा अन्य परिणामों को भर दिया हो। इसके फल को हम चमत्कार कहते हैं, क्योंकि हमारी साधारण भूमिका में जो स्वाभाविक नियम काम कर रहे हैं उनमें अचानक परिवर्तन दिखायी देता है, ऐसा जान पड़ता है कि इन नियमों में एकाएक कोई हेर-फेर हो गया है, लेकिन हम उसके कारण और क्रम को जान या देख नहीं पाते, क्योंकि इस चमत्कार का मूल कारण तो किसी और ही भूमिका में होता है। हमारे पार्थिव लोक पर अन्य ऊर्ध्व लोकों के इस प्रकार के हमले बहुत असाधारण नहीं हैं। ये बराबर होते ही रहते हैं, और यदि हमारी आंखें हों और हम देखना जानते हों तो हमें बहुत चमत्कार दिखायी देंगे। विशेषतः जो उच्चतर भूमिकाओं की शक्तियों को इस पार्थिव चेतना पर उतारने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें तो ये अनवरत होते ही रहते हैं।

क्या सृष्टि का कोई निश्चित लक्ष्य है ? क्या इसका कोई अंतिम ध्येय है जिसकी ओर यह अग्रसर हो रही है ?

नहीं, यह विश्व एक गति है जो शाश्वत रूप से अपने-आपको फैलाती जा रही है। ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे इति कहा जा सके, जो अंतिम लक्ष्य हो। परंतु कार्य-संचालन के लिये हमें इस गति के—जो स्वयं अनंत है—खंड करने पड़ते हैं और यह कहना पड़ता है कि हमारा अमुक उद्देश्य है, क्योंकि कार्य करने के लिये हमें किसी ऐसी चीज की आवश्यकता पड़ती है जिसपर हम अपना लक्ष्य बांध सकें। एक चित्र आंकने में तुम्हें उसकी रचना और रंगों की निश्चित आयोजना करनी पड़ती है, एक सीमा बांधनी होती है ताकि जो कुछ चित्रित करना है वह सब एक नियत ढांचे में आ जाये, किंतु वह सीमा मिथ्या होती है, वह ढांचा केवल औपचारिक होता है। असल में चित्र का एक सतत प्रवाह होता है जो किसी भी विशिष्ट ढांचे का अतिक्रमण करता है और उसकी प्रत्येक धारा उसी प्रकार एक-एक ढांचे में उतारी जा सकती है और इस प्रकार अनगिनत ढांचों का कभी न समाप्त होनेवाला क्रम बन सकता है। हम कहते हैं कि हमारा लक्ष्य अमुक है, किंतु हम जानते हैं कि यह इससे परे के लक्ष्य का प्रारंभमात्र है और फिर वह अगले लक्ष्य की ओर ले जाता है और यह शृंखला सदा बढ़ती रहती है कभी बंद नहीं होती।

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

भगवान्

भगवान् परम सत्य हैं क्योंकि वे परम सत्ता हैं जिसमें से सब प्रकट हुए हैं और जिसमें सब निवास करते हैं।

*

भगवान् वह हैं जिनसे सब कुछ प्रकट होता है, जिनमें सब कुछ जीता है और जीवन में अंतरात्मा का लक्ष्य है भगवान् के उस सत्य की ओर वापिस जाना जो अज्ञान से ढका हुआ है। अपने परम सत्य में भगवान् अनंत और परम शांति, चेतना, सत्ता, शक्ति और आनंद हैं।

*

हमारे लिये भगवान् के तीन पक्ष हैं :

१—वे वह वैश्व सत्ता और आत्मा हैं जो सभी चीजों और सत्ताओं के अंदर और उनके पीछे हैं, जिससे और जिसमें विश्व में सब कुछ अभिव्यक्त होता है—यद्यपि अभी वह अज्ञान में अभिव्यक्ति है।

२—वे हमारे अंदर, हमारी अपनी सत्ता की आत्मा और उसके स्वामी हैं। हमें उनकी सेवा करना और अपनी सभी गतिविधियों में उनकी इच्छा को प्रकट करना सीखना चाहिये ताकि हम अज्ञान में से प्रकाश में विकसित हो सकें।

३—भगवान् परात्पर सत्ता और आत्मा, समस्त आनंद और प्रकाश, भागवत ज्ञान और शक्ति हैं। हमें उस उच्चतम भागवत सत्ता और उसके प्रकाश की ओर उठना है और अपनी चेतना और अपने जीवन में उसकी वास्तविकता को अधिकाधिक उतारना है।

सामान्य प्रकृति में हम अज्ञान में निवास करते हैं और भगवान् को नहीं जानते। सामान्य प्रकृति की शक्तियां अदिव्य हैं क्योंकि वे अहंकार, कामना और अज्ञान का जाल बुन देती हैं जो भगवान् को हमसे छिपा देता है। उस उच्चतर और गभीरतर चेतना में प्रवेश करने के लिये जो भगवान् को जानती और देदीप्यमान रूप में उनके अंदर निवास करती है हमें निम्नतर प्रकृति की शक्तियों से पिंड छुड़ाना और भागवत शक्ति की क्रिया की ओर खुलना चाहिये जो हमारी चेतना को भागवत प्रकृति में रूपांतरित कर देगी।

हमें भगवान् के बारे में इस धारणा से आरंभ करना है—उसके सत्य की सिद्धि चेतना के उद्घाटन और परिवर्तन के साथ ही आ सकती है।

*

परात्पर, वैश्व और व्यष्टिगत भगवान् में फर्क मेरी अपनी खोज नहीं है और न यह भारत या एशिया की उपज है। इसके विपरीत यह कैथोलिक संप्रदाय की गुह्य परंपराओं में प्रचलित और मान्यता-प्राप्त शिक्षा है। यह त्रयी; पिता, पुत्र और पवित्रात्मा की मानी हुई व्याख्या है—जिस अनुभूति से यूरोपीय गुह्यवादी बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। यह उन सभी आध्यात्मिक शिक्षाओं में मौजूद है जो भगवान् की सर्वव्यापकता पर विश्वास करती हैं—यह भारतीय वेदांतिक अनुभूति सिर्फ सूफियों में ही नहीं अन्य मुस्लिम योग-संप्रदायों में भी है—मुसलमान तो परम प्रभुतक पहुंचने से पहले भगवान् के दो-तीन नहीं, कई स्तरों की बात करते हैं। और जहांतक स्वयं विचार का सवाल है निश्चय ही व्यष्टिगत, देश और काल में वैश्व और इस वैश्व सूत्र या किसी भी वैश्व सूत्र से परे 'कुछ' में भेद है। एक वैश्व चेतना है जिसका बहुतों ने अनुभव किया है जो अपने क्षेत्र और अपनी क्रिया में व्यष्टिगत चेतना से एकदम भिन्न है। और अगर वैश्व के परे कोई और चेतना है जो केवल काल में विस्तार न होकर अनंत और तत्त्वतः शाश्वत है वह भी इन दोनों से भिन्न होगी। और अगर भगवान् इन तीनों में हैं या इनमें अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं तो क्या यह नहीं माना जा सकता है कि अपने पक्ष में, अपने क्रिया-कलाप में वे स्वयं अपने अंदर भेद करते हैं और अगर हम अनुभूति के समान सत्य में अव्यवस्था नहीं लाना चाहते, अगर हम अपने-आपको केवल किसी वर्णनातीत वस्तु की निश्चल स्थिति की अनुभूतितक ही सीमित नहीं रखना चाहते तो भगवान् के त्रिविध रूप के बारे में बोलने के लिये बाधित होते हैं।

योगाभ्यास में व्यक्ति के इन तीन संभाव्य सिद्धियों के साथ व्यवहार करते हुए बहुत क्रियात्मक अंतर होता है। अगर मैं भगवान् को अपने व्यक्तिगत स्व के रूप में नहीं बल्कि तत् के रूप में अनुभव करूं जो गुप्त रूप से मेरी व्यक्तिगत सत्ता का परिचालन करता है, जिसे मैं पर्दे के पीछे से बाहर ला सकता हूं या मैं उस देवता को अपने अंगों में चित्रित कर लूं तो यह सिद्धि तो होगी पर होगी सीमित-सी। अगर मैं वैश्व देव को सिद्ध कर लूं, उसके अंदर समस्त वैयक्तिक आत्मा को खो दूं तो वह बहुत विशाल सिद्धि होगी और मैं केवल वैश्व शक्ति की एक वाहिनी मात्र बन जाऊंगा और मेरे लिये कोई व्यष्टिगत या दिव्य रूप में व्यक्तिगत उत्कर्ष न होगा। और अगर मैं केवल परात्पर सिद्धि में उछलकर जा पहुंचूं तो मैं परात्पर परम पुरुष में दोनों को—अपने-आपको और इस जगत् को—खो दूंगा। इसके विपरीत यदि मेरा लक्ष्य इन तीनों में से कोई न हो बल्कि मैं भगवान् को प्राप्त करना और उन्हें इस

जगत् में अभिव्यक्त करना चाहूं और इसके लिये अभीतक अभिव्यक्त दिव्य शक्ति को उतार लाना चाहूं—उदाहरण के लिये अतिमानस को—तो इन तीनों का सामंजस्य अनिवार्य हो जाता है। मुझे उसे नीचे लाना है, और मैं उसे कहां से नीचे लाऊंगा क्योंकि अभीतक तो वह वैश्व-सूत्रों में अभिव्यक्त नहीं है ? अनभिव्यक्त परात्पर में से नहीं तो कहां से, और मुझे वहांतक पहुंचना और उसे सिद्ध करना होगा। मुझे उसे वैश्व सूत्र में लाना होगा। अगर ऐसा है तो मुझे वैश्व भगवान् को सिद्ध करना होगा, वैश्वात्मा और वैश्व शक्तियों के बारे में सचेतन होना होगा। लेकिन मुझे उसे यहां मूर्त रूप देना होगा वरना वह केवल एक प्रभाव बनकर रह जायेगा, भौतिक जगत् में स्थिर वस्तु नहीं बन पायेगा। यह केवल व्यष्टि के अंदर स्थित भगवान् के द्वारा ही किया जा सकता है।

आध्यात्मिक अनुभूति के गति-विज्ञान में ये मूल तत्त्व हैं और अगर भागवत कार्य करना है तो मुझे इनको स्वीकार करना होगा।

*

निर्वैयक्तिक सत्, चित् और आनंद है, वह व्यक्ति नहीं बल्कि अवस्था है। व्यक्ति या पुरुष अस्तित्ववान् (सत्), चेतनामय और आनंदमय है। चेतना, सत् और आनंद को अगर अलग-अलग चीजों के रूप में लिया जाये तो वे केवल उसकी सत्ता की अवस्थाएं हैं लेकिन वस्तुतः दोनों (व्यक्तिगत सत्ता और शाश्वत स्थिति) एक-दूसरे से अलग नहीं की जा सकती और वे एक ही सद्वस्तु हैं।

*

मन वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों को एक-दूसरे के विरुद्ध पृथक् देखता और अनुभव करता है और एक या दूसरे को सर्वोच्च के रूप में देखता और घोषित करता है ताकि वैयक्तिक निर्वैयक्तिक में लय पा जाये या उसके विपरीत निर्वैयक्तिक परम और भागवत पुरुष की अखंड सत्ता में विलीन हो जाये—इस दृष्टि से निर्वैयक्तिक वैयक्तिक (साकार भगवान्) का एक गुण या शक्ति मात्र होता है लेकिन मन के परे आध्यात्मिक अनुभूतियों के शिखर पर मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि ये सब चीजें एक-दूसरे में घुल-मिलकर इकाई बन रही हैं। चेतना, सत्ता, आनंद अपनी अविभाज्य एकता सच्चिदानंद में लौट आते हैं। वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक अटल रूप से एक हो जाते हैं और एक को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना अज्ञान का कार्य प्रतीत होता है। एक होने की यह प्रवृत्ति अतिमानसिक चेतना और अनुभूति का आधार है।

स्मरण-शक्ति और ग्रहणशीलता

स्मरण-शक्ति को कैसे बढ़ाया जा सकता है ?

अपनी चेतना का विस्तार करो और तुम्हारी स्मृति बढ़ेगी।

चेतना यांत्रिक मस्तिष्क की स्मृति से बहुत ज्यादा बड़ी स्मृति है। मैंने यह बात एक दिन, अभी बहुत दिन नहीं हुए, तुम्हें समझायी थी। मैंने तुम्हें बतलाया था कि यांत्रिक मस्तिष्क की स्मृति भूल सकती है—उलझन डाल सकती है, विकृत कर सकती है—लेकिन अगर तुम अपने अंदर फिर से उस चेतना

को स्थापित कर सको जिसमें तुम उस समय थे तो तुम्हें ठीक वही अनुभूति होगी। और यही एकमात्र सच्ची स्मृति है। और यह पूरी तरह तुम्हारी चेतना के विकास पर निर्भर है!

आपने कहा है कि भौतिक स्तर पर "ग्रहणशीलता एक बड़ी मात्रा में प्रतिरोध के साथ मिली रहती है"। यह प्रतिरोध क्या है?

तुम्हारे शरीर में प्रतिरोध नहीं है? नहीं है क्या? जब तुम कोई व्यायाम करना चाहो तो क्या तुम शरीर के साथ जो भी करना चाहो कर सकते हो? और जब तुम स्वस्थ रहना चाहो तो क्या तुम्हारा शरीर हमेशा आज्ञा-पालन करता है? और जब तुम अपना पाठ सीखना चाहो तो क्या तुम्हारा मस्तिष्क हमेशा उसे समझ सकता है? यही तो प्रतिरोध है। जो कुछ प्रगति करने से इंकार करता है वह सब प्रतिरोध है। और मेरा ख्याल है कि प्रतिरोध की मात्रा ग्रहणशीलता की मात्रा से बहुत अधिक है। ग्रहणशील होने के लिये बहुत ज्यादा परिश्रम करने की जरूरत होती है।

तुम नहीं जानते—यह ऐसी चीज है जिसे शायद तुम एक दिन जान पाओगे, शायद तुम्हें एक दिन बताया जाये, तुम्हें यह समझाया जा सके—तुम कल्पना नहीं कर सकते कि शक्ति का कितना बड़ा सैलाब तुम्हारे अधिकार में है। और साधारणतः तुम उसे अनुभव भी नहीं करते। जब तुम्हें अनुभव होता है तो तुम्हारे अंदर कोई चीज सिकुड़ती है क्योंकि वह बहुत ज्यादा है, यही चीज तुम्हारे कोषाणुओं में एक प्रकार का सहज भय भर देती है। और जब तुम्हें वह प्राप्त होती है तो तुम तीन-चौथाई से अधिक छलका देते हो जैसे चीज ज्यादा भरे हुए बरतन में से निकल जाती है। वह छलक जाती है, गिर जाती है, क्योंकि तुम उसे रख सकने में असमर्थ हो। मुझे ऐसे बहुत-से लोग मिले हैं जिन्होंने यह शिकायत की है कि उन्हें कुछ भी नहीं मिल रहा, अर्थात्, उनमें वह शक्ति नहीं है जिसकी उन्हें जरूरत थी। इसका कारण यह है कि वे उसे ग्रहण करने में बिल्कुल असमर्थ थे। वे जितनी ले सकते थे उससे लाखों गुना अधिक शक्ति मौजूद थी। बात ऐसी है। तुम सब विशाल विस्मयकारी स्पंदनों के सागर में हो। तुम उसके बारे में बिल्कुल नहीं जानते, क्योंकि तुम ग्रहणशील नहीं हो। और तुम्हारे अंदर ऐसा प्रतिरोध है कि अगर कोई चीज अंदर घुसने में सफल हो जाये तो उसका तीन-चौथाई भाग उग्रता से बाहर फेंक दिया जाता है, क्योंकि तुम उसे समा नहीं सकते...। मैं साधारणतः इस विषय की बात नहीं करती, लेकिन अब चूंकि हम इस विषय में बात कर रहे हैं इसलिये तुम्हें बता रही हूं। और शायद एक दिन मैं तुम्हें इसका उदाहरण दूंगी। यह ऐसी बात है जिसपर विश्वास नहीं होता। उदाहरण के लिये, शक्तियों की चेतना को लो। प्रेम की शक्ति की तरह समझने की शक्ति, सृजन-शक्ति (हर चीज के लिये वही बात है, संरक्षण की शक्ति, वृद्धि की शक्ति आदि, और प्रगति की शक्ति, हर चीज के लिये), चेतना को लो, केवल यह चेतना जो हर चीज को घेरे हुए है, हर चीज में प्रवेश करती है, जो हर जगह है, हर चीज में है...। यह ऐसे लगती है मानों एक उग्रता हो जो अपने-आपको ऐसी सत्ता पर आरोपित करना चाहती है जो उसे ग्रहण करने या सहन करने में असमर्थ है। और मैं अच्छे-से-अच्छे की बात कर रही हूं, लेकिन हर एक में बड़ा या छोटा, कम या अधिक महत्त्वपूर्ण भाग होता है जिसमें अभीतक सद्भावना नहीं है, जो अभी दुर्भावना की सीमा पर है और किसी भी मूल्य पर उस चीज को नहीं फेंकना चाहता जो वहां है। लेकिन अगर तुम सचेतन हो और केवल श्वास लो, कुछ अधिक नहीं, बस इतना ही, तो तुम चेतना, प्रकाश, समझ, शक्ति, प्रेम और बाकी चीजों को सांस के साथ अंदर लोगे। और यह सब धरती पर व्यर्थ हो रहा है, क्योंकि धरती उसे लेने के लिये तैयार नहीं है। तो बस।

(श्रीमातृवाणी से)

ज्योति से ज्योति की ओर

(एक प्रतीकात्मक कहानी)

जगज्जननी ने अपने स्वर्णिम स्वर्गलोक से नीचे झांका। धरती पर अनेक महाशक्तियां विचर रही थीं। एक वामनाकार अत्यंत बलिष्ठ पीतवर्ण पुरुष समुद्र के बीच खड़ा समुद्र के उस पार खड़े एक और गौर वर्ण, नीली आंखों और सुनहरे बालोंवाले दैत्याकार पुरुष से कई अस्त्र ले रहा था। वामन भगवान् की तरह वह भी एक-एक क़दम में अनेक देशों और समुद्रों को लांघता हुआ आगे बढ़ रहा था। उसके चारों ओर लाल प्रकाश की आभा बिखर रही थी। असंख्य नर-नारी उसके चरणों पर झुक-झुक कर प्रणाम कर रहे थे। उसके गौरव, संयम और सौंदर्य-प्रेम की सीमा न थी। नीचता स्वप्न में भी उसके पास न फटक सकती थी।

उधर दैत्याकार गौर पुरुष स्वभाव से ही कुछ-कुछ राक्षस जैसा था। वह प्रकृति को विजेता की दृष्टि से देखता था। उसके हृदय में विशालता थी, उदारता थी और थी साथ-साथ नीचता, लोलुपता और स्वार्थपरता। उसने प्रकृति के रहस्यों को खोजकर स्वार्थ-भरे उपयोगों के लिये जोत लिया था। अपनी दृष्टि में वह पृथ्वी का सर्वोच्च, सर्वोत्तम प्राणी था और पशु, पक्षी, वनबीहड़, सब, एकमात्र उसीके उपभोग के लिये सरजे गये थे। उसकी गति तीव्र थी और उसकी शक्ति असीम। अपनी जाति के लोगों के लिये वह उदार, विशाल और प्रेम-भरा था। लेकिन अपार शक्ति ने उसे अंधा बना दिया और उसने सारी धरती पर अपने विचार, अपनी इच्छाएं, अपने आदर्श और अपनी दृष्टि लादने की ठानी। प्रकृति से प्राप्त शक्तियों को उसने अपना मान लिया और मदमत्त होकर अपने-आपको दूसरा निर्माता मान बैठा। उसके चारों ओर रक्त-धूमिल प्रकाश फैला था। उसके विराट् रूप के आगे असंख्य नर-नारी झुक-झुक कर प्रणति कर रहे थे और उसके नीचे आकर कुचले जानेवालों की संख्या भी कम न थी। छोटे-छोटे अनगिनत शक्तिपुंज धरती पर विचर रहे थे। कितने ही बौने हाथों में दंड और धन से भरी थैलियां लिये घूम रहे थे। असंख्य स्त्री-पुरुष उनके पीछे-पीछे हाथ फैलाए याचना करते चल रहे थे। बौने किसीके हाथों में छोटी-सी थैली पकड़ाकर डंडे के जोर पर उसे अपने आगे-आगे चलाते जाते थे। उन्हें थैली खोलकर बार-बार धन देखने का और उसे देखकर गर्व से फूलने का पूरा अधिकार था किंतु वे उसमें से एक सिक्कातक स्वतंत्रता से निकाल न पाते थे। बौनों के इशारों पर ही थैलियां खुलती और बंद होती थीं।

वहीं कवचधारी, वज्रदेह, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित असुर घूम रहा था। चारों ओर के क्रन्दन और चीत्कारों के बीच का अट्टहास्य भले-भलों का दिल दहलाता था। वह खोपड़ियों के सिंहासन पर बैठा सैनिकों की सलामी ले रहा था। घायल और मृतप्राय लोगों के श्वास से हवा बोझिल हो उठी थी।

लेकिन यह क्या ? इतने शोर-गुल के होते हुए ये दो विराट्काय सुंदर देव आकृतियां सो क्यों रही हैं ? ये दोनों बेसुध होकर पास-पास सो रहे हैं। एक पीतवर्ण और सुकुमार हाथ-पांववाला था जिसके सोते हुए चेहरे पर प्रगाढ़ शांति विराजमान थी। उसके पास ही एक और बलिष्ठ, सुगठित अवयवोंवाला स्वर्णिम देव निद्रामग्न था। उसके होठों पर हल्की मुस्कान थी मानों सुखद स्वप्न देख रहा हो। दोनों के हाथ-पांव शृंखलाओं में जकड़े हुए थे। उनसे कुछ दूर एक गौरवर्ण असुर अस्त-व्यस्त बाल लिये हाथ-पांव फैलाकर खर्राटे ले रहा था।

जननी ने अपने ही हाथों से इस बहुविध जाति का निर्माण किया था। फिर भी, आश्चर्यचकित होकर उनकी आंखें इस विचित्र लीला को देखती रह गयीं। उनकी दृष्टि बार-बार सोई हुई तीन विराट् शक्तियों

पर जा अटकती थी। इन्हें कैसे जगाया जाये ? इच्छा करते ही उनके सामने शुक्राचार्य आ उपस्थित हुए।

देवी ने आदेश दिया : "तुम धरती पर जा कर सोए हुए महाअसुर को जगाओ।"

शुक्राचार्य ने धरती पर पहुंचकर भूरी आंखों और काले बालोंवाला एक मानव शरीर धारण किया। उस मानव ने असुर को झकझोर कर जगा दिया और उसे जगाकर समानता और एकता का पाठ पढ़ाया। असुर ने अपने जात-भाइयों को इकट्ठा किया और उनकी मदद से अकल्पनीय रक्तपात करके सबको एकता और समानता मानने के लिये बाध्य किया।

पीतवर्ण सोये हुए देव को जगाने के लिये देवी ने अपना एक दूत भेजा। दूत ने सोते हुए देवता को फुसफुसा कर जगाया और उसका ध्यान उसकी बंदी अवस्था की ओर खींचा। अफीम के नशे में झूमता हुआ देव बड़ी कठिनाई से खड़ा हुआ। उसके दैवी सामर्थ्य और साहस न मालूम कहां गुम हो गये थे। वह खड़ा-खड़ा ही ऊंघने लगा।

इतना सब होने पर भी स्वर्णमूर्ति-सा सोया हुआ देव पड़ा सोता रहा। उसे कैसे जगाया जाये ? उसकी कमल-सी आंखें कब और कैसे खुलेंगी ? जननी ने अपने साथी ईश्वर की ओर देखा। उनके लिये इतना संकेत काफी था। उन्होंने स्वीकृति में सिर झुकाया और धरती पर उतर आये। उनके आते ही पाताल में खलबली मच गई। इनका आना सभी आसुरी शक्तियों को चुनौती देता था। तिलमिलाकर चार महादैत्य इस नये अवतार के लिये घात लगाकर बैठ गये। जननी ने स्थिति की गंभीरता को देखा और तुरंत इन चारों के साम्राज्य के बीच में कूद पड़ीं। धरती के रात से भी काले हृदय में एक ज्योति का प्रवेश हुआ। ईश्वर ने सोते हुए देव के कान में कहा : "हे अमृत-पुत्र, उठो।"

सोते हुए देव ने अलसाई आंखें खोलीं। उसने अपने बंधन देखे और चाहा कि उनसे मुक्त हो जाये पर उसमें इतना बल न था। वह थोड़ा-सा प्रयास करके ही थक गया। ईश्वर की ओर देखते हुए उसने पूछा :

"भगवन्, इतनी दुर्बलता कहां से आ गयी है ? शरीर तो वही है पर मैं चाहते हुए भी बंधन-मुक्त क्यों नहीं हो पाता ?"

ईश्वर ने उत्तर दिया : "हे देव, तुम समर्थ हो, तुम महान् हो, तुम्हारे अंदर दैवी संपदा है, फिर भी तुम पर क्लीवता छाई है। तुमने महिमामयी देवी शक्ति का त्याग कर दिया और वे तुम्हें छोड़कर चली गयी हैं। शक्ति की उपासना करो। अपने हृदय से, मस्तिष्क से और भुजाओं से मां का आवाहन करो। वे ही तुम्हें बंधन-मुक्त कर सकेंगी।"

बात समझ में आ गयी। उस अति सुंदर देव ने आंखें मूंदकर भाव-भीने स्वर में आवाहन किया :

"वन्दे मातरम्

त्रिंश कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले
द्वित्रिंश कोटि भुजैर्धृत खर करवाले
अबला कैनो मां ऐतो बौले
बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदल वारिणीम् मातरम्॥

तुमि विद्या तुमि धर्म
तुमि ऋद्धि तुमि मर्म
त्वम् ही प्राण शरीरे

बाहुते तुमि मा शक्ति, हृदये तुमि मा भक्ति
तोमारी प्रतिमा गोड़ी मंदिरे-मंदिरे ॥

त्वम् ही दुर्गा दशप्रहरण धारिणीम्
कमला कमलदल विहारिणीम्
वाणी विद्या धारिणीम्
नमामि त्वाम् नमामि कमलाम् अमलाम् अतुलाम्
सुजलाम् सुफलाम् मातरम् ॥"

आवाहन के साथ-ही-साथ धरती की गहराइयों में बैठी जननी ने अपने एक अंश को ऊपर भेजा। हीरों के जगमगाते किरीट और कुंडल से सुशोभित कमल-सी आंखों में अपार ममता लिये, गांभीर्य और माधुर्य से मंडित मुखवाली देवी लहराते मुक्त-केश के साथ प्रकट हुई, उसके चरण-कमल के चारों ओर समुद्र बार-बार प्रणाम करने लौटता था। उसके हाथ में एक रक्त कमल था। नील नभ से देवों ने पुष्प-वृष्टि की। देव ने इस रूप के सामने दंडवत् प्रणाम किया। जब वह खड़ा हुआ तो देवी ने उसे हृदय से लगा लिया। लेकिन यह क्या ? देव आश्चर्यचकित हो अवकाश में इधर-उधर देखने लगा, फिर याचना-भरी दृष्टि से, विवश बालक की तरह उसने ईश्वर की ओर देखा। ईश्वर ने कहा :

"पूछते हो कहां गयी ? तुम्हीं में तो समा गई ? अब तुम्हें कोई नहीं रोक सकता। जिस क्षण चाहोगे उसी क्षण बंधन-मुक्त हो सकोगे।"

यह सुनते ही देव ने झटके से अपने बंधन तोड़ डाले लेकिन बंधन तोड़कर भी वह उद्विग्न ही रहा। अब ? क्या करना है ? कहां जाना है ? ईश्वर ने धरती में निहिंत जननी को पुकारा। जननी के आते ही महादैत्य अपने दलबल सहित सारी धरती पर छा गये।

कवचधारी युद्ध-लोलुप असुर और समानता तथा एकता के प्रतीक असुर के पीछे एक महादैत्य और उसकी सेना आ खड़ी हुई। असुर और दैत्य ने मिलकर ठीक किया कि धरती पर ईश्वर और जगज्जननी के कार्य को आगे न बढ़ने देंगे। भयंकर देवासुर संग्राम छिड़ गया। मानवजाति त्राहि-त्राहि करने लगी, वह कल्पनातीत अमानुषिक यंत्रणाओं से कांप उठी। करोड़ों मनुष्य त्राहि-त्राहि करने लगे। और उत्तर में जगज्जननी के करोड़ों अंश उनकी सहायता करने लगे। दुर्धर्ष युद्ध हुआ और धरती शवों से पट गई, वीभत्स रक्तप्लावन के बाद ईश्वर और ईश्वरी की विजय हुई। ईश्वर-भक्तों ने खुशी मनाई। लेकिन जननी सावधान थीं। वे जानती थीं कि अभी तो एक ही महादैत्य की पराजय हुई है।

अपने साथी की पराजय से क्षुब्ध होकर रात्रि से भी काला महादैत्य बार-बार आक्रमण करने लगा। उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में चट्टान-सी निश्चलता थी। उसका अंग-अंग दृढ़ निश्चय से ही सरजा गया था। पराजय शब्द ही उसके लिये अपरिचित था। लेकिन एक शुभ मुहूर्त आया और जननी से उसकी आंखें चार हुईं। घुप्प अंधेरे में टिमटिमाती रोशनी की तरह उसकी पत्थर-सी आंखों में कहीं आकर्षण टिमटिमा उठा। जननी ने उसका हाथ पकड़ लिया। काले बादलों में बिजली चमकी।

जननी ने कहा : "बैठो।"

न चाहते हुए भी दैत्य बैठ गया।

वे बोलीं : "अपने जन्म की याद है ?"

दैत्य ने 'ना' में सिर हिला दिया।

वे बोलीं : "विश्व अभी बना न था, दिन और रात अभी अस्तित्व में न आये थे। निबिड़ अंधकार में

बैठे परम पिता ने सर्जन का संकल्प किया और संकल्प के साथ ही उनके शरीर से एक विद्युत्-रेखा-सी प्रतिमा प्रकट हुई। वह उनका हृदय था। उस प्रतिमा ने—तुम उसे महेश्वरी कह लो, अदिति कह लो, जो नाम चाहो दे लो—उसने संकल्प मात्र से चार प्रकाश-मूर्तियों का सर्जन किया। वे प्रथम देव—चेतना और ज्योति, जीवन, प्रेम और प्रसन्नता और सत्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। इन चारों ने ईश्वर और ईश्वरी को दंडवत् प्रणाम किया और पूछा : ''आप हमसे क्या सेवा चाहते हैं ?' अदिति ने कहा : 'सृष्टि का सर्जन करो, मैं तुम्हें पूरी स्वतंत्रता देती हूं। जैसा चाहो वैसा सर्जन कर सकते हो।'

''बस, चारों एक-दूसरे का हाथ पकड़कर चल पड़े। चारों ने मिलकर विराट् सर्जन के लिये अपने असंख्य रूपों को अवकाश में भेज दिया। अंधकार में धीरे-धीरे प्रकाश खिलने लगा। असंख्य सूर्य-मंडल, नक्षत्र जगमगाने लगे। चारों ने अपने सर्जन की शोभा को देखकर गर्व का अनुभव किया।

''कुछ दूर ही जाकर उनमें से प्रत्येक सेवक बनने की जगह स्वामी बन बैठा। गर्व से दूषित सत्ताएं अपने-आपको ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझने लगीं। प्रत्येक देव ने दूसरे की ओर घृणा से देखा, हर एक दूसरे की अवज्ञा करने लगा। परिणाम ! परिणाम यह हुआ कि चेतना और ज्योति का देव अवचेतना और अंधकार बन गया; प्रेम और प्रसन्नता द्वेष और दुःख में; जीवन मृत्यु में; और सत्य असत्य में बदल गया। किसी तत्त्व के एक ही गुण को लेकर, औरों से अलग चलें तो आगे चलते-चलते वह गुण भी अवगुण बन जाता है। इन चार नवजात देवों के साथ भी यही हुआ।

''वे बहुत जल्दी परम पिता ईश्वर से द्वेष करने लगे, उन्हें अपना दुश्मन मान बैठे। परम पिता के साथ संलग्न ध्यानमग्न देवी अदिति ने आंखें खोलीं तो देखा कि चार देव, जो अब चार असुर बन गये थे, अपने ही अनुरूप अंधकारमय, कठोर और ठोस गोले का सर्जन कर चुके थे। वहां जीवन के नाम पर मृत्यु का सन्नाटा था, वहां प्रकाश की जगह अंधकार था और सत्य की ज्योति का तो जन्म ही न हुआ था। एक अनसुना क्रंदन उसे घेरे हुए था। अदिति ने सोचा : 'ईश्वर ने अपने असंख्य रूपों की लीला करने के लिये सृष्टि का सर्जन करना चाहा था किंतु उनके प्रथम पुत्र उनके विरोधी बन गये और जिस प्रकाशमय, सौंदर्यमय, जीवन से भरे, सत्य के प्रकाश से जगमगाते लोक का सर्जन करना था उसकी जगह यह निर्जीव, कठोर, अंधकारमय पिंड बन गया।

''उन्होंने ईश्वर की ओर मुड़कर इस विचित्र सृष्टि को बचाने की प्रार्थना की। और असंख्य ज्योतिर्मय देव-देवियों से आकाश भर गया। देवी ने उन्हें सर्जन करने का आदेश दिया। अग्निदेव उस गोले पर अपनी दहनशीलता और प्रकाश लेकर कूद पड़े, किंतु गोले पर अधिकार जमाए असुरों ने साथ-ही-साथ परछाइयां भेज दीं, अंधकार भेज दिया। अग्नि की सहायता के लिये वायु आये। असुरों ने उनकी दुर्दम्य शक्ति को कम कर दिया। इन दोनों को जूझते देख उनकी सहायता के लिये वरुण आये और गोले पर अजस्र वर्षा की धाराएं गिरने लगीं। लेकिन गोले को छूते ही पवित्र जल गंदला गया। देवों ने असहाय होकर अदिति की ओर देखा। अदिति ईश्वर की ओर मुड़ी और उसकी मूक प्रार्थना के उत्तर में हीरे-सा जगमगाता हुआ एक धवल, सर्वांग सुंदर देव गोले पर कूद पड़ा। असुर उस जाज्वल्यमान प्रकाश को सह न सके। विरोध करना तो दूर रहा, जलकर भस्म हो जाने के डर से आंखें मूंदकर दूर हट गये। सुंदर, धवल देवमूर्ति गोले के हृदय में, जो अब अंधकारमय गुफा बना हुआ था, जाकर लेट गया और लेटते ही उसकी आंखें बंद हो गयीं। उस तुषार-धवल शरीर में से इंद्रधनुष से भी अधिक रंगों की आभा छिटकने लगी।

गोले के अंदर सोई हुई नारी मूर्ति ने अपनी आंखें पहली बार खोलीं। आंख खोलते ही उसने सोचा : 'मैं कौन हूं ?' आकाश में खड़े देवों ने उत्तर दिया : 'देवी, तू धरित्री है, परम पिता का प्रिय सर्जन है। तू सोने के लिये नहीं बनायी गयी। चल, वे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं ऊर्ध्वलोक में।

"देवी ने अंगड़ाई ली। आकाश से देवों ने धरती के पहाड़ों और नदियों पर तरह-तरह के संकल्प बरसाए। पानी पर काई फैल गयी। किनारों पर छोटे-छोटे पौधे और लताएं उग आये। जब हवा चलती तो पत्तों से मधुर संगीत सुनायी देता था। लेकिन यह क्या ! पेड़ों और लताओं में भी अंधकार और मृत्यु ने प्रवेश पा लिया। देवों ने अदिति से प्रार्थना की : 'मां, इस तरह तो हम असुरों को कभी न हरा पाएंगे, वे हमारी हर कृति को विकृत कर देते हैं।'

"इस बार अदिति ने स्वयं अपने हृदय को प्रेम में केंद्रित किया और उनके हृदय से एक मधुर, अमीवृष्टिवाली सुंदर देवी ने कीचड़-भरे शून्य गोले के हृदय में छलांग लगायी। आकाश से देवों ने पुष्प-वृष्टि की। धरती का हृदय प्रेम से, वात्सल्य से भर गया और धरती पर नदियां और समुद्र छोटे-छोटे जीवों से चंचल हो उठे। इस तरह देव और असुर के मिले-जुले सर्जन से पृथ्वी भर गई। सोए हुए देवता की शक्ति से और मां अदिति की आहुति से पृथ्वी धीरे-धीरे रोग-शोक और मृत्यु से ग्रस्त होते हुए भी आगे बढ़ती गयी।

"हजारों वर्ष बीत गये। नाना प्रकार के परिवर्तनों के बाद धरती पर मन का अवतरण हुआ। मन के अवतरण के साथ मनुष्य आया, जो ईश्वर के सबसे नजदीक है। उसीने विकास के लिये पहला सचेतन प्रयास किया। उसने पहली बार सचेतन रूप से अभीप्सा की जिसके उत्तर में बार-बार खुद ईश्वर ने और देवी अदिति ने मानव शरीर धारण किया। वे राम बने, कृष्ण बने, बुद्ध बने, ईसा बने, और न जाने उन्होंने कितने मानव चोले धारण किये, किंतु भगवान् अकेले न रहे। असुरों ने भी इस नये तत्त्व—मन—पर अपना अधिकार कर लिया। मनुष्य रोग-शोक और जरा-मृत्यु का दास बन गया जो सचमुच अंधकार, अवचेतना और द्वेष के परिणाम थे। मनुष्य का अधिकार था अमरता, ज्योति, चिर यौवन प्राप्त करने का। किंतु असुरों ने उसका अधिकार छीन लिया था।"

देवी कुछ देर चुप रहीं, फिर सामने खड़े असुर की ओर देखकर बोलीं :

"तुम उन चारों में से एक हो, याद आता है ?"

असुर ने सिर झुकाकर हामी भरी।

जगज्जननी के स्पर्श मात्र से उसके अंदर एक अजीब खलबली मची हुई थी। उसे अपना वह तेजोमय, बृहत्, सुंदर स्वरूप याद आया और उसने अपने वर्तमान शरीर पर दृष्टि डाली। कहां निष्कंप ज्योति-सा वह हल्का-फुल्का, फुर्तीला, सुंदर शरीर और कहां यह काली, ठोस, भारी-भरकम कुरूप देह ! वह जो दिव्य सर्जन कर सकता था उसकी एक झलक मिली और अगले ही क्षण उसने सृष्टि पर अवचेतन और अंधकार देखा। असुर में कठोर परिश्रम की शक्ति होती है, असीम साहस होता है और निश्चय की दृढ़ता होती है। इन सबको इकट्ठा करके अवचेतना के असुर ने अपने ऊपर जमे अंधकार की परतों को हटाना शुरू किया। प्रत्येक परत को उखाड़ते हुए उसे प्राणहारक पीड़ा होती थी, किंतु वह अपने निश्चय पर डटा रहा।

बार-बार भगवती उसकी ओर करुणा-भरी दृष्टि से देखतीं और कहतीं : "वत्स, ये परतें तू नहीं है, तू प्रकाशमय है, अपने हृदय में पैठकर देख, यह तेरा रूप नहीं है।"

देवी के शब्द उसका बल बढ़ाते थे, उत्साह दूना करते थे। आखिर सब आवरण उतर गये और देदीप्यमान देव बालक अदिति की गोद में सिर रखकर बैठ गया। सिर सहलाते हुए देवी ने पूछा :

"अब तू ने अपना सच्चा रूप पा लिया, बोल, अब क्या करेगा ?"

देव ने उत्तर दिया : "आपकी सेवा।"

देवी ने पूछा: "मानव शरीर धारण करेगा ? याद रख तू अभी स्वतंत्र है।"

चेतना के नवजात देव ने कहा : "मां, मैं पूरी स्वतंत्रता के साथ तुम्हारी सेवा करना चाहता हूं और

शरीर एक बंधन होगा। मैं हवा की तरह मुक्त रहकर सारी पृथ्वी पर काम करूंगा।''

अदिति ने अपना वरद हस्त उसके सिरपर रखा और चेतना के देव ने मुड़कर आकाश में अपने विराट् कदम बढ़ाए। आकाश के देव और पृथ्वी के देव उसका स्वागत करने के लिये आगे बढ़े।

देवी ने चेतना के देव का यह स्वागत देखा तो प्रसन्नता से मुस्करायीं। उन्होंने अपने पास शिशुवत् खड़े दूसरे देव पर नजर डाली जिसने अभी-अभी शक्ति का आवाहन किया था और बोलीं :

''तेरा नाम है भारत। ईश्वर ने तुझे अपनी लीला के लिये चुना है। हर चतुर्युगी में वे एक देश को चुना करते हैं। इस बार उन्होंने तुझे चुना है।''

आश्चर्य से देखते हुए भारत ने कहा : ''तो क्या ये सब देव और असुर राष्ट्र हैं ?''

देवी ने कहा : ''हां। प्रत्येक राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व है। वही उसकी अस्मिता है। जब कोई देश अपने अंदर निहित इस देवत्व के साथ एक होता है तभी सफलता पाता है और प्रगति करता है। तुमने भूतकाल में अपने देवत्व के साथ एक होकर सारी सृष्टि का नेतृत्व किया था। धीरे-धीरे तुम उससे दूर होते गये, तुमने शक्ति का अपमान किया, उसकी अवहेलना की, और वह तुम्हें छोड़कर चली गयी। तुम आलस्य में डूबने लगे, निर्वीर्य हो गये। इतने अधिक बलहीन हो गये कि एक छोटे-से देश ने तुम्हें अपना गुलाम बना लिया। गुलामी की इस अपमानजनक स्थिति में भी तुम लंबी ताने सोते रहे। तुम्हें जगाने के लिये स्वयं ईश्वर को नीचे उतरना पड़ा।

''अब भी तुम सामर्थ्यवान् नहीं हो। शक्ति की उपासना करो। भिन्न-भिन्न शक्तियों की उपासना करके तुम्हारे सहोदर देश कितनी उन्नति कर रहे हैं। विज्ञान की उपासना करके एक देश प्रायः सारी धरती पर छा गया। राजनीतिक शक्ति की उपासना करके एक और छोटा-सा देश सातों समुद्र पर प्रभुत्व फैला सका। लेकिन तुम्हें इन सब शक्तियों से भी ऊंची शक्ति की उपासना करनी है। कुछ लोग मानते हैं कि तलवार जैसी शक्ति और किसी में नहीं है। दूसरे कहते हैं शब्द-शक्ति तलवार की शक्ति से हजार गुनी अधिक समर्थ है। मैं कहती हूं कि शब्द की शक्ति से भी अनंतगुना सामर्थ्य है ब्रह्म-शक्ति में। अन्य सब शक्तियां उसके विभिन्न रूप मात्र हैं। ब्रह्म-शक्ति बीज है। तुम्हें उसीकी उपासना करनी है, उसे पाना है। तुम्हारा धर्म है उसी ब्रह्म के साथ सारे जगत् का, सभी देशों का नाता जोड़ना।''

स्वर्णिम देव ने नमस्कार किया। वह ब्रह्म-शक्ति के आवाहन में लग गया। लेकिन काम इतना आसान न था। बचे-खुचे असुरों की सेना उसपर टूट पड़ी। जो देश सत्यनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध था वह अब असत्य, छल, कपट का डेरा बन गया।

ईश्वर और जगज्जननी की विजय की कल्पना मात्र से घबराए हुए असुरों ने हर देवोपम देश के व्यक्तित्व में छेद कर लिया। प्रामाणिकता, आदर्शवाद, सच्चाई, सबको मार भगाया गया। देशप्रेम भी मानों बहुमूल्य इत्र की तरह उड़ गया था। एक असुर धीरे-धीरे सब देशों का स्वामी बन बैठा। उसीके रहस्यमय इशारों पर देश गिरने और उठने लगे। फिर भी असुरों को संतोष न था क्योंकि यह सब होते हुए भी ईश्वर का काम आगे बढ़ता ही जा रहा था। देशों के स्वामी असुर ने अब उन्हें आपस में लड़ाने की ठानी। महाभयंकर विश्वसंग्राम छिड़ गया। देश-स्वामी असुर बड़ा मोहक, देदीप्यमान रूप लेकर देश के नेताओं को ठगता रहा। वे उसे ईश्वर मानकर उसकी आज्ञा का पालन करते रहे। एक दिन जगज्जननी और देशों के स्वामी में मुठभेड़ हो गयी। अदृश्य जगत् में दोनों का घोर संग्राम हुआ मानो दुर्गा और महिषासुर में नये सिरे से छिड़ गयी हो। धीरे-धीरे असुर के सारे अस्त्र उसके हाथ से गिर गये। परास्त असुर सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। देवी ने उसे अपने मूल रूप की याद दिलायी, उसे फिर से अपनाने के लिये कहा।

लेकिन नहीं, उसे इन चीजों में रस न था। शायद वह थक गया था। शायद इतना अधिक और इतना कठोर श्रम करके चूर-चूर हो गया था। उसने विनती की :

"ना, मुझसे और कुछ करने को न कहो, बस, अब मुझे अपना लो।"

"अपना लो मुझे" कहते-कहते उसने त्राटक किया और खड़ा-खड़ा देवी की ओर खिंचता चला गया। उसका अंत किसीने नहीं देखा। कहते हैं वह स्वयं देवी के अंदर समा गया।

अब बस, एक और अंतिम असुर बचा था। उसने निश्चय किया कि वह आसानी से हार न मानेगा। जहां कहीं जगज्जननी काम शुरू करतीं वह भी उनके पीछे-पीछे जा पहुंचता और कभी छिपकर तो कभी प्रकट रूप में हमला बोल देता। जननी का शरीर अनगिनत घावों से भर गया। असुर की छोटी-मोटी प्रजाएं, भूत-पिशाच आदि उनका मजाक उड़ाते : "हा . . . हा . . . देख लिया ? धरती पर तुम आयीं, तुम्हारे ईश्वर आये, लेकिन हुआ क्या ? हमें कोई नहीं हरा सकता।"

देवी की ललकार सुनकर कितनी ही आत्माएं मानव शरीर लेकर इस महायुद्ध में कूद पड़ीं। एक बार इस घमासान युद्ध में असुर ने देवी के हृदय पर चोट की। क्षण-भर के लिये वे निर्जीव-सी होकर गिर पड़ीं। देवों में अवसाद छा गया। भूत-पिशाच खुशी से नाचने लगे। लेकिन कुछ ही देर में देवी उठ खड़ी हुईं और उन्होंने असुरों के अंतिम गढ़, एक स्वर्णिम दरवाजे को अपने हथौड़े से तोड़ दिया। रोता-चीखता असुर भागने लगा। किंतु शांत, स्वस्थ, कदम बढ़ाती हुई देवी उसका पीछा करती रहीं। जब भागने का और रास्ता न दिखायी दिया तो हांफता हुआ असुर उनके कदमों में गिर गया। देवी ने मुस्कराते हुए कहा :

"अब यह मुखौटा भी उतार दो न।"

लपलपाती लाल जीभ, आरक्त विस्फारित नेत्र, नुकीले दांतों को बार-बार दिखाता हुआ चेहरा भयंकर था। देवी ने झुककर उस चेहरे को अपनी ओर खींचा।

चारों दिशाएं गड़गड़ाहट और गर्जना से गूंज उठीं। यह ध्वनि इतनी भयंकर थी कि सुनते ही अच्छे-अच्छों के कान बहरे हो गये। एक बार धरती और रसातल भी कांप उठे। देवी का हाथ हटते ही उसका कालकूट-सा विषैला चेहरा और मध्यरात्रि से भी काला मुख मानों धुंआ बनकर उड़ गये। उनकी जगह हजारों सूर्यों से भी अधिक देदीप्यमान देवमूर्ति खड़ी थी। जहां पहले सारी सृष्टि के कष्टों की जड़ थी वहां अब परम आनंद चमक रहा था। सृष्टि का सारा ही माधुर्य एक अनुपम मुख पर झलक रहा था। उन दो देदीप्यमान आंखों में से मूर्तिमान भक्ति और पूजा, देवी की ओर देख रही थीं। धरित्री इस विराट् मूर्ति के सामने हाथ जोड़े, आंखें ऊपर उठाए ऐसे खड़ी थी जैसे एक विराट् वृक्ष के सामने नन्हा-सा पौधा! इसी विराट् मूर्ति के पीछे उसे भी वामन बनाती हुई एक और मूर्ति खड़ी थी। यही तो वह हीरों-सा जगमगाता शरीर था जो सदियों पहले पृथ्वी के हृदय में जाकर सो गया था।

अदृश्य जगत् की इस विजय से भारत में एक अकल्पनीय परिवर्तन आया। ब्रह्म के उपासकों की शक्ति बढ़ने लगी। जनता ने उनके नेतृत्व की मांग की और धीरे-धीरे सारे देश में ब्रह्म के उपासक बढ़ने लगे। साथ ही ब्रह्म-शक्ति भी बढ़ने लगी। बचे-खुचे, छोटे-मोटे राक्षसों और भूत-प्रेतों ने इस ब्रह्म-शक्ति के आगे हथियार डाल दिये। जगत् के सभी देश, भारत की ओर पथ-प्रदर्शन के लिये मुड़ने लगे। फिर से भारत ने एक नये, स्वर्णिम युग का आरंभ किया। अब अंधकार से ज्योति की ओर नहीं, ज्योति से उच्चतर ज्योति की, असत्य से सत्य की ओर नहीं, सत्य से उच्चतर सत्य की ओर यात्रा होगी। और जरा-मृत्यु से मुक्त रूप का अवतरण होगा।

—अनुबेन

श्रेष्ठं वरणम्

श्रूयताम् अत्यन्तलघुः किन्तु भावगम्भीरा कथा—पुराकाले ईश्वरस्य परमभक्तः कश्चिद् राजा दीर्घकालम् उपासनामकरोत्। तस्य इष्टदेवः प्रसन्नः, आविर्भूय राज्ञे आशीर्वादान् कृत्वा अवदत्—वत्स, प्रसन्नोऽस्मि अहं तव पूजया, गृहाण इमं खड्गं, विजयस्व च सम्पूर्णां धरित्रीम्।

साष्टाङ्गं प्रणम्य राजा अगदत्—भगवन्, कृतार्थः खल्वहं जातः भवतः दर्शनेन, किन्तु कृपया कथ्यताम्, सम्पूर्णां धरित्रीमपि प्राप्य किं प्राप्स्यामि वस्तुतः अहम् ?

—तदा स्थापय इमं स्पर्शमणिं स्वेन सह। तव राजकोषः सर्वदैव परिपूर्णः स्थास्यति।

—धनिकः भविष्यामि खल्वहं प्रभो ! किन्तु कृपया कथ्यतां तावत् धनं प्राप्य वस्तुतः किं प्राप्स्यामि अहम् ?

—बाढम् वत्स, तदा गृहाण स्वर्गस्य इमाम् अप्सरसम्।

—सुखोपभोगे लीनः भविष्यामि इमां प्राप्य अहं किन्तु वदतु, तेन सुखोपभोगेन कां सिद्धिं प्राप्स्यामि प्रभो ?

—तदा गृहाण इमं पादपम् ! इति अकथयत् ईश्वरः।

साश्चर्यं राजा अभणत्—कथ्यतां प्रभो, कः गुणः अस्य पादपस्य ? कश्चिद् विशेषः दृश्यते।

—वत्स ! अस्ति एषः प्रेम्णः पादपः, यत्र कुत्रापि स्यात् एषः सर्वेभ्यः प्रेमस्पन्दान् वितरिष्यति, अखिला पृथिवी अस्य पुष्पाणां सुगन्धेन सुवासिता, सुमधुरा भविष्यति।

ईश्वरं प्रणम्य बद्धाञ्जलिः राजा अवदत्—कृतार्थः वस्तुतः भविष्यामि पादपं प्राप्य प्रभो ! खड्गस्य तीक्ष्णता न चिरकालाय स्थास्यति, बहुधनं प्राप्य तस्य मदेन उन्मत्तः जायते जनः, अप्सरसः सौन्दर्यम् अद्य अस्ति श्वः वाष्पीभूय उड्डयिष्यते किन्तु अस्य पादपस्य सुगन्धः तु दिनानुदिनं वर्धिष्यते, सत्यप्रेम्णः स्पन्दाः तु सम्पूर्णधरित्र्याम् अभिनवप्राणान् सञ्चारयिष्यन्ति किञ्च तां सुखमये स्वर्गे रूपान्तरितां करिष्यन्ति येन देवाः अपि लालायिताः भविष्यन्ति अत्र अवतर्तुम्। तस्मात् भगवन्, प्रयच्छतु इमं पादपं येन सत्यतया सफलं स्यात् मे जीवनम्।

—वन्दना

————

मंत्र

तुम्हें कहना चाहिये, ''चूंकि मैं केवल भगवान् को चाहता हूं इसलिये मेरी सफलता निश्चित है। मुझे केवल संपूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ते चलना है और स्वयं उनका हाथ, उनके मार्ग से, उन्हींके समय पर, उनतक सुरक्षा के साथ पहुंचाने के लिये रहेगा।'' इसे तुम्हें अपने सतत मंत्र की तरह रखना चाहिये।

—श्रीअरविंद

पुस्तक-परिचय

सुरभि—संपादक श्री विष्णु प्रभाकर; प्राप्ति स्थान, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस, नयी दिल्ली—११०००१; मूल्य ७५ रु.।

हिंदी में स्मृति ग्रंथ प्रकाशित करनेवालों में श्री यशपाल जैन का विशेष स्थान है। सुरभि उन्हीं यशपाल जी की आदर्श पत्नी की सुरभि फैलाने का काम कर रही है। पुस्तक के संपादक के शब्दों में "इस ग्रंथ की रचनाओं में जो पुकार है, वही आदर्श की पहचान है, . . . आदर्श न होती तो यशपाल जी क्या होते यह कौन बता सकता है, नारी के इसी योगदान को उजागर करता है यह ग्रंथ। उनके जीवन-साथी, उनकी संतान, उनके परिजनों, प्रिय-जनों,जिनके संपर्क में वे आयीं उन मनीषियों, राजनेताओं, सहकर्मियों सभीने उस पहचान को शब्द दिये हैं।"

नारी का परिचय पाना जितना सरल है उतना ही कठिन भी। इस पुस्तक ने इस कठिन काम को अच्छी तरह निभाया है।

व्यक्तित्व का मनोविज्ञान—ले. सीताराम जायसवाल, प्रकाशक विनोद भंडार, आगरा—२।

"इस ग्रंथ में व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक नियंत्रण के साथ-साथ उन सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला गया है जो व्यक्तित्व के स्वरूप की विभिन्न दृष्टियों से व्याख्या करते हैं" हिंदी में मनोविज्ञान पढ़नेवालों के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगी।

राजस्थान साहित्य अकादमी के प्रकाशन :—

रेत पर नंगे पांव (काव्य संचय)—मूल्य ७५ रु.। **तपती धरती का पेड़** —मूल्य ६५ रु.।

दोनों पुस्तकें राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर द्वारा प्रकाशित हैं। पहली में आधुनिक राजस्थानी हिंदी कविताओं का और दूसरी में कहानियों का संचय है।

पहली के लिये जैसा कि भाई आतुर ने अपने प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा है "राजस्थान का आधुनिक हिंदी काव्य-साहित्य उन्हीं पगडंडियों और प्रशस्त मार्गों से चला है और आगे बढ़ा है जिनपर हिंदी कविता कभी रूठती और कभी मचलती, कभी ठिठकती और कभी द्रुतगति से दौड़ती हुई चली है। उन्हीं परिस्थितियों और परंपराओं का चित्रण और पोषण राजस्थान के आधुनिक हिंदी काव्य में हुआ है। एक उदाहरण देखिये : एक छोटे-से थैले में, इस दुनिया के कुछ सुख,बटोरने की कोशिश की है, अत्यंत आशावान् होकर, मैं इसे हाथ में झुलाता चल दिया बाजार।

आज इसमें भर लूंगा, अपनी गिरस्ती के लिये बहुतेरे तोहफे नायाब, लेकिन लौटते-लौटते जेब बिल्कुल खाली और थैले का पेट तो क्या, पैंदा भी नहीं छुआ . . . क्या खरीदा था ऐसा, सोना-चांदी, सच्चे मोती, बिल्कुल भार भी नहीं, भराव नहीं . . .

शायद आज थैले में रेत भरकर, लौटा।

एक और कविता देखिये :

हम ईमानदारी और वायदे की राइफलें लेकर, अन्याय से जहाद नहीं ठानते, केवल अपने स्वार्थ का शिकार करते हैं, और इसके बाद कुछ दिन चैन की नींद सोते हैं। जब हमारे अपूर्ण स्वप्न राइफलों की नलियां, जंग के माफिक जमने लगते हैं, तो हम ईमानदारी और शांति के लिये गोलियां नहीं चलाते। केवल संगीन तान लेते हैं और इस तरह, बिना गोली या तीर के ही, मार लिया जाता है दूसरा स्वर्ण मृग !

तपती धरती का पेड़ आधुनिक कहानियों का संग्रह है, इससे हमें राजस्थान के आधुनिक मानस का अच्छा परिचय मिलता है। आधुनिक भारत की सभी भाषाओं की कहानियों में एक साम्य है, इधर मत बहो हवा, श्रवण की डायरी, पेड़ कट गया, हवा पानी तेरा रंग आदि ३० कहानियां हैं अलग-अलग लेखकों की।

"Work done in the right spirit is meditation."

— THE MOTHER

अविचल श्रद्धा का होना अच्छा है—यह तुम्हारे पथ को अधिक आसान और छोटा बना देती है।

—*श्रीमां*

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER

गुह्य योजना

कितने ही दीर्घ हों महारात्रि के प्रहर, मैं नहीं करूंगा स्वीकार
कि मनुष्य का यह छद्मरूप आवरण और लघु अहंकार
ही हैं हमारे जीवन-आयोजन में ईश्वर का प्रकटीकरण,
प्रकृति के विश्वव्यापी उद्यम का अंतिम परिणमन।

एक महत्तर उपस्थिति प्रकृति-गर्भ में है क्रियाशील,
अपने भावी प्राकट्य के लिये दीर्घकाल से प्रयत्नशील :
पशु और पाषाण में भी प्रच्छन्न है देवत्व,
शाश्वतता का ज्योतिर्मय अंतर-व्यक्तित्व।

यह फूट निकलेगा मन की अनुरेखित सीमा का कर भेदन
और इसका साक्षी हो जायेगा पूर्वचेता आत्म-मन;
अपने हर अचित् भाग में दीर्घकाल से आच्छन्न
इस जड़ अंध प्रकृति में भी इसका होगा प्रकटीकरण।

मनुष्य के भीतर विश्वव्यापी अमर आत्मा की महान्,
रहस्यमय योजना का करते हुए निष्पादन।

अनु०—अमृता भारती —श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

मार्च

१. एक नितांत नूतन जीवन के साथ भगवान् के अंदर निवास करो, जीवन एकमात्र भगवान् का बना हुआ हो जिसमें भगवान् ही परम प्रभु हों—इस तरह सब कठिनाइयां प्रशांति में और सारी मनोव्यथा शांति में बदल जायेगी।

भगवान् वह मित्र, वह शक्ति, वह सहारा और वह मार्गदर्शक हैं जो कभी धोखा नहीं देते, भगवान् वह प्रकाश हैं जो अंधकार को तितर-बितर कर देता है, वह विजेता हैं जो विजय को निश्चित बनाता है।

२. **प्रश्न**—माताजी, क्या भगवान् अन्याय के लिये दंड देते हैं? क्या भगवान् के लिये किसीको दंड देना संभव है?

उत्तर—भगवान् चीजों को उस तरह नहीं देखते जैसे मनुष्य देखते हैं और उन्हें दंड देने और पुरस्कार देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक क्रिया अपने अंदर अपना फल और अपना परिणाम लिये रहती है।

क्रिया की प्रकृति के अनुसार वह तुम्हें भगवान् के निकट लाती है या उनसे दूर ले जाती है और यही परम परिणाम है।

३. हम सुखी होने के लिये धरती पर नहीं हैं क्योंकि पार्थिव जीवन की वर्तमान दशा में सुख असंभव है। हम धरती पर भगवान् को पाने और चरितार्थ करने के लिये हैं क्योंकि केवल दिव्य चेतना ही सच्चा सुख दे सकती है।

४. कुछ लोगों का प्राण हमेशा अस्तव्यस्तता, असामंजस्य, तुच्छ झगड़े और गड़बड़ों को बुलाता रहता है। उनमें साधारणतः पूर्णता का पागलपन भी होता है और वे यह मानते हैं कि हर एक उनके विरुद्ध है। इसे ठीक करना बहुत अधिक कठिन है और इसमें प्रकृति के आमूल रूपांतर की जरूरत होती है।

ऐसों के साथ व्यवहार करते हुए सबसे अच्छी चीज है उनकी प्रतिक्रियाओं की परवाह न करना और तुम्हें जो करना है उसे सरलता और सचाई के साथ करते जाना।

५. औरों की रायों को कोई महत्त्व देने की जरूरत नहीं है क्योंकि वे चलते हुए संस्कारों के चलते हुए परिणाम हैं। अन्य समय और अन्य संस्कार उन्हें आसानी से बदल देंगे।

६. तुम्हें काम भगवान् के प्रति अर्घ्य के रूप में करना चाहिये और उसे अपनी साधना का अंग मानना चाहिये। उस भाव के साथ काम के स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं और तुम आंतरिक उपस्थिति से संपर्क खोये बिना कोई भी काम कर सकते हो।

सच्चे भाव से किया गया काम ध्यान है।

७. कोई भी चीज इतनी छोटी नहीं है कि उसकी अवहेलना की जाये, वही सावधानी सभी परिस्थितियों में उपयोगी होती है।

जो भी काम सावधानी से किया जाये वह मजेदार बन जाता है।

८. थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की जरूरत है उसे भगवान् में ही पाओ क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और उन्हें जो कुछ भी सचाई के साथ अर्पित किया जाये वे हमेशा उसका उत्तर देते हैं।

हां, जब तुम यह अनुभव करो कि तुम्हारे अंदर और तुम्हारे द्वारा भगवान की शक्ति ने काम किया है तो अपनी सच्चाई से तुम जानो कि श्रेय 'उनको' जाता है तुम्हें नहीं। अतः गर्व करने के लिये कोई कारण नहीं रहता।

९. ...रही बात कठिनाइयों और कमियों की तो ये सभी के लिये हैं और तुम उन्हें पार करने के लिये ही आये हो। कर्म की साधना का यही अर्थ है। साहस के साथ अपना काम किये जाओ, भगवान् पर पूरी श्रद्धा रखो और केवल उन्हींकी सहायता और कृपा का भरोसा रखो।

१०. सभी कार्य प्रसन्नता से करने का यत्न करो, परंतु प्रसन्नता कभी तुम्हारे कार्य का प्रेरक भाव न बनने पाये।
कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध मत होओ। सभी अवस्थाओं में पूर्ण रूप से शांत बने रहो, फिर भी सदा सजग रहो ताकि जो उन्नति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको तथा समय नष्ट किये बिना उसे प्राप्त कर सको।

११. किसीके व्यवहार के प्रति शिकायत मत करो जबतक तुम्हारे अंदर उसके स्वभाव की उस चीज को बदलने की शक्ति ही न हो जो उसे वैसा करने को प्रेरित करती है; और अगर तुम्हारे पास वह शक्ति है तो शिकायत करने के स्थान पर उसे बदल दो।

१२. अपने काम पर एकाग्र होओ—इसीसे तुम्हें बल मिलता है।
तुमने जो काम हाथ में लिया है उसमें सच्चे रहो तो भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी सहायता के लिये मौजूद रहेगी।

१३. तुम जो भी करो अपने लक्ष्य को सदा स्मरण रखो। इस महान् उपलब्धि की खोज में कोई भी चीज बड़ी या छोटी नहीं है; सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, ये इसकी सफलता में सहायता भी पहुंचा सकती हैं और बाधा भी डाल सकती हैं, जैसे भोजन से पहले तुम इस अभीप्सा पर कुछ क्षण अपना ध्यान एकाग्र करो कि जो खाना तुम खाने लगे हो वह तुम्हारे शरीर के लिये उस प्रयोजनीय तत्त्व को पैदा करे जो इस महान् उपलब्धि के लिये तुम्हारे प्रयत्न का ठोस आधार बनेगा तथा उसे इस प्रयत्न में सहनशीलता और अध्यवसाय की शक्ति प्रदान करेगा।

१४. सब कुछ उस भाव पर निर्भर है जिससे तुम काम करते हो। अगर उचित वृत्ति से काम किया जाये तो निश्चय ही वह तुम्हें मेरे नजदीक लायेगा।

१५. ...इसके विपरीत मुझे ऐसा लगता है कि सबसे अच्छा तरीका यह है कि तुम वहीं रहो जहां हो और स्वयं अपनी गलतियों को खोजने का प्रयास करो—और सभीकी तरह तुम्हारे अंदर भी कुछ होंगी—और उन्हें ठीक करने की कोशिश करो। अपनी भूलों के बारे में सचेतन होना किसी कठिनाई से बाहर निकल आने का सबसे निश्चित तरीका है।

१६. अपने-आपको माफ कर देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अंदर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।
हर रात, सोने से पहले हमें यह प्रार्थना करनी चाहिये कि जो भूलें हमने दिन में की हों वे भविष्य में दोहरायी न जायें।

१७. भगवान् के प्रति सतत अभीप्सा के साथ अंतर में निवास करना—हमें जीवन की ओर मुस्कान के साथ देखने और बाहरी परिस्थितियां चाहे जैसी हों, शांत रहने में समर्थ बनाता है।

१८. कृपा और सुरक्षा सदा तुम्हारे साथ हैं। जब तुम किसी आंतरिक या बाह्य कठिनाई या तकलीफ में हो तो उसे अपने ऊपर अत्याचार न करने दो; भागवत शक्ति की शरण में जाओ जो रक्षा करती है। अगर तुम हमेशा श्रद्धा और निष्कपट सचाईके साथ ऐसा करो तो तुम अपने अंदर किसी ऐसी

चीज को खुलता पाओगे जो सभी सतही गड़बड़ों के बावजूद हमेशा निश्चल और शांत रहती है।

१९. किसी कठिनाई को नयी प्रगति के अवसर में बदलना अच्छा है।

२०. एकदम मौन की अपेक्षा तुम जो कहते हो उसपर संयम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। सबसे अच्छा है जो उपयोगी हो उसे यथार्थ और यथासंभव सच्चे ढंग से कहना सीखना।

२१. यात्रा चाहे जितनी लंबी हो और यात्री चाहे जितना महान्, अंत में जरूरत होती है भागवत कृपा पर ऐकांतिक सतत निर्भरता की।
केवल भागवत कृपा ही हमारा सहारा होगी।

२२. यह देखना आसान है कि भूलें सत्ता में सचाई के अभाव के कारण होती हैं—इससे निकलने का एकमात्र उपाय है सच्चा होना। तुम्हें इस उद्देश्य के लिये संकल्प, शक्ति और ज्ञान दिये गये हैं।

२३. आध्यात्मिक जीवन के दृष्टिकोण से तुम जो करते हो उसका सबसे अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व है तुम जिस तरह करते हो उसका और उस चेतना का जो तुम उसमें लगाते हो। भगवान् को हमेशा याद रखो और तुम जो कुछ करोगे वह भागवत उपस्थिति की अभिव्यक्ति होगा।
जब तुम्हारे सभी कर्म भगवान् को समर्पित हों तब ऐसी कोई क्रियाएं न रहेंगी जो उच्च हों अथवा निम्न हों। सबका समान रूप से महत्त्व होगा—उन्हें समर्पण द्वारा दिया मूल्य।

२४. तुम दूसरों से व्यवस्था बनाये रखने की आशा कैसे कर सकते हो जब तुम स्वयं ऐसा नहीं करते? अगर तुम वस्तुओं के बोध में हमेशा **एकतरफा** बने रहो तो अपने छिछलेपन में से बाहर निकलने की आशा कैसे करते हो?

२५. कठिनाइयां हमेशा किसी-न-किसी प्रतिरोध के कारण आती हैं, सत्ता का कोई भाग या उसके कुछ भाग अपने ऊपर रखे गये शक्ति, चेतना और प्रकाश को ग्रहण करने से इंकार करते हैं और भागवत प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। ऐसा बहुत विरल होता है कि मनुष्य इन कठिनाइयों में से किसी-न-किसी का सामना किये बिना पूरी तरह से भागवत इच्छा के प्रति समर्पण कर दे। लेकिन अपनी अभीप्सा को स्थिर बनाये रखना और अपने-आपको पूरी सच्ची निष्कपटता के साथ देखना सभी बाधाओं पर विजय पाने का निश्चित उपाय है।

२६. कभी किसी कठिनाई के बारे में मत सोचो—तुम उसे शक्ति देते हो।

२७. सुनना अच्छा है लेकिन पर्याप्त नहीं है—तुम्हें समझना चाहिये।
समझना ज्यादा अच्छा है, लेकिन फिर भी पर्याप्त नहीं है—तुम्हें कार्य करना चाहिये।

२८. व्यक्ति सभी घटनाओं के आगे जितना अधिक अचंचल रहे, सभी परिस्थितियों में समान रहे और जो कुछ भी हो उसकी उपस्थिति में जितना शांत रहे और अपने ऊपर नियंत्रण रखे, उतनी ही अधिक उसने लक्ष्य की ओर प्रगति कर ली है।

२९. समस्त जीवन भगवान् की ओर अभिमुख, भगवान् के अर्पित, भगवान् की सेवा में हो, ताकि थोड़ा-थोड़ा करके भगवान् की अभिव्यक्ति बन जाये।

३०. जो कुछ होता है वह हमें एक और वह-का-वही पाठ पढ़ाने के लिये होता है: जबतक कि हम अपने अहंकार से पिंड न छुड़ा लें तबतक न तो हमारे लिये और न औरों के लिये शांति हो सकती है। और अहंकार के बिना जीवन एक अद्‌भुत चमत्कार बन जाता है। . . .

३१. हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण, सभी अवस्थाओं में भागवत कृपा हमें सभी कठिनाइयों को पार करने में हमारी सहायता के लिये मौजूद है।

योग-प्रणाली

वस्तुतः आध्यात्मिक सत्य और आध्यात्मिक जीवन को खोजने का पहला कारण या लक्ष्य है भगवान् को पाना; यह एकमात्र अनिवार्य वस्तु है और इसके बिना बाकी सब कुछ नहीं है। एक बार भगवान् मिल जाएं तो उन्हें अभिव्यक्त करना—यानी पहले-पहल अपनी सीमित चेतना को भागवत चेतना में रूपांतरित करना, अनंत शांति, ज्योति, प्रेम, बल, आनंद में जीना, अपनी तात्त्विक प्रकृति में वही बन जाना और परिणाम-स्वरूप अपनी सक्रिय प्रकृति में उसका पात्र, वाहिनी और यंत्र बनना। जड़-भौतिक स्तर पर एकत्व के तत्त्व को सक्रिय बनाना या मानवजाति के लिये कार्य करना—यह सत्य का अशुद्ध मानसिक अनुवाद है; ये चीजें आध्यात्मिक शोध के प्रथम सच्चे लक्ष्य नहीं हो सकतीं। पहले हमें आत्मा को, भगवान् को खोजना होगा उसके बाद ही हम यह जान सकते हैं कि वह कौन-सा काम है जिसके लिये आत्मा या भगवान् हमसे मांग करते हैं। तबतक हमारा जीवन और कर्म भगवान् को पाने के साधन या उसमें सहायक हो सकते हैं। इसके सिवा इनका कोई और लक्ष्य नहीं होना चाहिये। जैसे-जैसे हम आंतरिक चेतना में बढ़ते हैं या भगवान् का आध्यात्मिक सत्य हमारे अंदर विकसित होता है, वैसे-वैसे हमारा जीवन और हमारा कर्म वस्तुतः उसीसे अधिकाधिक प्रवाहित होना, उसके साथ एक हो जाना चाहिये। लेकिन अपनी सीमित मानसिक धारणाओं द्वारा पहले से ही यह निश्चय करना कि उन्हें क्या होना चाहिये, भीतर के आध्यात्मिक सत्य के विकास में बाधक होता है। उसके विकास के साथ हम अपने अंदर दिव्य ज्योति, सत्य, दिव्य शक्ति, सामर्थ्य, दिव्य शुद्धि और शांति को काम करते हुए, हमारे कर्मों और हमारी चेतना के साथ व्यवहार करते, उन्हें हमें दिव्य मूर्ति की तरह गढ़ते, कूड़े-करकट को साफ करते और उसके स्थान पर आत्मा के शुद्ध स्वर्ण को लाते हुए अनुभव करेंगे। केवल तभी जब हमारे अंदर सदा दिव्य उपस्थिति रहे और हमारी चेतना रूपांतरित हो जाये, हम यह कहने का अधिकार पा सकते हैं कि हम भौतिक स्तर पर भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हैं। किसी मानसिक आदर्श या सिद्धांत को लेकर उसे आंतरिक क्रियाओं पर आरोपित करना अपने-आपको मानसिक उपलब्धितक सीमित कर लेने का खतरा मोल लेना होता है या अधकचरे रूपायन द्वारा पूर्ण घनिष्ठता तथा ऐक्य में भगवान् के साथ के सच्चे विकास और हमारे जीवन में उनकी इच्छा के मुक्त और घनिष्ठ प्रवाह में बाधा देना या झुठलाना होता है। यह दिग्विन्यास की भूल है, आज का मानस विशेष रूप से इसकी ओर प्रवृत्त रहता है। इन छोटी-छोटी चीजों की ओर मुड़ने की जगह, जो हमें एकमात्र आवश्यक वस्तु की ओर से मोड़ देती हैं, कहीं अधिक अच्छा है शांति, प्रकाश या आनंद के लिये भगवान् की शरण में जाना। जड़-भौतिक जीवन को और साथ ही आंतरिक जीवन को दिव्य बनाना दिव्य योजना का वह भाग है जिसे हम देख सकते हैं, लेकिन उसे केवल भीतरी उपलब्धि के प्रवाह के द्वारा ही परिपूर्ण किया जा सकता है, किसी ऐसी चीज के द्वारा जो भीतर से बाहर की ओर बढ़ती है, किसी मानसिक सिद्धांत के कार्यान्वयन द्वारा नहीं। तुमने पूछा है कि मानसिक खोज को जीवित आध्यात्मिक अनुभूति में बदलने के लिये कौन-सी तपस्या या अनुशासन का अनुकरण करना जरूरी है। पहली आवश्यकता है अपने अंदर अपनी चेतना की एकाग्रता का अभ्यास। सामान्य मानव मन की क्रियाशीलता ऊपरी तल पर होती है जो सच्ची आत्मा को ढक देती है। सतह के पीछे एक और छिपी हुई चेतना होती है जिसमें हम सच्ची आत्मा और प्रकृति के अधिक विशाल गहनतर सत्य के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं, आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं और प्रकृति को मुक्त और रूपांतरित कर सकते हैं। इस एकाग्रता का उद्देश्य है उत्तलीय मन को निश्चल करना और भीतर निवास करना शुरू करना। उत्तलीय चेतना से भिन्न इस सच्ची चेतना के दो मुख्य केंद्र हैं, एक हृदय में (शारीरिक हृदय में

नहीं बल्कि वक्षस्थल के बीच में हृदय-चक्र में) और दूसरा मस्तिष्क में। हृदय के अंदर एकाग्रता भीतर की ओर खुलती है और इस भीतरी उद्घाटन का अनुसरण करने और उसकी गहराई में जाने से तुम अंतरात्मा या चैत्य पुरुष, यानी व्यक्ति के अंदर दिव्य तत्त्व से अभिज्ञ हो जाते हो। खुलकर यह सत्ता आगे आना, प्रकृति पर शासन करना, उसे तथा उसकी सभी गतिविधियों को सत्य की ओर, भगवान् की ओर मोड़ना और जो कुछ ऊपर है उस सबको नीचे बुलाना शुरू करती है। वह दिव्य उपस्थिति की चेतना को, सत्ता के अर्पण को उच्चतम की ओर लाती है और महत्तर शक्ति और चेतना की प्रकृति की, जो ऊपर हमारे लिये प्रतीक्षा कर रही है, उसके अवरोहण को निमंत्रित करती है। हृदय-केंद्र में एकाग्र होना और अपने-आपको भगवान् के अर्पण करना और इस आंतरिक उद्घाटन के लिये और हृदय में दिव्य उपस्थिति के लिये अभीप्सा करना पहला उपाय है और इसे किया जा सके तो स्वाभाविक प्रारंभ है; क्योंकि इसका परिणाम, एक बार प्राप्त हो जाये तो आध्यात्मिक पथ को दूसरे मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और सुरक्षित बना देता है।

वह दूसरा मार्ग है मस्तिष्क में, मानसिक केंद्र में, एकाग्रता। अगर यह ऊपरी तल के मन में निश्चल-नीरवता ला सके तो वह एक भीतरी, विशालतर और गहनतर मन को खोलता है जो आध्यात्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने में अधिक सक्षम होता है। लेकिन एक बार यहां एकाग्र होकर हमें नीरव मानसिक चेतना को ऊपर की ओर उन सब चीजों के प्रति खोलना चाहिये जो मन के ऊपर हों। कुछ समय के बाद तुम्हें लगता है कि चेतना ऊपर उठ रही है और अंत में वह उस ढक्कन के ऊपर उठ जाती है जो उसे इतने लंबे समयतक शरीर से बांधे रहा, और फिर मस्तिष्क के ऊपर एक चक्र को पाती है जहां वह अनंत में मुक्त हो जाती है। वहां वह वैश्व आत्मा, दिव्य शांति, प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, आनंद के संपर्क में आना, उसके अंदर प्रवेश करना, वही बन जाना, इन चीजों को अपनी प्रकृति के अंदर अवतरित होते हुए अनुभव करना शुरू करती है। मन में अचंचलता की अभीप्सा के लिये और ऊपर आत्मा तथा भगवान् की अनुभूति की उपलब्धि के लिये सिर में एकाग्र होना—यह एकाग्रता का दूसरा मार्ग है। लेकिन यह याद रखना जरूरी है कि सिर में चेतना की एकाग्रता उसके ऊपर के केंद्र में चढ़ने की तैयारी मात्र है। अन्यथा तुम अपने ही मन और उसकी अनुभूतियों में बंद रह जाओगे या बहुत हुआ तो आध्यात्मिक परात्परतातक उठने और उसमें निवास करने की जगह ऊपर के सत्य की प्रतिच्छायातक ही पहुंच पाओगे। कुछ लोगों के लिये मानसिक एकाग्रता अधिक सरल है, कुछ औरों के लिये हृदय-केंद्र में एकाग्रता ज्यादा सरल होती है और कुछ लोग बारी-बारी से दोनों कर सकते हैं—लेकिन अगर कर सको तो हृदय-केंद्र से शुरू करना ज्यादा वांछनीय है।

इस अनुशासन या तपस्या का दूसरा पार्श्व प्रकृति की, मन की, प्राण-पुरुष या प्राण और भौतिक सत्ता की क्रियावली से संबद्ध है। यहां सिद्धांत है प्रकृति को आंतरिक अनुभूति के साथ समस्वर कर देना ताकि तुम असंगत भागों में विभक्त न हो जाओ। यहां कई प्रकार की तपस्याएं या पद्धतियां संभव हैं। एक है अपने समस्त क्रिया-कलाप भगवान् को अर्पित करना और आंतरिक पथ-प्रदर्शन का आह्वान करना कि एक उच्चतर शक्ति आकर तुम्हारी प्रकृति को अपने हाथ में ले ले। अगर भीतरी आत्मोद्घाटन है, अगर चैत्य पुरुष सामने आ जाये तब कोई बड़ी कठिनाई नहीं रहती—उसके साथ-ही-साथ आ जाता है चैत्य विवेक, सतत सूचना और अंत में ऐसा शासन जो सभी अपूर्णताओं को खोलता, चुपचाप धैर्य के साथ उन्हें दूर करता, उचित मानसिक और प्राणिक गतिविधियों को लाता और भौतिक चेतना को भी नया रूप देता है। एक और उपाय है; मन, प्राण और शरीर की सत्ताओं से दूर खड़े रहो, उनकी क्रियाओं को व्यक्ति के अंदर व्यापक प्रकृति पर पिछले कर्मों द्वारा आरोपित अभ्यासगत रूपायन मानो, सच्ची सत्ता का भाग नहीं। आदमी इसमें जितना सफल होता है उसी अनुपात में वह अनासक्त हो जाता है, मन और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, प्राण और उसकी

क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, शरीर और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं देखता। वह अपने अंदर एक आंतरिक सत्ता—आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और आंतरिक शरीर—के बारे में अभिज्ञ हो जाता है जो नीरव-निश्चल, स्थिर, अपार, अनासक्त होता है और ऊपर की सच्ची आत्मा को प्रतिबिंबित करता है, वह उसका प्रत्यक्ष, प्रतिनिधि भी हो सकता है। इस आंतरिक निश्चल-नीरव 'सत्ता' से उन सब चीजों का त्याग शुरू होता है जिन्हें त्यागना चाहिये और उन्हीं चीज़ों की स्वीकृति होती है जिन्हें रखा और रूपांतरित किया जा सकता है—पूर्णता के लिये अंतरतम 'इच्छा' या 'दिव्य शक्ति' को पुकार ताकि वह पग-पग पर वह करे जिसका करना प्रकृति के परिवर्तन के लिये जरूरी है। वह मन, प्राण और शरीर को अंतरतम चैत्य सत्ता और उसके पथ-प्रदर्शक प्रभाव या सीधे पथ-प्रदर्शन की ओर खोल भी सकती है। अधिकतम उदाहरणों में ये दोनों प्रक्रियाएं एक साथ उभरती हैं, साथ ही काम करती और अंत में एक हो जाती हैं। लेकिन व्यक्ति दोनों में से किसी भी पद्धति से शुरू कर सकता है, जो उसे सबसे अधिक स्वाभाविक और सरल मालूम होती है।

और अंत में, सभी कठिनाइयों में, जहां व्यक्तिगत प्रयास में बाधा पड़ती है, गुरु की सहायता हस्तक्षेप कर सकती है और उस चीज को ला सकती है जिसकी उपलब्धि के लिये आवश्यकता हो या जो अगले ही चरण के लिये जरूरी हो।

—श्रीअरविंद

दुर्घटनाओं का चरित्र से गहरा संबंध

२७ जनवरी, १९५४

मां, क्या व्यक्ति की शरीर-रचना उसके चरित्र को व्यक्त कर सकती है?

नहीं। चरित्र भी तो अपने-आपमें कोई सरल वस्तु नहीं है, दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति का चरित्र उसकी सच्ची सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं होता, बल्कि कई वस्तुओं का परिणाम होता है। उदाहरणार्थ, पूर्वजों से समानता का, यानी, व्यक्ति को जो कुछ पिता से प्राप्त होता है, जो माता से और जो दोनों से प्राप्त होता है—इन सबका विभिन्न प्रकार का परिणाम हो सकता है; उनके पहले क्या हुआ—पूर्व इतिहास, दादा, परदादा, आदि भी उनके चरित्र-निर्माण में भागी होते हैं; और फिर जिस वातावरण में वे तब रहे थे जब वे बहुत छोटे थे, तथा पूर्णतया दूसरों पर निर्भर थे—इस सबका भी चरित्र पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। चरित्र भी शारीरिक रचना पर अपना प्रभाव छोड़ सकता है। अतएव, किसीको देख लेने से ही तुम यह नहीं कह सकते कि उसकी सच्ची प्रकृति क्या है। उसकी प्रवृत्तियों की तुम विवेचना कर सकते हो, उसकी कठिनाइयां और संभावनाएं जान सकते हो, किंतु जब उसकी चेतना विकसित हो जाये और उसका विकास उसकी अपनी इच्छा से व्यवस्थित रूप धारण कर ले तभी शरीर उसके सच्चे स्वभाव को व्यक्त कर सकेगा।

और जब शरीर बीमारी से विकृत हो जाये?

जानते हो, इसका कारण कोई दुर्घटना भी हो सकती है। दुर्घटनाओं के कई कारण होते हैं; वस्तुतः ये प्रकृति में शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप होती हैं और यह संघर्ष विकास और प्रगति की शक्तियों और विनाश की शक्तियों के बीच में होता है। जब कोई ऐसी दुर्घटना होती है जिसके परिणाम स्थायी होते हैं तो वह सदा ही विरोधी शक्तियों, अर्थात्, विघटन और अव्यवस्था की शक्तियों की थोड़ी-बहुत आंशिक विजय के परिणामस्वरूप होती है। यह देखने की बात है।

कुछ ऐसी शिक्षाएं भी होती हैं, उदाहरणार्थ, थियोसोफी की जो कर्म को एक बिल्कुल तलीय और मानवीय अर्थ में ही लेती हैं और तुमसे कहती हैं : "ओह ! तुम्हारे साथ यह दुर्घटना इसलिये हुई कि पूर्व जन्म में तुमने कोई बुरा काम किया था, अतएव वही तुमपर अब दुर्घटना के रूप में आया है।" यह ठीक नहीं है, बिल्कुल ठीक नहीं है। यह न्याय केवल मानवीय ढंग का है, प्रकृति या भगवान् का नहीं।

स्वभावतया शरीर की रचना इस अर्थ में बहुत महत्त्व रखती है कि यदि व्यक्ति, उदाहरणार्थ, सदा ही अवसाद, निराशा या निरुत्साह के प्रभाव के तले रहे और जीवन में विश्वास या भरोसे को खो दे, तो कहा जा सकता है कि यह सब उसकी सत्ता में घुस जाता है और तब दुर्घटना की संभावना होते ही मनुष्य उसमें अवश्यंभावी रूप से ग्रस्त हो जाते हैं। जब कभी उन्हें कुछ होने की संभावना होती है, चाहे वह दुर्घटना हो या कोई रोग, वे उसकी चपेट में आ जाते हैं। तुम्हारे सामने निरीक्षण के लिये सारा क्षेत्र खुला पड़ा है—हमेशा वह-के-वही लोग दुर्घटनाओं की चपेट में आते हैं। दूसरे भी वही कार्य करते हैं, उनके साथ भी दुर्घटना के कई अवसर आते हैं, किंतु वे अछूते बने रहते हैं। यदि तुम इनके चरित्र का निरीक्षण करो तो देखोगे कि पहले प्रकार के व्यक्तियों की प्रवृत्ति निराशावादी होती है और वे किसी असुखकर घटना की ही आशा करते रहते हैं—और फिर वह हो भी जाती है। या फिर उनमें हर समय एक भय समाया रहता है। हम जानते हैं कि भय सदा वही वस्तु हमारे सामने ले आता है जिससे हम भय करते हैं। यदि तुम दुर्घटना से डरते हो, तो यह डर उसे तुम्हारी ओर ले आने के लिये चुंबक का काम करेगा। इस अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति के चरित्र का ही परिणाम है। और यही बात बीमारी के साथ भी है। कुछ लोग बीमारों के बीच तथा उस स्थान पर जहां महामारी फैली हुई है बड़े आराम से घूम-फिर सकते हैं, उन्हें कभी कोई बीमारी ही नहीं होती। और कुछ ऐसे होते हैं जिनके लिये किसी रोगी के साथ एक घंटा बिताना ही काफी होता है, वे चट-से बीमारी की लपेट में आ जाते हैं। यह भी उसीपर निर्भर करता है कि वे अंदर क्या हैं।

क्या बच्चों के साथ भी ऐसा होता है ?

कहा नहीं जा सकता। यह एक नैतिक प्रश्न है, नैतिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहना चाहिये कि जो बच्चे सदा स्वस्थ रहते हैं, जिनके साथ कुछ भी नहीं होता वे "अच्छे बच्चे" हैं और जिनके साथ दुर्घटनाएं होती हैं या जिनपर विपत्तियां आती हैं वे "बुरे" हैं। यह बात ठीक नहीं है। कारण, जैसा कि मैं कह रही थी, प्रकृति का तर्क मानवीय तर्क नहीं है और उसकी न्याय-भावना का तर्क भी (यदि उसमें कोई है तो) मानव अर्थों में तर्क नहीं है। जिसे हम बुरा या भला कहते हैं वह नाममात्र को ही है। बल्कि यह कहा जा सकता है, वहां जो कुछ उपस्थित है वह या तो रचनात्मक है या विनाशकारी, प्रगतिशील है या ह्रासकारी। यह सचमुच बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। और फिर ऐसे लोग भी हैं जो प्रकाशपूर्ण, प्रसन्न, प्रफुल्ल और सदा मुस्कराते रहते हैं और कुछ ऐसे हैं जो उदास, सुस्त, द्रोही और असंतुष्ट रहते हैं, अंधकार में ही निवास करते हैं। ये ही लोग हमेशा अप्रिय स्थितियों में जा गिरते हैं। जो लोग दीप्तियुक्त हैं (आध्यात्मिक दीप्ति भले न हो, यह दीप्ति विवेक-बुद्धि की, संतुलन की, एक आंतरिक विश्वास की और जीने के आनंद की भी हो सकती है), जिन लोगों में जीने का आनंद होता है, वे प्रकृति के साथ सामंजस्य के भाव में रहते हैं और प्रकृति के साथ सामंजस्य रखकर ये साधारणतया दुर्घटनाओं से बच जाते हैं, बीमारियों से भी बचे रहते हैं, उनका जीवन इस संसार में, जैसा कि वह है, यथासंभव सुखकर रूप में विकसित होता रहता है। और अब ?

—श्रीमातृवाणी खंड ६ से

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

आध्यात्मिक झुकाव

हमने पिछले लेख में इस बात की चर्चा की थी कि भारतीय मन का संपूर्ण आधार है इसका आध्यात्मिक तथा अंतर्मुखी झुकाव; लेकिन यहां इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि यह आध्यात्मिक झुकाव किसी कठोर मत की भांति नहीं है, न ही इसका अर्थ है अपने-आपको अपने ही छोटे-से तथाकथित आध्यात्मिक घेरे में बंद कर रखना, बल्कि आध्यात्मिक एकता तो एक विशाल तथा नम्य वस्तु है और राजनीतिक तथा बाह्य एकता की भांति वह केंद्रीकरण करने तथा सबको एकरूप बना देने पर आग्रह नहीं करती बल्कि वह तो राष्ट्र की प्रणाली में सर्वत्र सांस लेती है और जीवन की महान् विविधता तथा स्वतंत्रता के लिये सहज प्रस्तुत रहती है। यहां हम प्राचीन भारत में एकता स्थापित करने की समस्या की कठिनाई के रहस्य का थोड़ा-बहुत उल्लेख करते चलें। यह एकता ऐसे केंद्रीभूत एकरूप सामान्य साधन के द्वारा नहीं पायी जा सकती जो स्वतंत्र विभिन्नता, प्रतिष्ठित सामुदायिक स्वाधीनताओं का समर्थन करनेवाली सभी वस्तुओं को कुचलकर रख दे और जब कभी इस दिशा में प्रयास किये गये तो वे अंततोगत्वा हमेशा असफल ही रहे—भले प्रतीयमान सफलता के लंबे काल से वह गुजरे। और हम यहांतक कह सकते हैं कि भारत के भविष्य के रक्षकों ने बुद्धिमत्तापूर्वक उसे असफल होने के लिये विवश किया ताकि कहीं उसकी अंतस्थ आत्मा नष्ट न हो जाये और उसकी अंतरात्मा अस्थायी सुरक्षा के इंजन के बदले अपने जीवन के गभीर स्रोतों का सौदा न कर बैठे। भारत के प्राचीन मन को अपनी आवश्यकता का सहज ज्ञान था, साम्राज्य के विषय में उसका विचार यह था कि एकता स्थापित करनेवाला एक ऐसा शासन होना चाहिये जो प्रत्येक वर्तमान क्षेत्रीय तथा सामाजिक स्वाधीनता का सम्मान करे तथा किसी भी स्वाधीन राज्य को अनावश्यक रूप से कुचल न दे और भारत का यांत्रिक एकत्व नहीं बल्कि इसके जीवन का समन्वय सिद्ध करे। आगे चलकर ये अवस्थाएं विलीन हो गयीं जिनमें ऐसा समाधान सुरक्षित रूप से विकसित होकर अपने सच्चे साधन, रूप तथा आधार को पा लेता और इसके स्थान पर एक ही प्रशासकीय साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयास किया गया। यह प्रयास तात्कालिक तथा बाह्य आवश्यकता के दबाव से संचालित हुआ और अपनी महानता तथा भव्यता के होते हुए भी पूर्ण सफलता नहीं पा सका। वह सफल हो भी न सकता था क्योंकि उसने ऐसी दिशा का अनुसरण किया जो अंततः भारतीय आत्मा की वास्तविक प्रवृत्ति के साथ संगत न थी। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक प्रणाली का मूलभूत सिद्धांत था ग्राम के, नगर और राजधानी के, जाति, कुल, धार्मिक समाज इत्यादि के स्वायत्त शासनों का समन्वय। राष्ट्र या राज्य इन स्वायत्त शासनों को एक सूत्र में बांधकर स्वतंत्र तथा जीवंत प्रणाली में ढालने का एक साधन था। सबसे बड़ी समस्या यह थी कि फिर से इन राज्यों, जातियों और राष्ट्रों में एकता लाकर, लेकिन इनके स्वायत्त-शासन का सम्मान करते हुए, इन्हें एक अधिक विशाल, स्वतंत्र तथा जीवंत प्रणाली में कैसे ढाला जाये। इसके लिये एक ऐसी प्रणाली को खोज निकालना आवश्यक था जो लोगों में शांति तथा एकता को बनाये रखे, बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा की निश्चित व्यवस्था करे और अपनी एकता तथा विविधता में, अपने सामुदायिक तथा क्षेत्रीय इकाइयों के सक्रिय जीवन में, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की अंतरात्मा तथा शरीर में सच्चे धर्म की मुक्त क्रीड़ा तथा विकास को संसिद्ध करे।

भारत का प्राचीनतर मन समस्या को इसी रूप में देखता था। बाद के युग के प्रशासनिक साम्राज्यों ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया लेकिन उसकी वृत्ति, जैसी कि केंद्रीकरण करनेवाली

वृत्ति हमेशा ही रहती है, यह थी कि अधीनस्थ स्वायत्त शासनों की शक्ति को, भले सक्रिय रूप में नष्ट न भी किया जाये फिर भी बहुत धीरे-धीरे तथा अवचेतन रूप में उसे क्षीण तथा जर्जर कर दिया जाये। परिणाम यह हुआ कि जब कभी केंद्रीय शासन कमजोर पड़ा, क्षेत्रीय स्वायत्त-शासन के दृढ़ सिद्धांत ने—जो भारत के जीवन के लिये आवश्यक था—सुस्थापित कृत्रिम एकता को हानि पहुंचाकर फिर से अपने-आपको स्थापित कर लिया, लेकिन उसने इस बात का प्रयास नहीं किया—जैसा कि उसे करना चाहिये था—कि संपूर्ण जीवन सुसामंजस्य रूप में बलवान् हो जाये और अधिक स्वतंत्रतापूर्वक, फिर भी संयुक्त होकर कार्य करे। साम्राज्यिक राज्य भी मुक्त विधान-सभाओं की शक्ति क्षीण करने की ओर प्रवृत्त रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि सामुदायिक इकाइयां संयुक्त बल के तत्त्व होने के बदले अलग और विभाजक तत्त्व बन गयीं। ग्राम-समुदाय ने अपनी शक्ति को कुछ-कुछ सुरक्षित रखा लेकिन सर्वोच्च शासन के साथ उसका कोई जीवंत संबंध नहीं रहा और वह विशालतर राष्ट्रीय भावना को खोकर किसी भी ऐसे स्वदेशी या विदेशी शासन को स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त होने लगा जो उसके आत्म-निर्भर संकीर्ण जीवन का सम्मान करता हो। धार्मिक समाज भी इसी भावना के रंग में रंग गये। जातियां भी अपने मूल रूप से हटने लगीं, देश की आध्यात्मिक तथा आर्थिक प्रगति में सहायक न रहकर, समस्त जीवन-समन्वय के साधन न रहकर पृथक् करनेवाली शक्तियां बन गयीं। यह बात सच नहीं है कि प्राचीन भारत में जाति-भेद लोगों के संयुक्त जीवन में बाधक थे, या बाद में राजनीतिक कलह या फूट पैदा करनेवाली सक्रिय शक्ति थे—ऐसे तो वे बाद में, अपनी चरम अवनति के समय हो गये।

अब अगले लेख में हम जाति-प्रथा की चर्चा करेंगे।

—वंदना

सांध्य वार्ताएं :

मनुष्य तथा अन्यान्य लोक

१-६-१९२६

शिष्य—अखबारवाले मनमानी छापते रहते हैं। क्या वे किसीके घर में हुई बात-चीत को छाप सकते हैं ?

श्रीअरविंद—अगर तुम आधुनिक अखबारों से शिष्टाचार की आशा करो तो इस गणतंत्र युग में तुम्हें निराश होना पड़ेगा ! यह आधुनिक गणतंत्र के आशीर्वादों में से एक है। अगर तुम अमरीका में होते और किसी अखबार को मुलाकात न भी देते तो भी वे कुछ आविष्कार कर लेते ! समाचार पत्र एक सार्वजनिक संस्था है। पहले वह कुछ प्रतिष्ठित होता था लेकिन आज के अखबार तो मानव-जीवन की व्यर्थता के अच्छे मापक हैं।

शिष्य—एक अमरीकन अखबार में बड़ौदा की राजकुमारी का इंग्लैड के युवराज के साथ ब्याह रचा गया था, फोटो वगैरह भी छपे थे !

श्रीअरविंद—वे सामान्य मानस के सच्चे आईने हैं।

शिष्य—वे मानव-जाति का चल-चित्र हैं।

दूसरा शिष्य—लेकिन पहले ऐसा न था।

श्रीअरविंद—पहले सामान्य मन न था और जो था वह व्यवस्थित न था। सभी आधुनिक चीजों का यही हाल है। समाचार पत्र, नाटक, रेडियो। वे सभी चीजों को भीड़ के स्तरतक खींच लाते हैं।

शिष्य—लेकिन जापान और यूरोप में रेडियो और टेलीफोन बहुत सफल रहे हैं। हम चार-छह घंटेतक अच्छे-से-अच्छा संगीत सुन सकते हैं।

श्रीअरविंद—लेकिन अमरीका में सिनेमा अपराधों की सहायता करता है। हां, वे उसका शिक्षा के लिये उपयोग करना चाहते हैं। वे अच्छा संगीत प्रसारित कर सकते हैं परंतु क्या लोग उसे समझते और सराहते हैं?

शिष्य—रेडियो ग्रामोफोन से तो अच्छा है।

श्रीअरविंद—ग्रामोफोन तो संगीत के हत्यारे थे लेकिन दुर्भाग्यवश जिन चीजों के लिये सार्वजनिक समर्थन की जरूरत होती है उन सबका यही हाल है, उदाहरण के लिये नाटक, सिनेमा आदि; वे तभी सफल हो सकते हैं अगर जन-साधारण की रुचि के अनुसार हों। भौतिक स्तर पर प्राण का प्रभाव प्राणिक कामनाओं को बढ़ाता है।

शिष्य—तो अच्छे लोग वहां चले जाते हैं?

श्रीअरविंद—अगर वे अपनी सुनवाई चाहें तो उन्हें समझौता करना पड़ता है; लेकिन समझौते में अच्छे-से-अच्छा बुरे के साथ घुल-मिल जाता है। यहां मैं नैतिक दृष्टि से बुरे की बात नहीं कर रहा। मेरा मतलब है कलाहीन। यह वही पुराना प्रश्न है कि जनसाधारण को किसी उच्चतर चीज की ओर ऊपर खींचा जाये। लेकिन जैसा कि हमेशा होता है जनसाधारण ऊपर उठने की जगह हर चीज को अपने स्तरतक खींच लाता है।

उदाहरण के लिये कविता को ले लो। आज जितनी कविता लिखी जाती है उतनी पहले कभी नहीं लिखी गयी। एक प्रकार की चमकवाली कृतियां ज्यादा प्रचलित हैं। शायद पाठकों की संख्या भी अधिक है। लेकिन अगर तुम कविता को सब मिलाकर देखो तो तुम्हें लगेगा कि वह नीचे गिर रही है। हर चीज जो जन-साधारण यानी भीड़ पर आश्रित है, उसे समर्थन पाने के लिये नीचे उतरना ही पड़ता है।

शिष्य—क्या चीजें बिगड़ रही हैं या पहले से अच्छी हो रही हैं?

श्रीअरविंद—मुझे लगता है कि विशेष रूप से युद्ध के बाद यूरोप की अवस्था लगभग वैसी ही है जैसी रोम के साम्राज्य के विघटन के बाद हुई थी। सारे संसार को फिर बर्बरता में धंसा देने की वही प्रवृत्ति है। (पहले महायुद्ध की बात है।)

शिष्य—तो क्या कोई संभावना नहीं है?

श्रीअरविंद—संभावना हमेशा रहती है। रोम के साम्राज्य के साथ भी संभावना थी लेकिन वह चरितार्थ न हो पायी।

शिष्य—क्या यह कहा जा सकता है कि अब अधिक संभावना है?

श्रीअरविंद—संघर्ष और भी घोर हो गया है।

(यहां विषय बदल गया)

शिष्य—मनुष्य भौतिक लोक के प्राणी हैं लेकिन उनमें प्राणिक, मानसिक और चैत्य भाग भी होते हैं। क्या प्राणमय लोक में भी मानसिक और चैत्य भाग होते हैं?

श्रीअरविंद—प्राणिक और भौतिक लोक अलग-अलग हैं। भौतिक लोक में सत्ता के विभिन्न वर्गों

द्वारा विकास होता है हमारा स्तर विकासात्मक है। प्राणिक स्तर पर कोई विकास नहीं होता। यह प्ररूपी जीवों का लोक है। वहां चेतना एक स्तर से दूसरे स्तरतक विकसित नहीं होती।

पशु की चेतना प्राण के द्वारा काराग्रस्त होती है और जब वह तैयार हो जाये तो चेतना मानसिक में बदल पाती है और पशु पुनर्जन्म में मनुष्य बन जाता है। हमारी कुछ बिल्लियां मानव जन्म के लिये तैयार हैं। मनुष्य में वह संक्रमण हो चुका है, वह सीमा को पार कर चुका है।

लेकिन साधारण आदमी के बारे में मुश्किल से ही कहा जा सकता है कि उसमें अंतरात्मा या चैत्य पुरुष है। अंतरात्मा होती तो है पर बहुत ज्यादा दबी हुई और बहुत पीछे।

शिष्य—क्या असुरों में भी मनुष्य की तरह विकास की संभावना है?

श्रीअरविंद—नहीं।

शिष्य—क्या असुरों में विकास नहीं होता?

श्रीअरविंद—चेतना के विकास के अर्थों में नहीं।

शिष्य—लेकिन आपने कहा है कि असुर भी रूपांतरित और परिवर्तित हो सकता है:

श्रीअरविंद—हां, वे अपनी क्रियाविधि को बदलकर किसी उच्चतर चीज की ओर खुल सकते हैं।

शिष्य—क्या उनके परिवर्तन से आपका यही मतलब था? क्या वे विकास में सहायता कर सकते है?

श्रीअरविंद—हां, वे अपनी प्राणिक प्रकृति से अच्छी किसी चीज को व्यक्त कर सकते और भगवान् के यंत्र बन सकते हैं; लेकिन सामान्यतः वे नहीं बदलते।

शिष्य—अगर असुर बदलें नहीं तो उनका क्या होता है?

श्रीअरविंद—अगर असुर न बदलें तो उनका विनाश हो सकता है, लेकिन अगर तुम पूछो कि कल्प के अंत में उनका क्या होगा तो जवाब देना कठिन है। अगर वे बदलें तो किसी उच्चतर चीज की ओर खुल सकते और उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं।

शिष्य—कहा जाता है कि कुछ असुरों ने साधना की थी। यह किस प्रकार की साधना थी? आपने कहा है कि वे बहुत बुद्धिमान् होते हैं।

श्रीअरविंद—मैंने यह कभी नहीं कहा कि उनमें सच्चे विचार और महान् आदर्श होते हैं या वे महान् मानसिक सत्ताएं हैं। मैंने कहा यह था कि वे अपना प्रयोजन सिद्ध करने में बहुत चालाक होते हैं। वे परिणाम लाना जानते हैं।

शिष्य—विकास में उनका क्या स्थान है? क्या यह उनके बिना भी चल सकता है?

श्रीअरविंद—पुराना विचार है कि देव और असुर मानव-विकास पर अधिकार करने के लिये संघर्ष में लगे रहते हैं और असुर जगत् की महान् जटिलता के लिये उत्तरदायी हैं, लेकिन मेरे ख्याल से वे अनिवार्य नहीं हैं। असुर अपने-आपको विद्रोह, दुःख, संघर्ष और कठिनाइयों द्वारा चरितार्थ करते हैं; लेकिन जगत् किसी और तरह से भी विकसित हो सकता था, फूल की तरह भीतर से बाहर को खिल सकता था; लेकिन आसुरी तरीके की शक्तियां जगत् में घुस पड़ीं और उन्होंने शक्तियों की वैश्व लीला को विकृत कर डाला। यह सत्य प्रायः सभी धर्म मानते हैं। सर्प, अशुभ, लोभ देनेवाली प्रकृति—हौवा का पुरुष या आदम को धोखा देना, पुरुष की रजामंदी और आदम का पतन; ये सब वही हैं।

भारत में इसी सत्य को और तरह से कहा जाता है। देवों और असुरों में मानव-विकास-गति पर अधिकार पाने के लिये देवों और असुरों का संघर्ष यही है।

शिष्य—तब फिर पौराणिक भाव के अनुसार भगवान् की वैर भाव के साथ पूजा का क्या मतलब है?

श्रीअरविंद—रावण और हिरण्यकशिपु पुरुष थे जो असुर बन गये और उन्होंने भगवान् के विरोध का मार्ग चुना, सचमुच यह पतन है और बतलाता है कि मनुष्य का विकास यह नहीं है कि वह असुर बन जाये। मतलब यह कि मानव-विकास का मार्ग यह नहीं है कि वह पशु से प्राणिक सत्ता और फिर असुर बन जाये। आसुरी जीवन मनुष्य के लिये पतन ही है। अगर तुम आसुरी प्रकृति में बदल जाओ तो विकास का अवसर खो बैठते हो।

शिष्य—हम अपने-आपको आसुरी प्रभाव और आक्रमण से कैसे बचा सकते हैं?

श्रीअरविंद—शुद्धि और निष्कपटता तथा सचाई के द्वारा तुम असुरों से सुरक्षित रह सकते हो। वे तुमपर आघात कर सकते हैं, तुम्हें धोखा दे सकते हैं, तुम्हारे मन पर कोहरा ला सकते हैं। देरी करवा सकते हैं और तुमसे भूलें करवा सकते हैं लेकिन अगर तुम्हारे पास श्वेत प्रकाश है—शुद्धि और सचाई का प्रकाश—तो वे तुम्हें नुकसान नहीं पहुंचा सकते, कोई निश्चित पतन न होगा। तुम चलते चलोगे।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

'कुछ माताजी के बारे में' :

विरोधी शक्तियां तथा श्रद्धा

विरोधी शक्तियों का, जो अगोचर होते हुए भी जीवंत और स्पष्टतया अनुभवनीय हैं, मुकाबला कैसे करना चाहिये?

बहुत कुछ तुम्हारी चेतना के विकास की अवस्था पर निर्भर है। आरंभ में यदि तुम्हारे पास विशेष गुप्त ज्ञान और शक्ति न हों तो तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम जहांतक संभव हो शांत और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावों का रूप ले तो उसे शांति के साथ ठीक उसी तरह दूर फेंकने की कोशिश करो जैसे किसी भौतिक पदार्थ को फेंका जाता है। तुम जितने अधिक शांत रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीज को अपना संतुलन न बिगाड़ने दो, तब तुम हर प्रकार के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेक-शक्ति हो और तुम विरोधी सुझावों को पास आते ही देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है, किंतु कभी-कभी ये अलक्षित रूप से घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तो तुम्हें स्थिर होकर बैठना चाहिये और शांति तथा गभीर आंतरिक स्थिरता का आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो, श्रद्धा तथा विश्वास के साथ भगवान् को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और स्थिर है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य हैं। तुम्हें इनको अपने मार्ग में परीक्षा के रूप में लेना और इन अग्नि-परीक्षाओं में से साहस के साथ गुजरना चाहिये। यह संघर्ष कठिन हो सकता है किंतु जब तुम इसे पार करके बाहर निकलोगे तो देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक कदम आगे बढ़े हो। विरोधी शक्तियों के होने की भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चय को अधिक दृढ़ और तुम्हारी अभीप्सा को अधिक स्पष्ट बनाती हैं।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिये है कि तुमने इनके अस्तित्व के लिये कारण दे

रखा है। जबतक तुममें कोई भी चीज ऐसी हो जो इन्हें पुकार का उत्तर देती हो तबतक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इन्हें प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृति के किसी भी अंश पर इनका वश न हो तो ये शक्तियां लौट जायेंगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परंतु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियों से युद्ध में तुम्हारी पराजय एक ही कारण से हो सकती है और वह है भगवान् की सहायता में सच्चे विश्वास का न होना। अभीप्सा की सच्चाई आवश्यक साहाय्य को सदा ले ही आती है। शांत आवाहन, यह विश्वास कि सिद्धि की ओर आरोहण में तुम कभी अकेले नहीं रहते और यह श्रद्धा कि जब कभी किसी सहायता की आवश्यकता हो तो वह सदा उपस्थित होती है—तुम्हें सहज और निरापद रूप से पार लगा देंगे।

ये विरोधी शक्तियां साधारणतया बाहर से आती हैं या अंदर से ?

यदि तुम समझते या अनुभव करते हो कि ये अंदर से आती हैं तो संभवतः तुमने अपने-आपको उनके लिये खोल दिया है और वे तुम्हारे अंदर अलक्षित रूप से आकर जम गयी हैं। वस्तुओं का सच्चा स्वभाव सामंजस्य का होता है, किंतु कुछ जगत् ऐसे हैं जहां इस सामंजस्य में विकार पैदा होता है जिसके फलस्वरूप विकृति और विरोध की सृष्टि हो जाती है। विकार पैदा करनेवाले इन जगतों के साथ यदि तुम्हारा बहुत अधिक मेल हो तो हो सकता है कि वहां की सत्ताओं के साथ तुम मित्रता स्थापित कर लो और उनकी पुकार पर पूरा सहयोग हो। यह होता तो है, किंतु यह कोई अच्छी अवस्था नहीं है। चेतना तुरंत अंधी हो जाती है और तुम सत्य-असत्य में विवेक करने में असमर्थ हो जाते हो तथा यह कहने योग्य भी नहीं रह जाते कि कौन-सी चीज मिथ्या है और कौन-सी नहीं।

बहरहाल, बुद्धिमानी इसीमें है कि जब कोई आक्रमण हो तो यही समझा जाये कि यह बाहर से आया है और कहा जाये: "यह मेरा स्वरूप नहीं है और मैं इससे किसी प्रकार का संपर्क नहीं रखूंगा।" समस्त निम्नतर आवेगों और इच्छाओं तथा मन के समस्त संदेहों और शंकाओं के साथ भी तुम्हें इसी तरह व्यवहार करना होगा। यदि तुम अपने-आपको इनके साथ तदाकार कर लो तो इनके साथ तुम्हारा युद्ध और भी विकट हो जाता है, कारण उस समय तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम अपने ही स्वभाव को पराजित करने के अति दुष्कर कार्य में लगे हो। परंतु जैसे ही तुम यह कह सको: "नहीं, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं किसी प्रकार का संबंध नहीं रखूंगा," वैसे ही इनको हराकर भगा देना अधिक सहज हो जायेगा।

आंतर और बाह्य के बीच रेखा कहां खींची जा सकती है ?

यह रेखा अत्यंत लचीली होती है, तुम चाहो तो बिल्कुल समीप हो सकती है और चाहो तो दूर हो सकती है। तुम हर एक बात को अपने ऊपर लेकर उसे अपनी वास्तविक आत्मा का एक अंग और अंश मान सकते हो और चाहो तो उसे एक केश या नाखून के टुकड़े की तरह जरा भी प्रभावित हुए बिना दूर फेंक सकते हो।

ऐसे धर्म भी हुए हैं जिनके अनुयायी अपने केश या नाखून के एक टुकड़े को भी अपने से अलग नहीं करते थे, उन्हें भय था कि कहीं अपने व्यक्तित्व के किसी भाग को न गंवा दें। जो अपनी चेतना को जगत् के जितना विशाल बनाकर फैलाने में समर्थ होते हैं वे जगत् बन जाते हैं, किंतु जो अपने क्षुद्र

शरीरों और सीमित अनुभवों में ही बंद रहते हैं वे उन सीमाओं पर जाकर रुक जाते हैं; उनके लिये शरीर और सीमित अनुभव ही सारा व्यक्तित्व बनकर रह जाते हैं।

क्या केवल श्रद्धा सब कुछ सृजन कर सकती है, सब कुछ जीत सकती है?

हां, किंतु यह श्रद्धा सर्वांगपूर्ण और निरपेक्ष होनी चाहिये। यह ठीक प्रकार की होनी चाहिये, केवल मानसिक विचार या संकल्प की शक्ति-भर नहीं, उससे बढ़कर और गहरी होनी चाहिये। मन के द्वारा प्रयुक्त संकल्प विरोधी प्रतिक्रियाओं को उभारता और प्रतिरोध उत्पन्न करता है। तुमने एमिल कूए की चिकित्सा-पद्धति के बारे में सुना होगा। वे इस शक्ति के किसी रहस्य को जानते थे और उन्होंने इसका प्रयोग बहुत कुछ सफलतापूर्वक किया था। परंतु वे इसे कल्पना कहते थे और उनकी पद्धति ने श्रद्धा को बहुत अधिक मानसिक रूप दे दिया था। मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है, इस श्रद्धा को प्राण की श्रद्धा द्वारा और भौतिक श्रद्धा, अर्थात्, शरीर की श्रद्धा द्वारा भी पूर्ण और शक्तिशालिनी बनाना चाहिये। यदि तुम अपने अंदर, अपनी समस्त सत्ता में इस प्रकार की एक सर्वांग संपूर्ण शक्ति की सृष्टि कर सको तो कोई चीज इस शक्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकेगी। परंतु तुम्हें अपने अत्यंत अचेतन भागोंतक पहुंचना होगा, अपने शरीर के एक-एक अणु में इस श्रद्धा को स्थापित करना होगा। उदाहरणार्थ, आजकल वैज्ञानिकों में भी इस ज्ञान का प्रारंभ हो चुका है कि 'मृत्यु' आवश्यक नहीं है। परंतु सारी मानवजाति 'मृत्यु' में दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है; कहा जा सकता है कि यह मनुष्यों में सर्वसाधारण रूप से बैठी हुई एक धारणा है जो दीर्घ काल से अपरिवर्तनशील अनुभव पर स्थापित है। यदि इस विश्वास को पहले तो सचेतन मन से और फिर प्राण-प्रकृति और अवचेतन भौतिक स्तरों से निकाल बाहर किया जाये तो मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायेगी।

परंतु मृत्यु की यह धारणा केवल मानव-मन में ही तो नहीं है। पशुजाति इसे मनुष्य के पहले से जानती थी।

इस पृथ्वी पर समस्त जीवन के साथ मृत्यु एक तथ्य के रूप में लगायी गयी है, किंतु प्रकृति ने इसे जिस मूल अर्थ में रखा था, मनुष्य इसे उससे भिन्न अर्थ में समझते हैं। मनुष्य और मनुष्य-तल के नजदीकवाले पशुओं की चेतना में मृत्यु की आवश्यकता का एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। निम्नतर प्रकृति में जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थ को आश्रय दिये हुए है, वह है फिर से नया होने की, परिवर्तन और रूपांतर की आवश्यकता का अनुभव।

पृथ्वी पर जड़-तत्त्व की अवस्थाओं ने ही मृत्यु को अनिवार्य बनाया। जड़-तत्त्व के विकास का सारा अर्थ ही है पहले की अचेतन अवस्था से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतना में परिणत होना। और परिणत होने की इस प्रक्रिया में, जब यह सब यथार्थ में क्रियान्वित होने लगा तो आकारों का विनाश आवश्यक हो गया। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतना को स्थायी सहारा देने के लिये स्थिर रूप की आवश्यकता हुई। और आकार की इस स्थिरता ने ही मृत्यु को अपरिहार्य बना दिया। क्योंकि जड़-तत्त्व को आकार धारण करने थे, क्योंकि आकार धारण किये बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतना की शक्तियों का व्यष्टिकरण तथा पिंड-रूप असंभव था और इनके बिना पार्थिव भूमिका पर संगठित अस्तित्व के लिये प्रारंभिक अवस्थाओं का अभाव होता। परंतु आकार में बंधी पिंड-रूप रचना का यह स्वभाव है कि वह तुरंत कठोर, अनम्य पाषाणवत् बन जाने की ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिगत आकार सब ओर से बांध रखनेवाले सांचे के रूप में स्थिर और कायम रहना चाहता है, वह शक्तियों की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता, विश्व-लीला की गतिशीलता में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामंजस्य रखकर

वह अपने को परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृति की मांगों को वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाह के बाहर हो जाता है। आकार और उसपर दबाव डालनेवाली शक्ति के बीच जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता और असामंजस्य है जब वह एक विशिष्ट सीमातक पहुंच जाता है तो आकार को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकार की सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामंजस्य और समानता को संभावित करना पड़ता है। मृत्यु का सच्चा अर्थ यही है और प्रकृति में इसका यही उपयोग है। परंतु आकार यदि अधिक फुर्तीला और नमनशील बन सके और शरीर के अणुओं को बदलती हुई चेतना के अनुसार जाग्रत् किया जा सके तो ऐसे उग्र-विनाश की आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायेगी।

आसम : एक घोड़े की आत्म-कथा

मेरी पहली हिनहिनाहट सुनते ही मालिक के साईस ने कहा था : "हुजूर, यह बच्चा बड़ा होनहार होगा। यह जिसके पास रहेगा उसकी किस्मत खुल जायेगी।"

मुझे अब भी वह दृश्य याद है। मेरी मातृभूमि तुम्हारे हिंदुस्तान की तरह हरी-भरी और लुभावनी नहीं है पर उसका अपना ही सौंदर्य है और मेरी दृष्टि में तो वह तुम्हारी शस्य-श्यामला भूमि से भी अधिक सुंदर है। वहां सूर्य की रश्मियों में चमकती हुई बालू हीरे और चांदी की तरह चमकती है। दृष्टि अबाध गति से जहांतक जाना चाहे जा सकती है। वहां क्षितिज की अनंत रेखा मनुष्य में अदम्य साहस भर देती है। सारा देश ही ऐसा है कि वहां आदमी सच्चा आदमी बन सकता है। वहां का जीवन हमेशा साहसपूर्ण और रोमांचक होता है। ऊपर नील गगन और नीचे असीम धरती। उसपर छोटा-सा मनुष्य न जाने कौन-से नये साहस के लिये घोड़ा दबाए घूमता रहता है। अस्तु, मेरी उस सुंदर वीरप्रसू मातृभूमि में ही ऐसे प्राणवान् हवा में उड़नेवाले घोड़े पैदा हो सकते हैं। उन घोड़ों में भी मेरी मां बहुत ऊंचे खानदान की थीं। हम घोड़ों के बच्चे तुम मनुष्यों की तरह भाग्यवान् नहीं होते। हम अपनी मां के पास कुछ महीने ही रह पाते हैं।

मेरी मां ने मुझे बहुत कुछ सिखाया था। वह कहा करती थी : "बेटा, अच्छे मालिक अश्वदेव की कृपा से ही मिला करते हैं पर बुरा मालिक भी मिल जाये तो घबराना मत। घोड़ा-भगवान् तेरी सहायता करेंगे, उन्हें कभी मत भूलना।"

एक दिन मैंने मां से पूछा : "मां, घोड़ा-भगवान् कौन हैं और कहां रहते हैं ?"

मां ने सिर झुकाकर नमस्कार किया और बोली : "यह ऊपर नीला आकाश दीखता है न, घोड़ा-भगवान् उसीके ऊपर रहते हैं, उनका रंग चांदनी में चमकती हुई रेत से भी ज्यादा सफेद होता है। तू कभी-कभी आकाश में काले-काले बवंडर देखता है न, और उनमें से एक चमकती रेखा दिखाई देती है ? वह चमक हमारे अश्वदेव के शरीर की होती है और वह काला बवंडर उनके दौड़ने से जो मिट्टी उड़ती है उससे पैदा होता है। वे कभी-कभी वर्षा के दिनों में जोर से हिनहिनाते हैं। तूने उनकी आवाज तो सुनी ही है ? वे हमेशा वर्षा के बाद पैदा होनेवाली हरी-हरी दूब ही खाया करते हैं। चाहे कितना भी क्यों न दौड़ें कभी थकने का नाम भी नहीं लेते। वे हम सब घोड़ों से बहुत प्यार करते हैं। बेटा, उन्हें कभी न भूलना। हम मनुष्य थोड़े ही हैं कि चैन से जीवन बिता सकें। हमें तो मालिक के लिये जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है और अगर कहीं बुरा मालिक मिल गया तो बुढ़ापे में भूखों मरना पड़ता है। लेकिन बेटा, वह भी क्या घोड़ा हुआ जो कष्टों से डर जाये ? हम भगवान् के प्यारे हैं तभी हमारे ऊपर इतनी कठिनाइयां आती हैं।"

मैं अपनी मां की ऐसी सीखें पाता हुआ बड़ा हुआ।

एक दिन मां ने कहा : "बेटा, अब तू बहुत बड़ा हो गया है, मालिक अब तुझे कहीं और भेज देंगे। कल ही मैंने साईस के साथ नये अरब मालिक को देखा था। मैंने सुना है, उसके यहां घोड़ों को अच्छी तरह रखा जाता है। मैं आशा करती हूं कि तुझे वहां कष्ट न होगा, पर तू भी याद रख, तुझे मालिक का नाम उज्ज्वल करना होगा। ऐसा न हो कि मालिक के पास तेरी शिकायत आये।"

वह मुझे बार-बार प्यार करती रही, उससे बिछुड़ने के विचार से ही मैं रोने लगा। वह भी रोती जाती थी और मुझे ढाढ़स बंधाती जाती थी। सारी रात वह मुझे नये मकान और नये मालिक के बारे में समझाती रही, वहां कितने नये-नये दोस्त मिलेंगे। उनके साथ दौड़ने की प्रतियोगिता में कैसा आनंद आयेगा। नये मालिक को पीठ पर रखकर दौड़ने में भी एक मजा होता है। उसने इन सब बातों का वर्णन इस तरह किया कि सवेरा होते-होते मैं जाने के लिये उत्सुक हो उठा।

सबेरा होने पर मालिक एक नये आदमी को लिये हमारी ओर आये। दोनों हंस-हंसकर बातें कर रहे थे।

मां ने कहा : "यह तो हमारे मालिक का पक्का दोस्त है, वह बड़ा अच्छा आदमी होगा क्योंकि घोड़ों से बुरा व्यवहार करनेवालों से हमारे मालिक नाराज रहते हैं।"

वह आदमी मेरे पास आया। मेरा सारा शरीर सिहर उठा, पर मां ने हिम्मत बंधाई। मैंने बड़े ध्यान से उस आदमी की ओर देखा। मैंने अपने सामने एक विशाल काया देखी। दो चमकती हुई आंखें मुझे ध्यान से देख रही थीं। उन गहरी आंखों में मैंने अपने रेगिस्तान के जैसी विशालता देखी। उसकी नाक तोते की-सी थी, उसके दांत सफेद रेत की तरह चमक रहे थे और उसके ओठ टेसू के फूलों जैसे थे।

अपने हंसते हुए मालिक मुझे बहुत ही अच्छे लगे। उन्होंने अपने साईस को बुलाया, फिर नजदीक आकर मेरी पीठ पर हाथ फेरा। मैं खुशी से उछल-उछल कर नाचने लगा। मेरे दोनों मालिक मेरी हरकतें देखकर जोर-जोर से हंसने लगे। मां दूर से ही मुझे खुश होते देखकर हंस रही थी। मैं उस रात इस हरे-भरे घर, मां की प्रेममयी गोद और अपने छोटे-छोटे साथियों से बिछुड़ने के ख्याल से बहुत दुःखी रहा। मैंने रोकने की बहुत कोशिश की पर आंखों से धारा बही चली जा रही थी। अचानक पीछे से जोर का निःश्वास सुनाई दिया। मैंने मुड़कर देखा तो मां थी, वह बोली :

"बेटा, तू बड़ा होकर जान जायेगा कि हमारे जीवन में आना-जाना तो लगा ही रहता है। मिलना और बिछुड़ना हम भाग्य में लिखवा कर लाये हैं। तू सोच मत कर, सब ठीक हो जायेगा।"

मैं हिचकियां ले-ले कर रोने लगा। मां ने प्यार से मेरे सारे शरीर को चाटा। मुझे कुछ शांति मिली। इसी तरह रात बीत गयी और हमें पता तक न चला। सबेरे-ही-सबेरे हमारे साईस ने हरी-हरी घास दी और तोबड़ा भर चने खिलाए। वह बार-बार बाग का चक्कर लगाता और फिर मेरे पास आकर मेरी पीठ थपथपाने लगता।

वह कहता : "बेटा, अपना नाम सार्थक करना, तेरे नाम का अर्थ है प्रार्थनाओं के उत्तर में मिला हुआ। देखें, नये मालिक तुमसे कितने खुश रहते हैं!"

मैं सिर लटकाए सब कुछ सुनता रहा। इतने में मां फिर से आयी और बोली : "बेटा, दुःखी नहीं हुआ करते, वहां बहुत-से नये दोस्त तेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, वहां आमोद-प्रमोद की एक नयी दुनिया होगी।"

मैं देख रहा था कि उसका गला भर आया था और उसकी आंखों से सावन-भादों की झड़ी लगी थी। उसने आखिरी बार मुझे प्यार दिया और मैं नये साईस के साथ अपनी छोटी-सी दुनिया को छोड़कर पहली बार बाहर निकला। कुछ ही दूर चलकर मैं अपना विषाद भूल गया। मैं आश्चर्य से आंखें फाड़-

फाड़ कर चारों ओर देख रहा था। यह पृथ्वी कितनी विशाल है! यहां कितने घोड़े, ऊंट और साईस बसते हैं! और अश्वदेव का नीलाकाश तो इन सबसे बड़ा है।

नये मालिक के यहां मैं बहुत अच्छी तरह रहने लगा। वहां मेरा एक पक्का दोस्त बन गया, उसका नाम था रख्श। हम दोनों साथ ही रहते, साथ ही खाते-पीते और दौड़ते और साथ ही सो जाते। हमारे साईस को भी हमारी दोस्ती का पता था। वह अगर गलती से हमें अलग कर देता तो हम उसका जीवन दूभर कर देते थे, उसका एक भी हुकुम न मानते, वह सवारी करने आता तो हम पिछले पैरों पर खड़े हो जाते और उसे पास न फटकने देते। इसलिये वह भी हमारा खास ख्याल रखता था और हमें एक ही साथ बांधा करता था। दिन बीतते गये।

एक दिन हमें एक नये प्रकार के अस्तबल में बंद कर दिया। ऐसा अस्तबल तो हमने कभी न देखा था और न उसके बारे में कुछ सुना था। हम उसमें बंद किये गये और बड़े-बड़े लोहे के दरवाजे हमारे ऊपर पहरा देने लगे। अरे, यह क्या! यह लोहे का अस्तबल तो दौड़ने लगा और दौड़ भी कैसी! हममें से तेज घोड़ा भी इस अस्तबल की बराबरी नहीं कर सकता, वह बीच-बीच में कू-कू करता जाता फिर और दौड़ता जाता था। उसकी घरघराहट से हम दोनों घबरा गये और हमने उछल-कूद शुरू कर दी।

साईस हमारे साथ था, उसने प्यार से हमें शांत किया लेकिन हमारा सिर चकरा रहा था। अरे, यहां तो चारों तरफ से पेड़-पौधे दौड़ते हुए दीख रहे थे। आस-पास के मकान, दूर की पहाड़ियां—सभी तो दौड़ रहे थे। साईस मालिक के बेटे को एक जादू की चटाई की कहानी सुनाया करता था, शायद यह वही उड़नखटोला हो। काफी देर दौड़ने के बाद हमारा अस्तबल एक जोर की आवाज करके रुक गया। साईस ने दरवाजे खोले और हमें बाहर निकाला। आहा, कितने मालिक और कितने साईस थे वहां! सब-के-सब हमें पुचकारने के लिये लपके, पर हमारे साईस ने सबको भगा दिया और हम एक नये अस्तबल में पहुंचाये गये।

हमारा नया अस्तबल बहुत ही शानदार था। तीन लड़के हमेशा हमारी सेवा में तैनात रहते थे। राजा-महाराजाओं की तरह तेल-फुलेल लगाकर हमें स्नान कराया जाता और खूब मालिश की जाती। हमारा भोजन तो शायद सीधा अश्वदेव की अपनी पाकशाला से ही आता होगा। सवेरे-ही-सवेरे हमें गोल-गोल सुंदर रास्तों पर दौड़ना पड़ता था। अपने साथियों से दौड़ने की होड़ लगाने में बड़ा मजा आता था। रख्श मेरे साथ ही रहता था पर कौन जानता था कि इस सुख के पीछे गहन दुःख दुबका बैठा है।

एक दिन बड़े घोड़ों में हलचल मची हुई थी। हम लोग भी लुक-छिप कर उनकी बातचीत सुनने लगे।

एक कह रहा था: "अहा, कल है।"

दूसरे ने कहा: "हां, कल ही तो है—अभीतक तो अमर ही हम सबको छोड़कर आगे निकल जाया करता है, पर कल मैं उसे हराकर छोड़ूंगा। कल कितनी भीड़ होगी, सबसे लंबी दौड़ और सबसे अच्छे घोड़े, सारा शहर ही टूट पड़ेगा। ये आदमी भी अजीब प्राणी होते हैं, इनकी हिनहिनाहट भी कैसी विचित्र होती है! कौन जाने शायद उनकी हिनहिनाहट का भी कोई अर्थ होता हो। कल देखना कैसी चिल्ल-पों मचायेंगे, कान पड़ी आवाज न सुनाई देगी।"

कोई और बोल पड़ा: "और ये लोग न जाने हमारे नाम ले-ले कर क्यों शोर मचाते हैं।"

"वाह, तुम्हें उनकी बोली पसंद नहीं है क्या?" तीसरे ने कहा। "मुझे तो उनकी आवाज सुनते ही जोश आने लगता है मानों वे अपना सारा जोश मेरे अंदर भर देते हों।"

एक और ने कहा : "हां, हां, जानते हैं आदमी को देखते ही तेरा चेहरा खिल उठता है।"

ये सब बातें सुनकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा और हम दूसरे दिन के लिये उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। अगले दिन उन बड़े घोड़ों को सबेरे की दौड़ में नहीं लाया गया। सबेरे से ही तरह-तरह के आदमी उन्हें देखने के लिये आने लगे। हमारे अस्तबल में चारों ओर आदमी-ही-आदमी भर गये। हमारे देश में तो इतने ऊंट भी न थे जितने यहां आदमी हैं। उन्होंने आसमान सिर पर उठा रखा था। इतना शोर तो हजारों घोड़ों के इकट्ठे होने पर भी नहीं हो सकता।

हम छोटे-छोटे घोड़े अस्तबल में से झांक-झांककर यह देख रहे थे। थोड़ी देर में सब घोड़े बाहर निकाले गये। न जाने इन मनुष्यों को हम लोगों के नाम कैसे मालूम हो गये। सबको नाम ले-ले कर बुलाया जा रहा था। थोड़ी देर के लिये एकदम शांति छा गयी, एक गोली की आवाज सुनाई दी और सब घोड़ों ने सरपट दौड़ना शुरू कर दिया। हमारे पैरों में भी खुजली होने लगी। एक ओर घोड़ों की टाप सुनाई दे रही थी और दूसरी ओर एक अजीब-सी चिल्ल-पों मची हुई थी। घोड़ों के नाम जोर-जोर से पुकारे जा रहे थे और मनुष्य बहुत उत्तेजित हो-होकर बेतहाशा हिनहिना रहे थे।

मैंने सोचा, मां घोड़ों के नरक की बात किया करती थी, यह स्थान कहीं वही नरक न हो। यह हमारा पहला अनुभव था।

कुछ दिनों के बाद हमारी बारी आयी। बड़ा मजेदार दिन था। एक-दूसरे के आगे निकलने का प्रयास, आदमियों की उत्साहवर्धक आवाजें—यह सब मिलकर एक अद्भुत वातावरण बन रहा था। मैं और रख्श अलग-अलग टोलियों में थे। वह अपनी टोली में पहला आया और मैं अपनी में। पहली दौड़ के बाद साईस के व्यवहार से हमें घुड़ दौड़ का पता लग जाया करता था। उन दिनों हमपर एक नशा-सा छा जाता था और हम अपने-आपको आदमी का मालिक समझने लगते थे, पर जीवन सदा सीधे रास्ते पर नहीं चला करता।

एक दिन हमें बाधा-दौड़ में भाग लेना था। यह और भी ज्यादा मजेदार होती थी। सवार के हर इशारे को समझ सकने के लिये सदा सतर्क रहना पड़ता है। कभी ऊंची-ऊंची बाड़ों को लांघना पड़ता है और कभी खाई पार करनी पड़ती है। कभी खुले मैदान में पूरी शक्ति लगाकर दौड़ना पड़ता है और फिर अचानक एक के बाद एक कई बांसों पर से कूदना पड़ता है। जरा-सी चूक हो जाये तो हड्डी-पसली एक हो जाती है और जीवन से हाथ धोना पड़ता है। आज रख्श भी मेरे दल में था। मैं उसे तथा अन्य साथियों को पीछे छोड़ जाने के लिये जी-तोड़ कोशिश कर रहा था। मैं रख्श से आगे बढ़ गया, उसी समय रख्श का भयानक चीत्कार सुनाई दिया। मैं अपने नशे में था, उस ओर ध्यान न दिया, बहुत हो-हल्ला हुआ। मैंने सोचा, यह तो साधारण कार्यक्रम है। मैं बहुत थक गया था। साईस मुझे अस्तबलतक पहुंचा कर बाहर गया। अचानक मैंने रख्श को देखा। वह बूढ़े घोड़ों की तरह लंगड़ाता हुआ मुंह लटकाए हुए चला आ रहा था। मेरी इच्छा हुई दौड़कर उसके पास जाऊं और उसके गले पर अपना सिर रखकर उसकी पीड़ा हर लूं, पर न जाने क्यों मेरे पैरों ने जवाब दे दिया।

लेकिन यह क्या? उसे अस्तबल में लाने की जगह एक ओर पेड़ों के पीछे ले जाया जा रहा था। उसके आगे-पीछे कई आदमी चल रहे थे। उनकी गतिविधि में कुछ अनिष्ट चीज छिपी हुई मालूम होती थी। मैं भी धीरे-धीरे उनके पीछे हो लिया। मुझे किसीने नहीं देखा। रख्श को पेड़ों के नीचे बांध दिया गया और उसके सामने हरी-हरी घास डाल दी गयी। घोड़े बीमारी की दशा में कुछ नहीं खाया करते। रख्श बहुत ही अस्वस्थ मालूम हो रहा था। उसकी आंखों में दुःख और भीति का ठोस रूप दिखायी दे रहा था। उफ! क्या दर्दनाक दृश्य था!

कुछ देर में एक आदमी एक काली-सी चीज लेकर आया और उससे थोड़ी दूर खड़ा हो गया। एक

जोर का धमाका हुआ, कुछ धुंआ-सा दिखायी पड़ा। मेरा प्यारा रख्श हवा में उछला और फिर जमीन पर आ रहा। उसकी आंखें फटी हुई थीं, मानों कह रही हों :

"हा, यह विश्वासघात ! मानव, मैंने तुम्हें अपना समझा था और तुम . . .।"

मेरे दिमाग में आग की हजारों लपटें उठने लगीं। क्या यही है मानव का सद्व्यवहार ? मैं पागलों की तरह भाग खड़ा हुआ। मेरा साईस इसी ओर आ रहा था। उसने मुझे पकड़ लिया। बहुत देर के बाद जब मैं होश में आया तो मैं वहां जाने के लिये उतावला हो उठा जहां मेरा साथी गिरा था। रख्श का खाली स्थान देखकर मेरी आंखें भर-भर आती थीं। साईस ने मुझे बाहर न जाने दिया। बहुत कोशिश करने पर भी घास का एक पत्ता तक मेरे मुंह में न जाता था। मैं बीमार हो गया।

यह आदमी भी क्या विचित्र जानवर है ! मेरे लिये डाक्टर बुलाये गये। मेरी सेवा में दिन-रात एक हो जाते थे। इतना प्रेम और इतनी क्रूरता आदमी ही कर सकता है; उसको समझ सकना हम लोगों की घोड़ा-बुद्धि से परे की चीज है।

कहते हैं, समय दुःख के घावों को भरने के लिये अच्छा मरहम है। मैं आहिस्ता-अहिस्ता दुःख भूल गया और फिर से शराबी की तरह दौड़ने के नशे में आकर अपने-आपको भी भूल गया। एक दिन कूदते समय मैंने अपने आगे रख्श को देखा। मेरी आंखें फटी रह गयी। क्या यह सच हो सकता है? देखते-देखते वह हवा में गायब हो गया। मैंने बूढ़े घोड़ों से सुना था कि मृत्यु से पहले हमें अपने प्रियजनों के भूत दिखाई देते हैं। तो क्या मेरी भी आखिरी घड़ी आन पहुंची और रख्श उसकी सूचना लाया है ?

मैं यह कहना तो भूल ही गया कि इन दिनों मैं सबसे अच्छा घोड़ा कहलाता था। न जाने क्यों, मेरी दौड़ के दिन बहुत ज्यादा भीड़ हुआ करती थी और बहुत शोर होता था। ऐसा लगता था मानों लोग मुझसे बहुत प्यार करते थे। उस दिन सब से लंबी दौड़ थी। न जाने कितनी बाधाएं पार करनी थीं। मैं इस जमीन पर इतनी बार दौड़ चुका था कि एक-एक चीज का नक्शा मेरे दिमाग पर अंकित था। मैं आंखें मूंदकर भी इस जगह की बाड़ों, खाइयों और अन्य बाधाओं को पार कर सकता था।

गोली चली और सब दौड़ पड़े। मैं धीरे-धीरे सबसे आगे निकल गया। मैं तीर की तरह दौड़ा चला जा रहा था कि अचानक मेरे पांव में बिजली दौड़ गयी। मुझे लगा मानों आसमान फट पड़ा। मैं थोड़ी देर के लिये बिल्कुल बेहोश हो गया। आंखें खुलीं तो देखा मेरा सवार मेरे पास खड़ा दर्द-भरी आंखों से मुझे देख रहा था। उसकी आंखों में करुणा थी और था प्यार। उसने मुझे पुचकारा, मेरे शरीर पर हाथ फेरा और फिर मुझे उठाने की कोशिश करने लगा। मैंने अपनी पूरी ताकत लगाई पर उठ न सका; जिस घास के तिनकों को मैं रोज चर जाता हूं, मेरे पांव उनसे भी बलहीन हो गये थे।

बड़ी कोशिशों के बाद मैं खड़ा हुआ पर मेरे पैर में इतने जोर से दर्द हुआ कि मैं गिर पड़ा। मैं लंगड़ा हो चुका था। पुरानी स्मृतियां जाग उठीं। रख्श, मेरा प्यारा रख्श, इसी तरह से गिरा था और फिर उस काली चीज का शिकार हुआ था। मैं थर-थर कांप रहा था। हे अश्वदेव, क्या मेरी भी यही गति होगी ? हे घोड़ा-भगवान् ! क्या मेरी सहायता न करोगे ?

सचमुच मुझे उसी झुरमुट की ओर ले जाया जा रहा थां। मैंने दूसरी ओर भागना चाहा पर मेरा दुर्बल शरीर कर ही क्या सकता था ? मुझे उसी तरह खड़ा किया गया और एक आदमी वह काली चीज लेकर खड़ा हो गया। मेरी आंखें विवशता और घबराहट से सफेद हो गयीं। मैंने एक बार, अंतिम बार सिर उठाकर ऊपर देखा। मैंने अश्वदेव को आवाज दी और कहा :

"क्या इस समय भी मेरी सहायता न कर सकोगे, भगवान् ? मां कहती थी तुम बड़े दयालु हो, तो फिर आज कहां है वह दया ?"

मेरे शरीर से लू निकल रही थी। अचानक आकाश में एक सुंदर, भव्य और चमकदार घोड़ा दिखायी दिया। उसने मेरी गर्दन को प्यार से चूमा और दाहिनी ओर देखने का आदेश देकर अदृश्य हो गया। मेरा रोम-रोम अश्व-भगवान् की करुणा पाकर पुलकित हो उठा। मैं अपना दुःख भूल गया और मैंने दाहिनी ओर नजर डाली।

वहां एक सुंदर कुमार अपनी काली-काली चमकती आंखों से मेरी ओर देख रहा था। उसके ओंठ दांतों तले दबे हुए थे। मेरी और उसकी आंखें चार हुई। उसके सारे शरीर में सिहरन दौड़ गयी। उसने तेजी से काली चीज लिये आदमी से कुछ कहा। काली चीज झट नीची हो गयी।

कुमार—मुझे बाद में मालूम हुआ कि उसका नाम विजय था—मेरे पास आया और बड़े प्रेम से मुझे थपथपाने लगा। उसके अंदर से प्रेम की लहरों ने आकर मुझे आवेष्टित कर लिया। उसने मेरे प्राण बचा लिये और मुझे अपने साथ ले गया।

हम अरब देश के वासी साहस और खतरे पर लट्टू होते हैं। मैं अश्वदेव को कितना-कितना धन्यवाद दूं कि उसने मुझे ऐसा ही मालिक दिया जो साहस और खतरे के प्रति अरबों के जैसा प्रेम रखता है। मालिक मुझे लिये जंगल-जंगल की खाक छानते रहते हैं। बहुत बार हम दोनों हरिण या शेर का पीछा करते हैं। मालिक को इस प्रकार के निर्दोष आमोद का बहुत शौक है। वे जानवरों को मारते नहीं, उनका पीछा करने में ही मजा लेते हैं। और उनके साथ कबड्डी भी खेलते हैं। कभी-कभी हम ऊंची-ऊंची पहाड़ियों पर चढ़ते हैं और वहांपर विचरण करनेवाले बादलों से बातें करते हैं। कभी घने जंगलों में आंधी के साथ दौड़ने की प्रतियोगिता करते हैं।

इस प्रकार हम दोनों प्रकृति के साथ एक होकर उसका आनंद लेते हैं। इसका रसास्वादन करने के लिये प्राणों में साहसिक कार्यों के लिये एक अद्‌भुत तड़प होनी चाहिये। इस तरह मारे-मारे फिरते हुए हम दोनों ही भूख और प्यास को भूल जाते हैं। हम किसी अदृश्य सूक्ष्म भावना से ओत-प्रोत होकर वायु के पंखों पर उड़ते रहते हैं। मेरा जन्म किसी शुभ घड़ी में हुआ होगा। मेरे पैर में जरा-सी खराबी है तो, पर उससे क्या आता-जाता है? मेरे मालिक मुझसे कितना प्यार करते हैं। मैंने देख लिया, आदमियों में भी हम घोड़ों की तरह अच्छे और बुरे, सब तरह के लोग होते हैं। भगवान् अश्वदेव को लाख-लाख धन्यवाद है कि मुझे विजय के जैसा प्यारा मालिक दिया। मैं आसानी से उसके लिये जान की बाजी लगा सकता हूं।

अभी उस दिन की बात है। हम जंगल में खो गये। चारों ओर अंधेरा छा गया। कहीं दूर शेर की दहाड़ सुनाई दे रही थी और गीदड़ तो चारों ओर मारे-मारे फिर रहे थे। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। मालिक को न जाने क्या हो गया, वे अजीब तरह से जमीन पर उतरे और उतरते ही लेट गये। उनकी सांस और दिनों से भिन्न थी।

अश्विनीकुमार तो हमारे ही इष्टदेव हैं, मैंने उन्हें बुलाना शुरू किया। इसके अतिरिक्त मैं कर ही क्या सकता था? जंगली जानवरों ने मृत शरीर समझकर मेरे मालिक पर झटपना चाहा पर मैं ऐसा हिनहिनाया और टापें लगाईं कि किसी को पास फटकने का साहसतक न हुआ। मैंने मालिक को अपने चारों पैरों के बीच कर लिया। थोड़ी देर में एक रोशनी दिखाई दी। मैंने बड़ी सावधानी से मालिक को कमरबंद से पकड़कर उठाया और रोशनी की तरफ चल दिया।

मालिक के घरवाले और नौकर-चाकर उन्हें बहुत देर होती देखकर उन्हें ढूंढ़ते हुए यहांतक आ पहुंचे थे। मैंने मालिक को जमीन पर रख दिया। लोगों ने हमें चारों ओर से घेर लिया। प्रायः सभीने मुझे मानों प्रेमगंगा में डुबो दिया। उस दिन से मेरे रहने-खाने की व्यवस्था का और भी ज्यादा ध्यान रखा जाने लगा। अब मैं सारे परिवार की आंखों का तारा हूं।

अच्छा, अब विदा। मुझे जाना चाहिये, मालिक आते होंगे।

—अनुबेन

भगवान् के रूप

अगर तुम लय या मोक्ष को पाना चाहो तो तुम निष्क्रिय ब्रह्म में लीन हो जाते हो। तुम वैयक्तिक भगवान् में निवास कर सकते हो पर उनमें लीन नहीं हो सकते। रही बात परम पुरुष की तो वे समस्त विश्व-सत्ता को अपने अंदर धारण करते हैं वह उन्हींकी चेतना में गति करती है। परम पुरुष के अंदर प्रवेश करके तुम प्रकृति की अधीनता से ऊपर उठ जाते हो परंतु विश्व-सत्ता की समस्त चेतना से गायब नहीं होते।

*

भगवान् का वैयक्तिक साक्षात्कार कभी-कभी आकार के साथ हो सकता है और कभी आकार के बिना। आकार के बिना जीवित-जाग्रत् भागवत सत्ता की उपस्थिति हर चीज में अनुभव होती है। आकार के साथ वह उस रूप में आती है जिसकी पूजा की जाती है। भगवान् भक्त या जिज्ञासु के आगे अपने-आपको हमेशा किसी रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं। तुम उन्हें उस रूप में देख सकते हो जिसकी तुम पूजा करते हो या जिसे खोजते हो, या भागवत सत्ता के किसी ऐसे रूप में जो पूजा का पात्र हो। वह कैसे अभिव्यक्त होते हैं, यह बहुत-सी चीजों पर निर्भर है और इसके इतने विभिन्न प्रकार हैं कि उन्हें एक नियम में बांधना असंभव है।

*

जब तुम्हारे अंदर आनंद आता है तो तुम्हारे अंदर भगवान् आते हैं, वैसे ही जैसे जब तुम्हारे अंदर शांति प्रवाहित होती है तो तुम्हारे अंदर भगवान् की ही चढ़ाई होती है या जब तुम्हारे अंदर प्रकाश की बाढ़ आती है तो स्वयं भगवान् की बाढ़ तुम्हारे चारों ओर होती है। निश्चय ही भगवान् इस सबसे बहुत अधिक हैं, इसके अतिरिक्त और बहुत-सी चीजें हैं और उन सब चीजों के अंदर एक उपस्थिति, एक सत्ता, एक दिव्य पुरुष होता है क्योंकि भगवान् ही कृष्ण हैं, शिव हैं, और परम जननी हैं। लेकिन आनंद के द्वारा तुम आनंदमय कृष्ण को देख सकते हो क्योंकि आनंद कृष्ण का सूक्ष्म शरीर और सत्ता है, शांति के द्वारा तुम शांतिमय शिव के दर्शन करते हो। प्रकाश में, मुक्तिदाता ज्ञान, प्रेम, पूर्ति करती हुई और ऊपर उठाती हुई शक्ति में तुम दिव्य जननी को पा सकते हो।

—श्रीअरविंद

————

आओ, हम अपने-आपको पूरी तरह और सचाई के साथ भगवान् को दे दें, तब हम उनके संरक्षण का रस पायेंगे।

—श्रीमां

यस्य हृदयं शुद्धम् . . .

कश्चिद् ब्राह्मणः आसीत्। प्रतिदिनं सुप्रभाते गङ्गातटं गत्वा, स्नानादिकं कृत्वा शुद्धमनसा प्रभुं स्मरति, तेन सह गीतापाठं च करोति स्म। तेन विधिवत् शिक्षा नैव प्राप्ता तस्मात् गीतायाः शब्दानां शुद्धम् उच्चारणं कर्तुमसमर्थः आसीत् वराकः, वस्तुतः सः शुद्धम्, अशुद्धं इति नैव अजानात्। सः तु तन्मयः अभवत् सर्वदा प्रभुस्मरणे गीतापाठे च। अथ कदाचित् विश्रुतः भक्तः गौराङ्गदेवः ततः निर्गतः। ब्राह्मणस्य अशुद्धम् उच्चारणं श्रुत्वा ईषत् खिन्नः जातः, ब्राह्मणं वीक्ष्य किमपि कथयितुम् उद्यतः अभवत् किन्तु भक्तिभावे तथा तल्लीनं तं वीक्ष्य तूष्णीमेव अग्रे असरत्। आगामिदिने पुनरपि तस्मादेव मार्गात् अगच्छत् गौराङ्गदेवः, भूयोऽपि ईषत् विरम्य अग्रे असरत्। प्रतिदिनस्य एषा चर्या जाता . . . प्रतिप्रभातं सः चिन्तयति स्म यत् अद्य अहं तस्मै ब्राह्मणदेवाय निवेदयिष्यामि एव यत् तस्य गीतापाठः अशुद्धः, अशुद्धपाठेन नास्ति कोऽपि लाभः, पुण्यं न लप्स्यते वराकः इति। किन्तु अवसरम् एव न प्राप्नोति स्म। अन्ततः एकस्मिन् दिने कृतनिश्चयः सः ब्राह्मणम् उपागतः, तस्य समीपे बहुकालमतिष्ठत् किन्तु ब्राह्मणं पूर्ववदेव स्वभजने निरतं वीक्ष्य तस्य हस्तं धृत्वा अपृच्छत्—"बन्धो ! त्वं प्रभुस्मरणे गीतापाठे च एतावदानन्दं प्राप्नोषि, तस्य कारणं किम् ? किन्तु जानासि यत् . . ."

वाक्यस्य मध्ये एव ब्राह्मणेन उक्तम्—प्रभोः ! असीमितं मे आनन्दं भगवद्भजने गीतापाठे च यतो हि पाठकाले अर्जुनस्य रथे स्थित्वा उपदिशन्तं चतुर्भुजं भगवन्तं श्रीकृष्णं साक्षात् पश्यामि।"

ब्राह्मणस्य वचनं श्रुत्वा तु रोमाञ्चितः जातः गौराङ्गमहाप्रभुः; तत्क्षणं ब्राह्मणम् आलिङ्ग्य अगदत्—"प्रभोः, श्रीकृष्णस्य गीतायाः सारः वस्तुतः त्वया एव अवबुद्धः। त्वं खलु महान्। अद्य बोधामि यत् यस्य हृदयं शुद्धं तस्य भाषा शुद्धा न वा इति न पश्यति सः परमेश्वरः।"

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

Glossary and Index of Proper Names in Sri Aurobindo's works—प्र० श्रीअरविंदाश्रम; मू० ३०० रु.।

श्रीअरविंद का साहित्य एक अथाह सागर है। कम ही विषय ऐसे होंगे जिनके बारे में श्रीअरविंद ने कुछ नहीं कहा है। उनकी पुस्तकों के शताब्दी-संस्करण के तीस बड़े-बड़े खंड हैं। एशिया, यूरोप, अमरीका के साहित्य, इतिहास, समाज शास्त्रादि अनेकानेक विषयों पर श्रीअरविंद ने अत्यंत प्रामाणिक रूप से लिखा है। इन पुस्तकों में हजारों नाम ऐसे हैं जिनसे साधारण आदमी परिचित नहीं होता। इस कोश की हजारों प्रविष्टियों में उन सबका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। केवल श्रीअरविंद के साहित्य के लिये ही नहीं, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विषयों की जानकारी प्राप्त करने के लिये भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। हम इसके संपादक को इस प्रेम-भरे श्रम के लिये बधाई देते हैं।

काश ! ऐसी पुस्तकें हिंदी में भी छप पातीं। लेकिन हिंदी में ऐसी पुस्तकें छापे कौन और उससे भी बढ़कर खरीदे कौन ?

भारतीय साहित्य के निर्माता—स्वामी दयानंद सरस्वती—ले० विष्णु प्रभाकर; प्रकाशक साहित्य अकादमी; मूल्य ५ रु.।

स्वामी दयानंद भारत का नव निर्माण करनेवाले महापुरुषों में से थे। उन्होंने रूढ़ियां तोड़कर वैदिक धर्म का बिगुल बजाया। स्वामी सत्यानंद, पं. लेखराम, देवेंद्र नाथ मुखोपाध्याय आदि ने इनके जीवन और भारत को इनके दिये उपहारों पर अच्छा प्रकाश डाला है। श्रीअरविंद ने इनका आध्यात्मिक मूल्यांकन करके इनका सच्चा मूल्य दिखलाया है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री विष्णु प्रभाकर ने स्वामी ज़ी की हिंदी (जिसे वे आर्य भाषा कहना ज्यादा पसंद करते थे) की देन पर प्रकाश डाला है। इस विषय पर विष्णु जी ने अनूठा काम किया है और स्वामी जी का एक नया रूप दिखलाया है जिससे आर्य-समाजियों से इतर भी प्रभावित हुए बिना न रहेंगे।

सस्ता साहित्य-मंडल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली—११०००१ के प्रकाशन

अथाह की थाह—मूल्य २० रु.।

भारत की सप्त-सरिताएं अलग-अलग होते हुए भी एक हैं। हमारी भाषाओं की शब्दावलियां एक-दूसरे से बहुत मिलती हैं, इतना ही नहीं; मुहावरों, कहावतों और पहेलियों में भी साम्य है। इसी तरह साहित्य की धाराएं भी एक ही सागर की ओर उन्मुख होती हैं। सस्ता साहित्य-मंडल हमें इन भाषाओं के साहित्य की बानगी दिखाकर भारतीय एकता का परिचय दे रहा है। इसमें एक नया प्रयास है। 'अथाह की थाह' हमें कोंकण का परिचय देता है। वहां भी अन्य स्थानों की तरह भारतीय नारी का जीवन यंत्रणा और वेदना से भरपूर है, पर वहां भी संत और मनीषी उसे उठाने और उसकी सहायता करने के लिये तैयार मिलते हैं।

बेताल पच्चीसी—मू० ५ रु.।

भारत की अत्यंत प्रसिद्ध कहानियों में से हैं बेताल पच्चीसी की कहानियां। इन्हें यशपाल जी ने सरल सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है।

नसीहत का फल—मू० ६ रु. **मारीशस की शकुंतला—मू० ८ रु.**
भाग्य की बलिहारी—मू० ८ रु. **हमारी लोक-कथाएं—मू० ६ रु.।**

किसी भी देश और भाषा की संस्कृति में वहां की लोक-कथाओं का महत्त्वपूर्ण अनुदान होता है। इनसे हमें देश की प्राचीन, अर्वाचीन और मध्यकालीन स्थितियों का अच्छा चित्रण मिल जाता है। इनकी भाषा सरल और सुगम है। मोटा टाइप, कागज अच्छा और सचित्र आवरण इन पुस्तकों में सोने पर सुहागे का काम करते हैं।

खलील जिब्रान के रत्न :—

तूफान—४रु.; आंसू और मुस्कान—६ रु.; धरती के देवता—४ रु.; लोक यात्रा—४ रु.; शैतान—३ रु.।

खलील जिब्रान दुनिया के बड़े लेखकों में गिने जाते हैं। इनके जीवन की तरह लेखन में भी पूर्व और पश्चिम का अच्छा सम्मिश्रण है। सरल कहानियों के रूप में इन्होंने सब तरह की जीवनोपयोगी चीजें लिखी हैं। इन पुस्तकों का परिचय देने के लिये खलील जिब्रान का नाम ही काफी है।

स्फुट वचन

मैं सोच रहा था कि कितनी जातियों में सौंदर्य की भावना मज्जागत है। हमारे पास जो कुछ बच रहा है उससे मालूम होता है कि एक समय था जब हमारे देश में सौंदर्य का प्रखर बोध था। उदाहरण के लिये कविता या लकड़ी की नक्काशी। मुझे लगता है कि अब यह जा रहा है। यूनान और प्राचीन रोम में सौंदर्यबोध था। जापानी विलक्षण लोग हैं। गरीब से गरीब लोगों में भी सौंदर्यबोध है। अगर वे कुछ भद्दी चीजें बनाते हैं तो केवल विदेशों को निर्यात करने के लिये। लेकिन मुझे लगता है कि व्यापक गंवारूपन के कारण जापानी भी इस बोध को खोते जा रहे हैं। जर्मनी में हिटलर ने सभी सुन्दर चीजों को कुचलकर अस्तित्वहीन कर दिया होगा, जर्मन संगीत, दर्शन आदि। जहां स्वाधीनता न हो वहां कोई चीज कैसे विकसित हो सकती है। मैं आशा करता हूं कि मसोलिनी ने कुछ कला का बोध बाकी रखा है।

—श्रीअरविन्द (सान्ध्य-वार्ताओं से)

मनुष्य की महानता इसमें नहीं है कि वह क्या है बल्कि इसमें है कि वह किसे संभव बनाता है। उसकी महिमा यह है कि वह एक जीवित जाग्रत् परिश्रम का बंद स्थान और गुप्त कारखाना है जिसमें दिव्य कारीगर अतिमानवता को तैयार कर रहा है।

लेकिन उसे एक और भी महान् महानता में प्रवेश प्राप्त है। निम्नतर सृष्टि से भिन्न उसे आंशिक रूप से भागवत परिवर्तन का सचेतन शिल्पी होने दिया गया है। उसकी मुक्त स्वीकृति, उसकी समर्पित इच्छा और उसके सहयोग की जरूरत है ताकि उसके शरीर में वह महिमा उतर सके जो उसका स्थान लेगी। उसकी अभीप्सा अतिमानसिक स्रष्टा को धरती की पुकार है।

अगर धरती पुकारे और परम पुरुष उत्तर दे तो उस विशाल और महिमामय रूपांतर का मुहूर्त अब भी हो सकता है।

—श्रीअरविन्द

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER

For us there here is only one thing that counts. We aspire for the Divine, live for the Divine, act for the Divine.

THE MOTHER

तपेदिक के विरुद्ध अभियान

1. यदि आपको लगातार दो हफ्तों से भी अधिक समय से खांसी है या थूक में खून आता है, तो हो सकता है, आपको फेफड़ों की तपेदिक हो।

2. अपने नजदीकी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, औषधालय या तपेदिक केन्द्र पर स्वयं की, विशेष कर अपने थूक की, जांच कराएं।



3. तपेदिक का इलाज किया जा सकता है, बशर्ते डाक्टर द्वारा बताई गई दवाइयां नियमित रूप से निर्धारित अवधि तक ली जाएं।

4. बचाव हमेशा इलाज से बेहतर है। इसलिए अपने बच्चे को बी.सी.जी. का टीका लगवाएं।



केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो (स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय)
स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय,
कोटला रोड, नई दिल्ली- 110002

davp 89/1023

"Work done in the right spirit is meditation."

चिंता भगवान् की कृपा पर विश्वास का अभाव है। यह अचूक चिह्न है कि समर्पण पूर्णतया संपूर्ण नहीं है।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

अनल-पवन

पूरब की सुवर्णिमा से प्रवहमान एक अनल-पवन,
सप्तधा मध्याह्न के समीरण-संग मेरी आत्मा पर करता उत्प्लुतन !
देवदूत के पंख, वन्यजंतु का सरपट धावन !
देह और मन अग्निदीप्त, किंतु हृदय मूर्च्छापन्न।

ओ अनल, तुम हो मध्याह्न के बल-विभव के आनेता,
पर कहां हैं भोर के कलरव, सन्ध्या की नीरवता ?
कहां है चंद्र की नीलप्रभ माध्वी मदिरा ?
मन और प्राण पुष्पित, पर हृदय को सहन करनी है पीड़ा।

प्राणाग्नि की रक्तिमा और मन का सुवर्ण
करते पृथ्वी को प्रदीप्त, स्वर्ग की द्युति-शोभन,
पर हृदय की शुभ्रता और अरुणिमा हैं निष्प्राण।
अनल-पवन, करो व्यतिगमन ! मैं मौन पथों में रहूंगा 'प्रेम' के लिये
प्रतीक्षमान।

अनु०—अमृता भारती —श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

अप्रैल

१. साधारणतः सहसा होनेवाले परिवर्तन न तो सर्वांगीण होते हैं न चिरस्थायी। वे प्राण में बिजली की कौंध होते हैं जो बहुधा धुंएं में विलीन हो जाते हैं। धीरे-धीरे, स्थिर रूप से किया गया प्रयास और अविच्छिन्न प्रगति अधिक विश्वसनीय है।

अपने-आपको विशालता के भाव से अभिभूत न होने दो बल्कि उसमें खुशी से और शांति में स्नान करो। अगर हम अपरिहार्य रूप से अपनी व्यक्तिगत चेतना की चारदीवारी में बंद होते तो यह सचमुच दुःखद और अभिभूत करनेवाला होता—लेकिन अनंत हमारे लिये खुला है, हमें बस उसमें डुबकी लगानी है।

२. डरो मत; मैं आभासों के परे देख सकती हूं और नीरवता में या शब्दों के परे समझ सकती हूं। मेरी भुजाएं हमेशा तुम्हें सहारा देने और मार्ग दिखाने के लिये तुम्हारे चारों ओर रहेंगी।

. . . मैं चाहती हूं कि तुम प्रसन्न रहो, दुःखी नहीं, आलोकित रहो, अज्ञानी नहीं।

. . . यह कहने की जरूरत नहीं है कि हमारी सहायता, हमारी शक्ति, हमारा संरक्षण और हमारे आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ रहते हैं। तुम्हें अपने-आपको उनके अंदर शांत करनेवाले, स्वस्थ करनेवाले स्नानकुंड की तरह निमज्जित करना चाहिये। मैं अपना स्नेह भी उनके साथ जोड़ती चलूं।

३. तुम वस्तुतः बीमारी का इससे अच्छा क्या उपयोग कर सकती हो कि इसे एक अवसर मानो और अपने अंदर गहराई में जाओ और जागो; एक नयी, अधिक आलोकमय और अधिक सच्ची चेतना में जन्म लो।

हमारी सहायता और हमारे आशीर्वाद हमेशा सस्नेह तुम्हारे साथ हैं।

४. . . . जितनी अधिक दवाइयां ली जायें उतना ही वे शरीर के स्वाभाविक प्रतिरोध को कम करती हैं।

तनाव को दूर करने के लिये दस मिनट की आंतरिक और बाह्य **सच्ची अचंचलता** दुनिया भर की सभी दवाइयों से अधिक प्रभावकारी होती है। नीरवता में ही सबसे अधिक प्रभावकारी सहायता मिलती है।

५. और बातों के बारे चिंता न करो। भागवत कृपा हर चीज के, यहांतक कि दोषों के भी पीछे है और उसकी सहायता से ऐसी कोई चीज नहीं है जो प्रगति के लिये अवसर न बनायी जा सके।

६. मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

अगर तुम चीजों को देखने की मेरी **सच्ची** दृष्टि चाहती हो तो मुझे तुमसे कहना होगा कि भागवत कृपा पर श्रद्धा और भरोसे की एक अच्छी मात्रा दुनिया भर की सभी गोलियों और सूचीवेधों से ज्यादा अच्छी है।

मेरे आशीर्वाद के साथ। मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं।

७. . . . और फिर आंतरिक विकास के लिये मैं शब्दों को जरूरी नहीं मानती। नीरवता में हमारी समस्त सहायता अपने सबसे अधिक सशक्त रूप में रहती है।

तुम अपना मौन क्यों भंग करना चाहती हो? नीरवता सभी सच्ची आध्यात्मिक उपलब्धियों का द्वार है।

और मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं। नीरवता में मेरी शक्ति में से खींचो, यह तुम्हें कभी धोखा न देगी।

मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं। अगर तुम ध्यान से सुनो तो तुम अपने प्रश्नों के लिये मेरे उत्तर सुनोगी। जब तुम्हारे अंदर सब कुछ नीरव और अचंचल हो जाता है तो तुम ठोस रूप से मेरी उपस्थिति का अनुभव कर सकोगी और उससे बढ़कर वास्तविक या उससे बढ़कर प्रभावकारी कोई सहायता नहीं होती।

८. शुष्कता अपने बारे में बहुत अधिक चिंतित रहने का लक्षण है और परिणाम-स्वरूप चेतना की संकीर्णता का जो पर्याप्त रूप से भागवत शक्तियों के साथ संपर्क में नहीं रहती।

उपचार :—भगवान् के प्रति पूर्णतर आत्मदान।

९. बुद्धिमान हमेशा पूरी तरह बुद्धिमान नहीं होते, बुद्धिमान कुछ भागों में बुद्धिमान होते हैं।

संत अपने अंदर कई संतों के विपरीत गतियां लिये रहते हैं और बुरे लोग पूरी तरह बुरे नहीं होते।

१०. अगर तमस् आलोकित न हो और रजस् अपरिवर्तित हो तो जीवन में दिव्य परिवर्तन संभव नहीं है।

सत्त्व का भी रजस् और तमस् की तरह अतिक्रमण होना चाहिये, सोने की बेड़ियों को काटना उसी तरह जरूरी है जैसे सीसे की बेड़ियों और कांसे के गहनों को।

११. हमारे कर्मों का स्वामी और उन्हें गति देनेवाला एक है, वह है वैश्व और परम, शाश्वत और आनंद।

लंबे और कठिन पूर्णयोग में पूर्ण श्रद्धा और निष्कंप धैर्य जरूरी हैं।

श्रद्धा ऊपर से सहारा देती है। यह बुद्धि और उसकी दी हुई सामग्री से परे के गुप्त प्रकाश द्वारा फेंकी गयी आलोकमयी छाया है।

१२. हमारे पाप हमारी खोजनेवाली शक्ति के पथ-भ्रष्ट चाप हैं जिनका लक्ष्य पाप नहीं बल्कि पूर्णता है, जिसे हम दिव्य गुण कह सकते हैं . . .।

हमारे कर्मों के स्वामी न तो भूलें करते हैं, न वे तटस्थ साक्षी हैं और न ही अनावश्यक बुराइयों के विषम सुखों में मन बहलानेवाले हैं। वे हमारी-तर्क बुद्धि से, हमारे सद्गुणों से ज्यादा बुद्धिमान हैं।

बहुधा हमारी असफलता और कुपरिणाम, तत्काल पूर्ण सफलता द्वारा दिखाये गये मार्ग की अपेक्षा अधिक सत्य मार्ग होते हैं।

१३. अगर हम कष्ट सहते हैं तो इसलिये कि हमारे अंदर किसी चीज को आनंद की विरल संभावना के लिये तैयार करना है।

अगर हम लड़खड़ाते हैं तो अंततः चलने की पूर्णतर विधि सीखने के लिये।

हमें शांति, शुद्धि और पूर्णता पाने के लिये भी बहुत अधिक जल्दी में न होना चाहिये।

१४. हमारे कर्मों और योग का स्वामी जानता है कि क्या करना चाहिये और हमें उसे अपने ही तरीके और अपने ही मार्ग से करने देना चाहिये।

केवल मुक्ति नहीं, पूर्णता को भी कर्मयोग का लक्ष्य होना चाहिये।

हमारा लक्ष्य है केवल आत्मा की निश्चलता ही नहीं बल्कि प्रकृति की क्रियाशीलता भी।

भगवान् केवल यहीं नहीं हैं बल्कि परे भी हैं, एक शाश्वत परात्पर भी हैं।

१५. वास्तव में मनुष्य काम नहीं करता, उसके द्वारा दिव्य प्रकृति एक ऐसी शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के लिये काम करती है जो अनंत से आती है।

मुक्ति के बाद मनुष्य जीवन के किसी भी लोक में रह सकता है, कोई भी कार्य कर सकता है और वहां भगवान् से युक्त अपने अस्तित्व को पूर्ण कर सकता है।

व्यक्तिगत मुक्ति की कामना, चाहे जितने उच्च रूप में हो, अहंकार का ही परिणाम होती है।

१६. अगर हम भगवान् के लिये खोज करें तो वह भगवान् के लिये ही होनी चाहिये, और किसी चीज के लिये नहीं क्योंकि यही हमारी सत्ता की उच्चतम पुकार है, आत्मा का गहनतम सत्य है।

मुक्ति की खोज का सबसे सच्चा कारण निजी छुटकारा पाना नहीं, जगत् के दुःखों से छुटकारा पाना नहीं है, यद्यपि यह भी मिल जायेगा। उसका असली उद्देश्य होना चाहिये भगवान् के साथ, परम के साथ, शाश्वत के साथ एक होना।

१७. मन केवल भिन्न-भिन्न टुकड़ों को इकट्ठा कर सकता है या एकता दिखला सकता है। मन का सत्य पहेली के अंशों का अर्द्ध-सत्य है।

पूजा कोई भी रूप ले सकती है। पत्ते, फल-फूल, जल, रोटी से लेकर हमारे पास जो कुछ है और हम जो कुछ हैं सबका समर्पण। हम जिस भाव से, जिस रूप में उस प्रभु के निकट जायें वह उसी रूप में, उसी भाव से हमें स्वीकार करता है।

१८. अपने जीवन को उपयोगी बनाओ।

तुम्हारी उच्चतम अभीप्सा तुम्हारे जीवन को व्यवस्थित करे।

१९. निरंतर आंतरिक विकास होते रहने पर ही मनुष्य जीवन में सतत नवीनता और अक्षय रस पा सकता है। और कोई संतोषजनक उपाय नहीं है।

२०. तू है, इसीलिये अंतरात्मा भगवान् के नजदीक खिंचती है।

२१. जब व्यक्ति ने भगवान् को पाने के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया हो, और अगर वह निष्कपट हो, यानी अगर संकल्प निष्कपट हो और उसका निष्कपटता के साथ पालन किया जाये तो बिल्कुल किसी चीज से भयभीत न होना चाहिये, क्योंकि उसके साथ जो हो रहा है या होगा, वह सब उसे इस सिद्धितक छोटे-से-छोटे मार्ग द्वारा ले जायेगा।

भागवत कृपा का यह उत्तर है। लोग यह मानते हैं कि भागवत कृपा का अर्थ है तुम्हारे सारे जीवन में सब कुछ सरल और सहज बना दिया जाये। यह सच नहीं है।

२२. भागवत कृपा तुम्हारी अभीप्सा की चरितार्थता के लिये कार्य करती है और सबसे अधिक तत्पर, सबसे तेज चरितार्थता पाने के लिये सभी चीजों की व्यवस्था की जाती है—अतः डरने की कोई बात नहीं। भय कपट से आता है। अगर तुम आरामदेह जीवन, अनुकूल परिस्थितियां इत्यादि चाहो तो तुम शर्तों और सीमाओं को लगाते हो और तब तुम भयभीत हो सकते हो।

२३. हमेशा नौजवान बने रहो, पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास कभी बंद मत करो।

२४. भूतकाल की जगह भविष्य के बारे में सोचो।

२५. साहसी, सहनशील और जागरूक बनो; और सबसे बढ़कर, पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे बनो। तब तुम सभी कठिनाइयों का सामना कर सकोगे और विजय तुम्हारी होगी।

२६. **प्रश्न**—मैं अपनी पढ़ाई में बहुत अनियमित हूं, मेरी समझ में नहीं आता कि इसके लिये क्या करूं ?

उत्तर—अपने ''तमस्'' को थोड़ा हटा दो, अन्यथा तुम मूर्ख-के-मूर्ख रह जाओगे।

२७. अगर तुम सच्चे, ईमानदार और निष्कपट हो तो मेरी सहायता जरूर तुम्हारे साथ रहेगी और एक दिन तुम उसके प्रति सचेतन हो जाओगे।

२८. हे मेरे प्रभु, मेरी मधुर मां,

वर दो कि मैं तुम्हारा बनूं, पूरी तरह तुम्हारा, पूर्ण रूप से तुम्हारा।

तुम्हारी शक्ति, तुम्हारा प्रकाश और तुम्हारा प्रेम समस्त अशुभ से मेरी रक्षा करेगें।

२९. ठीक होने का केवल एक ही रास्ता है लेकिन गलत होने के कई रास्ते होते हैं।
अगर तुम ठीक हो तो सब कुछ ठीक होगा।
अपने अंदर और अपने द्वारा चेतना को काम करने दो। सब कुछ ठीक हो जायेगा।

३०. भौतिक जीवन के लिये अनुशासन अनिवार्य है। अंगों के सुचारु कार्य का आधार है अनुशासन। जब शरीर का कोई अंग या भाग सामान्य शारीरिक अनुशासन की अवज्ञा करता है ठीक तभी तुम बीमार पड़ते हो। प्रगति के लिये अनुशासन अनिवार्य है। तुम दूसरों के लगाये अनुशासन से केवल तभी बच सकते हो जब तुम अपने ऊपर कठोर और ज्ञानयुक्त अनुशासन लगा सको। सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है भगवान् के प्रति समर्पण। इस समर्पण से कुछ भी न बच पाये—यही चरम और कठोर अनुशासन है।

पंचभूत

जिंदगी क्या है, अनासिर का जुहूरे तरतीब
मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परेशां होना।

जीवन क्या है ? पंच तत्त्वों का सुव्यवस्था में प्रकट होना और मृत्यु क्या है ? इन्हीं तत्त्वों का तितर-बितर हो जाना।

यहां पंच-तत्त्वों या पंचभूतों के बारे में हम श्रीअरविंद के कुछ उद्धरणों का अनुवाद दे रहे हैं। वे गीता प्रबंध में कहते हैं :

जगत् के विकास में प्रकृति अपने-आपको अपने तीन गुणों के साथ आधारित करती है जो वस्तुओं का भौतिक द्रव्य है, अनभिव्यक्त है, निश्चेतन है; जिसमें से उत्तरोत्तर ऊर्जा या जड़-द्रव्य की पांच तात्त्विक अवस्थाएं विकसित होती हैं। उन्हें प्राचीन विचार के पांच साकार तत्त्वों के नाम दिये गये हैं : आकाश, जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी। यहांपर यह बात याद रहे कि ये आधुनिक वैज्ञानिक अर्थ में मूल-तत्त्व नहीं हैं बल्कि भौतिक ऊर्जा की सूक्ष्म अवस्थाएं हैं।

और दिव्य जीवन में इसी विषय पर लिखते हुए वे कहते हैं : प्राचीन भारतीय भौतिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में शुद्ध भौतिक शक्ति की प्रारंभिक स्थिति देश में शुद्ध भौतिक प्रसारण है जिसकी अपनी विशेषता है, स्पंदन। आकाश की इस अवस्था में स्पन्दन इसके लिये पर्याप्त नहीं होता कि वह रूपों की रचना कर सके। पहले शक्ति-सागर के प्रवाह में कुछ अवरोध होना चाहिये, कुछ संकुचन और प्रसारण, स्पंदनों की अन्योन्य क्रिया होनी चाहिये . . .

जड़-भौतिक शक्ति जब अपनी आकाशीय स्थिति को बदलती है तो वह प्राचीन भाषा में वायवीय स्थिति बन जाती है जिसकी मुख्य विशेषता है ऐसा संपर्क जो सभी भौतिक संबंधों का आधार है।

अभीतक हम सच्चे रूपोंतक नहीं पहुंच पाये हैं, अभी विभिन्न शक्तियों को ही देख रहे हैं। अभी एक सहारा देनेवाले तत्त्व की आवश्यकता है; यह मिलता है प्राथमिक शक्ति से जिसके अंग हैं प्रकाश, विद्युत्, अग्नि और ऊष्मा जो हमारे लिये इस तत्त्व की अभिव्यक्ति का विशेष गुण हैं।

चौथी स्थिति की विशेषता है विस्तार जिसे चित्रमय भाषा में जल या द्रव कहा जाता है।

और पांचवी स्थिति वह है जिसे पृथ्वी कहते हैं, जो ठोस अवस्था में होती है।

ये हुए पंचभूत।

मूर्खताभरी चीजों से छुटकारा पाना

ऐसे लोग हैं जो मूर्खता-भरी चीजें करते हैं . . .

हां।

और वे जानते हैं कि वे मूर्खता कर रहे हैं, लेकिन उनका मन उसे न्यायसंगत नहीं ठहराता, कोई सहारा नहीं देता, कोई बहाने नहीं बनाता, कोई सफाई नहीं देता, कोई तर्क नहीं करता। यह कौन-सी स्थिति है ?

यह कौन-सी स्थिति है ? जो लोग यह जानते हैं कि वे मूर्खताभरी चीजें कर रहे हैं, जो सचेतन हैं, फिर भी उनसे बच नहीं सकते, क्योंकि उनके मन में उन चीजों को रोकने का बल नहीं है ? . . .

लेकिन मन में उन्हें रोकने के लिये काफी बल कभी नहीं होता। क्योंकि मन एक ऐसा यंत्र है जो सब तरह की चीजों को सब ओर से देखने के लिये बनाया गया है। तब तुम ऐसे प्रबल संकल्प की आशा कैसे कर सकते हो जो आवेग का प्रतिरोध कर सके जब कि मन पहले इस ओर से देखता है और फिर उस ओर से देखता है ? और फिर कहता है : "आखिर, बात ऐसी है, और ऐसी क्यों न हो ?" तो फिर तुम्हारा संकल्प कहां है ? . . .

जैसा कि मैंने यहां कहा है,[1] वह हमेशा हर चीज को समझाने के लिये, हर चीज को न्यायसंगत ठहराने के लिये रास्ता निकाल लेता है और हर चीज के लिये प्रशंसनीय कारण बतलाता है।

केवल चैत्य पुरुष में ही हस्तक्षेप करने की शक्ति है। अगर तुम्हारे मन का चैत्य के साथ संपर्क है, अगर वह चैत्य के प्रभाव को ग्रहण करता है तो वह प्रतिरोध संगठित करने के लिये काफी बलवान् होता है। वह जानता है कि सच्ची चीज क्या है और मिथ्या क्या है; और यह जानते हुए कि सत्य क्या है, यदि उसमें सद्भावना हो तो वह प्रतिरोध संगठित करेगा और युद्ध करके विजय-लाभ करेगा। लेकिन शर्त्त यही है : वह चैत्य पुरुष के संपर्क में हो।

क्योंकि सबसे अधिक सुंदर सिद्धांत भी, यदि तुम मानसिक रूप से बहुत-सी चीजें जानते हो और तुम्हारे पास सराहनीय सिद्धांत हैं, इससे भी इतना बल नहीं आता कि तुम आवेग का प्रतिरोध कर सको। एक बार जब तुम पूर्णतः कटिबद्ध हो, तुमने निश्चय कर लिया है कि चीज इस तरह होगी—उदाहरण के लिये, तुम अमुक चीज नहीं करोगे : यह तय हो गया कि तुम नहीं करोगे—तब फिर यह कैसे होता है कि अचानक (तुम्हें पता नहीं होता कि कैसे या क्यों या क्या हुआ), तुमने कुछ भी निश्चय नहीं किया ! और तब तुरंत ऐसा करने के लिये बड़े अच्छे कारण पा लेते हो . . .। और बहानों के बीच, इस प्रकार का बहाना हमेशा बनाया जाता है : "हां, अगर मैं इस बार यह कर लूं तो कम-से-कम मुझे यह विश्वास हो जायेगा कि यह बहुत बुरा है और इसके बाद मैं ऐसा कभी न करूंगा। यह आखिरी बार होगा।" यह सबसे सुंदर बहाना है जो तुम अपने-आपको हमेशा देते हो : "बस, यह आखिरी बार कर रहा हूं। इस बार यह पूरी तरह समझ लेने के लिये कर रहा हूं कि यह

[1] "इस भौतिक मन की निम्न प्राणिक चेतना और उसकी गतियों के साथ एक प्रकार की मैत्री होती है। जब निम्न प्राण किन्हीं कामनाओं और आवेगों को प्रकट करता है तो अधिकतर भौतिक मन उसकी सहायता के लिये आता है, उन्हें सत्य का आभास देनेवाली व्याख्याओं, तर्कों और बहानों के द्वारा न्यायसंगत ठहराता है और उनका समर्थन करता है।"

—प्रश्न और उत्तर, १९२९ (२६ मई)

बुरा है और इसे नहीं करना चाहिये और मैं इसे आगे कभी न करूंगा। बस, यह आखिरी बार है।" हर बार ही आखिरी बार होता है। और फिर, तुम फिर से शुरू कर देते हो।

हां, कुछ ऐसे लोग हैं जिनके विचार कम स्पष्ट होते हैं, जो अपने-आपसे कहते हैं: "आखिर, मैं यह क्यों नहीं करना चाहता ? ये परिकल्पनाएं हैं, ये ऐसे सिद्धांत हैं जो सत्य नहीं भी हो सकते। अगर मेरे अंदर यह मनोवेग है तो कौन-सी चीज है जो मुझसे कहती है कि यह मनोवेग किसी परिकल्पना से ज्यादा अच्छा नहीं है ? . . ." यह उनके लिये आखिरी बार नहीं होता। ये इसे बिल्कुल स्वाभाविक रूप में स्वीकार करते हैं।

इन दो छोरों के बीच सब प्रकार की संभावनाएं हैं। लेकिन उनमें सबसे खतरनाक है यह कहना: "अच्छा, मैं इसे और एक बार कर रहा हूं, इससे यह चीज मेरे अंदर से धुल जायेगी। इसके बाद मैं इसे फिर कभी न करूंगा।" और यह शुद्धि कभी काफी नहीं होती।

यह काम होता तभी है जब तुम यह निश्चय कर लो: "अच्छा, इस बार, मैं इसे न करने की कोशिश करूंगा। मैं इसे न करूंगा। मैं अपनी सारी शक्ति लगा दूंगा और इसे न करूंगा।" अगर तुम्हें जरा-सी सफलता भी मिले तो यह बहुत है। कोई बड़ी सफलता नहीं, बस जरा-सी सफलता, बहुत आंशिक सफलता: तुम जो करने के लिये आते हो वह कर नहीं पाते; पर यह उत्कंठा, यह इच्छा, यह आवेग अब भी है। इससे तुम्हारे अंदर चक्कर पैदा होते हैं, लेकिन बाहर तुम प्रतिरोध करते हो: "मैं ऐसा नहीं करूंगा, मैं नहीं हिलूंगा; भले मुझे हाथ-पांव क्यों न बांध लेने पड़ें, मैं यह बिल्कुल न करूंगा।" यह आंशिक सफलता है—लेकिन यह एक बड़ी विजय है, क्योंकि इसके कारण अगली बार तुम इससे कुछ ज्यादा कर पाओगे। अर्थात्, अपने उग्र आवेगों को अपने अंदर बंद रखने की जगह, तुम उन्हें जरा शांत करना शुरू कर सकते हो; और पहले तुम उन्हें कठिनाई के साथ, धीरे-धीरे शांत कर सकोगे। वे बहुत समयतक रहेंगे, वे वापिस आ जायेंगे, वे तुम्हें कष्ट देंगे, तंग करेंगे, तुम्हारे अंदर घृणा पैदा करेंगे। यह सब होगा, लेकिन तुम अच्छी तरह प्रतिरोध करो और कहो: "नहीं, मैं यह सब नहीं करूंगा; चाहे जो मूल्य चुकाना पड़े, मैं कुछ न करूंगा। मैं चट्टान की तरह रहूंगा।" तब थोड़ा-थोड़ा करके, थोड़ा-थोड़ा करके वे चीजें कम होने लगेंगी, कम होने लगेंगी। तब दूसरा मनोभाव सीखने का समय आयेगा: "अब मैं चाहता हूं कि मेरी चेतना इन चीजों से ऊपर रहे। अब भी बहुत-से युद्ध होंगे, लेकिन अगर मेरी चेतना इन सबसे ऊपर रहे तो आहिस्ता-आहिस्ता ऐसा समय आयेगा जब यह चीज फिर से वापस न आयेगी।" और फिर, एक समय आता है जब तुम अनुभव करते हो कि तुम बिल्कुल स्वतंत्र हो: तुम उसे देखतेतक नहीं, और तब मामला खतम। इसमें बहुत समय लग सकता है, यह स्थिति जल्दी भी आ सकती है: यह चरित्र-बल और अभीप्सा की सच्चाई पर निर्भर है। लेकिन जिन लोगों में थोड़ी-सी सचाई है, वे भी यदि अपने-आपको इस पद्धति के अधीन कर सकें तो सफल होते हैं। इसमें समय लगता है, वे पहली चीज में सफल हो जाते हैं, यानी, इसे व्यक्त न करने में। धरती पर सभी शक्तियां अपने-आपको प्रकट करने की ओर प्रवृत्त होती हैं। ये शक्तियां अपने-आपको व्यक्त करने के उद्देश्य से आती हैं और अगर तुम बीच में एक बाधा खड़ी कर दो और प्रकट करने से इंकार कर दो तो वे कुछ समयतक रोग के विरुद्ध टक्करें लेने की कोशिश कर सकती हैं, पर अंत में वे स्वयं थक जायेंगी और अभिव्यक्त हुए बिना ही लौट जायेंगी और तुम्हें चैन में छोड़ जायेंगी।

अतः तुम्हें यह कभी न कहना चाहिये: "पहले मैं अपने विचार की शुद्धि करूंगा, अपने शरीर की शुद्धि करूंगा, अपने प्राण की शुद्धि करूंगा, और बाद में अपने कर्मों की शुद्धि करूंगा।" यह सामान्य क्रम है, पर यह कभी सफल नहीं होता। प्रभावशाली क्रम है बाहर से शुरू करना: "सबसे पहली

चीज है कि मैं यह न करूंगा और बाद में मैं इच्छा न करूंगा, और उसके बाद मैं अपने दरवाजे आवेगों के लिये बिल्कुल बंद कर दूंगा : मेरे लिये उनका अस्तित्व ही नहीं, अब मैं उनसे बाहर हूं।" यही सच्चा क्रम है, प्रभावशाली क्रम है। पहले, क्रिया मत करो। तब तुम इच्छा न करोगे। उसके बाद चीज तुम्हारी चेतना से बिल्कुल निकल जायेगी।

—श्रीमातृवाणी खंड ५ से

'भारतीय संस्कृति के आधार पर' आधारित :

प्राचीन भारत की राजनीति

कहा जा सकता है कि भारत की जाति-प्रथा सुचारु रूप से विकसित हुई लेकिन फिर वह लड़खड़ा उठी, यहांतक कि दूषित हो गयी। निस्संदेह यह भी कहा जा सकता है कि जाति-प्रथा के साथ जो बुराइयां जुड़ गयीं वे मुसलमानों के आक्रमणों से पहले बहुत प्रबल नहीं थीं। लेकिन यह भी सच है कि अपने प्रारंभिक रूप में वे सभी कमियां पहले से रही होंगीं और मुसलमानों द्वारा सृष्ट परिस्थितियों में वे तेजी से पनप उठीं। इस तरह भारत में एकता खंडित हो गयी, जात-पांत का विष धीरे-धीरे समाज में घुलने लगा और इससे देशवासियों के अंदर सच्ची देशभक्ति का अभाव हो गया, अगर भारतीयों में देशभक्ति प्रबल होती तो विदेशियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये वही उनका अमोघ अस्त्र होती, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इन सब विदेशी आक्रमणों के अंत में आया एक यांत्रिक पश्चिमी शासन जिसने भारत को एक निर्जीव मशीन-सा बनाकर उसकी आध्यात्मिक प्रेरणाओं के उत्स को सुखाने का पूरा प्रयास किया। विदेशी शासन उसपर पूरी तरह से छा गया, वह बहुत हदतक अपने प्रयास में सफल भी रहा, लेकिन भारत के हृदय में पैठी आध्यात्मिकता बीच-बीच में सिर उठाने का प्रयत्न करती रही और भले ही अपने विकृत रूप में सही, फिर भी उसीके बल पर भारत फिर से स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हुआ . . . लेकिन इस बीच वह कितना कुछ खो बैठा !!

भारतीय संस्कृति के आलोचक यह कहते नहीं थकते कि भारत की शासन-प्रणाली पूरी तरह से असफल सिद्ध हुई—वे इसकी पुष्टि इस बात से करते हैं कि यहां हमेशा विदेशी शासकों का बोलबाला रहा। लेकिन, अधिक गहराई में जाने से हमें पता लगेगा कि भारत की शासन-प्रणाली का कार्य बहुत विस्तृत तथा अपने ही रंग-ढंग का था। हम पहले भी कई बार इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि भारत के पुराने मुनियों, वैदिक ऋषियों ने अपना प्रधान कार्य यही बनाया था कि भारतीय जीवन को आध्यात्मिक आधार पर उठाया जाये और इतने विशाल प्रदेश की विभिन्न जातियों को आध्यात्मिक एकता के उसी एकसूत्र में पिरोया जाये, लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने इसकी राजनैतिक एकता से आंखें नहीं मूंदीं। उन्होंने देखा कि चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना करने पर भारत एक हो सकेगा, अर्थात् एक ऐसे आदर्श शासन का विकास किया जाये जो समुद्र से समुद्रतक भारत की अनेक जातियों और विभिन्न लोगों को एक कर सके—लेकिन इस बात पर उन्होंने विशेष जोर दिया कि उन जातियों का स्वायत्त शासन बना रहे—इस आदर्श को उन्होंने, भारतीय जीवन की दूसरी सभी चीजों की भांति, आध्यात्मिक तथा धार्मिक बाना पहना दिया—अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों को प्रतीक के रूप में स्थापित कर दिया और शक्तिशाली राजा का धर्म या उसका राजोचित तथा धार्मिक कर्तव्य यह बना दिया कि वह इस आदर्श को पाने का पूरा प्रयास करे। उसको यह छूट नहीं मिली कि धर्म के नाम पर वह अपनी

अधीनस्थ जातियों की स्वतंत्रता को नष्ट कर दे और न ही उसे यह शक्ति दी गयी थी कि उन अधीनस्थ राज्यों के राज्यवंशों को विलीन कर दे या उनके शासकों के स्थान पर अपने अधिकारियों को बिठा दे। उसका कार्य यह था कि वह एक ऐसी सत्ता की स्थापना करे जो इतनी पर्याप्त शक्ति से युक्त हो कि आंतरिक शांति की सुरक्षा कर सके और बाहर से आक्रमण होने पर सब मिलकर उसका सामना कर सकें। और साथ-साथ यह आदर्श भी जोड़ दिया गया कि शक्तिशाली एकता के अधीन भारतीय धर्म के आदर्श को पूरी तरह से बनाये रखा जा सके, उसे संपन्न किया जाये ताकि भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक संस्कृति का कार्य उचित रूप से चलता रहे।

—वंदना

सांध्य वार्ताएं :

बीमारियां

१५-६-१९२६

शिष्य—अगर असुर प्राणिक स्तर पर भगवान् के अंधकारमय पक्ष के प्रतिनिधि हैं तो क्या यह अंधकारमय पक्ष हर स्तर पर होता है? अगर ऐसा है तो क्या मानसिक स्तर पर ऐसी सत्ताएं हैं जो इस अंधकारमय पक्ष के अनुरूप हों?

श्रीअरविंद—वास्तव में असुर मानसिक स्तर पर ही भगवान् का अंधेरा पक्ष है। मन ही तो असुर का अपना क्षेत्र है। उसकी विशिष्टता है अहंकारमय बल जो उच्चतर विधान को अस्वीकार करता है। असुर में आत्म-संयम होता है। तपस्या और बुद्धि होती है, परंतु सब कुछ अपने अंहकार के लिये।

प्राणिक स्तर पर इस प्रकार की शक्तियों को हम राक्षस कहते हैं, वे उग्र आवेगों और भावावेशोंवाले प्राणी हैं। प्राण-लोक पर अन्य सत्ताएं भी हैं जिन्हें हम प्रमत्त या पिशाच कहते हैं और ये साधारणतः न्यूनाधिक रूप से भौतिक-प्राणिक लोक पर प्रकट होते हैं।

शिष्य—उच्चतर लोकों में इनसे मेल खानेवाली सत्ताएं कौन-सी हैं?

श्रीअरविंद—उच्चतर लोक में असुर नहीं होते क्योंकि वहां तो सत्य का बोलबाला होता है। वहां जो असुर हैं वे वैदिक असुर यानी दिव्य शक्तिवाली सत्ताएं हैं। मानसिक असुर उस शक्ति का विकार है।

असुर के काम में मन के सभी लक्षण होते हैं। वह ऐसा मन है जो उच्चतर विधान के आगे झुकने से इंकार करता है। वह विद्रोही मन है। वह अहं और अज्ञान के आधार पर काम करता है।

शिष्य—और भौतिक जगत् में कौन-सी शक्तियां हैं जो भगवान् के अंधकारमय पक्ष से मेल खाती हैं?

श्रीअरविंद—इन सत्ताओं को तात्त्विक सत्ताएं या अंधकारमय तात्त्विक सत्ताएं कह सकते हैं। वे सत्ताओं की जगह शक्तियां अधिक हैं। थीयोसोफिस्ट इन्हें 'एलीमेंटल्स' कहते हैं। वे असुरों या राक्षसों की तरह व्यक्तिगत सत्ताएं नहीं हैं—वे अज्ञानमय शक्तियां हैं जो सूक्ष्म भौतिक लोक में काम करती हैं।

शिष्य—इनके लिये संस्कृत शब्द क्या है?

श्रीअरविंद—जिन्हें भूत कहा जाता है वे शायद इनके सबसे अधिक नजदीक हैं।

शिष्य—तात्त्विक या एलिमेंटल शब्द से लगता है कि ये तत्त्वों द्वारा काम करती होंगी।

श्रीअरविंद—दो प्रकार की तात्त्विक शक्तियां हैं, एक शरारती, दूसरी निर्दोष। जिन्हें यूरोपीय 'नोम' कहते हैं वे इसी श्रेणी में आती हैं।

शिष्य—आपने कहा था कि रोगों की कुछ शक्तियां व्यक्ति-रूप लेती हैं और कुछ नहीं।

श्रीअरविंद—मैंने ऐसा नहीं कहा। शायद मैंने कहा होगा कि बीमारियों के पीछे सचेतन सत्ताएं होती हैं। बीमारियां तो शक्तियों की गतिविधियां हैं।

शिष्य—आपने कहा था कि कुछ बीमारियां मनुष्य की जीवन-शक्ति पर पुष्ट होती हैं।

श्रीअरविंद—बीमारियां मनुष्य की जीवन-शक्तियों पर पुष्ट नहीं होतीं। हो सकता है कि कोई प्राणिक शक्ति मनुष्य की जीवन-शक्ति को चूस रही हो और उसका परिणाम हो बीमारी।

शिष्य—राक्षस, प्रमत्त, पिशाच आदि शक्तियों में आपस में क्या संबंध है?

श्रीअरविंद—राक्षस अपना मतलब सिद्ध करने के लिये उनका उपयोग करते हैं।

शिष्य—क्या बीमारियां प्रकृति के नियमों को भंग करने से नहीं आतीं?

श्रीअरविंद—प्रकृति के नियमों से तुम्हारा क्या मतलब है? ये नियम क्या हैं?

शिष्य—जब आदमी कामनावश काम करता है तो ऐसी चीजें कर बैठता है जो शरीर के लिये जरूरी नहीं हैं, जैसे अतिभोजन, कामकेलि आदि।

श्रीअरविंद—ऐसे कोई वैश्व नियम नहीं हैं। जिन लोगों ने लंबी उम्र पायी है उनसे पूछो तो एक कहेगा कि वह इस कारण स्वस्थ रहा कि उसने, जिन्हें तुम प्रकृति के नियम कहते हो, उनका पालन किया था, कि वह न तो तमाखू का उपयोग करता है न शराब का। दूसरा कहेगा कि उसने लंबी उम्र पायी है क्योंकि वह हमेशा जाम चढ़ाया करता है! और इसी तरह और भी। कोई वैश्व नियम नहीं है।

शिष्य—लेकिन यह तो एक तथ्य है कि स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से मृत्यु-संख्या कम हो जाती है।

श्रीअरविंद—तुम अधिक-से-अधिक यह कह सकते हो कि जिन्हें तुम स्वास्थ्य के नियम कहते हो उनका पालन करने से यह संभव, अधिक संभव हो जाता है कि बीमारी कम हो। हम स्वास्थ्य के ये नियम इसलिये बनाते हैं क्योंकि मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता की आवश्यकता से अपरिचित है। अगर शरीर में प्राणिक कामनाओं और मानसिक विचारों की बाधाएं न आयें तो वह अपनी आवश्यकता के अनुसार चुनाव कर सकता है।

शिष्य—यह एक प्रकार की सहजवृत्ति है।

दूसरा शिष्य—पशुओं में यह मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है।

श्रीअरविंद—तुम इसे सहजवृत्ति कह सकते हो लेकिन अगर तुम सचेतन हो तो यह सहज वृत्ति से कुछ अधिक होती है। यह भौतिक सत्ता में सच्ची चेतना होती है। यह पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक हो सकती है लेकिन वह पूर्ण नहीं होती। पशु को भोजन पर निर्भर रहना पड़ता है जो हमेशा सुरक्षित नहीं होता; इसलिये जब उसे भूख लगती है तो, वह हमेशा ठीक चुनाव नहीं करता यद्यपि उसका चुनाव मनुष्य के चुनाव से ज्यादा ठीक होता है।

तुम जिन्हें नियम कहते हो वे केवल आदतें होती हैं। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं जों स्वास्थ्य के सभी तथा-कथित नियमों का पालन करते थे फिर भी रोगों से मुक्त न रह पाते थे। वे हमेशा कामना के बिना केवल शरीर की आवश्यकता के कारण ही खाते थे फिर भी हमेशा बीमार रहते थे।

शिष्य—एक संन्यासी जो केवल दूध और केले खाता था हमेशा बीमार रहता था।

दूसरा शिष्य—संन्यासी और योगी भोजन को इतना महत्त्व क्यों देते हैं?

श्रीअरविंद—स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने के लिये नहीं। उनका उद्देश्य होता है शरीर की आवश्यकताओं को और राजसिक वृत्तियों को कम करना। इसलिये वे भौतिक शरीर की जरूरतों को कम करना चाहते हैं। वे सात्त्विक भोजन करने की कोशिश करते हैं।

शिष्य—बहुत-सी चीजें स्वास्थ्यप्रद मानी जाती हैं पर संन्यासी उन्हें असात्त्विक कहकर रद्द कर देते हैं।

श्रीअरविंद—वे शाकाहारी होते हैं परंतु सभी शाक सात्त्विक नहीं होते।

शिष्य—फ्रांस में मैंने हिंदुओं द्वारा सबसे अधिक निषिद्ध भोजन किया है और मुझे लगा कि भारत के शाकाहार से वह ज्यादा राजसिक न था।

श्रीअरविंद—मेरा भी यही अनुभव है। मेरा ख्याल है कि यह न्यूनाधिक रूप में मनोवैज्ञानिक तत्त्व है।

शिष्य—गीता ने तामसिक, राजसिक और सात्त्विक भोजन की एक तालिका दी है।

श्रीअरविंद—लेकिन गीता की तालिका भोजन की विशेषताओं के बारे में है, भोजन खाने के बारे में नहीं।

लेकिन वास्तव में रोगों के बारे में एक प्राणिक संतुलन है जिसका हर एक को अपने लिये पता लगाना होता है। वह हर एक के लिये एक-सा नहीं है। और समुचित प्राणिक संतुलन पा लेने के बाद भी, बशर्ते कि आनुवंशिकता में कोई गड़बड़ न हो, हम यही कह सकते हैं कि रोग से बचने की बहुत बड़ी संभावना है। लेकिन इससे भी मनुष्य को पूर्ण रोग-मुक्ति नहीं मिल पाती। जो लोग किसी तरह इस संतुलन को पा भी लेते हैं, जब उनपर किसी रोग का आक्रमण होता है, चाहे वह आनुवंशिकता के कारण ही क्यों न हो, वे अचानक और आसानी से रोग के शिकार हो जाते हैं।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

कुछ माताजी के बारे में :

प्राणिक जगत्

क्या इन सत्ताओं का धन-शक्ति पर बहुत बड़ा अधिकार नहीं है ?

हां, इस समय धन-शक्ति प्राण-जगत् की शक्ति और सत्ता के प्रभाव या कब्जे में है। इसी प्रभाव के कारण तुम धन को 'सत्य' की सेवा के लिये प्रचुर परिमाण में जाते हुए कभी नहीं देखते। वह हमेशा भटकता रहता है, क्योंकि वह विरोधी शक्तियों के पंजे में है और जिन साधनों के द्वारा प्राणमय जगत् की ये शक्तियां पृथ्वी पर अपना कब्जा रखती हैं उनमें से यह एक प्रमुख साधन है। धन-शक्ति पर विरोधी शक्तियों का अधिकार मजबूती से पूरे तौर पर सुसंगठित है और इस संहत संगठन से कुछ भी निकाल लाना अत्यंत कठिन कार्य है। प्रत्येक बार जब तुम इस धन का कुछ थोड़ा-सा भाग भी इसके वर्तमान संरक्षकों के हाथ में से निकाल कर ले आना चाहते हो तो तुम्हें भीषण युद्ध करना पड़ता है।

फिर भी, जिन विरोधी शक्तियों का धन-शक्ति पर कब्जा है उनपर यदि कहीं भी कोई विजय प्राप्त हो जाये तो साथ-ही-साथ अन्य क्षेत्रों में भी अपने-आप और विजय प्राप्त करना संभव हो जायेगा। यदि किसी एक स्थान पर ये झुक जायें तो वे सभी जो आज 'सत्य' की सेवा के लिये धन देने में असमर्थता अनुभव करते हैं, धन देने के लिये हठात् एक महान् और तीव्र इच्छा का अनुभव करेंगे।

यह बात नहीं है कि जो अमीर कमोबेश प्राण-शक्तियों की कठपुतली या यंत्र बने हुए हैं वे धन खर्च करने के अनिच्छुक हों, असल में उनकी लोभ-वृत्ति तभीतक जागती है जबतक उनकी प्राणमय वासनाओं या तृष्णाओं को नहीं छुआ जाता। जिस वासना को वे अपनी समझते हैं उसकी तृप्ति के लिये तो वे खुशी से खर्च करते हैं, किंतु जब उन्हें अपने आराम और धन के लाभ में दूसरों को साझा देने के लिये कहा जाता है तो उनके लिये धन से अलग होना कठिन हो जाता है। धन पर नियंत्रण रखनेवाली प्राण-शक्ति एक ऐसे अभिभावक की तरह है जो अपने धन को सदा एक बड़ी भारी तिजोरी में अच्छी तरह बंद किये रहता है। जो लोग इस शक्ति के पंजे में हैं उनसे जब कभी कुछ धन देने के लिये कहा जाता है तो वे अपनी थैली का मुंह थोड़ा-सा खोलने के लिये राजी होने से पहले खोज-खोजकर नाना प्रकार के प्रश्न पूछते हैं, किंतु यदि स्वयं उनके अंदर किसी प्राणमय तृष्णा की मांग उठ खड़ी हो तो ये अभिभावक अपने धनागार को बड़ी खुशी के साथ खोल देते हैं और इस काम के लिये उनका धन स्वच्छंद रूप से पानी की तरह बहने लगता है। साधारणतया, जिन प्राणगत वासनाओं की आज्ञाओं का वह पालन करता है उनका संबंध काम-वासना से रहता है, किंतु बहुधा वह ख्याति और मान-मर्यादा की वासना, आहार की वासना अथवा प्राणमय भूमिका की इस प्रकार की किसी भी वासना की आज्ञाओं का भी पालन करता है। जो कुछ उपर्युक्त श्रेणी का नहीं होता उसके बारे में बारीकी के साथ खोज-खोज कर सवाल किये जाते हैं, उसकी अच्छी तरह छान-बीन की जाती है और उसकी उपयोगिता को बड़ी आनाकानी के साथ स्वीकार किया जाता है, किंतु फिर भी अंत में प्रायः सहायता करने से इंकार कर दिया जाता है। जो लोग प्राणमय सत्ताओं के गुलाम हैं उनमें सत्य, प्रकाश और आध्यात्मिक प्राप्ति की इच्छा का यदि कभी स्पर्श होता भी है तो उनकी वह इच्छा धन की इच्छा की बराबरी नहीं कर पाती। उनके हाथों से धन को भगवान् के लिये जीत लाने का अर्थ है उनके अंदर जो राक्षस घुसा हुआ है उसे मार भगाना। पहले तुम्हें उनके उस प्राणमय स्वामी को, जिसकी वे गुलामी करते हैं, जीतना या बदलना होगा और यह काम सहज नहीं है। जो लोग प्राणमय सत्ताओं के कब्जे में हैं वे अपने आरामतलबी के जीवन को बदल सकते हैं, भोगों को त्यागकर बिल्कुल कठोर वैरागी बनकर भी पहले जैसे दुष्ट बने रह सकते हैं, यहांतक भी हो सकता है कि इस परिवर्तन के कारण पहले से अधिक बुरे बन जायें।

किसी व्यक्ति को दूसरे पर अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग क्यों करने दिया जाता है ?

ऐसी बात नहीं है कि किसी को किसी और पर संकल्प-शक्ति का प्रयोग करने दिया जाता है, बात यह है कि एक विश्वव्यापक संकल्प-शक्ति है और जो लोग इस शक्ति को थोड़ा-बहुत अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं उनकी संकल्प-शक्ति कम या अधिक बलवान् होती है। यह बात प्राण-शक्ति, प्रकाश, बिजली या प्रकृति की अन्य किसी भी शक्ति के जैसी है, कुछ इन शक्तियों को व्यक्त करने के अच्छे वाहन या करण होते हैं तो दूसरे अत्यंत मामूली। यहां नैतिकता का कोई प्रश्न नहीं है। यह प्रकृति का तथ्य है, इस महान् लीला का विधान है।

क्या कोई प्राणमय जगत् की सत्ताओं से, उनके अपने देश में भेंट कर सकता है ?

प्राणमय सत्ताएं उस अतिभौतिक जगत् में भ्रमण करती हैं जहां यदि मानव प्राणी संयोगवश जा पहुंचे तो अपने को निराधार, असहाय और रक्षाविहीन अनुभव करता है। मनुष्य तो स्थूल शरीर में ही अपने घर

की तरह सुरक्षित रहता है; शरीर उसका रक्षा-कवच है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर के लिये तिरस्कार से भरे होते हैं और समझते हैं कि मृत्यु के बाद जब स्थूल शरीर नहीं रह जायेगा तब उनकी दशा बहुत कुछ सुधर जायेगी। परंतु, वास्तव में, स्थूल शरीर तुम्हारा किला और तुम्हारा आश्रय-स्थान है। जबतक तुम इस किले के अंदर हो तबतक विरोधी जगत् की शक्तियों को तुम्हारे ऊपर किसी तरह का कब्जा करने में कठिनाई होती है। दुःस्वप्न क्या है ? प्राणमय जगत् में तुम्हारा भ्रमण। और इस दुःस्वप्न की पकड़ में आते ही सबसे पहले क्या करने की कोशिश करते हो ? तुम अपने स्थूल शरीर में दौड़ जाते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतना में समाकर होश संभालते हो। परंतु प्राणमय शक्तियों के जगत् में तुम एक अजनबी हो, यह एक अज्ञात समुद्र है और तुम्हारे पास न तो दिग्दर्शक यंत्र है न पतवार। तुम नहीं जानते कि इनमें कैसे चलना चाहिये, न यह जानते हो कि किधर चलना चाहिये और पग-पग पर वही करते हो जो नहीं करना चाहिये। जैसे ही तुम इस जगत् के किसी भी राज्य में प्रवेश करते हो वैसे ही वहां की सत्ताएं तुम्हारे चारों ओर जमा हो जाती हैं और तुम्हें घेरकर जो कुछ तुम्हारे पास हो उसे हथिया लेना, जो कुछ चूस सकें उसे चूस लेना और तुम्हारी संपत्ति को अपना आहार और शिकार बना लेना चाहती हैं। यदि तुम्हारे अंदर कोई तीव्र ज्योति और शक्ति प्रसारित न हो रही हो तो स्थूल शरीर के बिना तुम इस जगत् में इस तरह फिरते रहोगे मानों अत्यंत सर्द और ठिठुरा देनेवाले वातावरण से अपने को बचाने के लिये तुम्हारे पास एक कोट भी नहीं, एक मकानतक नहीं जो तुम्हें आश्रय दे सके, यहांतक कि तुम्हें ढांकने के लिये त्वचातक नहीं, तुम्हारी स्नायुएं खुली हुई और नंगी हों। कुछ लोग कहते हैं : "मैं इस शरीर में कितना दुःखी हूं," और वे मृत्यु को दुःख से छुटकारा पाने का साधन मानते हैं ! किंतु मृत्यु के बाद तुम्हें वे ही प्राणमय परिस्थितियां मिलती हैं और उन्हीं शक्तियों का खतरा रहता है जिनके कारण तुम इस जीवन में क्लेश पाते थे। स्थूल शरीर का विघटन तुम्हें प्राणमय जगत् के खुले मैदान में जाने के लिये बाध्य कर देता है और तुम्हारे पास अपनी रक्षा के लिये कोई साधन नहीं रहता, स्थूल शरीर नहीं होता कि तुम सुरक्षा के लिये दौड़ जाओ।

यहीं, इसी पृथ्वी पर और इसी शरीर में तुम्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिये तथा भरपूर और संपूर्ण शक्ति का प्रयोग करना सीखना चाहिये। यह कर चुकने पर ही तुम समस्त लोकों में कुशल-क्षेम के साथ स्वतंत्रतापूर्वक घूम सकोगे। जब तुमपर भय का लेशमात्र भी असर न हो सके, उदाहरणार्थ, जब तुम बुरे-से-बुरे डरावने स्वप्नों के बीच भी अविचलित रह सको, तभी तुम कह सकते हो : "अब मैं प्राणमय जगत् में जाने के लिये तैयार हूं।" परंतु इसका अर्थ है उस ज्ञान और शक्ति को पाना जो प्राण-प्रकृति के आवेगों और कामनाओं पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर ही मिलते हैं। तुम्हें उन सभी चीजों से पूर्ण रूप से मुक्त होना चाहिये जो अज्ञान-अंधकार की सत्ताओं को ला सकती हों अथवा तुम्हारे ऊपर उनके शासन को संभव बनाती हों। यदि तुम इनसे मुक्त नहीं हो तो सावधान !

कोई आसक्ति न हो, कोई कामना न हो, कोई आवेग न हो, कोई पसंद न हो; पूर्ण समता हो, अचल शांति हो और भागवत संरक्षण में अटल श्रद्धा हो : ये सब हों तो तुम सुरक्षित हो और न हों तो तुम जोखिम में हो। और जबतक तुम सुरक्षित नहीं हो तबतक मुरगी के उन छोटे बच्चों की तरह रहना ही ठीक है जो अपनी मां के डैनों के नीचे आश्रय लेते हैं।

स्थूल भौतिक शरीर हमारे संरक्षण का कार्य कैसे करता है ?

स्थूल शरीर अपनी स्थूलता के कारण ही, जिस चीज के लिये हम उसको दोष देते हैं उसी चीज के द्वारा, हमारे संरक्षण का कार्य करता है। यह मंद, जड़, स्थूल, कठिन और कठोर है, एक किले की

तरह है, मजबूत और ठोस दीवारोंवाले किले की तरह है। प्राणमय जगत् तरल प्रवाह की तरह है, वहां वस्तुएं स्वच्छन्द रूप से घूमती-फिरती, परस्पर मिलती-जुलती और एक-दूसरे में प्रविष्ट होती रहती हैं; उसी तरह जिस तरह समुद्र की लहरें आपस में अनवरत प्रवाहित, परिवर्तित और एक-दूसरे में ओत-प्रोत होती रहती हैं। यदि तुम्हारे अंदर इस प्राणमय जगत् की तरलता का सामना करने के लिये आंतरिक प्रबल ज्योति या शक्ति न हो तो तुम निःसहाय रहोगे और यह प्रवाह तुम्हारे अंदर आ घुसेगा और उसके आक्रामक प्रभाव को रोकने के लिये तुम्हारे पास कुछ न होगा। परंतु स्थूल शरीर बीच में पड़कर तुम्हारी रक्षा करता है, यह तुम्हें प्राणमय जगत् से अलग कर देता है और उस जगत् की शक्तियों की बाढ़ के सामने बांध का काम देता है।

परंतु प्राणमय जगत् यदि इतना तरल है तो क्या वहां के रूपों में कोई व्यक्तित्व होता है?

वहां व्यक्तित्व तो है, किंतु उसके रूप स्थूल देहधारी सत्ताओं के जितने निश्चित और कठोर नहीं होते। व्यक्तित्व का अर्थ अनमनीय कठोरता नहीं है। पत्थर का रूप बहुत ही सख्त है, शायद हमारी जानी-पहचानी चीजों में सबसे अधिक सख्त, किंतु उसमें व्यक्तित्व बहुत कम होता है। दस-बीस पत्थरों को इकट्ठा कर लो और फिर यदि उनमें भेद करना चाहो तो तुम्हें बहुत ही सावधान होना होगा। परंतु प्राणमय सत्ताओं को पहली नजर में ही एक-दूसरे से पृथक् जाना जा सकता है। उनके आकार की बनावट से, वे जो वातावरण अपने साथ लिये रहती हैं उसके द्वारा और प्रत्येक सत्ता जिस ढंग से चलती-फिरती, बातें करती तथा क्रिया करती है उसके द्वारा तुम उन्हें पृथक्-पृथक् जान सकते हो। जैसे प्रसन्नता या क्रोध की अवस्था में मनुष्य के चेहरे का भाव बदल जाता है, वैसे ही इनमें भी परिवर्तन आते हैं, किंतु प्राणमय जगत् में परिवर्तन अधिक तीव्र होते हैं। केवल उनके मुख का भाव ही नहीं, उनके चेहरे का आकार ही बदल जाता है।

विद्यालय में न उकताना संभव है

कभी-कभी हम एकाग्र होने की कोशिश करते हैं पर हो नहीं पाते।

अगर सचमुच तुम एकाग्र नहीं हो पाते, तो तुम्हें अपना समय अपने अंदर इसका कारण खोजने में लगाना चाहिये। तब यदि अध्यापक तुमसे कोई प्रश्न पूछे तो तुम्हें कह देना चाहिये : "खेद है, मैं सुन नहीं रहा था।"

तुम सीखना नहीं चाहते?

हां।

तब यह कैसे हो सकता है?

परंतु कुछ कक्षाओं में मैं समझ नहीं पाता।

तब कुछ कक्षाओं में तुम सीखना नहीं चाहते। तुम साधारण तौर पर कह सकते हो : "हां, हां, मैं

सीखना चाहता हूं," लेकिन अगर कोई सचमुच सीखना चाहे तो एक भी कक्षा ऐसी नहीं होती जहां तुम कुछ न सीख सको। निश्चय ही, चाहे कोई भी कक्षा क्यों न हो, वहां कोई-न-कोई चीज ऐसी जरूर होती है जिसे तुम नहीं जानते, तुम हमेशा सीख सकते हो। तुम चलते-फिरते विश्वकोश नहीं हो! अगर तुम एक ही पुस्तक को दोबारा पढ़ो (मेरा ख्याल है कि कुछ कक्षाओं में यह होता है), और तुम कहो : "ओह! मैं इस पुस्तक में से गुजर चुका हूं। यह उबानेवाली है," तो यह केवल इसलिये होता है क्योंकि तुम सीखना नहीं चाहते; क्योंकि सचमुच अगर तुम उसी पुस्तक को दोबारा पढ़ रहे हो तो इसका अर्थ है कि पहली बार तुमने उसे ध्यान से नहीं पढ़ा। और तुमने जो चीज भली-भांति नहीं पढ़ी उसे विशेष ध्यान से पढ़ना चाहिये। व्याकरण की पुस्तक भी। मैं यह नहीं कहती कि व्याकरण की पुस्तकें बहुत उत्तेजक होती हैं, लेकिन अगर तुम सीखना चाहो तो व्याकरण की पुस्तक भी मजेदार हो जाती है—व्याकरण के अधिक-से-अधिक दुर्बोध नियम भी! तुम कल्पना नहीं कर सकते कि जब तुम सचमुच सीखना चाहते हो, जब तुम समझना चाहते हो कि ऐसा क्यों है, सिर्फ यूं ही रट लेने, मुखस्थ कर लेने की जगह अगर तुम समझना चाहो : ये शब्द क्या हैं जो यहां रखे गये हैं, किस विचार के लिये, किस सच्चे ज्ञान के लिये ये रखे गये हैं? ये क्या कहना चाहते हैं?—यह सब जानना चाहो तो चीज कितनी अधिक रुचिकर हो जाती है।... हर एक नियम, चाहे कोई-सा क्यों न हो, स्वयं अपने अंदर स्थित किसी चीज के लिये मनुष्य के मन का सूत्र होता है। किसी भी नियम को ले लो। वह यही बतलाता है कि कुछ मस्तिष्कों ने अपनी दृष्टि में अधिक-से-अधिक स्पष्ट, अधिक-से-अधिक घन या संक्षिप्त रूप में कोई ऐसी चीज कहने की कोशिश की है जिसका अपना अस्तित्व है। अगर तुम शब्दों के पीछे जाकर इस चीज को ढूंढ़ने की कोशिश करो—जो चीज अपने-आपमें अस्तित्व रखती है, जो शब्दों के पीछे विद्यमान है—तो चीज कितनी मजेदार हो जाती है। उससे फुरहरी आने लगती है! रोमांच हो उठता है! यह एक जंगल में से गुजरते हुए एक नये देश की खोज करने की तरह है, उत्तरी ध्रुव जाकर छानबीन करने जैसा है। अगर तुम व्याकरण के नियमों के साथ ऐसा ही कर सको तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं, फिर तुम्हें कोई चीज न उबा सकेगी।

सीखने की जगह समझो।

मैं स्वीकार करती हूं कि इसके लिये बहुत अधिक एकाग्रता की जरूरत है। यह ऐसी एकाग्रता की मांग करती है जो मन के आवरण को भेदकर, उसमें छेद करके उस पार निकल सके। और तब यह मेहनत सार्थक होती है...। तुम्हें किसी ठंडी, कठोर, सख्त, बिना लोच की चीज पर धक्का दिया जाता है। तुम एकाग्र होते हो, एकाग्र होते हो, एकाग्र होते हो, जबतक कि... अचानक तुम दूसरी ओर निकल जाते हो और तुम प्रकाश में जा निकलते हो और तब समझते हो : "आहा! यह तो अद्भुत है! अब मैं समझा।" एक नन्हीं-सी चीज तुम्हें बहुत हर्ष देती है।

तो देखो, विद्यालय में न उकताना संभव है।

विद्यालय में अमुक पाठ्यक्रम एक वर्ष में समाप्त करना ही होता है। कभी-कभी जरा तेजी करनी पड़ती है, एक प्रश्न को भली-भांति समझे बिना ही अगले अध्याय पर जाना होता है।

मेरे बच्चे, इस बात में मैं तुम्हारे साथ पूरी तरह सहमत हूं। यह बिल्कुल ठीक नहीं है। हम इस सबको बदलने की कोशिश करेंगे : मेरी समझ में नहीं आता कि हमें एक पुस्तक एक ही वर्ष में क्यों समाप्त करनी चाहिये। यह बिल्कुल मनमानी है। तुम्हें कोई अध्याय तबतक नहीं छोड़ना चाहिये जबतक वह पूरी तरह समझ में न आ जाये। उसके बाद ही दूसरा अध्याय लेना चाहिये, और इसी तरह। अगर कोई अध्याय पूरा हो गया, तो हो गया और नहीं हुआ, तो नहीं हुआ।

सच तो यह है कि अध्यापक को अपना पाठ पाठ्य-पुस्तक के आधार पर कराने की जगह अपने-आप पाठ तैयार करने का कष्ट उठाना चाहिये। उसे काफी जानना चाहिये और दिन-प्रतिदिन पाठ तैयार करने का कष्ट उठाना चाहिये और तब वह किसी विषय का पाठ तभी बंद करेगा जब—मैं यह नहीं कहती कि हर एक समझ लेगा, क्योंकि यह तो असंभव है—कम-से-कम जिन्हें वह कक्षा में रस लेनेवाले समझता है, वे समझ लेंगे। तब नया विषय लिया जाता है। और अगर यह चलता रहे और कोई विशेष विषय एक साल की जगह दो साल ले ले या कोई और विषय दो साल की जगह डेढ़ में ही पूरा हो जाये तो इसमें कोई हर्ज नहीं; क्योंकि यह उसकी अपनी रचना है, उसका अपना लिखा हुआ पाठ है जिसे वह कक्षा की आवश्यकता के अनुसार लिखता है। पढ़ाने के बारे में मेरी यही धारणा है। अब, इसकी अपनी कठिनाइयां हैं। लेकिन काम करने का सच्चा तरीका यही है। क्योंकि एक किताब लेकर उसीका अनुसरण करने से और विशेषकर ऐसी किताब जो विद्यार्थियों के लिये जरा भी अनुकूल न हो . . . मैं नहीं कहती कि एक विशेष पाठ्यक्रम सबके लिये अनुकूल हो सकता है, सबको संतुष्ट करना असंभव है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रयास करना चाहते हैं; तुम्हें इनका ख्याल करना चाहिये। जो आलसी, निद्रालु और अकर्मण्य हैं उन्हें तो अपने आलस्य, निद्रालुता और अकर्मण्यता में ही छोड़ दो। अगर वे सारे जीवन सोते रहना चाहते हैं तो सोने दो, जबतक कि कोई चीज उन्हें काफी झकझोर कर जगा न दे। लेकिन श्रेणी में वह भाग ध्यान देने योग्य है जो सीखना चाहता है, जो लोग सचमुच सीखना चाहते हैं। कक्षा उन्हींके लिये ली जानी चाहिये। तुम देखते नहीं हो कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति एक प्रकार से समतल बनाना है। हर एक को उसी स्तर पर होना चाहिये। तो जिन लोगों के सिर ज्यादा ऊंचे हैं उनके सिर काट दिये जाते हैं और जिनके बहुत छोटे हैं उन्हें नीचे से धक्का दिया जाता है। लेकिन इससे कोई लाभ नहीं। तुम्हें उन्हींकी परवाह करनी चाहिये जो ऊपर आते हैं, दूसरे जितना ले सकते हैं, ले लेंगे। और वास्तव में मैं इस बात की कोई जरूरत नहीं समझती कि हर एक को एक ही चीज का ज्ञान हो—क्योंकि यह सामान्य बात नहीं है। लेकिन जो जानना चाहते हैं और जान सकते हैं, जिन्हें काम करना चाहिये, उन्हें काम करने के पूरे, सब संभव साधन दिये जाने चाहियें, उन्हें हमेशा ऊपर उठाना चाहिये और नया भोजन देना चाहिये। वे भूखे हैं और उन्हें खिलाना चाहिये . . . आह ! अगर मेरे पास समय होता तो मैं एक कक्षा लेती। इसमें मुझे बहुत रस आयेगा—यह दिखाने में कि यह कैसे किया जाना चाहिये। लेकिन हम एक ही समय में हर जगह नहीं हो सकते।

यह लो, मेरे बच्चो, काफी देर हो गयी है। शुभ रात्रि।

(श्रीमातृवाणी खंड ५ से)

चट्टान में परिवर्तन

एक बहुत घना जंगल था। इतना घना कि दिन के समय भी सूरज की किरणें वहां जाते हुए सकुचाती थीं। उस जंगल के बीचों-बीच एक पहाड़ था और पहाड़ की चोटी पर एक चट्टान। न जाने कब से वह सर्दी में ठिठुरती, गर्मी में तपती और वर्षा में तीक्ष्ण प्रहार सहती नीरव-निश्चल खड़ी थी। कभी ध्यान-भंग होता तो भाव-विभोर होकर नीले आकाश के बदलते रंग, दिन-रात का चक्र देख लिया करती।

एक दिन उसे लगा कि नीचे कुछ कुनमुना रहा है। लेकिन देखती कैसे, उसकी कमर ने इतना झुकना न सीखा था। दो-तीन दिन बाद उसने देखा धरती का पर्दा हटाकर दो छोटी-छोटी कोमल पत्तियां झांक रही हैं। चट्टान ने आश्चर्य से देखा और देखती गयी कि छोटा-सा पौधा दिन-पर-दिन बढ़ता जा

रहा है। बढ़ते-बढ़ते वह एक सुंदर किशोरी-लता बनकर निर्मम शिला पर लोटने लगा।

चट्टान के लिये यह नया अनुभव था। उसका मधुर स्पर्श पाकर वह रोमांचित हो उठी। और कुछ दिन बीते। लता पर पहले पुष्प आये और उन्हें देख उसके मन पर एक सूनापन छा गया। वह विचारों में डूब गयी, हृदय के कोने में बैठा कोई पूछ रहा था :

"यह क्या, ऐसा क्यों ? आकाश रंग बदलता रहता है, पेड़-पौधे बढ़ते हैं, उनपर फल-फूल आते हैं, किंतु मैं. . . ? मैं वर्षों से जैसी-की-वैसी पड़ी हूं। न मेरा रंग बदलता है, न मुझपर फूल उगते हैं, क्या मैं ही भाग्य में ईंट लेकर आयी हूं ?"

साथ ही चट्टान के हृदय में से कोई और बोला : "मान लो बदल भी सकूं तो क्या बनना चाहूंगी ? फूल, पौधा या पेड़ ?"

चट्टान के अंतर में बैठे दो-तीन व्यक्ति बहस करने लगे। पहले की बात सुनते ही दूसरा बोल पड़ा : "नहीं, मुझे न पेड़ बनना अच्छा लगता है न पौधा। रही बात फूल की। माना फूल सुंदर है, किंतु तीन-चार दिन में ही मुरझाकर मिट्टी में मिल जाता है। न, न . . .। मुझे इस तरह अभी आया, अभी गया नहीं बनना। मैं तो कहीं जमकर धरती के बदलते रूप-रंग देखना चाहती हूं। सूरज, चांद और तारों का सनातन किंतु नित्य नवीन रूप निहारूंगी। इसके लिये क्या बनना होगा ?"

अब चट्टान में एक और आवाज बोली : "हां, ठीक है, मैं यह सब देखना चाहती तो हूं लेकिन इस तरह अचेत और ठोस बनी रहकर नहीं। मैं चाहती हूं कि युगों बनी रहूं, चंद्र-सूर्य की तरह सनातन होते हुए गतिशील बनूं और सौंदर्य को अभिव्यक्त कर सकूं। दस चट्टानों के बीच भी मैं अलग दीखूं।"

चट्टान के हृदय में कोई हंसा : "आ हा ! तू तो आकाश के तारे तोड़ लाने की सोच रही है। तुझे जीवन चाहिये लेकिन मृत्यु नहीं, सौंदर्य चाहिये लेकिन ऐसा जो हमेशा बना रहे। कभी हुआ भी है ऐसा कि अब होगा ?"

चट्टान इन्हीं आवाजों में मानों डूब गयी।

*

महाराजा चेतनसिंह अपने मंत्री सुमंत्र के साथ बैठे बातें कर रहे थे। अचानक उनका चेहरा दमक उठा और वे बोले : "मंत्रिवर, आपको शायद मालूम न हो, जब मैं अपदस्थ होकर जंगल में मारा-मारा फिर रहा था, तब एक दिन माता भुवनेश्वरी ने दर्शन दिये। यह सिंहासन उन्हींके आशीर्वाद का फल है। मैंने उसी समय निश्चय किया था कि राजगद्दी मिली तो मां भुवनेश्वरी का एक भव्य मंदिर बनवाऊंगा। कल रात मांने फिर दर्शन दिये और मुझे अपना पुराना वचन याद हो आया। आह, मैं कैसे भुलाये रहा उन्हें इतने दिनोंतक। उनकी करुणा अपार है, कोई और देवता होता तो . . . खैर, अब मैं चाहता हूं कि तुरंत एक उत्तम शिल्पी को खोजकर मूर्त्ति बनाने का काम सौंपा जाये और भवन की तैयारी भी शुरू कर दी जाये।"

महाराज की बात सुनकर सुमंत्र प्रसन्न होकर बोले : "मां की कृपा से हमारे यहां एक ऐसा ही शिल्पी आया हुआ है, नाम है आनंद। आनंद इतना दक्ष है कि हमारे बड़े-से-बड़े कलाकार उसके आगे सिर झुकाते हैं। मैं समझता हूं कि वह पत्थरों की भाषा समझता होगा। सुना है कि पत्थरों में भी नर और नारी जाति होती है और सभी पत्थर मूर्त्ति बनने योग्य नहीं होते। सुयोग्य शिल्पी पत्थर को देखते ही समझ जाते हैं कि वह किस जाति का है और उनके किस काम में आ सकता है, इतना ही नहीं, आनंद तो पत्थर की इच्छा को भी पढ़ लेता है।"

यह सुनते ही महाराज फड़क उठे और बोले : "अब विलंब केहि काज ? बस, उसी शिल्पी को

नियुक्त कर दो इस काम पर। कहना खर्च की, समय की चिंता न करे और प्राणपण लगाकर एक जीती-जागती सौंदर्य की मूर्ति खड़ी कर दे जिसे देखकर मां भी प्रसन्न हो उठें और उसमें निवास करना स्वीकार करें।''

*

शिल्पी आनंद, गोरा-चिट्टा, ऊंचा-पूरा, स्वरूपवान् पुरुष था। उसकी बड़ी-बड़ी पलकें हमेशा सपनों के भार से अधमुंदी रहती थीं। भुवनेश्वरी की मूर्ति ने उसे पूरी तरह बंदी बना लिया था। उसीमें खोया हुआ कलाकार महाराज चेतनसिंह के राज्य की खाक छानता फिर रहा था।

कई दिनों की छान-बीन के बाद, आज वह निराश होकर घर लौटा था। कितनी ही चट्टानें देखीं, कितनी पहाड़ियां लांघीं, किंतु एक भी निर्दोष पत्थर का टुकड़ा नहीं मिला। किसी में लकीरें ज्यादा थीं, कोई बहुत पोला था तो कोई एकदम भुरभुरा। बड़ी मुश्किल से एक पत्थर हाथ आया जिसमें ये सब दोष न थे पर उसमें चिकनाहट की कमी थी, और मूर्त्तियां भले बन जायें पर भुवनेश्वरी की मूर्त्ति इससे न बनेगी। शिल्पी घंटों चिंतामग्न बैठा रहा। प्रकृति ने पहली बार इतना बड़ा अवसर दिया था, क्या इसीमें असफलता पल्ले पड़ेगी? उसे होश आया तो शाम हो चली थी। कानों में एक आवाज आयी :

''पहाड़ी तोता! बोलता भी है, गाता भी है! बस, आठ द्रम्म में!''

शिल्पी कौतूहल से बाहर आया। देखा, एक बंजारा बांस के सुंदर पिंजड़े में एक तोता लिये खड़ा है! आनंद को देखते ही बंजारे ने अजीब मुद्रा में हाथ जोड़े :

''नागरिक, बहुत अच्छा तोता है। घर में रखिये, गृहिणी आपसे प्रसन्न रहेगी।''

आनंद मुस्कराया, कहने लगा : ''गृहिणी कहां है जो खुश होगी? फिर भी तुम्हारे तोते की बोली सुनूं जरा।''

बंजारा बोल उठा : ''तब तो और भी अच्छा! आपको जरा भी अकेला नहीं लगेगा।'' फिर तोते की ओर मुड़कर बोला : ''नागरिक को बता दे तेरा दाम क्या है।''

तोता फुदक कर नीचे आया, गर्दन घुमा-घुमाकर मानों आनंद की दोनों आंखों से परीक्षा लेने लगा। फिर धीरे से बोला : ''मालिक, मेरा दाम है आठ द्रम्म। ले लीजिये।''

आनंद प्रसन्न हो गया। पिंजड़े को लेकर चारों तरफ घुमा-घुमा कर देखने लगा। पिंजड़ा सचमुच सुंदर था। अंदर से द्रम्म लेकर वापस आया तो अचानक उसे कुछ ख्याल आया।

वह बंजारे से पूछने लगा : ''इस तोते को कहां से पकड़ा?''

बंजारे को मानों स्वर्णिम अवसर मिला। उसे भला कौन मुंह लगाता? वह इतमीनान से वहीं जमीन पर जम गया और बोला : ''आह बाबू, आप लोग नहीं जानते तोता पकड़ना कितना मुश्किल काम है। यहां से पूरब में आठ मील चलते चलें तो एक जंगल आता है। ऐसा-वैसा जंगल नहीं, राम जंगल, समझे! राम जंगल मतलब ? आपके सामने पेड़-पौधे उगते रहेंगे! और ऐसा घुप अंधेरा छाया रहेगा कि दिन में भी उल्लू बोला करें। अब सोचो, वहां तोते को किस चीज की कमी है? कितना भी जाल बिछाओ, कितना भी दाना डालो, कभी-कदास ही कोई फंसता है।''

आनंद बीच में ही टपक पड़ा : ''लेकिन बेचारे तोते रोते होंगे, चिल्लाते होंगे न!''

बंजारा बोला : ''बाबू, मैं दूसरों के जैसा दानव नहीं हूं। देखिये, इसके पर कटे हैं क्या? मैं तो बस प्यार से रखता हूं इन्हें।''

आनंद मन-ही-मन मुस्कराया। फिर पूछा : ''अच्छा भई, और क्या है वहां?''

''और तो, बाबू, वहां बड़े-बड़े सांप हैं। बहुत सावधान रहना पड़ता है वहां, जरा चूके कि बस

यमराज के मुंह में। एक दिन, मैं जंगल के बीच में पहुंच गया। क्या देखता हूं पहाड़ी से एक बब्बर शेर उतर रहा है। मैं तो मर ही गया, लेकिन हमारे 'हौआ' भगवान् ने बुद्धि दी, झट पेड़ पर चढ़ गया . . .''

आनंद बीच में बोल पड़ा : ''वहां पहाड़ी है ?''

बंजारा : ''अरे बाप रे, बड़ी ऊंची पहाड़ी है, बड़े-बड़े पत्थर हैं। एक बार मैं चढ़ने लगा, लेकिन राम-राम . . .''

बंजारे ने अपने श्रोता की ओर देखा तो चुप हो गया। आनंद सुन ही नहीं रहा था। कुछ देर प्रतीक्षा करके बंजारा उठ खड़ा हुआ। कुछ ही कदम चला होगा कि आनंद की तंद्रा टूटी :

''हे तोतेवाले, ठहर जाओ,'' चिल्लाता हुआ आनंद जल्दी-जल्दी उसके पास जा पहुंचा। ''सुनो, मुझे तुम्हारी पहाड़ी देखनी है। ले चलोगे ?''

बंजारा बोला : ''बाबू, तुम नहीं चल सकोगे वहां . . .''

आनंद को उसकी बातें सुनने की फुर्सत न थी, वह अधीर होकर बोला : उसकी चिंता मत करो। बस, ले चलो मुझे।''

बंजारा इस पागलपन को समझ न सका। जरा ठिठका, फिर कुछ सोचते हुए बोला : ''अच्छा, बाबू, कल तड़के ही तैयार रहना। आ जाऊंगा।''

*

आनंद का मुख धूप में घूम-घूमकर काला पड़ गया था, किंतु उस कालिमा पर प्रसन्नता की ओप थी। आह ! कितना कठिन था इस चट्टान को हटाना, कितने दिन लग गये उसे नीचे उतारने में। मजदूरों की खुशामद करनी पड़ी, केवल ललुआ पुतुआ से नहीं, चांदी के टुकड़ों से उन्हें रिझाना पड़ा। दिन-रात अपनी और उनकी रक्षा करनी पड़ी, जरा-सी झपकी अनर्थ कर सकती थी। किंतु हाश ! सारा श्रम सफल रहा। आनंद को देखते ही मानों चट्टान आनंद से भरकर पुकार उठी :

''मुझे ले चलो, ले चलो मुझे। कब से तुम्हारे लिये आंखें बिछाए बैठी हूं।''

आनंद ने हौले-हौले चट्टान के टुकड़े पर हाथ फेरा, मानों प्रियजन को प्रिय स्पर्श दे रहा हो। दोनों एक-दूसरे में खो गये। थका-हरा कलाकार घर लौटा तो नींद आंखों से कोसों दूर थी। सारी रात ध्यानमग्न-सा चट्टान के सामने बैठा रहा। उसने देखा धीरे-धीरे एक भव्य आकृति चट्टान से उभरने लगी।

*

न जाने कितने दिनोंतक आनंद चट्टान के सामने खुद चट्टान बनकर बैठा रहा। चट्टान ही उसके लिये सब कुछ थी। फिर एक दिन आया। कलाकार छेनी-हथौड़ी लेकर चट्टान से जूझ पड़ा।

चट्टान मानों सोते से जाग पड़ी, यह क्या ? यह हो क्या रहा है ? क्या उसका स्वप्न मृगतृष्णा बन जायेगा ? चट्टान बनकर और कुछ न सही वह अजर-अमर तो थी। वह सुंदर बनना चाहती थी, सचेतन बनना चाहती थी, पर यहां तो पुरानी पूंजी भी हाथ से चली। क्या वह रजकण बना दी जायेगी ?

मार सहते-सहते परेशान हो उठी बेचारी। यह क्या हो रहा है भगवान् ? सहसा उसकी आंखें शिल्पी की आंखों से चार हुईं। उसने कुछ देखा . . . ''ओ . . . ! यह स्निग्ध हाथ, कितना लुभावना लग रहा है, गतिशील न होते हुए भी उसमें गति है। और इस हाथ का कमल ! स्वयं पवन उसका सौरभ लूटने के लिये मचल रहा है।''

उसने और एक बार शिल्पी की आंखों में झांका : "कितनी सुंदर देह-यष्टि है। जब शरीर इतना सुंदर है तो मुख !"

चट्टान ने दृष्टि ऊपर उठायी : "यह कैसे हो सकता है ? मुख का कहीं निशान तक नहीं।"

वह फिर से व्याकुल हो उठी : "क्या यह सुंदर रुण्ड ही उसकी प्रार्थना का उत्तर था ?"

इधर आनंद कई दिनों से परेशान है। हां, देवी की लावण्यमय देह तो देखी है उसने किंतु मुख ! जबतक मुख न आयेगा तबतक प्राण-संचार कैसे होगा।

इधर चट्टान भी मुख के लिये तड़प रही थी। उसकी आंखें बार-बार शिल्पी की आंखों में झांकतीं और वहां महा शून्य से टकराकर लौट जातीं।

शिल्पी ने छेनी-हथौड़े फेंककर जंगल की राह ली। वह कहां जा रहा था ? स्वयं उसे नहीं मालूम। वह तीन दिन के बाद चट्टान के जन्मस्थान की यात्रा करके लौटा तो प्रसन्नमुख था। झटपट तिरस्कृत छेनी-हथौड़े को उठाया और भूख-प्यास को एक ओर धकेल कर काम में लग गया।

तीन दिन और तीन रात के अनवरत प्रयास के बाद नींद में झूमती लाल आंखें उठाकर आनंद ने चट्टान की ओर निहारा। बात सच थी। यह मुख भुवनेश्वरी का ही था। एक मंद मधुर मुस्कान मां के होंठों पर खेल रही थी। लेकिन आंखें ! आंखों के बिना मूर्त्ति अधूरी थी। कैसी होंगी वे आंखें ? कलाकार को होश न था। बस छेनी-हथौड़ा हाथ में लेकर फिर बैठ गया। उसकी आंखें कब मुंद गयीं स्वयं उसे नहीं मालूम। उसे लगा कि वह कुछ ही क्षणों में उठ बैठा और निद्रामग्न अवस्था में ही छेनी-हथौड़ा चलाने लगा।

*

आदिकाल से प्रतीक्षा करती हुई चट्टान ने एक अबाध कंपन का अनुभव किया। उसका अधजागा मन पूर्ण रूप से जाग्रत् हो गया। उसके आगे दीप जल रहा था और धूप की सुगंध चारों ओर फैल रही थी। आनंद आवाहन के मंत्र बोलता हुआ हाथ जोड़े खड़ा था। चट्टान के अंदर गर्व जागा लेकिन दूसरे ही क्षण उसने देखा, नील गगन से उतरता हुआ एक ज्योतिपुंज धीरे-धीरे उसमें प्रवेश कर रहा है। वह ज्योति असह्य थी, यह चेतना नितांत अपरिचित। चट्टान सिहर उठी। वह सब कुछ देख रही थी, समझ रही थी, अनुभव कर रही थी, फिर भी वह न थी। उसने अनुभव किया कि वह दिग्-दिगंत में फैली हुई है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र उसीके इशारे पर चल रहे हैं। पृथ्वी उसके पैरों पर लोट रही है।

*

आनंद ने छेनी-हथौड़ा रखकर संतोष की सांस ली। आंखें खोलकर सर्वांग सुंदर मूर्त्ति की ओर निहारा। मां भुवनेश्वरी की आंखों से करुणा के स्रोत झर रहे थे। उनकी मंद मुस्कान प्यार से अपने अचेतन और चेतन बालकों को अपने चारों ओर इकट्ठा कर रही थी। ऊपर उठे अभयहस्त की छाया में आनंद को सारा ब्रह्मांड विश्राम लेता-सा दीख रहा था। मूर्त्ति के सामने दंडवत् प्रणाम करता हुआ कलाकार अपने आनंद-अश्रुओं से उसके चरण पखारने लगा।

*

चट्टान चौंकी, अचेतन, असहाय चट्टान में यह कैसा परिवर्तन है ? क्या सचमुच पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी उसके निर्जीव पैरों पर भावविभोर होकर लोट रहा है ? धीरे-धीरे चट्टान में चेतना की तरंगें उठने लगीं और वह आनंद के महासागर में खो गयीं। वह देवी भुवनेश्वरी में थी और देवी भुवनेश्वरी उसमें।

—अनुबेन

योग्यः

अस्ति एतद् एकं मनोवैज्ञानिकं तथ्यं यत् मनुष्यः स्वस्य गुणान् श्रोतुं बहु रोचयते किन्तु यदैव कोऽपि तस्य दोषान् दर्शयेत् तदा सः क्रुध्यति, यः च दोषान् दर्शयति तं जनं स्वस्य शत्रुं मन्यते किन्तु वस्तुतः अस्माकं दोषदर्शी एव नः प्रियमित्रम् यतो हि सः एव प्रगतेः मार्गम् अस्माकमर्थे वस्तुतः उद्घाटयति। दोषान् दूरीकृत्य एव मनुष्यः एकैकं पदं कृत्वा स्वजीवनमार्गे अग्रे सरति। किन्तु कति जनाः इदं सत्यं हृदयेन अवगच्छन्ति ? यां कथाम् अहं श्रावयामि तस्याः नायकः, कश्चित् राजा विवेकी पुरुषः आसीत्। तेन इदं गूढसत्यम् अधिगतम्।

सः एकदा निजसभायां कविसम्मेलनम् अकारयत्। सभायां तेन घोषितं यत् यः कविः स्वस्य काव्येन राज्ञः चरित्रस्य सत्यवर्णनं करिष्यति तस्मै राजा एकं शुद्धं हीरकम् उपहरिष्यति। आसन् सभायां बहवः कवयः। सर्वैः अपि राज्ञः प्रस्तावः सहर्षं स्वीकृतः।

आगामिदिने सभा भृशं पूरिता आसीत्। प्रत्येकं कविना उत्थाय राज्ञः चरित्र-सम्बन्धे स्व-स्व-रचना पठिता। सर्वाः एव रचनाः आद्युपान्तम् राज्ञः गुणगानैः ओतप्रोताः आसन्—यथा नृपः न भूत्वा साक्षात् कश्चित् देवः एव धराम् अवतीर्णः !! राजा प्रत्येकं कवये एकं हीरकम् अददात्।

सर्वथा अन्ते 'रामदास'नामधेयः कश्चित् कविः उत्थितः। अन्यैः कविभिः सदृशः न दृश्यते स्म एषः—अलङ्कारेषु एका तुलसीमाला तस्य कण्ठे शोभते स्म, परिधानम् अपि अन्येषामिव कौशेयमयं न भूत्वा सर्वथा सौत्रिकं सरलं चासीत्—तं दृष्ट्वा अन्यैः तथाकथितमहाकवयः व्यङ्गेन मन्दं मन्दम् अहसन्, परस्परं कर्णजापम् अकुर्वन्, स्वधनमदेन तं निर्धनकविम् उपैक्षन्त।

वातावरणे स्वविरोधे स्पन्दनानि अनुभूय अपि सः सरलमूर्त्तिः, उन्नतशिराः, निर्भयः स्वरचनायाः पाठम् आरब्धवान्। स्वस्य पाठस्य शुभारम्भः तेन राज्ञः प्रशंसया कृतः किन्तु तत्परमेव सः राज्ञः अवगुणानां वर्णनम् आरभत—एतत् श्रुत्वा तु सभायां भयाश्चर्यमिश्रिताः विभिन्नाः तरङ्गाः व्याप्ताः।

स्वरचनां समाप्य रामदासः राजानं प्रणम्य स्वस्थाने उपवेष्टुम् उद्यतः। सिंहासनात् उत्थाय राजा अगदत्—तिष्ठतु महाकवे, तिष्ठतु। स्वयमेव राजा तस्य सकाशम् आगत्य तमालिङ्ग्य तस्मै एकं हीरकं प्राददात्। राज्ञः तादृशम् आचरणं वीक्ष्य सर्वे अपि कवयः सभासदः च विस्मिताः जाताः।

सर्वेऽपि कवयः स्वहीरकस्य मूल्याङ्कनाय रत्नपरीक्षकस्य सकाशं गताः। किं दृष्टं तैः ? रामदासस्य हीरकं विहाय अन्येषां सर्वेषामेव कृत्रिमः आसीत्।

कवयः राजानं गत्वा सर्वं न्यवेदयन्। राजा विहस्य उदतरत्—युष्माभिः मम असत्या प्रतिमूर्त्तिः रचिता तदनुसारेण असत्यः एव हीरकः प्राप्तः। येन मम सम्बन्धे सत्यवर्णनं कृतम् सः एव शुद्धहीरकस्य योग्यः।

—वन्दना

———

हमेशा विरोधी शक्तियों के बारे में सोचते रहना और उनसे डरना बहुत भयानक दुर्बलता है।

—श्रीमां

धम्मपद से

सुखवग्गो (सुख)

सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥१॥

वैरियों के प्रति (भी) अवैरी हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; वैरी मनुष्यों के बीच अवैरी होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा ।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥२॥

भयभीत मनुष्यों में अभय हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; भयभीत मनुष्यों के बीच निर्भय होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका ।
उत्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥३॥

उत्सुकों (आसक्तों) में उत्सुकता-रहित हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; उत्सुक मनुष्यों के बीच उत्सुकता-रहित होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं ।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥४॥

जिन हम (लोगों) के पास कुछ नहीं, अहो ! वह हम कितना सुख से जीवन बिता रहे हैं। हम ज्योतिर्मय देवताओं की भांति प्रीतिभक्ष्य (प्रीति ही भोजन है जिनका) हैं।

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ॥५॥

विजय वैर को उत्पन्न करती है, पराजित (पुरुष) दुःख की (नींद) सोता है; (राग आदि दोष जिसके) शांत हैं, (वह पुरुष) जय और पराजयको छोड़ सुख की (नींद) सोता है।

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥६॥

राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान मल नहीं, (पांच) स्कंधों (समुदाय) के समान दुःख नहीं, शांति से बढ़कर सुख नहीं।

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा ।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं ॥७॥

भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख हैं, यह जान, यथार्थ निर्वाण को सबसे बड़ा सुख (कहा जाता) है।

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं ॥८॥

नीरोग होना परम लाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास सबसे बड़ा बंधु है, निर्वाण परम (सबसे बड़ा) सुख है।

पविवेकरसं पीत्त्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

एकांत (चिंतन) के रस, तथा उपशम (शांति) के रस को पीकर (पुरुष) निडर होता है, (और) धर्म का प्रेमरस पान कर निष्पाप होता है।

साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

आर्यों (सत्पुरुषों) का दर्शन सुंदर है, संतों के साथ निवास सदा सुखदायक होता है; मूढ़ों के दर्शन न होने से (मनुष्य) सदा सुखी रहता है।

बालसंगतिचारी हि दीर्घमद्धानं सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं'व समागमो ॥११॥

मूढ़ों की संगति में रहनेवाला दीर्घकालतक शोक करता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु की तरह सदा दुःखदायक होता है, बंधुओं के समागम की भांति धीरों का सहवास सुखद होता है।

तस्मा हि धीरं च पञ्ञञ्च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ नक्खत्तपथं'व चन्दिमा ॥१२॥

इसलिये धीर, प्राज्ञ, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती एवं आर्य शुद्ध सत्पुरुष का वैसे ही सेवन करे जैसे चंद्रमा नक्षत्र-पथ का (सेवन करता है)।

इन श्लोकों में से एक बहुत सुंदर है। हम उसका अनुवाद यूं कर सकते हैं: "सुखी है वह जिसके पास कुछ भी नहीं है, ओजस्वी देवों के आनंद से वह अपना पोषण करेगा।" अपने अधिकार में कुछ नहीं होने का यह अर्थ बिल्कुल नहीं होता कि किसी वस्तु का उपयोग न करना, किसी वस्तु की व्यवस्था न करना। "सुखी वह है जिसके पास कुछ नहीं है," यह वही है जिसके अंदर अधिकारकी भावना नहीं है, यह ऐसा व्यक्ति है जो, चीजें उसके पास आयें तो उनका उपयोग कर सकता है, यह जानते हुए कि वे उसकी नहीं हैं, वे परम प्रभु की हैं, और जो, इसी कारण, जब चीजें दूर चली जायें तो उनके लिये दुःखी नहीं होता। और उसे यह एकदम स्वाभाविक लगता है कि भगवान् ने जो चीजें उसे दी थीं उन्हें वापिस ले लें और दूसरों को दे दें। ऐसा व्यक्ति चीजों का उपयोग करते समय और चीजों की अनुपस्थिति में समान रूप से सुखी रहता है। जब वे तुम्हारे पास होती हैं तो तुम उन्हें भागवत कृपा के उपहार के रूप में स्वीकार करते हो; और जब वे तुम्हें छोड़कर चली जाती हैं, जब वे तुमसे दूर होती हैं तब तुम अभाव के आनंद में रहते हो—क्योंकि अधिकार की यह भावना ही तुम्हें

चीजों के प्रति आसक्त रखती है, तुम्हें गुलाम बनाती है, वरना तुम हमेशा निरंतर आनंद की स्थिति में और चीजों की उस निरंतर गति में रह सकते हो जो आती है और निकल जाती है—और जो अपने साथ, एक ही साथ, जब वे होती हैं तो समृद्धि की भावना लाती हैं, जब चली जाती हैं तो अनासक्ति का आनंद लाती हैं।

आनंद ! आनंद, इसका अर्थ है सत्य में जीना, इसका अर्थ है असीम के साथ ऐक्य में जीना, सच्चे जीवन के साथ, उस प्रकाश में, जो कभी बुझता नहीं, जीना। आनंद, उसका अर्थ है, स्वतंत्र होना, सच्ची स्वतंत्रता में स्वतंत्र होना, दिव्य इच्छा-शक्ति के साथ अपरिवर्तनशील, निरंतर ऐक्य की स्वतंत्रता में रहना।

देवता वे हैं जो अमर हैं, पार्थिव जीवन के उतार-चढ़ाव के बंधन में नहीं हैं, उसके अंदर जो कुछ संकरा, तुच्छ, अवास्तविक और मिथ्या है उसके साथ बंधे नहीं हैं।

देवता वे हैं जो 'ज्योति' की ओर मुड़े हुए हैं, 'शक्ति' में और 'ज्ञान' में जीते हैं। बुद्ध यही कहना चाहते हैं, वे धर्म के देवों की ओर संकेत नहीं कर रहे। ये ऐसी सत्ताएं हैं जिनका चरित्र दिव्य है, जो मानव शरीर में जी सकती हैं, किंतु अज्ञान और मिथ्यात्व से मुक्त होकर।

जब तुम्हारे पास शेष कुछ भी न रहे तो तुम विश्व के जितने विशाल बन सकते हो।

२३-५-१९५८ (श्रीमातृवाणी, खंड ३ से)

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधना-पद्धति

भगवान् के विषय में

पूर्णयोग का जो साधक निर्वैयक्तिक पर ही रुक जाता है वह पूर्णयोग का साधक नहीं रहता। निर्वैयक्तिक साक्षात्कार, नीरव आत्मा का, शुद्ध सत् चित् और आनंद का साक्षात्कार है जिसमें सत्-पुरुष, सचेतन (चित्) और आनंदमय का बोध नहीं होता। इसलिये यह निर्वाण की ओर ले जाता है। पूर्णज्ञान में आत्मा और निर्वैयक्तिक सच्चिदानंद की प्राप्ति केवल एक पग है, यद्यपि है बहुत महत्त्वपूर्ण पग या पूर्ण ज्ञान का एक अंश। यह उच्चतम सिद्धि का आरंभ है अंत नहीं।

*

अगर तुम निर्वैयक्तिक आत्मा का अनुसरण करते हो तो तुम दो विरोधी तत्त्वों के बीच में घूमते हो—निर्वैयक्तिक, निर्गुण, निष्क्रिय आत्मा की शुद्धि और नीरवता तथा अज्ञानमय प्रकृति की क्रियाशीलता में। तुम अज्ञानमय प्रकृति को छोड़कर या उसे नीरव करके आत्मा में प्रवेश कर सकते हो या फिर आत्मा की शांति और स्वाधीनता में रहते हुए साक्षी की तरह प्रकृति के कार्यों को देख सकते हो। तुम तपस्या द्वारा प्रकृति की क्रिया पर कुछ सात्त्विक संयम भी लगा सकते हो लेकिन निर्वैयक्तिक आत्मा में प्रकृति को बदलने या उसे दिव्य बनाने की शक्ति नहीं होती। इसके लिये तुम्हें निर्वैयक्तिक आत्मा के परे जाकर भगवान् को खोजना होगा जो वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों हैं और इन दोनों रूपों के परे हैं। लेकिन अगर तुम निर्वैयक्तिक (निर्गुण) में रहने का अभ्यास कर लो और कुछ हदतक आध्यात्मिक निर्वैयक्तिकता प्राप्त कर सको तब तुम समता, शुद्धि, शांति, अनासक्ति में विकसित हो सकते हो और तुम्हारे अंदर वह शक्ति आ सकती है जिससे तुम आंतरिक स्वाधीनता में रह सकते हो और मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति की ऊपरी गतिविधियों और संघर्षों से अछूते रह सकते हो।

और जब तुम्हें निर्वैयक्तिक के परे जाना हो और विक्षुब्ध प्रकृति को किसी भागवत वस्तु में बदलना हो तो इससे बहुत सहायता मिल सकती है।

*

भगवान् आनंदमय हैं और तुम उन्हें उनसे मिलनेवाले आनंद के लिये खोज सकते हो। लेकिन उनके पास और भी बहुत-सी चीजें हैं और तुम उन्हें उनमें से किसी के लिये भी खोज सकते हो जैसे शांति के लिये, मुक्ति के लिये, ज्ञान के लिये, शक्ति के लिये या ऐसी किसी भी चीज के लिये जिसकी ओर तुम खिंचते हो या जिसके लिये तुम्हारे अंदर आवेग उठता है। किसीके लिये यह कहना बिल्कुल संभव है: "भगवान् से मुझे शक्ति मिले और मैं उनका कार्य या उनकी परम इच्छा का पालन करूं, यहांतक कि अगर शक्ति का उपयोग करने से दुःख-दर्द भी आवश्यक हो जायें, तो भी मैं संतुष्ट रहूंगा।" यह संभव है कि आनंद को बहुत ही महान् या आह्लादकारी वस्तु मानकर व्यक्ति उससे पीछे हट जाये और केवल शांति, मुक्ति और निर्वाण की ही मांग करे। तुम आत्म-परिपूर्ति की बात करते हो—तुम परम पुरुष को भगवान् न मानकर अपनी उच्चतम आत्मा मानकर, उस उच्चतम आत्मा के अंदर अपनी सत्ता की परिपूर्ति खोज सकते हो लेकिन यह जरूरी नहीं है कि तुम उन्हें आनंद की आत्मा के रूप में ही देखो। उस परिपूर्ति में इतनी अधिक अचंचलता होती है कि शायद आलोड़ित करनेवाली आनंद की कोई भी लहर उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। तुम उन्हें स्वाधीनता, विशालता, ज्ञान, शांति, बल, स्थिरता और पूर्णता की सत्ता के रूप में देख सकते हो। अगर तुम भगवान् के पास कोई चीज प्राप्त करने के लिये जाते हो तो यह तथ्य नहीं है कि तुम केवल आनंद के लिये—उसके सिवाय और किसी चीज के लिये नहीं—उनके पास जाते हो या उनके साथ सायुज्य खोजते हो।

यह किसी ऐसी चीज का आना है जो तुम्हारे सभी तर्कों को असंगत ठहरा देता है क्योंकि ये भागवत प्रकृति के पक्ष हैं, उनकी शक्तियां हैं, उनकी सत्ता की अवस्थाएं हैं—लेकिन स्वयं भगवान् निरपेक्ष, स्वयंभू हैं। वे अपने पक्षों से सीमित नहीं हैं, वे अद्भुत और अकथनीय हैं, उनका अस्तित्व इनके कारण नहीं है बल्कि इनका अस्तित्व भगवान् के कारण है। इसका मतलब यह है कि अगर वे अपने पक्षों द्वारा आकर्षित करते हैं तो वे अपनी निरपेक्ष आत्मा के द्वारा और भी अधिक आकर्षित कर सकते हैं जो अपने किसी भी पक्ष की अपेक्षा अधिक मधुर, अधिक शक्तिशाली और अधिक गभीर है। उनकी शांति, उनका आनंद, प्रकाश, स्वाधीनता, सुंदरता अद्भुत और अवर्णनीय हैं क्योंकि वे स्वयं जादुई, रहस्यमय, परात्पर रूप से अद्भुत और अवर्णनीय हैं। इसलिये खोज किसी एक या दूसरे रूप के लिये नहीं, स्वयं उनकी अद्भुत और अवर्णनीय सत्ता के लिये की जा सकती है।

*

भगवान् को एक ऐसी निश्चिति होना चाहिये जो कान, आंख या स्पर्श द्वारा अनुभव की जानेवाली जड़ पदार्थ के जगत् की चीजों के समान ही नहीं, उनसे भी बढ़कर ठोस हो। उसे एक मानसिक विचार की नहीं बल्कि तात्त्विक अनुभूति की निश्चिति होना चाहिये। जब भगवान् की शांति तुमपर उतरती है, जब तुम्हारे अंदर भगवान् की उपस्थिति मौजूद होती है, जब समुद्र की तरह आनंद तुम्हारी ओर बढ़ आता है, जब तुम भागवत शक्ति के श्वास की आंधी के आगे पत्ते की तरह उड़ते हो, जब तुम्हारे अंदर से प्रेम समस्त सृष्टि पर खिल उठता है, जब भागवत ज्ञान तुम्हारे अंदर प्रकाश की बाढ़ ले आता है, जो क्षण भर पहले अंधेरा था, दुःखभरा और तम से घिरा था उसे प्रकाशित कर देता और रूपांतरित कर देता है, जब जो कुछ है वह सब एकमेव सद्वस्तु का भाग बन जाता है, जब सद्वस्तु तुम्हारे चारों

ओर होती है तो तुम एकदम आध्यात्मिक संपर्क द्वारा, आंतरिक दृष्टि द्वारा प्रदीप्त और देखनेवाले विचार द्वारा, प्राणिक संवेदन और यहांतक कि भौतिक इंद्रियों द्वारा भी जिधर देखो, सुनो या छुओ, केवल भगवान् को ही पाते हो, तब तुम उनके बारे में उससे भी कम संदेह या निषेध कर सकते हो जितना कि तुम दिन के प्रकाश का, हवा और गगनस्थित सूर्य का निषेध कर सकते हो। क्योंकि तुम्हें यह विश्वास नहीं हो सकता कि ये भौतिक चीजें क्या हैं, तुम्हारे लिये ये चीजें वही हैं जो तुम्हारी इंद्रियां बतलाती हैं, लेकिन भगवान् की ठोस अनुभूति के बारे में संदेह असंभव है।

*

भगवान् अपने-आपको उन्हींको देते हैं जो स्वयं को बिना कुछ बचाये और अपने सभी भागों में भगवान् को दे देते हैं। उन्हींके लिये हैं शांति, प्रकाश, शक्ति, आनंद, मुक्ति, विस्तार, ज्ञान की ऊंचाइयां और आनंद के समुद्र।

जन्म या मृत्यु

जब आपके परिवार में हो तो अपने स्थानीय रजिस्ट्रार के यहां रजिस्टर कराएं

क्योंकि

जन्म प्रमाण-पत्र
उम्र का सबूत है :

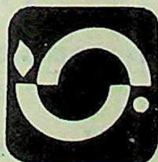
* स्कूल में प्रवेश के लिए
* रोजगार के लिए
* मताधिकार प्राप्त करने के लिए
* ड्राईविंग लाइसेंस प्राप्त करने के लिए
* पासपोर्ट प्राप्त करने के लिए
* बीमा पालिसी प्राप्त करने के लिए

मृत्यु प्रमाण-पत्र
आवश्यक है :

* सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिये
* बीमा राशि वसूल करने के लिए
* सम्पत्ति के दावे निपटाने के लिए

समय पर रजिस्टर कराएं और प्रमाण-पत्र निःशुल्क प्राप्त करें

जन्म और मृत्यु रजिस्ट्रीकरण कानूनन जरूरी है।
विलम्ब रजिस्ट्रीकरण की भी अनुमति है।



महारजिस्ट्रार, भारत

davp 89 490

"Work done in the right spirit is meditation."

— The Mother

दूसरों पर नियंत्रण रखने के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण पाना अनिवार्य शर्त है।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

विश्व-नृत्य

कृष्ण का नृत्य, काली का नृत्य

विश्व-नृत्य की हैं यहां दो ताल।
सदा हम सुनते काली के पैरों का संचरण
दुख, पीड़ा और अनिश्चय की लयों में करते हुए
जीवन के संयोगों के भीषण, मधुर खेल का मूल्यांकन :

आवरित उपनीयमान दीक्षित का अग्नि-परीक्षण,
मृत्यु के आलिंगन के साथ क्रीड़ाशील वीर आत्मन्,
भाग्य के भयानक अखाड़े में मल्ल बाहुयुद्धरत
और बलिदान भागवत कृपा का एक अकेला पथ।

गुह्य रहस्यों की कुंजी बने मनुष्य के दुःख-ताप,
काल के धुंधले वीरानों से निकला सत्य का संकीर्ण मार्ग,
भौतिक के स्तूप से आत्मा के सप्त द्वारों का जागरण,
उसकी दुःखांत विषय-वस्तु के हैं सामान्य प्रयोजन।

किंतु कब होगा प्रकृति में कृष्ण का नर्तन,
उसके प्रेम, हर्ष, हास्य, माधुर्य के कलामुख का संचलन ?

—श्रीअरविंद

अनु०—अमृता भारती

दैनन्दिनी

मई

१. अपने तुच्छ, स्वार्थपूर्ण व्यक्तित्व से बाहर निकलो और अपनी भारत माता के योग्य शिशु बनो। अपने कर्तव्यों को निष्कपटता और ईमानदारी के साथ पूरा करो और भागवत कृपा पर स्थायी विश्वास रखते हुए हमेशा प्रफुल्ल और विश्वासपूर्ण बने रहो।

२. अगर तुम धरती पर शांति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शांति स्थापित करो।
अगर तुम संसार में ऐक्य चाहते हो तो पहले अपनी सत्ता के विभिन्न भागों को एक करो।
अपने-आपको नयी शक्ति के प्रति खोलो। उसे अपने अंदर रूपांतर का काम करने दो।

३. अगर मेरे अंदर पूरी सचाई है तो यह जरूरी नहीं है कि मैं अच्छा दिखायी दूं।
दिखायी देने से होना कहीं अधिक अच्छा है।

४. यह कभी मत भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और तुम्हारी सहायता एवं पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे एक ऐसे साथी हैं जो कभी साथ नहीं छोड़ते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम आश्वासन और बल प्रदान करता है। श्रद्धा बनाये रखो और वे तुम्हारे लिये सब कुछ कर देंगे।

५. एक नियम मैं तुम्हारे लिये निश्चित कर सकता हूं, ऐसा कोई काम मत करो, ऐसी कोई बात मत कहो या सोचो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो। (श्रीअरविंद)

६. अपनी प्राण-सत्ता के दरवाजे पर यह सूचना लगा दो, "अब कोई मिथ्यात्व यहां कभी प्रवेश न करे" और वहां एक संतरी तैनात कर दो जो यह निगरानी रखे कि उसका पालन किया जा रहा है।

७. . . . बहरहाल, जो भी हो, तुम जो भी करो, **भय** को अपने ऊपर आक्रमण न करने दो। उसके जरा-से स्पर्श पर भी सक्रिय हो जाओ और सहायता के लिये पुकारो।
तुम्हें यह सीखना होगा कि अपने-आपको शरीर के साथ एक न समझो, शरीर के साथ एक छोटे बच्चे का-सा व्यवहार करो जिसे यह विश्वास दिलाने की जरूरत है कि उसे डरना न चाहिये।
भय हमारे शत्रुओं में सबसे बड़ा है और यहां हमें उसपर अंतिम रूप से विजय पानी ही चाहिये।

८. हे नाथ, तूने हमसे कहा है : हार न मानो, डटे रहो। जब सब कुछ डूबता हुआ लगता है तभी सब कुछ बचा लिया जाता है।

९. हे नाथ, तूने हमारी श्रद्धा की परीक्षा लेने और हमारी सचाई को अपनी कसौटी पर कसने का निश्चय किया है। वर दे कि हम इस अग्नि-परीक्षा में से अधिक विशाल और पवित्र होकर निकलें।

१०. नाथ, हम धरती पर रूपांतर का तेरा काम पूरा करने के लिये हैं। यही हमारा एकमात्र संकल्प और हमारी एकमात्र चिंता है। वर दे कि यही हमारा एकमात्र कार्य हो और हमारी सब क्रियाएं इसी एक उद्देश्य की ओर बढ़ने में सहायक हों।

११. यह सामान्य सिद्धांत का प्रश्न नहीं है; यह वस्तुओं की वास्तविकता से संबंध रखना है। असुर मिथ्यात्व की शक्ति है और भगवान् का विरोधी है। सारे भौतिक जगत् पर उसका प्रभुत्व है। उसका प्रभाव हर जगह, जड़ जगत् की हर चीज में अनुभव किया जाता है लेकिन अब समय आ गया है जब इन्हें अलग करके शुद्ध किया जा सकता है। मिथ्यात्व को, आसुरिक प्रभाव को त्याग कर भागवत सत्य में अनन्य भाव से रहा जा सकता है।

१२. संसार अपने आध्यात्मिक जीवन की रक्षा करने के लिये युद्ध कर रहा है जिसे विरोधी और आसुरिक शक्तियों के आक्रमण ने संकट में डाल रखा है।

हे प्रभु ! हम यह अभीप्सा करते हैं कि हम तेरे वीर योद्धा बनें ताकि तेरी महिमा इस पृथ्वी पर अभिव्यक्त हो।

१३. एक चीज के बारे में तुम निश्चित हो सकते हो—**तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथों में है**। तुम वही आदमी बनोगे जो तुम **बनना चाहते हो**। तुम्हारा आदर्श और तुम्हारी अभीप्सा जितने ऊंचे होंगे, तुम्हारी सिद्धि भी उतनी ही ऊंची होगी। लेकिन तुम्हें दृढ़ निश्चय रखना चाहिये और अपने जीवन के सच्चे लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिये।

१४. विगत कल की सिद्धियां आगामी कल की उपलब्धियों की ओर छलांग लगाने के लिये लचकदार तख्ता हों।

सत्य के प्रति अपने प्रयास में हमें वास्तविक रूप से सच्चा और निष्कपट होना सिखा।

आओ, हम अपने-आपको धरती पर अभिव्यक्त होते हुए नये जीवन के लिये तैयार करें।

१५. जो कुछ करना हो उसे ध्यान देकर करना हर प्रकार की प्रगति का आधार है।

१६. मेरे प्रिय बच्चो, काम पसंद करो और तुम सुखी रहोगे। सीखना पसंद करो और तुम प्रगति करोगे।

१७. काल की गति में, बल्कि इसी जीवन में तुम एक ही बार, हमेशा के लिये, अटल रूप में अपना चुनाव कर सकते हो, और तब तुम्हें हर नये अवसर पर उसका अनुमोदन करना होगा; या फिर, अगर आरंभ में तुमने अंतिम निर्णय न लिया हो तो तुम्हें हर क्षण सत्य और मिथ्यात्व के बीच चुनाव करना होगा।

१८. कोई महत्त्वाकांक्षा न रखो और सबसे बढ़कर यह कि किसी चीज का दिखावा न करो, हर क्षण, तुम अधिक-से-अधिक जो हो सकते हो वह बनो।

१९. ऊपर उठते हुए विकास में हर एक अपनी दिशा चुनने के लिये स्वतंत्र है : वह चाहे तो 'सत्य' के शिखरों की, परम उपलब्धि की ओर जानेवाली तेज और खड़ी चढ़ाई अपनाये या शिखरों से मुंह मोड़कर, उतरते हुए अनंत जन्मों के अनिश्चित, सरल, सर्पिल मार्ग को स्वीकारे।

२०. मानव जीवन में सभी कठिनाइयों, सभी विसंगतियों, सभी नैतिक कष्टों का कारण होता है, हर एक के अंदर उपस्थित अहंकार और उसके साथ उसकी कामनाएं, उसकी रुचियां और अरुचियां। निःस्वार्थ काम में भी, जिसमें दूसरों की सहायता करनी होती है, जबतक तुम अहं और उसकी मांगों पर विजय पाना न सीख लो, जबतक तुम उसे चुपचाप और शांत रहकर एक कोने में बैठने के लिये बाधित न कर सको, अहंकार हर उस चीज के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है जो उसे पसंद नहीं आती, एक आंतरिक तूफान खड़ा कर देता है जो सतह पर आता है और सारा काम बिगाड़ देता है।

२१. अहंकार पर विजय पाने का यह काम लंबा, धीमा और कठिन है; यह काम सतत चौकसी और निरंतर प्रयास की मांग करता है। यह प्रयास कुछ लोगों के लिये सरल होता है और कुछ लोगों के लिये ज्यादा कठिन।

२२. अग्रणी लोगों को हमेशा उदाहरण रखना चाहिये, जो लोग उनकी देख-रेख में हैं उनसे वे जिन गुणों की मांग करते हैं स्वयं उन्हें उन गुणों को आचरण में लाना चाहिये; उन्हें समझदार, धीर, सहनशील, सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, उनमें ऊष्मा और मैत्रीपूर्ण सद्भावना होनी चाहिये, लेकिन अपने लिये मित्र जुटाने की अहंकारपूर्ण वृत्ति से नहीं बल्कि उदाहरण के द्वारा, ताकि वे औरों को समझ सकें और उनकी सहायता कर सकें।

सच्चा अग्रणी होने के लिये अपने-आपको, अपनी रुचियों और पसंदों को भूल जाना अनिवार्य है।

२३. यदि कोई सचमुच अच्छे-से-अच्छा करने को उत्सुक है तो वह काम करते-करते ही प्रगति करता जाता है और अधिक-से-अधिक अच्छा करना सीखता है।

आलोचना कभी-कदास ही उपयोगी होती है, वह सहायता करने के बदले निरुत्साहित ही अधिक करती है। हर शुभ संकल्प को बढ़ावा देना चाहिये क्योंकि ऐसी कोई प्रगति नहीं है जो धैर्य और सहनशीलता से साधित न हो सके।

२४. मूल बात तो यह है कि व्यक्ति में यह विश्वास होना चाहिये कि चाहे जितना उपलब्ध हो चुका हो, फिर भी उसके अंदर इच्छा हो तो वह हमेशा ज्यादा अच्छा कर सकता है।

जिस आदर्श को प्राप्त करना है वह है आत्मा और चरित्र की अचूक **समता**, हर कसौटी पर अटल धीरता और स्वभावतः, पसंद-नापसंद और कामना का अभाव।

२५. सभीको यह सिखाना चाहिये कि वे जो कुछ करें अच्छी तरह करने के आनंद से करें, चाहे वह बौद्धिक काम हो या कलात्मक या शारीरिक, और विशेषकर यह सिखाना चाहिये कि काम कैसा भी क्यों न हो, यदि उसे यत्न और कुशलता से किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।

२६. सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है—यह पूर्ण सत्य है। यह इस बात की पुष्टि करता है कि यदि तुम अपने क्षुद्र अहं को संतुष्ट करना चाहते हो तो तुम जरूर दुःखी होओगे। निश्चय ही, अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा तरीका है यह कहना : "ओह, यह मुझे उबा देता है; ओह, मुझे जो पसंद हो वह करना चाहिये; ओह, फलाना मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता; ओह, जिंदगी मुझे वह नहीं देती जो मैं चाहता हूं!" ओह !!!

२७. तुम्हें अपने-आपसे यह पूछना चाहिये—

"क्या मैं वह हूं जो मुझे होना चाहिये ?

"क्या मैं उतनी प्रगति कर रहा हूं जितनी मुझे करनी चाहिये ?"

तब जीवन रोचक बन जाता है।

और तुम्हें यह भी पूछना चाहिये—

"अपनी अगली प्रगति के लिये मुझे क्या सीखना चाहिये ? मेरी कौन-सी कमजोरियां हैं जिन्हें मुझे सुधारना चाहिये ? कौन-सी कठिनाई है जिसे मुझे पार करना है ? मेरी कौन-सी कमजोरी है जिसे मुझे मिटाना है ?"

२८. **प्रश्न**—एकाग्रता और संकल्प-शक्ति को कैसे बढ़ाया जाये ? कोई भी काम करने के लिये इनकी बहुत आवश्यकता होती है।

उत्तर—एक नियमित, अध्यवसायी, कठोर, अविचल, अभ्यास के द्वारा—मेरा अभिप्राय है एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के अभ्यास द्वारा।

२९. नयी सृष्टि की उपयोगिता—ऐसी सृष्टि जिसका लक्ष्य है मनुष्यों को अपना अतिक्रमण करना सिखाना।

३०. आत्महत्या हल से बहुत दूर की चीज है, यह परिस्थिति में एक ऐसा मूर्खतापूर्ण प्रकोप ले आती है जो शायद शताब्दियोंतक जीवन असह्य बना देता है।

३१. रोगमुक्त होने के लिये अनिवार्य शर्त है स्थिरता और अचंचलता। किसी भी तरह का विक्षोभ, कोई भी संकीर्णता बीमारी को बढ़ा देते हैं।

श्रीअरविंद की शिक्षा तथा साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

प्राण का प्रतिरोध

प्राणिक चेतना में कोई ऐसी चीज होती है जिसे असुविधा का अनुभव होगा यदि जीवन में कष्ट न हो। वह भौतिक शरीर है जिसे कष्ट से डर लगता है और वह उससे घृणा करता है, लेकिन प्राण उसे जीवन-लीला के एक भाग के रूप में लेता है।

*

तुम्हारे अंदर जो चीज कष्ट में रस लेती है और उसे चाहती है वह मानवप्राण का एक भाग है—हम इन चीजों को कपट और प्राण का विकृत मोड़ कहते हैं। वह दुःख और कष्ट के विरुद्ध नीरव पुकार करती है, वह भगवान्, जीवन और हर चीज पर यह आरोप लगाती है कि वह उसे यातना दे रही है, लेकिन दुःख और कष्ट का अधिकतम भाग प्राण की किसी ऐसी विकृत चीज के कारण आता और बना रहता है जो उन्हें चाहता है ! प्राण में से इस तत्त्व को पूरी तरह निकाल बाहर करना चाहिये।

*

जब चीजें आसानी से चल रही हों तो प्राण स्वस्थ हो सकता है, लेकिन जब कठिनाइयां प्रबल हो उठती हैं तो वह डूब जाता और निष्क्रिय पड़ जाता है। साथ ही यदि प्राणिक अहं के आगे चारा डाला जाये तो वह उत्साहपूर्ण और सक्रिय बन सकता है।

*

जब कोई प्राणिक तत्त्व निराश या असंतुष्ट होता है, जब उसे बदलने के लिये कहा जाता है, उसपर जोर डाला जाता है परंतु वह इच्छुक नहीं होता तो उसके अंदर प्राण को उत्तर न देने या असहयोग करने की वृत्ति होती है और शरीर प्राणिक प्रेरणा के बिना आलसी और संज्ञाहीन रह जाता है। चैत्य दबाव के साथ प्रतिरोध का यह अवशेष निकल जायेगा।

*

रेगिस्तान का-सा भाव प्राण के प्रतिरोध की वजह से आता है, प्राण चाहता है कि जीवन पर कामना का शासन रहे। अगर वह न होने दिया जाये तो वह जीवन को मरुभूमि जैसा मानता है और मन में यही संस्कार डाल देता है।

*

स्वभाव की साधारण ताजगी, ऊर्जा और उत्साह या तो प्रत्यक्ष प्राण से आते हैं जब वह अपनी सहजवृत्तियों या अंतःप्रेरणाओं को शांत करने में लगा हो या अप्रत्यक्ष रूप से तब जब वह मानसिक, भौतिक या आध्यात्मिक क्रिया-कलापों के साथ सहयोग करता या उन्हें स्वीकृति देता हो। अगर प्राण विरोध करे तो विद्रोह और संघर्ष होते हैं। अगर प्राण अपने ही आवेशों या सहज वृत्तियों पर आग्रह न करे परंतु सहयोग भी न करे तो शुष्कता या उदासीन स्थिति आती है। शुष्कता तब आती है जब प्राण निष्क्रिय, निश्चेष्ट रूप से अनिच्छुक होता है, उसे कोई रुचि नहीं होती। उदासीन स्थिति तब होती है जब वह न तो स्वीकृति देता है और न अनिच्छुक होता है—केवल निष्क्रिय और निश्चेष्ट, फिर भी ऊपर से महानतर प्रवाह द्वारा—जो प्राण को निष्क्रिय नहीं तो कम-से-कम निश्चेष्ट रूप से सहमत तो कर ही लेता है—यह उदासीन स्थिति गहरी होकर वास्तविक अचंचलता तथा शांति में स्थिर हो सकती है। प्राण की सक्रिय रुचि और स्वीकृति द्वारा शांति आह्लादकारी और हर्षपूर्ण शांति या एक ऐसी सबल शांति बन जाती है जो क्रिया या सक्रिय अनुभूति को सहारा देती और उसमें प्रवेश करती है।

*

कुछ लोग अपने प्राण में ठोस और दृढ़ होते हैं, वे ही स्थिर रह सकते हैं—अन्य अधिक अस्थिर होते हैं और आवेशों द्वारा बहुत आसानी से विचलित हो जाते हैं; ऐसे लोग ही कभी तो उत्साहशील होते हैं तो कभी थकान में डूब जाते हैं। यह स्वभाव की बात है। दूसरी ओर अस्थिर व्यक्ति बहुधा तीव्रतर उत्साह पाने में सक्षम होते हैं ताकि, अगर वे चाहें तो अपने ही तरीके से अधिक तेजी के साथ प्रगति कर सकें। बहरहाल, इन सब चीजों का उपचार है मन तथा प्राण के ऊपर अपनी सच्ची आत्मा को पाना अतः स्वभाव से बंधना नहीं।

संकीर्ण चेतना में मत रहो

आप कहती हैं कि "हर व्यक्ति के स्वप्न-बिंबों की अपनी ही दुनिया होती है?"

हर व्यक्ति का अभिव्यक्त करने का, सोचने का, बोलने का, अनुभव करने का, समझने का अपना ही तरीका होता है। सत्ता के ये तरीके मिलकर व्यक्ति का निर्माण करते हैं। इसीलिये हर एक अपनी प्रकृति के अनुसार ही समझ सकता है। जबतक तुम अपनी प्रकृति में बंद हो तबतक तुम केवल वही जान सकते हो जो तुम्हारी चेतना में है। सब कुछ तुम्हारी चेतना की प्रकृति की ऊंचाई पर निर्भर है। तुम्हारी चेतना में जो कुछ है, तुम्हारा संसार बस वहींतक सीमित है। अगर तुम्हारी चेतना बहुत छोटी-सी है तो तुम बस थोड़ी-सी ही चीजें समझ सकोगे। जब तुम्हारी चेतना बहुत विशाल हो तभी तुम संसार को समझ सकोगे। अगर चेतना तुम्हारे छोटे-से अहंतक ही सीमित है तो बाकी सब तुम्हारी पकड़ से निकल जायेगा . . .। ऐसे लोग होते हैं जिनका मस्तिष्क और जिनकी चेतना अखरोट से भी छोटे होते हैं। तुम जानते हो कि अखरोट दिमाग से मिलता-जुलता है; तो ये लोग चीजों को देखते हैं पर समझते नहीं। वे सिर्फ उन्हीं चीजों को समझ सकते हैं जिनका सीधा संपर्क उनकी इंद्रियों के साथ है—और कुछ नहीं। उनके लिये सत्य वही है जिसे वे चख सकते हैं, जिसे देख, सुन और छू सकते हैं, बाकी सबका कोई अस्तित्व ही नहीं। वे हमें मनमानी बातें करने का दोष देते हैं! वे कहते हैं: "जिस चीज को मैं छू

नहीं सकता उसका अस्तित्व नहीं है।" उन्हें एक ही उत्तर दिया जा सकता है : "उसका **तुम्हारे लिये** कोई अस्तित्व नहीं है, पर यह कोई कारण नहीं कि दूसरों के लिये भी उसका अस्तित्व न हो।" तुम्हें इन लोगों के साथ आग्रह न करना चाहिये। तुम्हें यह न भूलना चाहिये कि जो जितना छोटा होता है वह उतने ही अधिक ढिठाई-भरे दावे कर सकता है।

आदमी की मतांधता उसकी अचेतना के अनुपात में होती है। जो जितना ज्यादा अचेतन होता है वह उतना ही अपने ऊपर अधिक विश्वास करता है। सबसे अधिक मूर्ख सबसे अधिक घमंडी होते हैं। तुम्हारी मूर्खता तुम्हारे घमंड के अनुपात में होती है। आदमी जितना अधिक जानता है . . . । वास्तव में, एक समय होता है जब आदमी को यह विश्वास होता है कि वह बिल्कुल कुछ नहीं जानता। संसार में एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जो कुछ नयी चीज नहीं लाता, क्योंकि संसार निरंतर बढ़ता जाता है। अगर आदमी इस विषय में सचेतन हो तो उसके लिये हमेशा सीखने लायक कोई नयी चीज रहती ही है। लेकिन आदमी उसके बारे में धीरे-धीरे ही सचेतन हो सकता है। अपनी जानकारी के बारे में विश्वास अपनी मूर्खता और अज्ञान के अनुपात में होता है।

मां, तो क्या वैज्ञानिकों की चेतना बहुत छोटी होती है?

क्यों? सभी वैज्ञानिक ऐसे नहीं होते। अगर तुम किसी सच्चे वैज्ञानिक से मिलो जिसने कठोर परिश्रम किया हो तो वह तुमसे कहेगा : "हम कुछ नहीं जानते। हम कल जो जानेंगे उसकी तुलना में आज जो जानते हैं वह कुछ भी नहीं है। इस वर्ष की खोजें अगले वर्ष पीछे छूट जायेंगी।" सच्चा वैज्ञानिक जानता है कि वह जितनी चीजें जानता है उनकी अपेक्षा वे चीजें बहुत ज्यादा हैं जिन्हें वह नहीं जानता। और यह बात मानव क्रिया-कलाप की सभी शाखाओं के बारे में सच्ची है। मैंने कभी ऐसा वैज्ञानिक नहीं देखा, जो इस नाम के योग्य हो, जो घमंडी हो। मैंने कभी ऐसा आदमी नहीं देखा, जिसका कुछ मूल्य हो, जो कहता हो : "मैं सब कुछ जानता हूं।" मैंने जिन लोगों को देखा है उन्होंने हमेशा स्वीकार किया है : "संक्षेप में, मैं कुछ नहीं जानता।" उसने जो कुछ किया है, उसे जो कुछ मिला है उस सबकी चर्चा करने के बाद वह शांति से कहता है : "आखिर, मैं कुछ नहीं जानता।"

ऐसे लोग हैं जो विनम्र दीखने के लिये कभी-कभी कह देते हैं : "मैं कुछ नहीं जानता," परंतु इस बात पर विश्वास नहीं करते।

संसार-भर में सभी जगह कपटी और ढोंगी लोग हैं। यह उनका दुर्भाग्य है। वे प्रगति का द्वार पूरी तरह बंद कर देते हैं। बस।

तो हम लोगों के लिये, जो कक्षा में आते हैं, अध्ययन करना खतरनाक है?[1]

नहीं, इसके बिल्कुल विपरीत! अगर तुम अच्छी तरह से अध्ययन करना शुरू करो तो तुम्हारी चेतना जागती है और तुम्हें इस बात का ज्यादा अच्छी तरह पता लग जाता है कि तुम्हारे अंदर अभीतक क्या कमी है। इसी बात से मुझे एक महिला की याद हो आयी जिसने धीरे-धीरे सचेतन होने के बाद मुझसे कहा : "आपकी बातें सुनने से पहले मुझे आदमियों पर विश्वास था, हर एक बहुत भला था और मैं

[1] ये सभी वार्तालाप कक्षा में हुए हैं, उसीकी ओर संकेत है।

सुखी थी। लेकिन अब जब मैंने स्पष्ट देखना शुरू किया है, मैं सचेतन हो गयी हूं तो मैं अपनी सारी शांति खो बैठी हूं। सचेतन होना भयंकर है।''

तो क्या करना चाहिये ? —और अधिक सचेतन बनो। थोड़ा-सा सीखना बहुत बुरा है। तुम्हें अधिक सीखना चाहिये, यहांतक कि तुम उस स्थिति में आ जाओ जहां तुम देख सको कि तुम्हें कुछ नहीं आता . . .। मैंने तुम्हें उस नौसिखिये की बात बतायी थी जो, उसने जो कुछ सीखा था उसे औरोंतक पहुंचाना चाहता था—जबतक कि उसे यह पता नहीं लग गया कि उसके पास औरोंतक पहुंचाने के लिये कुछ अधिक नहीं है। सामान्यतः सभी धार्मिक शिक्षाएं इसीपर आधारित होती हैं। बहुत थोड़ा-सा ज्ञान, पक्के बंधे-बंधाये सूत्र जो प्रायः अच्छी तरह लिखे होते हैं (प्रायः काफी अच्छी तरह लिखे हुए), दिमाग में जम जाते हैं और दावे के साथ कहते हैं : ''वास्तव में यही सत्य है।'' तुम बस इतना ही पढ़ लो जो इस पुस्तक में लिखा है। यह कितना आसान है ! हर एक धर्म में एक पुस्तक होती है चाहे वह प्रश्नोत्तरी हो, हिंदू शास्त्र हों, कुरान हो, संक्षेप में, सभी पवित्र ग्रंथ—तुम उन्हें रट डालो। तुमसे कहा जाता है कि बस यही सत्य है और तुम इस बारे में निश्चिंत होते हो कि यही सत्य है और आराम से रहते हो। यह बहुत सुविधाजनक है, तुम्हें समझने की कोशिश करने की जरूरत नहीं। जो लोग उसी चीज को नहीं जानते जिसे तुम जानते हो वे मिथ्यात्व में हैं, और तुम उनके लिये प्रार्थना भी करते हो जो ''सत्य'' के बाहर हैं। सभी धर्मों के बीच यह एक सामान्य तथ्य है। लेकिन सभी धर्मों में ऐसे लोग हैं जो ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं और इन बातों पर विश्वास नहीं करते। मुझे ऐसा एक आदमी मिला था जो कैथोलिक धर्मावलंबी था। वह एक बड़ा आदमी था। मैंने उससे मैं जो जानती थी उसके बारे में बातचीत की और पूछा : ''आप इस तरीके का उपयोग क्यों करते हैं ? आप अज्ञान को स्थायी क्यों बनाना चाहते हैं ?'' उन्होंने उत्तर दिया : ''यह शांति की नीति है। अगर हम यह न करें तो लोग हमारी बात न सुनेंगे। वास्तव में, यही धर्मों का रहस्य है।'' उन्होंने मुझसे कहा : ''हमारे धर्म में भी, प्राचीन दीक्षाओं की तरह जाननेवाले लोग हैं। ऐसे विद्यालय हैं जहां प्राचीन परंपराएं सिखायी जाती हैं। लेकिन हमें उनके बारे में बातचीत करना मना है। ये सभी धार्मिक बिंब किसी चीज को चित्रित करनेवाले प्रतीक हैं। उनका अर्थ जो सिखाया जाता है उससे भिन्न है, लेकिन वह अर्थ बाहर नहीं सिखाया जाता।''

(उनके अनुसार) इसका कारण बहुत उदारतापूर्ण और दयापूर्ण है : जिन लोगों के छोटे-से दिमाग हैं—और ऐसे बहुत-से हैं—अगर हम उन्हें ऐसी चीज बतायें जो उनके लिये बहुत ऊंची है तो वह उन्हें कष्ट देती है और परेशान करती है और वे दुःखी हो जाते हैं। वे कभी न समझ सकेंगे। उन्हें व्यर्थ में क्यों परेशान किया जाये ? उनके अंदर सत्य को पाने की क्षमता नहीं है। जब कि अगर तुम उनसे कहो : ''अगर तुम्हें इस बात पर श्रद्धा है तो तुम स्वर्ग जाओगे,'' तो वे बहुत खुश रहते हैं। तो देखो, यह बहुत सुविधाजनक है। इसीलिये इसे स्थायी बनाया जाता है, अन्यथा कोई धर्म न टिकेगा।

मैं तुम से यह बात किसी धर्म की तुलना में किसी और विशेष धर्म को प्रोत्साहित करने के लिये नहीं कह रही। पर यह ऐसी प्रक्रिया है जो उदार मालूम होती है . . .। अन्यथा कोई धर्म ही न होंगे। गुरु और शिष्य होंगे, ऐसे लोग जिनके पास उच्चतर शिक्षा और विरल अनुभूति है। यह बहुत अच्छी चीज होगी। लेकिन जैसे ही गुरु चला जाता है तो होता यह है कि उसकी शिक्षा को धर्म में बदल दिया जाता है, कठोर मतवाद बन जाते हैं, धार्मिक नियम बन जाते हैं और धर्म के विधान के आगे झुकना अनिवार्य हो जाता है। और फिर भी, आरंभ में ऐसा न था। तुमसे कहा जाता है : ''यह सत्य है, यह मिथ्या है। गुरु ने कहा है . . .।'' कुछ समय बाद गुरु भगवान् बन जाता है और तुमसे कहा जाता है : ''भगवान् ने यह कहा है।''

ध्यान रखो कि मैं तुमसे यह सब इसलिये कह रही हूं क्योंकि मैं जानती हूं कि यहां तुम सब धर्मों से मुक्त हो। यदि मेरे सामने कोई ऐसा व्यक्ति हो जो किसी धर्म पर विश्वास रखता है तो मैं उससे कहूंगी : "यह बहुत अच्छा है, अपना धर्म बनाये रखो, जारी रखो।" तुम्हारे सबके सौभाग्य से तुम्हारा कोई धर्म नहीं है। और मैं आशा करती हूं कि होगा भी नहीं। क्योंकि उसका अर्थ होता है समस्त प्रगति के लिये द्वार बंद।

(श्रीमातृवाणी, खंड ५ से)

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

आदर्श साम्राज्य

हमने अपने पिछले लेख में इस बात की चर्चा की थी कि भारतीय शासन-प्रणाली अन्य शासन-प्रणालियों से हमेशा भिन्न ही रही है क्योंकि इसका दृष्टिकोण ही औरों से अलग था। इसमें विजित राज्य अपनी अधीनस्थ जातियों, कुलों इत्यादि को अपनी ही जीती हुई संपत्ति मानकर उनका शोषण नहीं किया करते थे बल्कि एक तरह से उनके साथ समानता का-सा बर्ताव करते थे। इस आदर्श का पूर्ण विकास हमें अपने महान् महाकाव्यों में मिलता है। महाभारत में ही हम इसका एक जीवंत उदाहरण पाते हैं कि दुर्दांत शिशुपाल ने भी जब यह देखा कि युधिष्ठिर धर्म के आधार पर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं, यज्ञ में भाग लेकर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और रामायण में हम ऐसे धर्मराज्य का आदर्श चित्र पाते हैं जो सुप्रतिष्ठित वैश्व साम्राज्य था। यहां भी जिस राज्यप्रणाली को आदर्श के रूप में स्थापित किया गया है वह कोई तानाशाही निरंकुश शासन नहीं बल्कि एक ऐसा वैश्व राजतंत्र है जिसे नगरों और प्रान्तों का तथा सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त है, यानी इसमें सभी का समन्वय करते हुए, धर्म के नियमों द्वारा शासन का सर्वत्र स्पष्ट उल्लेख है। विजय के जिस आदर्श की यहां स्थापना की गयी है वह कोई विनाशक तथा लूट-पाट करनेवाला आक्रमण नहीं है जो जीती हुई जातियों की मौलिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं को नष्ट कर दे और आर्थिक शोषण करे बल्कि यह तो एक प्रकार की यज्ञीय प्रगति है जिसमें सैनिक-शक्ति की परीक्षा की जाती थी और उस परीक्षा का परिणाम आसानी से स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि पराजय के कारण न तो अपमानित होना पड़ता था न तथाकथित दासता या कष्ट ही भोगना पड़ता था, बस पराजित को अधिराट् शक्ति के साथ एक होना पड़ता था जिससे उसकी शक्ति में वृद्धि ही होती थी और उस अधिराट् शक्ति का उद्देश्य बस यही होता था कि वह राष्ट्र तथा धर्म की एकता को बनाये रखे। प्राचीन ऋषियों का यह आदर्श स्पष्ट ही है और उन्होंने भारत की विभक्त तथा परस्पर लड़ती हुई जातियों को एकता में बांधने की राजनीतिक उपयोगिता और आवश्यकता को स्पष्ट रूप से अनुभव किया था पर उन्होंने इस चीज को भी देख लिया था कि इसे प्रादेशिक जातियों के स्वतंत्र जीवन या सामुदायिक स्वाधीनता की बलि देकर नहीं पाया जा सकता।

लेकिन उपर्युक्त पद्धति का ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि यह आदर्श पद्धति कभी बहुत सफल रूप में चरितार्थ की गयी, यद्यपि महाकाव्यों में युधिष्ठिर के धर्मराज्य से पहले ऐसे कुछ साम्राज्यों की चर्चा की गयी है। बुद्ध के समय और बाद में जब चंद्रगुप्त तथा चाणक्य प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य की रचना कर रहे थे तब भी भारत स्वतंत्र राज्य तथा गणतंत्र राज्यों से छाया हुआ था और

सिकंदर के महान् हमले का सामना करने के लिये कोई संगठित साम्राज्य न था। यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई सर्वोपरि सत्ता पहले से ही विद्यमान थी तो वह दृढ़ स्थायित्व को बनाये रखनेवाले किसी साधन या किसी प्रणाली को ढूंढ़ निकालने में असफल रही। फिर भी, अगर इसके लिये समय मिलता तो शायद यह पद्धति विकसित हो जाती, लेकिन इस बीच देश में एक गंभीर परिवर्तन आ गया और उसने जल्दी-से-जल्दी किसी तात्कालिक उपाय को ढूंढ़ निकालने के लिये बाधित किया। भारतीय प्रायद्वीप की ऐतिहासिक दुर्बलता आधुनिक कालतक यह रही है कि इसके उत्तर-पश्चिम मार्गों से इसपर आक्रमण करना हमेशा संभव रहा है। यह दुर्बलता उस पुरातन भारत में नहीं थी जब वह उत्तर में सिंधु नदी से बहुत दूरतक फैला हुआ था और गांधार तथा वाह्लीक जैसे शक्तिशाली राज्यों ने विदेशी हमलों के विरुद्ध एक मजबूत किलेबंदी की रचना कर दी थी। लेकिन ये फारस के साम्राज्य के संगठन तक नहीं टिक पाये और तब से सिंधु के उस पार के देश भारत का हिस्सा न रहे, और वे उसके रक्षक भी न रहे, बल्कि वे तो हर एक आक्रमणकारी के लिये सुदृढ़ आधार बन गये। सिकंदर के आक्रमण ने भारत के राजनैतिक मनों पर इस खतरे की घंटी बजायी और उस काल में हम देखते हैं कि इसके कवि, लेखक, राजनैतिक चिंतक सभी निरंतर यही कहने लगे कि चक्रवर्ती राज्य का आदर्श भारत में स्थापित हो और इसके लिये वे साधन जुटाने लगे। इसका तात्कालिक व्यावहारिक फल यह निकला कि चाणक्य की राजनीतिज्ञता के कारण तुरंत ही एक साम्राज्य का उदय हुआ और वह आठ या नौ सदियोंतक तो निरंतर चलता रहा। हां, बीच-बीच में उसने दुर्बलता के, विघटन के काल भी देखे, लेकिन फिर भी इस साम्राज्य का इतिहास, इसकी अद्भुत व्यवस्था, प्रशासन, समृद्ध संस्कृति और ओज इत्यादि इधर-उधर बिखरे हुए अपर्याप्त अभिलेखों में ही प्रकट होते हैं और यह उन महान्-से-महान् साम्राज्यों की श्रेणी में आता है जिनकी रचना संसार की महान् जातियों की प्रतिभा ने की है।

—वंदना

सान्ध्य वार्ताएं :

प्राणिक ऊर्जा

१५-६-१९२६

शिष्य—क्या भौतिक विज्ञान के बनाये हुए खनिज और विश्लेषित भोजन पर रह सकना संभव है?

दूसरा *शिष्य*—नहीं यह संभव न होगा। भौतिक विज्ञान हमेशा आगे बढ़ता जाता है और उसे पता लगता है कि उसे और आगे बढ़ना है। जब उन्होंने प्रोटीन का पता लगाया तो उन्होंने सोचा कि सभी प्रोटीनें एक समान होती हैं, बाद में पता चला कि हर एक का भोजन-मूल्य अलग है। हमेशा ऐसा ही होता रहेगा।

शिष्य—और जब जिलेटिन का आविष्कार हुआ तो लोगों ने सोचा कि अब तो सस्ते पौष्टिक भोजन की समस्या हल हो गयी क्योंकि जिलेटिन में नाइट्रोजन होती है। यह हस्पताल के रोगियों को दी गयी लेकिन उनमें से कुछ तो मर गये। तब पता लगा कि इसमें विटामिन तो है ही नहीं।

अब एक नया विचार यह आया है कि आदमी सूर्यालोक पर जी सकता है।

शिष्य—और जब लू लग जाये तो उसका अर्थ होगा बदहज़मी! (हंसी)

शिष्य—चूंकि विज्ञान अभीतक कृत्रिम भोजन तैयार करने में सफल नहीं हुआ है इसका यह अर्थ नहीं है कि आगे भी सफलता न मिलेगी।

शिष्य—क्या भोजन के बिना जिंदा रहना संभव है?

श्रीअरविंद—हां यह संभव है। जब मैंने चेट्टियार गृह में रहते हुए तेईस दिन का उपवास किया था तो मैंने समस्या का हल, लगभग, पा ही लिया था। मैं रोज की तरह आठ घंटे नियमित चलता था। मैं मानसिक कार्य नियमित रूप से करता था। साधना भी चलती रही और मैंने देखा कि तेईस दिन के बाद भी दुर्बलता बिलकुल न थी, लेकिन शरीर में मांस घटने लगा और मुझे कोई ऐसी तरकीब न मिली जिससे शरीर में उसकी कमी को पूरा किया जा सके।

और उपवास तोड़ते समय भी मैंने सामान्य नियमों का पालन नहीं किया और थोड़ा-थोड़ा करके खाना शुरू नहीं किया। मैंने फिर से वही मात्रा खानी शुरू की जो उपवास से पहले खाता था।

मुझे महात्मा का उपवास का तरीका बिलकुल ठीक नहीं लगता जिसमें लोगों को पहले से सूचना दी जाती है और सब तरह के लोगों को अपने सुझाव देने का अवसर दिया जाता है। एक बार मैंने जेल में भी उपवास करने की कोशिश की थी लेकिन वह केवल दस दिन के लिये था जिसमें मैं तीन दिन में एक बार सोता था। मेरा भार तो दस पाउंड कम हो गया लेकिन मैं उपवास से पहले की अपेक्षा अन्त में ज्यादा बल का अनुभव करता था। उपवास के बाद मैं इतना भार उठा सकता था जो पहले संभव न था। निद्रा पर विजय पाने के लिये मैंने न सोने का अभ्यास शुरू किया था। उन दिनों साधना का दबाव था और मैं सोने की अपेक्षा साधना करना ज्यादा पसंद करता था।

शिष्य—क्या आपका ख्याल है कि भोजन के बिना काम चला सकना संभव है?

श्रीअरविंद—मुझे लगता है कि पूरी तरह संभव है, मुझे इसकी चाबी नहीं मिली। चूंकि मुझे सफलता नहीं मिली, इसलिये ऐसा कोई कारण नहीं है कि किसी और को भी न मिले।

शरीर को प्राणिक ऊर्जा बड़ी हदतक पहुंचायी जा सकती है। ऐसा लगता है कि प्राणिक भौतिक भाग को प्राणिक ऊर्जा भोजन से ही मिलती है। इसकी भी कोई चाबी होनी चाहिये। मैंने लगभग नौ बटे दस समस्या तो हल कर ली थी।

शिष्य—क्या मनुष्य के लिये यह संभव है कि वह प्राणिक ऊर्जा पशुओं से प्राप्त कर सके? मेरे बाबा कहा करते थे कि वे जिस घोड़े पर रोज बैठा करते थे, उससे उन्हें प्राण-शक्ति मिलती थी।

श्रीअरविंद—हां, यह संभव है। तुम मनुष्य पर सवारी किये बिना भी उससे प्राण-शक्ति ले सकते हो। लेकिन ज्यादा आसान तरीका है वैश्व प्राणमय लोक से ऊर्जा खींचना। वह सारे समय तुम्हारे चारों ओर रहती है। उसे पाने के दो तरीके हैं। एक तो यह कि तुम अपना जोर लगाकर वैश्व ऊर्जा अपने अंदर खींचो और दूसरा यह कि तुम निष्क्रिय रहो और उसे अपने अंदर प्रवाहित होने दो। पहले मैं खींचा करता था पर अब मैं उसकी ओर खुला रहता और उसे अपने अंदर प्रवाहित होने देता हूं।

शिष्य—क्या विश्व-ऊर्जा की अपेक्षा मनुष्य से शक्ति खींचना ज्यादा आसान है?

श्रीअरविंद—इतना आसान नहीं जितना तुम सोचते हो। किसी मनुष्य से शक्ति खींचने या किसी और को शक्ति देने के लिये कुछ शर्तें हैं। लेकिन वैश्व में से लेना कहीं ज्यादा आसान है। तथ्य तो यह है कि मनुष्य में प्राण-शक्ति सीमित होती है जब कि वैश्व में अक्षय भंडार है। अगर तुम वैश्व में से खींचे बिना अपनी शक्ति किसी और को देते हो तो तुम थक जाते हो।

शिष्य—तिब्बती बाबा की उम्र के बारे में बहुत-सी कहानियां चलती हैं।

श्रीअरविंद—वे कितने वर्ष के हैं?

शिष्य—कुछ पता नहीं। विभूति भूषण ने उनसे पूछा था तो उन्होंने कहा कि वे पलासी के युद्ध के

समय जवान थे। कहते हैं उन्होंने अपना बंगाली चोला छोड़कर तिब्बती शरीर अपना लिया।

श्रीअरविंद—परन्तु यह भौतिक अमरता नहीं है।

शिष्य—वे बहुत बूढ़े मालूम होते हैं। उनकी त्वचा काली और झुर्रीदार है। जब मैं उनसे मिलने गया तो वे लेटे हुए थे और ऐसा लगता था कि वे उठ भी न सकेंगे लेकिन वे स्वस्थ आदमी की तरह उचक कर उठ बैठे।

श्रीअरविंद—इसका मतलब यह है कि वे अपना शरीर अपनी प्राणिक शक्ति के सहारे बनाये रहते हैं। यह हमेशा संभव है।

शिष्य—लेकिन कहते हैं कि उन्होंने दीर्घायु कुछ ऐसी दवाइयों की सहायता से पायी है जिनसे तिब्बती लोग परिचित हैं।

श्रीअरविंद—यह भी संभव है। मेरा ख्याल है कि हिमालय में ऐसी दवाइयां हैं जो दीर्घायु देती हैं और जिनसे वहां रहनेवाले तथा साधु परिचित हैं।

लेकिन प्राणिक ऊर्जा देने से भी शरीर पूरी तरह रोग के लिये असंक्राम्य नहीं हो सकता। अगर तुम सावधान न रहो या अगर कोई ऐसी दुर्घटना हो जाये जिसका तुम्हें पूर्वाभास न हो तो तुम रुग्ण हो सकते हो।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

'कुछ माताजी के बारे में':

नैतिक सिद्धांत

योग से प्रथम परिचय होते ही विरोधी अवस्थाओं की एक फौज-सी क्यों पीछे पड़ जाती है? किसी ने कहा है कि योग-साधना का द्वार खोलते ही अनगिनत बाधाएं सामने आ खड़ी होती हैं, क्या यह ठीक है?

यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है; और बहुत कुछ व्यक्ति पर निर्भर है। बहुतों के पास विरोधी अवस्थाएं इसलिये आती हैं कि उनकी प्रकृति के कमजोर स्थानों की परीक्षा हो जाये। योग-मार्ग पर स्वतंत्रतापूर्वक चल सकने से पहले जिस वस्तु की तुम्हारे अंदर अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये जो योग के लिये अनिवार्य आधार है, वह है समता या समचित्तता। स्वभावतः, इस दृष्टि से, सभी विघ्न ऐसी परीक्षा के रूप होते हैं जिनमें तुम्हें सफल होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त, तुम्हारी मानसिक रचनाओं ने जो सीमाएं तुम्हारे चारों ओर बना ली हैं उन्हें तोड़ने के लिये भी इनकी आवश्यकता है, ये सीमाएं दिव्य ज्योति और सत्य के प्रति तुम्हारे उद्घाटन को रोकती हैं। सारा मनोमय जगत्, जिसमें तुम रहते हो, सीमित है, तुम्हें उसकी सीमाओं का ज्ञान या अनुभव भले न हो, और यह आवश्यक है कि कोई चीज आये और इस भवन को, जिसके अंदर तुम्हारे मन ने अपने-आपको बंद कर रखा है, तोड़ डाले और उसे बंधन-मुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बंधे हुए नियम, विचार या सिद्धांत होते हैं जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो। अधिकतर, ये किन्हीं नैतिक सिद्धांतों अथवा उपदेश-वचनों के आधार पर होते हैं, जैसे ''अपने माता-पिता का आदर कर'' (मातृ-देवो भव—पितृ-देवो भव) या ''तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये'' (अहिंसा परमो धर्मः) इत्यादि। प्रत्येक मनुष्य की अपनी धुन होती है अथवा वह कोई

दकियानूसी विश्वास होता है। प्रत्येक मनुष्य समझता है कि दूसरे लोग जिन पूर्वाग्रहों से बंधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह इस प्रकार के सांप्रदायिक मताग्रहों को बिलकुल मिथ्या समझने के लिये भी तैयार रहता है। परंतु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरों की तरह नहीं है, वह तो बिलकुल सत्य ही है, वास्तविक सत्य। मन के बनाये हुए किन्हीं नियमों में आसक्ति होना इस बात का सूचक है कि अब भी कहीं पर अंधापन छिपा हुआ है। उदाहरण के लिये, उस सार्वजनिक अंध-विश्वास को ले लो जो समस्त जगत् में फैला हुआ है कि वैरागी-जीवन और योग एक ही है। यदि तुम किसी का योगी या योगिनी कहकर वर्णन करो तो तुरंत उस व्यक्ति के बारे में लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह व्यक्ति कोई ऐसा होगा जो खाता नहीं अथवा सारे दिन एक आसन पर बिना हिले-डुले बैठा रहता है, किसी कुटिया में अत्यंत दरिद्रता-पूर्वक रहता है, जिसने अपना सब कुछ दे दिया है और अपने लिये कुछ भी नहीं रखा। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्य के संबंध में किसी से कुछ कहा जाता है तो सौ में से निन्यानवे आदमियों के मन में उस व्यक्ति के संबंध में इसी प्रकार का चित्र खिंच जाता है, इसके लिये आध्यात्मिकता का एकमात्र सबूत है दरिद्रता, तथा सुखद या आरामदेह चीजों से परहेज। यह एक मानसिक रचना है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार और अनुसरण करने के लिये स्वतंत्र होना चाहते हो तो इसे नष्ट करना होगा। कारण, आध्यात्मिक जीवन में तुम सच्ची अभीप्सा के साथ प्रवेश करते हो और चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवन में भगवान् से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; तब तुम एक ऐसे स्थान पर जा पहुंचते हो जिसे किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहां तुम्हारी एक ऐसे आध्यात्मिक पुरुष से भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, सब कुछ खाते हैं, उनके चारों ओर सुन्दर या अमीर चीजों का ठाठ है, जो कुछ उनके पास है उसे वे गरीबों को बांट नहीं देते, बल्कि जो लोग भेंट चढ़ाते हैं उसे स्वीकार करते और उसका उपभोग करते हैं। यह देखकर तुम अपने बंधे हुए मानसिक नियम के अनुसार तुरत घबड़ा जाते और चिल्ला उठते हो : "क्यों, यह सब क्या है ? मैंने तो सोचा था कि मेरी भेंट किसी योगी से होगी !" इस मिथ्या धारणा को तोड़कर गायब कर देना चाहिये। यह धारणा चली जाये तो तुम्हें कुछ ऐसी चीज प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्य के संकीर्ण-सिद्धांत से बहुत श्रेष्ठ है, तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि कोई चीज प्राप्त होती हो तो उसे स्वीकार करो और यदि उसी चीज को छोड़ देना हो तो उसी तत्परता के साथ छोड़ दो। अगर चीजें आयें तो उन्हें स्वीकार करो और अगर चली जायें तो जाने दो और छोड़ते समय समता की वही मुस्कान बनी रहे।

या फिर, मान लो कि तुमने "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये" (अहिंसा परमो धर्मः) को अपना सुनहरा नियम स्वीकार कर लिया है और क्रूरता तथा हत्या से कांप उठते हो। आश्चर्य मत करो यदि तुम अपने-आपको तुरत ही हत्या के सम्मुख पाओ और वह भी एक बार नहीं, बार-बार, उस समयतक जबतक कि तुम यह न समझ जाओ कि तुम्हारा आदर्श केवल मानसिक सिद्धांत है और कुछ नहीं और यह कि आध्यात्मिक सत्य के जिज्ञासु को किसी भी मानसिक नियम में आसक्त या बंधा हुआ न रहना चाहिये। और एक बार इस आसक्ति या बंधन से मुक्त होने पर संभवतः तुम देखोगे कि ये हिंसामय दृश्य जो तुम्हें दुःख देते थे—और वास्तव में तुम्हें दुःख देकर मानों मनो-निर्मित भवन से निकालने के लिये ही भेजे गये थे—अब तुम्हारे सामने नहीं आते, ये आश्चर्यजनक रीति से बंद हो गये हैं।

जब तुम भगवान् के पास जाते हो तो तुम्हें समस्त मानसिक धारणाओं को त्याग देना चाहिये; किंतु इसके बदले, तुम अपनी धारणाओं को भगवान् पर लादना चाहते हो और चाहते हो कि वे उनका अनुसरण करें। योगी के लिये सच्चा भाव तो केवल यही है कि वह नमनशील हो और भगवान् की ओर से जो भी आदेश मिले उसका पालन करने के लिये तैयार रहे; उसके लिये कुछ भी अनिवार्य न

हो और उसे कोई चीज भार नहीं लगे। अक्सर जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं उनका पहला आवेश यही होता है कि उनके पास जो कुछ हो उसे फेंक दें; किंतु अपना सब कुछ भगवान् के अर्पण करने के लिये नहीं, एक बोझ से छुटकारा पा जाने के लिये। जिनके पास धन है तथा जिनके इर्द-गिर्द अमीरी और भोग की सामग्रियां हैं, वे जब भगवान् की ओर मुड़ते हैं तो तुरत उनकी प्रवृत्ति इन सब चीजों से दूर भागने की ओर होती है,—अथवा, जैसा कि वे कहते हैं : "इनके बंधन से बच निकलने" की होती है। परंतु यह गलत प्रवृत्ति है, तुम्हें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं—वे तो भगवान् की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीज का भोग करो तो भोग कर लो; किंतु दूसरे ही क्षण, यदि उसे छोड़ना पड़े तो उसके लिये भी प्रसन्न चित्त से तैयार रहो।

निरीक्षण और एकाग्रता की शक्ति

सत्ता के कौन-से भाग में निरीक्षण की शक्ति विकसित होती है?

मेरा ख्याल है कि निरीक्षण की शक्ति सत्ता के सभी भागों में विकसित होती है। तुम्हारे अंदर मन की निरीक्षण-शक्ति हो सकती है, प्राण की निरीक्षण-शक्ति हो सकती है और शरीर की निरीक्षण-शक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ, जब तुम विचारों को, विचारों की शृंखला को, विचारों के तर्क को देखते हो, तब निरीक्षण की वही शक्ति नहीं होती जिसे तुम तब देखते हो जब तुम अपने किसी मित्र को व्यायाम आदि करते देखते हो और यह देखते हो कि वह व्यायाम की क्रियाएं ठीक ढंग से कर रहा है या नहीं। यानी, मनोयोग की क्षमता दोनों अवस्थाओं में है, किंतु उसका कार्यक्षेत्र भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता कि सत्ता का एक भाग दूसरे भागों को देख रहा है; सत्ता के प्रत्येक भाग में देखने की सामर्थ्य है अर्थात्, एकाग्रता और मनोयोग की सामर्थ्य विकसित हो रही है। निरीक्षण की सामर्थ्य को विवेक की सामर्थ्य के साथ नहीं मिला देना चाहिये। विवेक बौद्धिक क्षमता हैं। निर्णय जैसी वस्तु भी उसमें होती है, जिसे हम "विभेद कर सकने की क्षमता" कहते हैं : तुम किसी एक या दूसरी वस्तु के मूलस्रोत तथा इन वस्तुओं के पारस्परिक मूल्य के बीच में विभेद कर सकते हो। किंतु यह कार्य यथार्थ निरीक्षण पर आधारित होना चाहिये। निरीक्षण की शक्ति पहले आती है, विभेद करने की बाद में।

क्या अंतरात्मा में निरीक्षण की शक्ति होती है?

इससे भी अधिक! उसमें वस्तु की ओर सीधा देख सकने की शक्ति भी होती है। वह एक दर्पण के समान होती है जिसमें सब वस्तुओं की परछाईं पड़ती है, वे चाहे जो भी हों। और यह बात बड़े स्पष्ट रूप से अधिकतर बच्चों में होती है—यदि वे विकृत न हों तो—उदाहरणार्थ, जो कोई उनके पास आता है उसके वायुमंडल के प्रति उनमें संवेदनशीलता होती है। ऐसे बच्चे होते हैं जो बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के, एक व्यक्ति की ओर ललककर जाते हैं और दूसरे से डरकर भागते हैं। तुम्हारे लिये दोनों समान रूप से अच्छे हैं, या अच्छे नहीं हैं, तुम उनमें विभेद नहीं करते। किंतु बच्चा एक अवस्था में किसी व्यक्ति के प्रति तत्काल ही आकर्षित हो जाता है, और दूसरी में, चाहे तुम जितनी कोशिश क्यों न करो, वह रोने लगेगा, चिल्लायेगा अथवा भाग जायेगा, पर उस आदमी के पास नहीं फटकेगा; और यह

सब चाहे अनजाने में करता है, पर क्योंकि उसे व्यक्ति के आंतरात्मिक गुण का प्रत्यक्ष रूप से आभास मिल जाता है, वह उसकी चेतना में एक आंतरात्मिक तथ्य का अनूदित रूप धारण कर लेता है।

कुछ लोग बड़ी जल्दी ही एकाग्र हो सकते हैं जबकि दूसरे ऐसा नहीं कर सकते।

वे शायद किसी एक या दूसरे कारण से, जन्म से ही ऐसे होते हैं, या फिर शायद यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं वे एकाग्रता का अभ्यास कर लेते हैं। हां, कुछ ऐसे बच्चे हैं जो अपनी छोटी अवस्था में ही किसी बात को बड़े ध्यानपूर्वक सुनते हैं, जब कि कुछ का ध्यान सदा ही बंट जाता है। किंतु विभिन्न सत्ताओं की आंतरिक रचना ऐसी ही होती है। कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में एकाग्रता की महान् शक्ति होती है और कुछ में नहीं।

क्या इसे बढ़ाया जा सकता है?

हां, इसे विकसित किया जा सकता है, और इस विकास का कोई अंत नहीं। और इसे विकसित करना सर्वथा अनिवार्य भी है।

—श्रीमातृवाणी, खंड ६ से

माताजी के उत्तर

(एक फ्रेंच महिला के नाम जो १९३७ और १९४१ के बीच आश्रम में रही थीं)

कोई चीज अपरिहार्य नहीं है। हर क्षण उच्चतर लोक से भौतिक लोक में हस्तक्षेप हो सकता है जो परिस्थितियों के मार्ग को बदल सकता है। लेकिन इस स्थिति-विशेष में तुम्हारी भागवत कृपा पर श्रद्धा तथा डॉक्टरों की राय पर आश्रित बहुत शक्तिशाली मानसिक रचना के बीच संघर्ष है।

इस डॉक्टरी सुझाव की शक्ति इस तथ्य में है कि यह अपने-आपको अवचेतना में पैठा देता है और वहां से शरीर पर क्रिया करता है, उसे सचेतन मन भी नहीं पकड़ सकता जबतक कि उसे गुप्तचर की जागरूकता के साथ अवचेतना को शुद्ध करने का अभ्यास न हो।

तो यह बात है—मैं तुम्हें यह वचन नहीं दे सकती कि कृपा पर तुम्हारी श्रद्धा तीव्र होगी, इतनी अटल होगी कि इन हानिकर डॉक्टरी संकेतों के प्रभाव को जीत ले। मुझे लगता है कि मुझे यह कहने का अधिकार नहीं है कि "यह कुछ भी नहीं है," जबकि तुम्हारी भौतिक चेतना में हर चीज "संकट" की पुकार लगा रही है।

विश्वास रखो कि हमारी सहायता और हमारे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

२४ मार्च १९३७

निश्चय ही हम तुम्हें जूनतक यहां रखने से खुश होंगे।

तुम्हारा यह कहना बिलकुल ठीक है कि ये 'बंद दरवाजे' कल्पना का प्रभाव हैं। उनमें से निकल जाने की इच्छा में हमेशा उन्हें खोलने की शक्ति होती है जैसे विजय की निश्चिति मार्ग को आलोकित करती है।

१२ अप्रैल १९३७

निश्चय ही जब तुम वापिस आने के लिये तैयार हो, जब तुम अपने बेटे के लिये जो करना चाहती हो वह कर लो तो बस हमें खबर कर देना और हम तुम्हारा स्वागत करने के लिये खुश होंगे।

आंतरिक निश्चलता और शांति और भगवान् की ओर तीव्र अभीप्सा, हम जो सहायता दे सकते हैं उसे पाने के लिये सर्वोत्तम तैयारी हैं। तुम हमसे उसे पाने के बारे में निश्चित रहो।

२९ अप्रैल १९३७

साधारणतः सहसा होनेवाले परिवर्तन न तो सर्वांगीण होते हैं न चिरस्थायी। वे प्राण में बिजली की कौंध होते हैं जो बहुधा धुएं में विलीन हो जाते हैं। धीरे-धीरे, स्थिर रूप से किया गया प्रयास और अविच्छिन्न प्रगति अधिक विश्वसनीय है।

अपनी आत्मा के शोध के लिये, नींद में क्या हुआ था उसे याद करना अनिवार्य नहीं है।

मैं खुश हूं कि तुम स्वस्थ अनुभव कर रही हो।

विश्वास रखो कि हमारी सहायता और संरक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

१२ मई १९३७

अपने-आपको विशालता के भाव से अभिभूत न होने दो बल्कि उसमें खुशी से और शांति में स्नान करो। अगर हम अपरिहार्य रूप से अपनी व्यक्तिगत चेतना की चारदीवारी में बंद होते तो यह सचमुच दुःखद और अभिभूत करनेवाला होता—लेकिन अनंत हमारे लिये खुला हुआ है, हमें बस उसमें डुबकी लगानी है।

२९ मई १९३७

श्रीअरविंद ने तुम्हारा पत्र पढ़ लिया है और वे मेरे साथ इस बात से सहमत हैं कि इतनी आगे से योजना बनाना कठिन है क्योंकि परिस्थितियों के बारे में अनुमान करना बहुत कठिन है। फ़िर भी एक बात निश्चित है: श्रीअरविंद ने तुम्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है—यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने तुम्हें एक नया नाम दिया है लेकिन शिष्य होने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि तुम आश्रम में निवास करो। वस्तुतः आश्रम में रहनेवालों की अपेक्षा बाहर रहनेवाले शिष्य अधिक हैं। आश्रम में रहने के लिये कई शर्तें जरूरी हैं जिनमें से एक यह है कि आदमी का स्वास्थ्य इतना अच्छा हो कि वह यहां के अनुशासन का पालन कर सके, जो विशेष भोजन, परिचर्या आदि की व्यवस्था नहीं करता; ये व्यवस्थाएं दर्शकों के लिये, कुछ समय के लिये की जा सकती हैं किंतु कई कारणों से इन्हें स्थायी करना संभव नहीं है। अतः जब तुम लौटने के लिये तैयार हो तो हमें तीन-चार महीने पहले सूचना दे देना ताकि हम कोई व्यावहारिक व्यवस्था कर सकें।

रही बात वाचन की तो मेरा ख्याल है कि तुम्हारे लिये ज्यादा अच्छा होगा कि तुम अभी के लिये इस तनाव से बची रहो। मेरा ख्याल कि तुम अभी जो अनौपचारिक कक्षाएं लेती हो वे काफी हैं।

मैं यह जानकर प्रसन्न हूं कि तुम स्वस्थ हो गयी हो और आशा करती हूं कि तुम अधिकाधिक स्वस्थ होती जाओगी।

५ जुलाई १९३७

मुझे खेद है कि पिछले कुछ दिनों से तुम दुःख का अनुभव कर रही हो। ऐसा होना नहीं चाहिये था। प्रकाश को हमेशा अपने साथ नयी प्रगति का आनंद लाना चाहिये। मेरा ख्याल है कि अब सब कुछ ठीक हो जायेगा।

१० जुलाई १९३७

चिंता न करो। तुमने जाने या अजाने कोई भूल नहीं की है। मैं भीतरी और बाहरी परिस्थितियों के समूह की बात कह रही थी, परिस्थितियों के ऐसे समूह की जो अनिवार्य रूप से पिछले समूह का परिणाम होता है और इसी तरह चलता रहता है। केवल योग-शक्ति, दिव्य चेतना की शक्ति ही परिणामों की इस शृंखला को तोड़ सकती है।

तुम्हें शांति-भरे हृदय और आशा-भरे मन के साथ जाना चाहिये। तुम्हें इस विश्वास के साथ जाना चाहिये कि हमारी सहायता और हमारी शक्ति तुम्हारे साथ जा रही हैं और हमारे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं और रहेंगे।

१४ सितंबर १९३७

(यह शिष्या सितंबर १९३७ के अंत में फ्रांस चली गयीं और १९३८ के मार्च में फिर आश्रम आ गयीं और १९४१ तक रहीं।)

डरो मत; मैं आभासों के परे देख सकती हूं और नीरवता में या शब्दों के परे समझ सकती हूं।

मेरी भुजाएं हमेशा तुम्हें सहारा देने और मार्ग दिखाने के लिये तुम्हारे चारों ओर रहेंगी।

निश्चय ही तुम मेरी प्रिय बालिका हो लेकिन मैं चाहती हूं कि वह प्रसन्न रहे, दुःखी नहीं; आलोकित रहे, अज्ञानी नहीं।

मेरे आशीर्वाद सदा सप्रेम तुम्हारे साथ रहते हैं।

१३ जून १९३८

चूंकि मैंने तुम्हें प्रणाम के समय नहीं देखा अतः मैं यह पूछने के लिये तुम्हें लिखने ही वाली थी कि कल के पत्र में तुमने जिस थकान का उल्लेख किया था वही तो इसका कारण नहीं है। और अभी-अभी मुझे तुम्हारा आज सवेरे का पत्र मिला। कैसी बुरी बात है कि तुम्हें बुखार आ गया! लेकिन क्यों? कोई कारण तो नहीं दिखायी देता। मैं आशा करती हूं कि यह जल्दी ही समाप्त हो जायेगा।

यह कहने की जरूरत नहीं है कि हमारी सहायता, हमारी शक्ति, हमारा संरक्षण और हमारे आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ रहते हैं। तुम्हें अपने-आपको उनके अंदर शांत करनेवाले, स्वस्थ करनेवाले स्नान-कुंड की तरह निमज्जित करना चाहिये। मैं अपना स्नेह भी उनके साथ जोड़ती चलूं।

१७ जुलाई १९३८

मेरे लिये तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि मुझे 'यूट्रोपीन' या उसके प्रभाव का कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं है। लेकिन एक साधारण नियम के रूप में मुझे ऐसा लगता है कि जब तुम डाक्टर के पास जाओ तो तुम्हें उसके कहे अनुसार करना चाहिये। वृक्क शोथ के रोगों में यह दवाई वर्जित है। तुम्हें डाक्टर से यह आश्वासन मांगना चाहिये कि तुम्हें वृक्क शोथ नहीं है। यह संभव नहीं लगता।

हमारी सहायता और आशीर्वाद हमेशा सस्नेह तुम्हारे साथ हैं।

२० जुलाई १९३८

"भौतिक में अभीप्सा"[१] का यह फूल हमारे आशीर्वाद और प्रेम के साथ।

डाक्टर के शब्दों से विचलित न होओ! रोग कभी गंभीर नहीं होते जबतक कि हम उन्हें ऐसा मान

[१] एक तरह का पलास।

न लें। इसके अतिरिक्त मैं बहुत जल्दी यह सुनने की आशा कर रही हूं कि तुम अच्छी हो गयी हो।

२४ जुलाई १९३८

यह लो छोटा-सा "नवजन्म"[१]।

तुम वस्तुतः बीमारी का इससे अच्छा क्या उपयोग कर सकती हो कि इसे एक अवसर मानो और अपने अंदर गहराई में जाओ और जागो, एक नयी, अधिक आलोकमय और अधिक सच्ची चेतना में जन्म लो।

हमारी सहायता और हमारे आशीर्वाद हमेशा सस्नेह तुम्हारे साथ हैं।

२८ जुलाई १९३८

श्रीअरविंद का और मेरा यह ख्याल है कि तुम्हारे लिये प्रणाम के लिये आने से पहले एक सप्ताह प्रतीक्षा करना ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण होगा। और सप्ताह में दो बार का ध्यान तो तभी संभव होगा जब तुम दुर्बलता का जरा भी अनुभव न करो; क्योंकि अभी लोग बहुत हैं और भौतिक वातावरण श्वास लेने के लिये भारी है।

इसलिये हम तुम्हें और कुछ समय धीरज धरने की सलाह देते हैं ताकि अपने भौतिक बल को लौट आने के लिये समय दे सको। इसके लिये हमारी सहायता और हमारा संरक्षण तुम्हारे साथ हैं।

बहुत प्रेम के साथ।

२६ अगस्त १९३८

मुझे याद नहीं पड़ रहा कि मैंने श्रीअरविंद के किसी ऐसे उद्धरण का उल्लेख किया हो जिसमें उन्होंने वर्तमान घटनाओं की भविष्यवाणी की हो। मैंने कुछ ऐसे पृष्ठों की बात की थी जिनमें श्रीअरविंद ने जड़-पदार्थ को दिव्य बनाने के अपने कार्य की एक संक्षिप्त-सी झांकी दी थी। मैंने तुमसे कहा था कि उन्होंने "विचार और झांकियां" के एक अध्याय में ऐसा संकेत दिया है।

२० सितंबर १९३८

चिंता न करो; तुमने नीरवता में बहुत आगे वह बात कही थी जिसे तुमने आज शाम को स्वीकार किया है। और मैंने हमेशा यही एक उत्तर दिया है : चिंता न करो, यह जरूरी नहीं है कि सभी उपहार भौतिक हों और निश्चय ही आत्म-दान सबसे अच्छा उपहार है।

२९ सितंबर १९३८

ये सहज प्रतिवर्ती क्रियाएं अवचेतना को प्रकट करती हैं अतः ऐसे सहज आवेशों को खोज लेने पर तुम धीरे-धीरे अवचेतना के अछूते वन के मार्ग को परिष्कृत कर सकती हो और उसमें प्रकाश ला सकती हो।

चिंता न करो और सबसे बढ़कर यह कि दुःखी न होओ! बारह तारीख को **खुराक** शायद कुछ ज्यादा तीव्र हो गयी थी और परिणाम-स्वरूप हजम करने में कुछ कठिनाई हुई। अगर तुम बस अचंचल रह सको, **बहुत अचंचल** तो सारी चीज बैठ जायेगी। तब प्रकाश हमेशा से ज्यादा प्रकाशमान और सुंदर प्रकट होगा।

[१] मरुआ को दिया हुआ माताजी का नाम।

भय न करो—किसी में वह शक्ति नहीं है जो तुम्हें मुझसे दूर ले जा सके क्योंकि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं, तुम्हारे अंदर हूं।

सप्रेम।

१३ नवंबर १९३८

माताजी,

मैंने डॉक्टर के कहे अनुसार दवाई नहीं ली क्योंकि मैं आपको लिखनेवाली थी। मैं आपसे पूछे बिना कुछ न करूंगी। क्या मैं पैरिस के डॉक्टर 'क' की राय जानने के लिये उन्हें पत्र लिखूं?

हां, ज्यादा अच्छा हो कि अपने पैरिस के डॉक्टर से सलाह किये बिना कुछ न करो।

क्या मैं होमियोपैथिक डॉक्टर से सलाह करूं? मैं उसे नहीं जानती।

नहीं, जरूरी नहीं है; जितने कम हो सकें उतने कम डॉक्टर, जितनी कम हो सकें उतनी कम दवाइयां!!

'क' मुझे आग्रहपूर्ण सलाह दे रहा है कि मैं 'जेनास्प्रीन' लूं। मेरी इच्छा नहीं है। मैं शामक नहीं लिया करती। उसका कहना है कि यह शामक नहीं, रक्त-संकुलता को दूर करनेवाली चीज है। मैं इस बारे में कुछ नहीं समझती। मैंने उससे कह दिया है कि मैं आपसे पूछूंगी।

नहीं, नहीं कोई दवाइयां नहीं। जितनी अधिक दवाइयां ली जायें उतना ही वे शरीर के स्वाभाविक प्रतिरोध को कम करती हैं।

तनाव को दूर करने के लिये दस मिनट की आंतरिक और बाह्य **सच्ची अचंचलता** दुनिया भर की सभी दवाइयों से अधिक प्रभावकारी होती है। नीरवता में ही सबसे अधिक प्रभावकारी सहायता मिलती है।

हमारे आशीर्वाद के साथ।

३० जनवरी १९३९

सच कहा जाये तो मेरा ख्याल है कि डॉक्टर की बात ठीक है। तुम्हारी शिकायत स्नायविक है। मेरा मतलब यह है कि यह आंगिक नहीं क्रियागत विकार है। यह तथ्य कि तुम्हारे सिर में दर्द है इस बात को झुठलाता नहीं, क्योंकि स्नायविक सिर-दर्द भी हो सकता है और उससे बहुत अधिक कष्ट होता है। बहरहाल, स्नायविक हो या न हो, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अगर भगवान् के साथ तुम्हारा सतत संपर्क हो तो तुम पूरी तरह चंगी हो जाओगी।

हमारे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

अत्यधिक स्नेह के साथ।

९ फरवरी १९३९

सूची-वेध न लेना कितना अच्छा होगा! है न?

और बातों के बारे में चिंता न करो। भागवत कृपा हर चीज के, यहांतक कि दोषों के भी पीछे है और उसकी सहायता से ऐसी कोई चीज नहीं है जो प्रगति के लिये अवसर न बनायी जा सके।

हमारे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

२३ मार्च १९३९

तुम अपने-आपको व्यर्थ में कितनी यातना दे रही हो ! मैं भली-भांति जानती थी कि तुम बैंकर के यहां भोजन के लिये जाया करती हो। मुझे उसमें तुम्हारी छोटी-मोटी संगीत-सभाओं या और ऐसी ही चीजों की तरह कोई गलती नहीं दिखाई दी। मैंने हमेशा यही सोचा है कि तुम जिससे चाहो मिल सकती हो और जहां चाहो जा सकती हो। मैंने इस बारे में तुम्हें एक बार सलाह दी है वह भी छोटी-सी सलाह, उससे बढ़कर कुछ नहीं। केवल एक बार बहुत ही यथार्थ मामले की ओर संकेत किया था।

मैं जल्दी यह चिट्ठी इस आशा से भेज रही हूं कि यह तुम्हारे लिये वह शांति और प्रशांति लेकर आयेगी जो मैं हमेशा तुम्हारे लिये चाहती हूं।

मेरे आशीर्वाद अविच्छिन्न रूप से तुम्हारे साथ हैं।

३ मई १९३९

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

अगर तुम चीजों को देखने की मेरी **सच्ची** दृष्टि चाहती हो तो मुझे तुमसे यह कहना होगा कि भागवत कृपा पर श्रद्धा और भरोसे की एक अच्छी मात्रा दुनिया भर की सभी गोलियों और सूची-वेधों से ज्यादा अच्छी है।

मेरे आशीर्वाद के साथ। मैं हमेशा तम्हारे साथ हूं।

७ मई १९३९

मेरी प्यारी बेचारी 'क',

मुझे सचमुच खेद है कि मैं तुम्हें निराश कर रही हूं। लेकिन तुम जिस मुलाकात की इच्छा कर रही हो वह निश्चय ही युद्ध की समाप्ति से पहले नहीं हो सकती।

और फिर आंतरिक विकास के लिये मैं शब्दों को जरूरी नहीं मानती। नीरवता में हमारी समस्त सहायता अपने सबसे अधिक सशक्त रूप में रहती है।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

६ सितंबर १९३९

मेरी नन्हीं 'क',

यह असंभव है कि तुम किसी के साथ बैठकर ध्यान करो और **उसमें से निकलनेवाले स्पंदन तुम्हें प्रभावित न करें**, ठीक उसी तरह जैसे तुम किसी कमरे की हवा में सांस लिये बिना प्रवेश नहीं कर सकते।

जब किसी का वातावरण हानिकर तथा प्रभाव बुरा होता है (मैंने तुम्हें इसकी चेतावनी दी थी) तो तुम्हें इस बात की बहुत सावधानी रखनी चाहिये कि उस वातावरण में ध्यान करके अपने-आपको ग्रहणशीलता की अवस्था में न रखो।

यह नैतिक दृष्टि से गलत नहीं है परंतु अज्ञान की क्रिया है। लेकिन यह कहने की जरूरत नहीं कि

यह तुम्हें मेरी छोटी-सी 'क' होने से नहीं रोक सकता या मेरी भुजाओं को तुम्हें घेरने और तुम्हारी रक्षा करने से नहीं रोक सकता।

१९ सितंबर १९३९

तुम अपना मौन क्यों भंग करना चाहती हो? नीरवता सभी सच्ची आध्यात्मिक उपलब्धियों का द्वार है।

और मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं। नीरवता में मेरी शक्ति में से खींचो, यह तुम्हें कभी धोखा न देगी।

हमारे आशीर्वाद।

२३ सितंबर १९३९

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

जब ईर्ष्या का भूत तुम्हारे कान में कुछ फुसफुसाता है तो तुम्हें बहुत सावधान रहना चाहिये कि उसकी बात पर कान न दो।

जब युद्ध शुरू हुआ तो मैंने तुमसे कहा था कि जबतक यह समाप्त न हो जाये मैं आश्रमवासियों से मुलाकात न करूंगी। मैंने जो कहा था वही कर रही हूं। सभी नियमित मुलाकातें बंद हैं। कभी-कदास, हमेशा नहीं, मैं किसी दर्शक से उसके जाने से पहले मिलती हूं। इसके अतिरिक्त इतने महीनों में दो-तीन ही अपवाद हुए हैं। **उनमें से एक** मुलाकात तुम्हारे साथ, तुम्हारे मामले में हुई थी। अगर किसीने तुमसे इससे उल्टी बात कही है तो उसपर विश्वास क्यों करती हो? तुम्हें तुरंत इन छायाओं को अपने से बहुत दूर भगा देना चाहिये और हमेशा अटल विश्वास की शांति में निवास करना चाहिये।

मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं। अगर तुम ध्यान से सुनो तो तुम अपने प्रश्नों के लिये मेरे उत्तर सुनोगी। जब तुम्हारे अंदर सब कुछ नीरव और अचंचल हो जाता है तो तुम ठोस रूप से मेरी उपस्थिति का अनुभव कर सकोगी और उससे बढ़कर वास्तविक या उससे बढ़कर प्रभावकारी कोई सहायता नहीं होती।

हमेशा मेरे गहनतम प्रेम और हमारे आशीर्वाद के साथ।

४ मार्च १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

मैं बाइसवीं तारीख के लिये सहमत हूं—शायद शाम को साढ़े पांच बजे सीढ़ियों के ऊपर। लेकिन अत्यधिक अस्थिरता के इन दिनों में, इतने दिन पहले से व्यवस्था करना कठिन है। हमें दिन-प्रतिदिन जीना चाहिये। हमारी समस्त चेतना एकमात्र आलोकमय क्षितिज, भागवत उपलब्धि पर केंद्रित होनी चाहिये।

हमारे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं, साथ में मेरा प्रेम भी।

५ जुलाई १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

शुष्कता अपने बारे में बहुत अधिक चिंतित रहने का लक्षण है, (वह चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक) और परिणाम-स्वरूप चेतना की संकीर्णता का जो पर्याप्त रूप से भागवत शक्तियों के साथ संपर्क में नहीं रहती।

उपचार: भगवान् के प्रति पूर्णतर आत्मदान।

मेरे आशीर्वाद और समस्त प्रेम के साथ।

८ दिसंबर १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

चिंता न करो, मेरा मतलब केवल यही था कि तुम अभीतक पूरी तरह सामाजिक बंधनों से मुक्त नहीं हो। लेकिन यह मुक्ति निश्चय ही आयेगी, जैसे-जैसे तुम्हारे अंदर भगवान् के प्रति अभीप्सा की ज्वाला अधिकाधिक तीव्रता के साथ प्रज्ज्वलित होगी।

मेरे आशीर्वाद और समस्त प्रेम के साथ।

१६ जनवरी १९४१

सिंहवाहिनी

एक थी राजकुमारी। नाम था रश्मि।

जैसा नाम वैसा गुण।

रश्मि जहां भी जाती खुशी और उत्साह का प्रकाश फैलाती।

एक दिन रश्मि ने सुना कि पास के जंगल में एक विकराल सिंह रहता है।

कितने शिकारी मौत के घाट उतर गये पर...कोई उसे जीत न सका।

कितने तो उसे देखते ही दुम दबाकर भाग निकले।

कितनों को डर के मारे बुखार आ गया।

सारे राज्य में सिंह की ही चर्चा थी।

जब राजा वेद-भास्कर ने यह सुना तो उन्होंने ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो उस सिंह को जिंदा पकड़ लायेगा उसे आधा राज्य दे देंगे।

एक दिन रश्मि ने सोचा, "पुरस्कार के लिये न सही, अपना साहस आजमाने के लिये सिंह को मुझे पकड़ना चाहिये। असंभव को संभव बनाने में बड़ा आनंद है।"

रश्मि ने जानवरों के बारे में जानकारी प्राप्त की।

वह रथ में बैठकर, जंगल का चक्कर काटने लगी। जंगल अपरिचित न रहा तो अपने प्रिय घोड़े चेतन पर दिन-रात घूमने लगी। कभी-कभी शाम को एक सुनहरी झलक दिखायी देती।

रश्मि बहुत कोशिश करती कि घोड़ा रुक जाये, किंतु प्राण-भय से बौराए जानवर को वह किसी तरह रोक न पाती। जब कई दिनतक यही होता रहा तो रश्मि ने शाम को पैदल जाने का निश्चय किया।

पहले दिन घूम-फिरकर थक गयी लेकिन केसरी के दर्शन न हुए। फिर... एक दिन अचानक उसे लगा कि उसके पीछे खड़ा कोई उसे घूर रहा है। अचानक पीछे मुड़ी तो देखा वनराज बड़ी शान से, बड़ी शांति से उसे ताक रहे हैं।

रश्मि ने सोचा, "क्या मेरे सिर के पीछे आंखें हैं? मुझे कैसे पता चला कि..."

उन चमकती, रौबीली आंखों का सामना होते ही उसके विचार रुक गये। आह! कैसा शानदार प्राणी है! सचमुच, आखों में राजा की-सी शालीनता थी, भव्यता थी। काश, इतनी शक्ति का कोई और उपयोग होता!

रश्मि बेझिझक उन प्रकाशमान नेत्रों में झांकने लगी। सिंह पहली बार ऐसा साहसी मानव देख रहा था। उसने नथुने सिकोड़े, जोर से सांस ली, "ना, यह प्राणी डर की दुर्गन्ध नहीं छोड़ता। कैसा साहसी है! उसकी आंखों में भी एक शान है, कुछ-कुछ शेरों जैसी।"

सिंह आहिस्ता-आहिस्ता पास आने लगा किंतु . . . उसे याद हो आयी एक घटना, और वह भाग खड़ा हुआ। उसका मित्र, शेरेजंग, इसी तरह एक बार ऐसे प्राणी को ताक रहा था कि "धांय !! धांय !!" उसने एक काली चीज निकाली और कुछ सनसनाता हुआ उसकी ओर लपका, और उसके पांव में घुस गया। वह दहाड़ कर नीचे गिरा ! बेचारा ! कितने दिन गुफा में पड़ा रहा। अगर वह अपने मित्र की मदद न करता तो वह कबका हमेशा के लिये सो चुका होता। उन दिनों कितना शिकार किया था उसने !!

धीरे-धीरे सिंह और रश्मि एक-दूसरे से परिचित होने लगे। सिंह को विश्वास हो गया कि रश्मि कभी काली चीज निकालकर उसे तकलीफ न देगी। अब वह रश्मि की आवाज भी पहचानने लगा था।

एक दिन मौका देखकर रश्मि मधुर आवाज में बोली : "आह, केसरी ! कैसा सुनहरा रंग है तुम्हारा ! कैसी चमकती आंखें हैं और अयाल का तो कहना ही क्या !"

सिंह ने गरदन हिलायी।

रश्मि बोली : "वाह वनराज ! दुश्मन इस अदा से ही भाग खड़ा होगा।"

सिंह ने हल्के-हल्के गुर्राना शुरू किया।

शिकारियों ने आश्चर्य से देखा कि जंगल में एक लड़की और शेर साथ-साथ घूम रहे हैं।

रश्मि के लिये सिंह से दूर रहना मुश्किल हो गया। उसने बहुत धीरे-धीरे केसरी को जंगल से बाहर निकालना शुरू किया, फिर उसकी पीठ के सहारे खड़ी होने लगी, और एक दिन सिंह को पता लगे उससे पहले ही रश्मि उसपर सवार हो गयी। कुछ असमंजस के बाद सिंह को मजा आया इसमें। वह पूरे जोर से दौड़ा, रश्मि उसके अयाल से चिपक गयी। दौड़ के बाद दोनों घास पर सुस्ताने लगे।

एक दिन रश्मि केसरी पर सवार होकर अपने महल की ओर चल पड़ी। सड़क पर हलचल मच गयी। लोग भागने लगे, छोटे बच्चे रोने-चीखने लगे; और महल का द्वारपाल अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं छोड़कर हवा में लुप्त हो गया।

इतना कोलाहल सुनकर महाराज वेद-भास्कर बाहर आये। सामने का दृश्य देखकर स्तब्ध रह गये। कुछ क्षण बाद रश्मि को पहचाना तो उनका दिल बल्लियों उछलने लगा। सोचा : "आह ! देखा, जो बड़े-बड़े वीर न कर सके, मेरी बेटी ने कर दिखाया।"

वे चिल्लाये : "शाबाश, बेटी !"

उस रात राजा ने रश्मि को एक रहस्य बताया। उनके महल के नीचे एक तहखाना है। वह भयंकर विषैले प्राणियों का सदियों से निवास-स्थान बना हुआ है। बार-बार रात को वहां से बाहर आकर वे प्रजा में बीमारियां फैलाते हैं। उनमें डर, गुस्सा, घृणा फैलाते हैं। महाराज वेद-भास्कर वास्तव में इन भयंकर प्राणियों का नाश करने के लिये सिंह को प्राप्त करना चाहते थे। क्या रश्मि उससे यह काम करवा सकेगी। रश्मि खुशी से झूम उठी।

दूसरे दिन ही उसने तहखाने में उतरने की कोशिश की, लेकिन वहां की दुर्गन्ध और ठोस अंधकार ने उनको उतरने न दिया।

पहली बार प्रवेश किया तो केसरी पर एक जहरीली फुफकार का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह कई दिन बीमार रहा।

रश्मि ने सोचा : "उफ, मैं अपने बलबूते पर असंभव काम करने चली थी, हो तो कैसे ?" दूसरे प्रवेश के पहले रश्मि ने सूर्य देव की पूजा की, उनसे प्रार्थना की कि उस असीम अंधकार में एक किरण सहायता के लिये भेजें। रश्मि ने केसरी को भी प्रार्थना करना सिखाया। वह भी दो पंजे जोड़कर प्रार्थना करता था।

अब की बार ठोस अंधकार में एक प्रकाश की पतली रेखा दिखायी दी। प्रकाश को देखते ही अंधकार के प्राणियों में खलबली मच गयी। कुछ साहस करके आगे बढ़े। उनकी विचित्र आकृतियां देखकर रश्मि भौंचक्की रह गयी। एक का शरीर घोड़े का था लेकिन सिर मनुष्य का। दूसरे का शरीर शेर का और मुख मानव का। ऐसे कितने ही अजीबोगरीब आकार उनपर झपटे। लेकिन केसरी और रश्मि ने कइयों का सफाया कर दिया।

उस दिन केसरी और रश्मि ने पहली विजय पायी। बहुत सारे जंतुओं का नाश किया। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे उनका काम अधिक कठिन होता गया। कई बार सिंह विद्रोह करता, लड़ने से मुंह मोड़ता, रश्मि के हजार पुचकारने, डांटने के बावजूद, वह मुंह फुलाए बैठा रहता। रश्मि फिर से उसके साथ मेहनत करती।

समय को जाते देर नहीं लगती, रश्मि के प्रयास से सिंह का जंगलीपन कम हो गया, वह रश्मि का आज्ञाकारी कुत्ता-सा बन गया। अब उन्हें तहखाने के जानवरों को मारने में खास कठिनाई नहीं हुई।

एक दिन रश्मि ने देखा कि सब जानवर समाप्त हो गये; वह खुशी से उछल पड़ी। दूसरे ही क्षण उसका उत्साह कपूर की तरह उड़ गया। यह क्या ? घुप अंधेरे में से दानव आकृतियां उनकी ओर बढ़ रही थीं। रश्मि ने सिंह को इशारा किया। वह झट दहाड़ कर कूदा। राजकुमारी भी ढाल-तलवार लेकर उनसे उलझ पड़ी। घमासान युद्ध के बाद शत्रु-सेना परास्त हो गयी। राजकुमारी ने पांचों को एक रस्सी से बांध लिया और उन्हें बाहर खींच लायी।

महाराज वेद-भास्कर अपनी बेटी का पराक्रम देखकर फूले न समाये। उन्होंने एक सभा बुलवायी और प्रजा को राजकुमारी के साहस और वीरता के बारे में बताया।

उस दिन से प्रजा बड़े चैन से रहने लगी। बीमारी भाग गयी। राजकुमारी सिंह पर सवार होकर बाहर निकलती तो अपनी वीर राजकुमारी को देखने के लिये भीड़ उमड़ पड़ती। रश्मि का नाम तो वे भूल ही चुके थे। वे उसे सिंहवाहिनी कहते और उसके आते ही जयजयकार करके उसपर पुष्पवर्षा करते थे।

धीरे-धीरे राजकुमारी की ख्याति सारी दुनिया में फैल गयी। दूर-दूर से लोग उसे देखने और बधायी देने आते, लेकिन राजकुमारी सावधान थी। हर बार जब कोई प्रशंसा करता तो वह मन-ही-मन हाथ जोड़कर भगवान् सूर्य को धन्यवाद देती क्योंकि वह जानती थी कि उन्हींकी कृपा और बल से वह शत्रुओं को हरा सकी थी।

—अनुबेन

अवसर . . .

चर्चिल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को हिन्दुस्तान भेजा कि भारतीय नेताओं के साथ मिलकर कुछ समझौता कर लें ताकि युद्ध में भारत का सहयोग मिल सके। क्रिप्स प्रस्ताव के अनुसार भारत को तुरन्त स्वाधीनता तो नहीं दी जा रही थी पर काफी सारे अधिकार मिल रहे थे और इन चीजों में उंगली पकड़ने पर पहुंचा पकड़ना आसान होता है। क्रिप्स का भाषण रेडियो पर सुनकर श्रीअरविंद ने अपना राजनीतिक मौन भंग किया और उन्हें एक तार भेजा :

"भारत को आत्म-निर्णय करने का एक अवसर मिल रहा है। वह अपनी स्वाधीनता और एकता की व्यवस्था कर सकेगा और संसार के स्वाधीन देशों में अपना प्रभावशाली स्थान पा सकेगा। मैं आशा करता हूं कि सब असंगतियों, मतभेदों और विभाजनों को एक ओर रखकर इन प्रस्तावों को स्वीकार कर

लिया जायेगा। मैं यह भी आशा करता हूं कि भारत और ब्रिटेन के बीच पिछले संघर्षों को भुलाकर नये मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित होंगे और यह विश्व-ऐक्य की ओर एक बड़ा कदम होगा। इसमें आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न भारत मानवजाति के लिये ज्यादा आनन्दमय और ज्यादा अच्छे जीवन के निर्माण में सहायक होगा। इस दृष्टि से मैं सार्वजनिक रूप में इन प्रस्तावों का स्वागत करता हूं।''

इसके बाद ही उन्होंने अपने एक शिष्य, मद्रास के सुप्रसिद्ध एडवोकेट, दोरै स्वामी अय्यर को दिल्ली भेजा कि भारतीय नेताओं को समझायें कि भारत का कल्याण इसी में है कि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लें परंतु इसका कोई असर न हुआ। गांधीजी ने उसे उत्तर दिनांकित (पोस्ट डेटेड चेक) बताया। और कांग्रेस ने उसे अस्वीकार कर दिया। बाद में बहुतों को लगा कि अगर यह भूल न की गयी होती तो भारत विभाजन तथा उससे पैदा होनेवाली अनेक विभीषिकाओं से बच जाता। कन्हैयालाल मुंशी आदि कुछ नेताओं ने इसे प्रकट रूप से स्वीकार किया।

'गैर्वाणी' :

उपहारः

'सूफी' आख्यानकानि सदैव किमपि गभीरं सत्यं प्रकाशयन्ति। भवन्ति एतानि लघूनि किन्तु धारयन्ति स्वहृदये उज्ज्वलं हीरकम्। अस्तु, शृणुत बालाः—

प्रथमं तावत् मम प्रश्नस्य उत्तरं दीयताम्—यदि कोऽपि युष्माकमपमानं कुर्यात् तर्हि किं करिष्यथ यूयम्? तं स्नेहेन लाडयिष्यथ अथ वा ''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' इति नीतिं मनसि धारयित्वा अपमानस्य प्रतिकाररूपेण द्विगुणम् अपमानं करिष्यथ? मन्ये अधिकतराः जनाः एवमेव आचरिष्यन्ति किन्तु अस्ति एका अन्या अपि दृष्टिः या विरला किन्तु अनुकरणीया यतो हि सा साधुसंन्यासिनां नीतिः, प्रवृत्तिः च वर्तेते।

अथ एकदा कश्चिद् साधुः स्वशिष्यैः सह कुत्रापि गच्छति स्म। मार्गे केचन उद्धतजनाः अपशब्दबाणैः तम् अविध्यन्। शान्तमूर्त्तिः साधुः तूष्णीं स्वमार्गम् अन्वसरत्। कटुवचनैः अपि तमप्रभावितं वीक्ष्य क्रोधाविष्टाः ते महात्मने निरन्तरं गालिं दातुं प्रारभन्त।

साधुः उत्तररूपेण तेभ्यः आशीर्वचनानि व्यतरत्। आसीत् तस्य मुखे पूर्णशान्तिः परमानन्दश्च। तस्य अविचलता पुनः तेषां जनानां क्रोधाग्नौ घृतवदाचरत्, ते तं साधुं प्रहर्तुम् उद्यताः किन्तु न जाने साहसमेव नाभवत् तेषाम्। कथ्यते हि—यः गर्जति सः न वर्षति। साधुः पूर्ववत् निरन्तरम् आशीर्वचनानि उदचारयत्।

साधोः शिष्येषु एकः युवशिष्यः गुरोः एतादृशमाचरणं कथमपि न अबोधत् किन्तु तस्मिन् कोलाहलपूर्णे वातावरणे किमपि प्रष्टुमपि नाशक्नोत्।

अन्ततः दुष्टाः आत्मनि एव क्रुद्धाः, स्वयमेव श्रान्ताः स्वमार्गम् अन्वसरन्।

शान्तवातावरणं वीक्ष्य युवा संन्यासी गुरुं प्रणम्य आत्मजिज्ञासां प्राकाशयत्—प्रभो, ते जनाः भवन्तम् अनवरतम् अपशब्दान् अवदन् किन्तु भवान् प्रत्युत्तरे केवलम् आशीर्वचनानि एव अददात्। किं रहस्यम् अत्र गुरुदेव? कथ्यतां कृपया।

गुरुः सङ्क्षिप्तेन उत्तरेण शिष्यस्य जिज्ञासाम् अशमयत्—

वत्स, यस्य सकाशे यत् वस्तु भवति सः अन्येभ्यः तदेव दातुं शक्नोति। तेषां पार्श्वे आसीत्

गालिभाण्डारः, स्वनिधिः तैः वितीर्णः। मम प्रसेवे यदासीत् मया तदेव तेभ्यः उपहृतम्...।

कथ्यते अपि—

ददतु ददतु गालीर् गालिमन्तो भवन्तः
वयमपि तदभावे गालिदानेऽसमर्थाः।
जगति ददति सर्वे विद्यते यत् तदेव
नहि शशकविषाणं (शशकशृङ्गम्) कोऽपि कस्मै ददाति॥

—वन्दना

पुस्तक परिचय

हिन्दी प्रचारक संस्थान, पो॰ बॉ॰ ११०६, पिशाच मोचन, वाराणसी—२२१०१० के प्रकाशन

भरत एक जीवन—डा॰ युगेश्वर; मू॰ १२ रु॰।

डा॰ युगेश्वर पौराणिक जीवनियों को आधार बनाकर उपन्यास लिखने के लिये प्रसिद्ध हो चुके हैं। वे अभीतक सीता, राम, हनुमान आदि अनेक पुस्तकें लिख चुके हैं। उसी लीक पर चलते हुए उन्होंने यह पुस्तक 'भरत एक जीवन' लिखी है। जिनका उनकी पहली पुस्तकों से परिचय है उनके लिये इस पुस्तक का परिचय देने की जरूरत नहीं।

चित्तौड़ की पद्मिनी—ले॰ डा॰ हरि प्रसाद थप्लियाल; मू॰ १० रु॰।

महारानी पद्मिनी का नाम ही भारतीय प्रजा में रोमांच पैदा कर देता है। इस पुस्तक में पहले तो खिलजी और राजपूत सेनाओं के एक-दूसरे पर घात-प्रतिघात के सुन्दर वर्णन हैं जिन्हें पढ़कर उस जमाने के शौर्य और साहस का अच्छा परिचय मिलता है। स्वयं पद्मिनी जहां सौन्दर्य में अद्वितीय थी वहीं दूरदर्शिता और युद्ध-कला में भी उसकी बराबरी करना संभव न था। सुप्रसिद्ध कहानी को नया रूप देने के लिये लेखक बधाई के पात्र हैं।

बदलते परिवेश—ले॰ डा॰ हरिप्रसाद थप्लिलयाल।

मानव समाज का नक्शा बदलता जा रहा है। कभी कैसा रूप दिखायी देता है.कभी कैसा। इस पुस्तक की कुछ पंक्तियां इसका असली रूप दिखाने के लिये काफी हैं। दिवाकर मजदूरों को संबोधित करके कह रहा था, 'आज समाजवाद, मानववाद और यथार्थवाद का जमाना है, पूंजीपतियों और मजदूरों में दूरी नहीं होनी चाहिये। उनमें आपस में मेल, सद्भाव और भाई-चारा होना चाहिये। तभी सही अर्थों में पूंजी और श्रम का सदा समन्वय हो सकेगा।

पूरी रात का तूफान—ले॰ गदाधर नारायण; मू॰ ८ रु॰।

आजकल के समस्यापूर्ण गृहस्थ जीवन का एक दुःखदायी चित्रण।

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८ लोदी रोड, नयी दिल्ली—११०००३ का प्रकाशन

धूमाभ दिगन्त : लेखक मनोज दास, मू॰ ६० रु॰।

मनोज दास ओड़िया भाषा के मूर्धन्य कहानी लेखकों में से हैं और कहा जा सकता है कि ओड़िया की अन्य भगिनी भाषाएं भी उन्हें धीरे-धीरे अपनाती जा रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक उनकी कुछ चुनी हुई कहानियों का संकलन है। इनकी कहानियों में प्रेम, दुःख-दर्द, व्यंग्य, कविता सबकी एक सुन्दर झलक मिल जाती है। इनके पात्र सजीव, हाड़-मांसवाले होते हैं जिन्हें हम अपने आस-पास देख सकते हैं। 'धूमाभ दिगन्त' की कहानी का इन पंक्तियों से रस लीजिये—"शुरू में उसके संगीत शिक्षक थे कुछ भौंरें। वे उसे गुनगुनाना सिखा देने के बाद कोयल ने आगे की जिम्मेदारी ली। ऐसा नहीं था कि कोयल सिर्फ अपनी-अपनी कूक से ही अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रही थीं, वे उस लड़की को बुला ले जाती थीं, जंगल के एक ऐसे घने इलाके में, जहां किसी गुफा के अंदर घुसकर हवा तरह-तरह की ध्वनियां उत्पन्न करती थी, जो उसे बुला ले जाती थीं, मृदु-मृदु वीणा-वादन करते झरने के किनारे भी।

"उसे अक्षर सिखाया था ताराओं ने, प्यार करना सिखाया था इन्द्रधनुष ने, मुस्कुराना सिखाया था सूर्योदय ने और सूर्यास्त ने सिखाया था विषाद।"

यूं हिन्दी पाठक फकीर मोहन से लेकर मनोज दास तक सभी प्रतिष्ठित ओड़िया लेखकों से थोड़ा-बहुत परिचय रखता है लेकिन इस पुस्तक की अपनी ही शान है। और हम चाहेंगे कि मनोज दास का साहित्य हिन्दी में अधिकाधिक स्थान पाने लगे।

एक मजेदार बात और है—लेखक का परिचय देते हुए उसकी तुलना अनेक वर्तमान अंग्रेजी लेखकों के साथ की गयी है जिसमें आर० के० नारायणन की जगह आर० के० लक्ष्मणन छप गया है। क्या हम आशा करें कि मनोज दास लक्ष्मणन की तरह कार्टून बनाना भी शुरू करेंगे और उसमें भी वैसा ही यश कमायेंगे !

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER

"Work done in the right spirit is meditation."

— The Mother

दूसरों पर नियंत्रण रखने के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण पाना अनिवार्य शर्त है।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

नीरवता का महाशब्द

केवल एक निर्वैयक्तिक मौन है अब मेरा मन,
एक दृश्यमान अप्रतिम जगत् प्रांजल प्रसन्न,
प्रभु से नामाक्षरित नीरवता की विशालता
कामना से अक्षत, विचारमुक्त महानता।

कभी इसके पृष्ठों पर लिख सकता था अज्ञान
बुद्धि के कदक्षरों में भावी का अंध अनुमान,
कर सकता था क्षणभंगुर द्युतिस्फुरणों में संदेशों का दर्शन,
प्रकृति की कगार पर भटक रही आत्माओं का भोजन।

किन्तु अब मैं अदृष्ट मौन सर्वज्ञ ज्योति से उत्पन्न
महत्तर शब्द का कर रहा श्रवण :
जिसे केवल सुना नीरवता के कर्णों ने वह वाणी परम
शाश्वत ज्योति मंडल से अभिनियुक्त प्लुत गति कर रही अवतरण।

यह अविच्छिन्न शांति और यह सारा विस्तार विपुल
बन जाते महान् मुक्ति-सागर का आह्लाद तुमुल।

अनु०—अमृता भारती —श्रीअरविन्द

दैनन्दिनी

जून

१. मैं उनसे बस यही मांग करती हूं कि वे विश्वास रखें और सहा करें।
२. सत्य विजयी होगा।
३. साहसी बनो।
४. क्या हम यहां विजय पाने के लिये नहीं हैं ?
५. जब तुम्हें ऐसा लगे कि तुम्हारे काम में कोई चीज बाहर से तकलीफ दे रही है तो भीतर देखो तब तुम अपने अंदर उसके अनुरूप कठिनाई पाओगे।
६. अपने-आपको बदलो तो परिस्थितियां बदल जायेंगी।
७. और यह कभी न भूलो कि हम यहां पर भगवान् के लिये काम रहे हैं और किसी अहंकारभरे भाव को इसमें घुसने और काम बिगाड़ने नहीं दिया जा सकता।
८. अनुशासन के बिना कोई उचित काम संभव नहीं है।
९. अनुशासन बिना उचित जीवन असंभव है।
१०. और सबसे बढ़कर यह कि अनुशासन बिना साधना असंभव है।
११. भगवान् के प्रति तुम्हारी सेवा पूरी तरह ईमानदार, अनासक्त और निःस्वार्थ होनी चाहिये अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं।
१२. अहंकार को जीतने का काम समय लेनेवाला, धीमा और कठिन है। उसमें सतत सतर्कता और लगातार प्रयास की जरूरत होती है।
१३. तुम्हारा जीवन पूरी तरह भागवत कार्य के लिये समर्पित होना चाहिये और उसपर तुच्छ मानव विचारों का राज नहीं हो सकता।
१४. यहां जो कुछ भी किया जाये, वह भगवान् की सेवा के एकमात्र लक्ष्य के साथ सहयोग के भाव से किया जाना चाहिये।
१५. पृथ्वी के प्रसन्न होने के लिये शक्ति केवल उन लोगों के हाथ में होनी चाहिये जो भागवत इच्छा के बारे में सचेतन हैं।
१६. सच कहा जाये तो जब उपलब्धि का समय आयेगा तो वह बिल्कुल स्वाभाविक रूप से आयेगी।
१७. हर एक का कर्तव्य है कि अपने-आपको उस उपलब्धि के लिये यथासंभव पूरी तरह तैयार करे।
१८. जब तक तुम किसी के पक्ष में और किसी और के विरोध में रहते हो तब तक तुम निश्चित रूप से सत्य के बाहर रहते हो।
१९. स्वाधीनता केवल भगवान् के साथ ऐक्य में ही संभव होती है।
२०. और भगवान् के साथ एक होने के लिये तुम्हें अपने अंदर कामना की संभावना तक को जीतना होगा।
२१. हमारे मार्ग में कठिनाइयां हैं लेकिन माताजी कहती हैं कि इसे एक नियम समझ लो कि तुम्हारी कठिनाइयां और तुम्हारे कष्ट हमेशा ऐसे होते हैं जिन्हें जीतने की तुम्हारे अंदर क्षमता होती है।
२२. अगर हम अपनी अच्छे-से-अच्छी स्थिति में रहें तो हम सदा संयम खोये बिना परिस्थिति का समाधान कर सकेंगे।

२३. हर चीज में, हर तरह, निष्कर्ष एक ही आता है—हमेशा प्रगति करने की कोशिश करो।
२४. अपनी सच्ची आत्मा बनने की कोशिश करो।
२५. तुम्हें सदा अपने हृदय में सद्भावना और प्रेम रखना चाहिये और वे सदा शान्ति और समता के साथ सब पर उंडेले जा सकें।
२६. मानवजाति पार्थिव सृष्टि का अंतिम सोपान नहीं है। विकास जारी है और मनुष्य का अतिक्रमण होगा, हर व्यक्ति को यह जानना होगा कि क्या वह नूतन जाति के आगमन में भाग लेगा।
२७. भविष्य की ओर बढ़ने का अर्थ है सभी नैतिक और भौतिक लाभों को त्यागने के लिये तैयार रहना ताकि हम उसे प्राप्त कर सकें जो भविष्य हमें दे सकता है।
२८. आध्यात्मिकता और भौतिक जीवन में विरोध, दोनों के बीच विभाजन का मेरे लिये कोई अर्थ नहीं है क्योंकि सच्ची बात तो यह है कि ज़ीवन, प्राण और आत्मा एक ही हैं।
२९. उच्चतम आत्मा को भौतिक और भौतिक कार्य के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिये।
३०. अगर हर एक गंभीरता के साथ अपनी पूर्णता के लिये काम करे तो समस्त जगत् की पूर्णता अपने-आप आ जायेगी।

कला का मूल्य

बौद्धिक क्षमता के प्रशिक्षण में कला का मूल्य उसके उपयोग में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस क्षमता के दो पहलू हैं; पहला कल्पनात्मक, सर्जनात्मक और सहृदय या व्यापक बौद्धिक केन्द्र और दूसरा आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक और मर्मज्ञ या भेदक। दूसरे के प्रशिक्षण के लिये विज्ञान, आलोचना और अवलोकन सबसे ज्यादा उपयोगी हैं और पहले के लिये कला, काव्य, संगीत, साहित्य और मनुष्य तथा उसकी बनायी हुई चीजों का सहानुभूति-भरा अध्ययन। इनसे मन एक ही नजर में चीज को पकड़ने लायक तेज, विभिन्न रंग-छटाओं में फर्क कर सकने लायक सूक्ष्म, छिछले अभियान को त्यागने लायक गहरा, गतिशील, नाजुक, तेज और अंतर्भासिक बनता है। कला प्रशिक्षण में सहायता करने के लिये मन के अंदर बिम्ब बनाती है जिन्हें विश्लेषण के द्वारा नहीं, बल्कि दूसरे मनों के साथ तादात्म्य के द्वारा समझाना होता है। यह सहानुभूतिपूर्ण अंतर्दृष्टि का सशक्त उत्तेजक है; कला सूक्ष्म और नाजुक होती है और वह मन की गति को भी सूक्ष्म और नाजुक बना देती है। वह अर्थगर्भित होती है और जो बुद्धि कला के मूल्यांकन के लिये अभ्यस्त हो वह संकेतों को तुरंत पकड़ सकती है। वह वैज्ञानिक मन की तरह केवल प्रत्यक्ष और ऊपरी तल की चीजों पर ही अधिकार नहीं करती, बल्कि उसपर भी अधिकार पा लेती है जो हमेशा ज्ञान का चिर नवीन रूप है। वह विस्तृत और सूक्ष्म प्रकृति के उन अधिक गहरे रहस्यों का द्वार खोल देती है जहां विज्ञान के प्रत्यक्ष यंत्र नहीं पहुंच पाते और न उसे माप सकते हैं, न उसकी गहराई देख सकते हैं। कला के इस चरम बौद्धिक उपयोग को कभी भली-भांति नहीं जाना गया है। लोगों ने उदार शिक्षा के अंग के रूप में, बौद्धिकता के इस पक्ष के प्रशिक्षण के लिये भाषा, काव्य, इतिहास, दर्शन आदि को तो लिया है पर संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला की विशाल शैक्षिक शक्ति को ठीक रूप में मान्यता नहीं दी है। इन्हें मानव मन के गौण मार्ग माना गया है जो सुन्दर और रुचिकर तो हैं पर आवश्यक नहीं और इसलिये केवल कुछ ही लोगों के लिये उपयोगी हैं। लेकिन फिर भी स्वर के सौन्दर्य और आकर्षण का रस लेने के व्यापक आवेश—चित्रों, रंगों और रूपों को देखने और उनके बीच रहने के आवेश—से ही मनुष्य को यह चेतावनी मिल जानी चाहिये

कि मानव मन के इन शाश्वत और महत्त्वपूर्ण कार्य-कलाप के बारे में यह दृष्टि केवल ऊपरी और अज्ञानभरी है। इस आवेग को प्रशिक्षण और आत्म-शुद्धि का अवसर नहीं मिला तो उसने मानव-बुद्धि, चरित्र, भावना और सौन्दर्यग्राही भोग और जीवन तथा आचार-व्यवहार में जो सर्वोत्तम और सर्वोच्च है उसके सशक्त आवाहन के द्वारा मनुष्य को ऊपर उठने में सहायता देने की जगह अपने-आपको घटिया, भड़कीले, भद्दे या गंवारू तत्त्वों पर लगा दिया। अधिकतर लोगों में कलात्मक आवेग जिस निम्न और भ्रष्ट स्तर पर पड़े रहते हैं, उनके कारण जो अपव्यय और क्षति होती है उसका मूल्यांकन करना मुश्किल है।

परन्तु कला के इस बौद्धिक उपयोग के ऊपर और परे एक उच्चतर उपयोग है जो सबसे ज्यादा उदात्त है, वह है जाति में आध्यात्मिकता के विकास की सेवा। यूरोपीय आलोचकों ने कला के उच्चतम विकास के साथ धर्म के सम्बन्ध पर विचार किया है। यह निःसन्देह सत्य है कि यूनान में, इटली में, भारत में राष्ट्रीय कला का सर्वोत्तम प्रस्फुटन कलात्मक प्रतिभा के राष्ट्रीय धर्म के विचारों, कल्पनाओं, या मन्दिरों तथा पूजा के साधनों को सजाने या सचित्र बनाने के लिये किया गया था। इसका कारण यह नहीं था कि कला आवश्यक रूप से धर्म के बाहरी रूप के साथ बंधी हुई है, बल्कि इसलिये कि मनुष्यों की आध्यात्मिक अभीप्साएं अपने-आपको धर्म में केन्द्रित कर रही थीं। आध्यात्मिकता औपचारिक धर्म की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और आध्यात्मिकता की सेवा में ही कला अपनी उच्चतम आत्माभिव्यक्ति पाती है। आध्यात्मिकता यूं तो एक शब्द है, पर वह भागवत ज्ञान, भागवत प्रेम और आनंद, भागवत शक्ति के प्रति मनुष्य की अभीप्सा के तिहरे मार्ग को अभिव्यक्त करती है। उच्चतम और पूर्णतम कला वह होगी जो सौन्दर्यवृत्ति की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए, रूप और आकार के सौन्दर्य के विधानों के अनुसार मानवजाति की भावनामय आवश्यकताओं को पूरा करते हुए जीवन और बाह्य वास्तविकता का चित्रण करे—जैसे सर्वोत्तम यूरोपीय कला इन आवश्यकताओं को पूरा करती है। इसके साथ इन चीजों से परे जाकर आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य को, वस्तुओं की बाह्य नहीं, वरन् गहरी वास्तविकता, संसार और उसके सौन्दर्य में भगवान् का आनंद और गोचर जगत् में भागवत शक्ति और ऊर्जा की अभिव्यक्ति का चित्रण करे . . .।

लेकिन अगर कला को अपनी चरम उन्नति पर पहुंचना है तो भारतीय प्रवृत्ति की प्रधानता रहनी चाहिये। आत्मा ही वह चीज है जिसमें मानव सत्ता का शेष सब कुछ विश्राम करता है, जिसकी ओर वह लौटता है और जिसका अंतिम अंतःप्रकाश ही मानवजाति का लक्ष्य है। जब मनुष्य शरीर, हृदय और मन को अपनी आत्मा के स्पर्श में लाने में सफल हो जाये तो वह देव बन जाता है और सभी मानवीय क्रिया-कलाप अपने उच्चतम और उदात्ततम स्तर तक पहुंच जाते हैं। कला शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त कर सकती है, वह केवल आकार और बाह्य रूप की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं है। भगवान् ने यह सृष्टि ऐसे अद्भुत रूप में बनायी है कि मनुष्य रेखाओं के सरल संयोजनों, रंगों के आडम्बरहीन सामंजस्य के द्वारा इस महत्त्वहीन लगनेवाले माध्यम का उपयोग गहन, चरम सत्यों की ओर संकेत करने के लिये कर सकता है, जब कि भाषा वहांतक पहुंचने के लिये कठिन परिश्रम करती है। प्रकृति क्या है, भगवान् क्या हैं और मनुष्य क्या है यह बड़ी सफलता के साथ पत्थर या चित्रफलक पर प्रकट किया जा सकता है।

कुछ आकारों के पीछे, कुछ पेड़ों और चट्टानों के पीछे परम बुद्धि, परम कल्पना, परम ऊर्जा छिपे हैं, क्रियाशील हैं, और उन्हें अनुभव किया जा सकता है और अगर कलाकार में आध्यात्मिक दृष्टि है तो वह उन्हें देख सकता है, उस महान् रहस्यमयी शक्ति को उसकी अभिव्यक्ति में, कर्म में विचारमग्न, विचार में क्रियाशील, स्थिरता में ऊर्जस्वी, विश्राम में सर्जनशील, जो अंधा और निश्चेतन दीखता है उसमें

प्रभुत्व पानेवाले इरादों से भरा होने का पूर्ण संकेत दे सकता है। रूपंकर कलाओं (प्लास्टिक आर्ट्स) के निष्णात व्यक्ति के हाथों में धर्म, विज्ञान, तत्त्वज्ञान, जीवन, विकास आदि के महान् सत्य ठोस, भावपूर्ण, व्यापक रूप में समझ में आनेवाले और विश्वासोत्पादक बन जाते हैं। दूसरे मनुष्य की आत्मा उस अवस्था में, जब वह भावना से बुद्धि की ओर उठती है, इन संकेतों को देखती और ग्रहण करती और ज्यादा ऊंचे विकास की ओर, अधिक दिव्य ज्ञान की ओर उठ जाती है।

भागवत प्रेम और आनंद के बारे में भी यही बात है। ये सारी सृष्टि में स्पंदित होते हैं और धरती के शुद्ध आनंद से बहुत ज्यादा उत्कृष्ट हैं। वे उदार, पूर्ण, अमिश्रित, सभी चीजों में चमकते हुए, जैसे सामान्य में वैसे ही उच्च में, जैसे तुच्छ और भद्दे में, वैसे ही महान् और भव्य में, जैसे भयानक और घिनौने में वैसे ही मोहक और आकर्षक में हैं। वे सभी को ऊपर उठाते, शुद्ध करते हैं और सब को प्रेम, आनंद और सौंदर्य में बदल देते हैं। मनुष्य के हृदय में इस अमृतरस की जरा-सी बूंद भी डाली जाये तो वह उसके जीवन और क्रिया को बदल देती है। और अगर इस अमृत की पूरी बाढ़ आ जाये तो वह मानवजाति को भगवान्तक उठा देगी। कला इसको भी पकड़ सकती है और मानव आत्मा को संकेत देकर, उसकी झंझा-पीड़ित श्रमसाध्य यात्रा में सहायता कर सकती है। इस यात्रा में भागवत बल ही सहारा देता है। समस्त विश्व में उंडेली जाती हुई शक्ति उसकी असीम क्रियाशीलता में सहारा देती है। वह शक्ति गुलाब के कांपते हुए सुकुमार जीवन की उसी तरह सहायता करती है जैसे सूर्य नक्षत्रों की आग्नेय यात्रा की। मनुष्य और बाहरी जगत् के अंदर दिव्य प्रकृति की शक्ति, ओजपूर्ण बल, उसकी ऊर्जा, उसकी स्थिरता और शान्ति, उसकी शक्तिशाली अंतःप्रेरणा, उसका भव्य उत्साह, उसकी निरंकुशता, महानता, आकर्षण का संकेत करना, मनुष्य की आत्मा में उसे व्यक्त करना और धीरे-धीरे ससीम को असीम की मूर्ति के रूप में गढ़ना कला का एक और आध्यात्मिक उपयोग है। यह उसका सबसे महान् कार्य, उसका पूर्णतम उत्कर्ष, उसका बड़े-से-बड़ा सौभाग्य है।

—श्रीअरविन्द

माताजी का कार्य

हम ऐसे कार्य का उदाहरण रखना चाहते हैं जो सत्य की अंतर्दृष्टि के अनुसार किया जाये, लेकिन दुर्भाग्यवश हम अभीतक इस आदर्श को चरितार्थ करने से बहुत दूर हैं, और अगर सत्य का अंतर्दर्शन अपने-आपको अभिव्यक्त भी करे, तो भी वह कार्यान्वयन में तुरंत विकृत हो जाता है।

तो, वर्तमान वस्तुस्थिति में, यह कहना असंभव है कि यह सत्य है : "यह सत्य है और वह मिथ्या, यह हमें लक्ष्य की ओर ले जाता है और वह उससे दूर।"

प्रगति के लिये **हर एक चीज** का उपयोग किया जाता है; **हर चीज** उपयोगी हो सकती है अगर हम यह जानें कि उसका उपयोग कैसे किया जाये।

महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि हम जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं उसे कभी आंख से ओझल न होने दें और इस लक्ष्य को नजर में रखते हुए सभी परिस्थितियों का उपयोग करें।

और अंत में, चीजों के पक्ष या विपक्ष में मनमाना फैसला न करना हमेशा अच्छा होता है, और साक्षी की निष्पक्षता के साथ घटनाओं को खिलते देखना, 'भागवत प्रज्ञा' पर निर्भर रहना ज्यादा अच्छा रहता है जो सबसे अच्छे के लिये निर्णय करेगी और जो आवश्यक होगा वह करेगी।

(२९ जुलाई, १९६१)

*

मेरे देखने का तरीका कुछ भिन्न है। मेरी चेतना के लिये पृथ्वी पर समस्त जीवन, जिसमें मानव जीवन और समस्त मनोवृत्ति का समावेश है, स्पंदनों का ढेर है, अधिकतर स्पन्दन मिथ्यात्व, अज्ञान और अव्यवस्था के हैं जिनमें उच्चतर क्षेत्रों से आनेवाले 'सत्य' और 'सामंजस्य' के स्पंदन अधिकाधिक काम कर रहे हैं और प्रतिरोध के बीच में से अपना रास्ता बना रहे हैं। इस अंतर्दर्शन में अहंभाव, वैयक्तिक आग्रह और पृथक्ता बिलकुल अवास्तविक और भ्रामक बन जाते हैं।

जब पहले से चली आ रही अस्तव्यस्तता में कोई **अतिरिक्त** घपला पैदा किया जाता है तो मैं उस ओर यथासंभव ज्यादा अच्छा सामंजस्य फिर से स्थापित करनेवाले कुछ विशेष स्पंदन भेजती हूं। इस 'प्रहार' का असर स्वयं व्यक्ति के ऊपर इतना नहीं होता जितना उनका असामंजस्य के साथ चिपके रहना या उसका साथ देने पर होता है . . .। ऐसे मामलों में कभी एक पक्ष ठीक और एक गलत नहीं होता, बल्कि मिथ्यात्व और अस्तव्यस्तता के साथ लगे रहने के अनुपात में सभी दोषी होते हैं।

*

तुम मेरे कार्य करने का तरीका नहीं समझते। तुम भले कह लो : "आपके पास अतिमानसिक शक्ति है, आप उसका उपयोग क्यों नहीं करतीं और इस अव्यवस्था को खत्म क्यों नहीं कर देतीं ?" किंतु इस तरह कार्य नहीं किया जा सकता। संसार अतिमानसिक शक्ति के लिये तैयार नहीं है और अगर आधार को तैयार किये बिना ही उसका उपयोग किया जाये, तो चीजें पूरी तरह चकनाचूर हो जायेंगी। मुझे पहले आधार तैयार करना है और फिर शक्ति को उतारना है।

तुम्हारी मानव दृष्टि चीजों को एक सीधी लकीर में देखती है। तुम्हारे लिये या तो यह तरीका है या वह। मेरे लिये ऐसा नहीं है। मैं सारी वस्तु को चेतना की एक राशि के रूप में देखती हूं जो अपने ध्येय या लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। मुझे हर छोटी प्रवृत्ति के लिये यह देखना पड़ता है कि संपूर्ण राशि पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, बाद में क्या अप्रत्यक्ष प्रभाव आयेंगे।

जब मैं कहती हूं कि कोई चीज इस तरह या उस तरह करनी चाहिये तो तुम्हारा मानव मन उसे सिद्धांत के रूप में ले लेता है और कठोरता के साथ सब जगह लागू करने की कोशिश करता है। मेरे लिये बात ऐसी नहीं है। मेरे लिये कोई नियम, कोई अधिनियम या सिद्धांत नहीं है। मेरे लिये हर एक अपवादिक व्यक्ति है जिसके साथ विशेष रूप से व्यवहार करना चाहिये। कोई दो व्यक्ति एक-जैसे नहीं होते।

मैं जानती हूं कि इस चेतना की राशि की गति में अमुक बिन्दु को अपने लक्ष्य तक आसानी से पहुंचने के लिये अमुक दिशा में गति करनी चाहिये। इस बिन्दु को नजर में रखते हुए मैं घोषणा करती हूं कि यह करना चाहिये या नहीं करना चाहिये, लेकिन मैं देखती हूं कि कभी-कभी रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा आती है। अब, इसके साथ दो तरह से निबटा जा सकता है : या तो मैं उस बिंदु को अपनी दिशा बदल लेने दूं और बाधा को तबतक के लिये अछूता छोड़ दूं जबतक उसपर अधिकाधिक प्रकाश न पड़े और वह बदल न जाये, या फिर मैं रुकावट को तोड़ दूं। जैसा कि मैंने कहा, हर छोटी-सी गति की समस्त राशि पर अपनी प्रतिक्रियाएं और अपने अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं, इसलिये इसे तोड़ने से भी प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला बन जायेगी जो एक बहुत बड़े क्षेत्र पर असर कर सकती है। मैं व्यक्तियों का मान नहीं करती, परंतु मुझे हर क्षण संबद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों के बदलने से जो परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं, समय और वहन करनेवाली धारा के कारण जो परिवर्तन आते हैं उन्हें देखना होता है। मुझे देखना होता है कि इन सब परिवर्तनों में से होकर चीज को कैसे किया जा सकता है ताकि वह राशि

की प्रगति में सहायक हो। मुझे देखना होता है कि क्या बाधा को तोड़ना और उससे आनेवाले परिणामों को आने देना लाभप्रद होगा या यह ज्यादा अच्छा होगा कि उसे अभी के लिये छोड़ दिया जाये और मानव मूर्खता को सह लिया जाये। जो तुम्हें विरोध दीखता है वह सारी चीज को एक इकाई के रूप में देखने पर विरोध नहीं रह जाता। एक ही लक्ष्यतक पहुंचने के लिये अनेक मार्ग हैं। इसलिये अगर मुझे लगे कि तोड़ना आवश्यकता से अधिक महंगा पड़ जायेगा तो मैं तुम्हें मनचाही राह लेने देती हूं। लेकिन यह चीज मुझे उस बाधा की निंदा करने से या यह कहने से नहीं रोकती कि उसे जाना चाहिये।

आखिर, देर या सवेर इस चेतना-राशि की हर एक चीज को एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ना है। लेकिन चेतना को उस लक्ष्य की ओर ले जाने के लिये मुझे मनुष्यों को अपने साथ चलाना होता है और उन्हींके रूप में प्रकट होना और उन्हींकी अपनी भाषा में बोलना होता है। मुझे एक भौंडी अभिव्यंजना को अपनाना होता है। मुझे जिस तरह बोलना पड़ता है और नियम, अधिनियम बनाने पड़ते हैं उनकी मूर्खता को मैं देख सकती हूं, परंतु यह एक ऐसी सुविधा है जो मुझे मानवजाति को देनी पड़ती है; अन्यथा वह कुछ भी न समझ पायेगी। जब मैं उनकी अपनी भाषा में बोलती हूं, तब भी तो लोग गलत समझते हैं और गड़बड़ कर डालते हैं। अगर मैं प्रकाश की भाषा में बोलूं, तो सारी चीज उनके सिर के ऊपर से गुजर जायेगी और वे कुछ भी समझे बिना मुंह बाये खड़े रह जायेंगे।

'क' का मन बहुत अच्छी तरह विकसित है। मैं कह सकती हूं उसका मन प्रकाश की ओर बहुत खुला हुआ है। दो बार मैंने उसके साथ उस भाषा में बात करने की कोशिश की जिसे श्रीअरविंद प्रकाश का मन कहते हैं, लेकिन वह भी उसे न समझ पाया। वह थोड़ा-बहुत पकड़ पाया, लेकिन भाव की पूर्णता उससे बच निकली।

दूसरों के साथ तो हाल और भी बुरा है; वे कुछ भी नहीं समझ पाते और भौंचक्के रह जाते हैं। इन लोगों के लिये मुझे समझौता करना पड़ता है। मैं कहती हूं कि एक चीज मूर्खतापूर्ण है, परंतु मैं देखती हूं कि तुम उसे किये बिना नहीं रह सकते, तो मुझे उसे सह लेना पड़ता है। मैं चीजों के सापेक्ष मूल्य देखती हूं और उस रास्ते को अपनाती हूं जो प्रगति करने में सहायक हो सके। तुम्हारे हित में और समस्त चेतना-राशि की प्रगति के हित में, मैं बहुत-सी चीजें कर लेने देती हूं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैं उनकी ओर से अंधी हूं या उनकी मूर्खता को नहीं देख सकती। कभी-कभी यह जरूरी होता है कि तुम एक अनुभव प्राप्त करो, इसलिये कोई चीज कर लेने दी जाती है। लेकिन जब मैं निश्चयपूर्वक "ना" कहती हूं, तो उसका विरोध करना खतरनाक है। एक ही क्रिया के लिये कई कारण हो सकते हैं; लेकिन उन्हें तुम्हारे मन को समझाना संभव नहीं है।

विशेष रूप से इस मामले में मैंने कहा था "नहीं"। फिर 'ख' ने हस्तक्षेप किया। 'ख' बहुत अच्छा आदमी है और किन्हीं भागों में बहुत सच्चा है। मुझे मालूम है कि वह कमजोर है और उसमें हथियाने और अधिकार कर लेने की आदत है। मैं मना कर सकती थी। लेकिन इससे मैं उसे बहुत जोर से झकझोर डालती। उसके लिये अपने-आपको संभालना मुश्किल हो जाता। जैसा कि मैंने कहा, मैं चीजों का सापेक्ष मूल्य देखती हूं और मैंने देखा कि चीज झकझोरने लायक नहीं है और मैंने स्वीकृति दे दी। लेकिन यह बात मुझे यह कहने से नहीं रोकती कि यह बात ठीक नहीं है।

—श्रीमातृवाणी खण्ड १३

अनुकम्पा-भरी देन

यह एक भयानक तूफानी रात की कहानी है। जिसने मेरे जीवन की धारा को बदल दिया।

यह सुनकर आपको शायद लगे कि मैं आपको भूत-प्रेत की, खूंख्वार जानवरों की या किसी जहाज की समुद्री साहस-यात्रा की कहानी सुनाने जा रही हूं। जी नहीं, बात ऐसी बिलकुल नहीं है। बात बस इतनी-सी है कि किस तरह एक भयानक रात भगवान् की सर्वश्रेष्ठ कृति में बदल गई। लीजिये, सुनिये —

बचपन की कितनी ही बातें अब बस धुंधली यादें बनकर रह गई हैं। मगर एक बात किसी तरह भुलाए न भूलती, लेकिन वह कोई प्रशंसनीय बात नहीं है। खैर, जब दिल खोलकर पूरी कहानी आपको सुनाने की ठान ही ली है, तो लज्जा किस बात की, और संकोच कैसा।

यूं तो मेरा बचपन एक सुहाना सफर था। घर में प्यार मिलता था, कितनी ही सहेलियां थीं। मुझे स्कूल जाना अच्छा लगता था और तटवर्ती इलाके में रहने की वजह से मौसम भी अच्छा रहता था। मगर अक्तूबर के आस-पास वर्षा ऋतु शुरू हो जाती और मेरे लिये एक अजीब परिवर्तन लेकर आती थी। मैं सहम-सी जाती थी, और जब रात को मूसलाधार वर्षा के साथ बादल गरजते और बिजली कड़कती, तो भय का राक्षस मुझमें समा जाता था। मेरा पूरा शरीर कांपने लगता और निरंतर बहते आंसुओं से मेरा तकिया भीग जाता। अपने-आपको चादरों से ढांपकर मैं गुड़ी-मुड़ी होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा में पड़ी रहती। मुझे अपनी यह कमजोरी बेहद नापसन्द थी, मगर मैं करती भी क्या। न जाने कब और कहां से भय का यह राक्षस मेरे अंदर घुस आता था। धीरे-धीरे वह मेरे अंदर आसन जमाकर बैठ गया . . . ।

एक दिन, दोपहर को हमारी हिन्दी की कक्षा चल रही थी। और उस दिन हमारी परीक्षा थी। हिन्दी मेरा प्रिय विषय था और प्रश्नों के उत्तर देने में मुझे कोई मुश्किल नहीं हो रही थी। लेकिन अचानक बादल गरजे तो मेरी कलम रुक गई, फिर बिजली कड़की तो वह हाथ से छूटकर नीचे जा गिरी। इर्द-गिर्द लोग थे इसलिये मैं चुपचाप आंसू पी गयी, मेरा शरीर कांपने लगा और मेरा मन सफेद कागज की तरह कोरा हो गया। उस दिन पहली बार मैं परीक्षा में असफल रही। चुल्लूभर पानी में डूब मरने की इच्छा हुई।

सौभाग्यवश मेरे अध्यापक कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। उनकी तेज और सख्त नजर से कामचोर विद्यार्थी थरति थे, मगर वही तेज नजर सूक्ष्मता और कोमलता के साथ कठिनाई में पड़े विद्यार्थी की कमजोरी को भांप लेती थी। कोई और अध्यापक होते उनकी जगह तो कम अंक पाने के लिये जोर से डांट देते, और उनके लिये बात वहीं खतम हो जाती। मगर इन्होंने मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा। बस, लाल स्याही से मेरी कापी में लिखा ''इसकी कोई वजह है, तू जरूर जानती है। यदि चाहे तो मेरी सहायता ले सकती है।''

अब वे भला मेरी सहायता कैसे कर सकते थे? पहली बात तो यह है कि मैं उन्हें यह लज्जाजनक बात बता भी कैसे सकती थी? हास्य तो उनको प्रिय था ही, मैं बस उनके हास्य का शिकार बन जाऊंगी। मगर साहस बटोरकर मैं उनके पास जा पहुंची। सोचा था दो ही मिनटों में अपना सा मुंह लिये निकल आऊंगी और उनके अट्टहास की ध्वनि मेरे कानों में गूंजती रहेगी। मगर बात बिलकुल अलग ही निकली। जब रुक-रुककर मैंने उनको अपनी रामकहानी सुनायी, तो हंसने के बजाय वे सोच में पड़ गये और फिर बड़ी गंभीरता के साथ कहने लगे, ''देख, भगवान् ने कितनी ही चीजें बनायी हैं, कितने व्यक्ति बनाये हैं, क्या वे सब एक-से हैं? नहीं। जिस हाथ ने आसमान में टिमटिमाते तारे

सजाये, सुहाना समीर बनाया, शब्द में मिठास घोली, आसमान को नीलिमा से और पेड़-पौधों को हरियाली से रंग दिया, उसी हाथ ने समुद्र की विशालता और चट्टानों की कठोरता का निर्माण किया। एक तिनके को, एक हाथी को, एक ओसकण और मूसलाधार वर्षा को भी उसी हाथ ने निर्मित किया। स्वभावतः बिजली की कड़क और बादलों के गर्जन भी उसी हाथ की कृतियां हैं। उनसे क्या डरना ? डर नाम की चीज व्यक्ति को बहुत कायर बना देती है। जीवन में तो बहुत-सी चीजों का सामना करना है। असत्य से लड़ना है, अशुभ से लड़ना है। मगर जीवन के साथ लड़ने से पहले हमें अपने-आप पर विजय पानी है, डर को उखाड़ फेंकना होगा, अपने अंदर शक्ति प्राप्त करनी होगी, ताकि धीरे-धीरे सारे संसार पर सत्य, शिव और सुन्दर का राज हो।"

मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे इस भय पर विजय पानी ही है। हां, निश्चय करना मुश्किल नहीं है, मगर उसे कर दिखलाना मुश्किल जरूर है। शुरू-शुरू में तो लगा कि मैं जीवनभर कायर ही बनी रहूंगी। मगर हर कड़ी मेहनत का फल जरूर मिलता है। . . .

वह एक भयानक तूफानी रात थी। मैं धीरे-धीरे, साहस बटोरकर चादरों की तहों में से निकली, खिड़की की ओर बढ़ी, आखें न मूंदी, कान न रूंधे, बस उस दृश्य को देखती रही : मूसलाधार वर्षा, अंधकार को चीरती हुई बिजली, बादलों के गर्जन . . . परंतु यह क्या ? मेरा मन विचलित और भयभीत न था, वह बिलकुल शांत था, भय का राक्षस हमेशा के लिये लुप्त हो चुका था। मेरे मन में बस एक ही विचार आया, "निस्संदेह, मेरे लिये यह भगवान् की सर्वश्रेष्ठ कृति है, अनुकम्पा-भरी देन है।"

—कनिष्ठा

मृत्यु के बाद

"मृत्यु के क्षेत्र" का क्या अर्थ है ?

इसके विषय में प्रत्येक धर्म ने भिन्न-भिन्न बातें कही हैं। यूनानियों का "एलिजियम" था, व्यक्ति "नौका" में वहां जाता था। सभी प्रकार के स्वर्ग और नरक वहां हैं।

न, धर्मों की बात नहीं।

सामान्यतया, "मृत्यु का क्षेत्र" नाम अत्यधिक स्थूल प्राणिक जगत् के एक क्षेत्र को दिया जाता है, उस जगत् को जिसमें व्यक्ति शरीर छोड़ने के बाद प्रवेश करता है। उसके जीवन का वह भाग—इसे कैसे कहा जाय ?—जो कि साधारणतया सबसे अधिक सचेतन होता है, मृत्यु के समय उस क्षेत्र में प्रक्षिप्त किया जाता है। हां, तो वह क्षेत्र, वह स्थूल प्राणिक जगत् बड़ा अन्धकारमय होता है, वह उन विरोधी रचनाओं से भरपूर होता है जिनके केन्द्र में कामनाएं, बल्कि विरोधी संकल्प-शक्तियां भी रहती हैं; ये वे अत्यन्त प्रारंभिक सत्ताएं होती हैं जिनका जीवन बड़ा खंडित होता है, बल्कि वे खून चूसनेवाले भूत-प्रेत जैसे होते हैं जो मानवी सत्ताओं में से फेंके गये टुकड़ों पर निर्वाह करते हैं। अतएव, उस समय, मृत्यु के आघात के समय—ऐसे बहुत कम लोग हैं जो बिना आघात पाये मर जाते हैं, अर्थात्, मृत्यु-संबंधी पूर्ण ज्ञान के साथ, चेतन रूप में शरीर से बाहर जाते हैं, ऐसे लोग अधिक नहीं हैं—सामान्यतया वह एक दुर्घटना होती है : अंतिम दुर्घटना; हां तो, मृत्यु के उस आघात के समय वे सत्ताएं उधर, उस

प्राणिक सत्व पर जो बाहर चला जाता है, लपक पड़ती हैं और उसे अपना आहार बना लेती हैं। जबतक व्यक्ति जीवित रहता है, वे उसका स्पर्श नहीं कर सकतीं। तुम सबको ऐसे दुःस्वप्न का अनुभव होगा जिसमें स्थिति के सचमुच संकटपूर्ण होने पर तुम अचानक जाग उठते हो—तुम अपने शरीर में लौट आते हो, क्योंकि शरीर तुम्हारा सुरक्षा-स्थल है। शरीर में वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं किंतु जब तुम शरीर से पूर्णतया बाहर होते हो (यह कड़ी, जिसके बारे में मैंने तुम्हें बताया था, तुम्हारे शरीर से बाहर चले जाने पर तुम्हारी कुछ हदतक रक्षा करती है), यदि ये कड़ियां टूट जायें और तुम सर्वथा बिना शरीर के हो जाओ, तो ऐसा ही होगा, जबतक कि तुम किन्हीं विशेष परिस्थितियों से फायदा न उठा सको . . . उदाहरणार्थ, यदि मृत व्यक्ति पर उसके प्रिय संबंधी जो उसे बहुत प्यार करते हैं अपने प्रेमपूर्ण विचार केंद्रित और एकाग्र करें, तो उसे वहां आश्रय मिल जाता है, और फिर यह बात उसे उन सत्ताओं के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा प्रदान करती है; किंतु यदि मृत व्यक्ति का ऐसा संबंधी न हो जिसे उसके लिये विशेष मोह हो, और वह उस समय उन व्यक्तियों से घिरा हो जिन्हें उसने नुकसान पहुंचाया है और जो उसे प्यार नहीं करते अथवा जो बहुत अधिक अचेतन हों—तो वह ऐसी शक्तियों का शिकारमात्र रह जाता है। ओह, यह एक ऐसा अनुभव है जिसे सह पाना बहुत कठिन होता है। ये शक्तियां केवल उसीका स्पर्श कर सकती हैं जो उनके अपने क्षेत्र की वस्तु, अत्यधिक स्थूल प्राणिक वस्तु हो—उच्चतर प्राण उनकी पकड़ से सर्वथा छूट जाता है, वहां वे कुछ नहीं कर सकतीं। इस प्रकार, स्थूल प्राणिक सत्ता तो बाहर चली जाती है, किंतु दूसरी पीछे रह जाती है; और इस उच्चतर प्राणिक सत्ता पर सामान्य रूप से अन्य संकटों का आक्रमण होता है। और यदि यह भी चली जाये, तो मन पीछे रह जाता है। किंतु इस सब के पीछे आन्तरात्मिक सत्ता होती है जिसे कोई स्पर्श नहीं कर सकता, जो सभी संभव आक्रमणों से परे है, और वह सचमुच अपनी इच्छा से कहीं भी जा सकती है। साधारणतया—जबतक कि कोई विशेष अवसर न हो और वह पूर्ण विकास की अवस्थातक पहुंच चुकी हो—वह आंतरात्मिक जगतों में विश्राम करने चली जाती है। वहां वह एक प्रकार के परम आनंदपूर्ण ध्यानावस्था में जाकर कुछ समय ठहरती है, और अपने सारे अनुभवों को आत्मसात् करती है, और जब वह उन्हें आत्मसात् कर लेती है और विश्राम भी कर चुकती है, तो वह पुनः एक नया जीवन ग्रहण करने के लिये नीचे आने की तैयारी में जुट जाती है। इस सत्ता का स्पर्श कोई नहीं कर सकता। किंतु अपनी आन्तरात्मिक सत्ता के प्रति सचेतन होनेवाले व्यक्ति इतने कम होते हैं कि ऐसा कहना बड़ा कठिन होता है कि यह अमुक-अमुक व्यक्ति है जिसे हम जानते हैं, क्योंकि लोग, जैसा कि हम उन्हें जानते हैं, आखिर किस वस्तु से बने हैं?—उन्हीं सब भौतिक अनुभूतियों से, अपनी प्राणिक प्रतिक्रियाओं से, अपनी मानसिक रचनाओं से—यही सब : शरीर, चरित्र, विचार—और यह है हमारी मानवी सत्ता! हां, तो यह सब मृत्यु के बाद नहीं टिक सकता जबतक कि वह आन्तरात्मिक सत्ता के चारों ओर इस हदतक संगठित और केन्द्रित न हो कि वह आन्तरात्मिक सत्ता के साथ पूर्णतया युक्त हो जाये। अन्यथा यह सारा मिश्रण विघटित हो जायेगा और आन्तरात्मिक सत्ता पीछे अकेली रह जाती है, कभी केवल एक लौ के रूप में और कभी एक पूर्ण चेतन सत्ता के रूप में।

यह तो एक सामान्य नियम है। पर वहां कई सेतु, "सुरक्षित मार्ग" भी होते हैं जिनका निर्माण प्राणिक जगत् में इसलिये हुआ है कि इनपर से होकर व्यक्ति इन सब संकटों से पार हो सके। कुछ ऐसे वातावरण होते हैं जो उन लोगों को, जो अपना शरीर छोड़ रहे होते हैं, आश्रय और संरक्षण देते हैं। वहां सभी प्रकार की अवस्थाएं होती हैं; जो मैंने तुम्हें अभी बतायी है वह मृत व्यक्ति की, सर्वसाधारण मनुष्यों की सामान्य अवस्था है, किंतु यदि हम जरा अधिक उच्च प्रकार की मानवता को लें, तो ये सब अवस्थाएं बदल जाती हैं। सामान्य नियम तबतक बना रहता है जबतक कि सत्ता के

अंदर एक विशेष प्रकार का उच्चतर विकास ही साधित न हो जाये। कई लोगों की सत्ता में संघटन इतना पूर्ण होता है कि वे अपने शरीर पर निर्भर नहीं करते—बिलकुल नहीं—चाहे वह हो या न हो।

किंतु सत्ता का यह सारा विकास ऐसे ही नहीं आ जाता कि बस, किसी-किसी समय इसके बारे में सोच लिया; इसके लिये इच्छा और भी कम की जाये और अधिकतर व्यक्ति इसे भूला रहे—न, यह कार्य ऐसे नहीं हो सकता। ये भी एक प्रकार के अनुशासन हैं और मैं कह सकती हूं कि ये भी उतने ही कड़े अनुशासन हैं जितने कि कठोरतम आध्यात्मिक अनुशासन . . . । मूल रूप से हम इसी कार्य के लिये पृथ्वी पर आये हैं। सच पूछो तो मानव इसी उद्देश्य से बनाये गये हैं, इसी कार्य को करने के लिये, और चूंकि वे इसे करना अस्वीकार करते हैं, इस जगत् में इतनी अस्तव्यस्तता है। यदि वे इसे सच्चाई से करते, तो वस्तुस्थिति कहीं अधिक अच्छी होती।

मेरे बच्चो, अब नौ बजकर बीस मिनट हो चुके हैं; यदि तुम्हारे पास कोई अत्यन्त रोचक प्रश्न पूछने को है तो पूछो !

—श्रीमातृवाणी

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित

विदेशी आक्रमण

भारतीय संस्कृति के आलोचक यह कहते नहीं थकते कि भारत पर इतने लम्बे कालतक विदेशी शासन का आधिपत्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारत की संस्कृति सचमुच महान् न थी। लेकिन एक वाक्य में इस कथन का खोखलापन इस तरह प्रकट किया जा सकता है—भारत की महानता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि बहुत समयतक विदेशी जातियों के जूऐ तले रहने के बावजूद उसने अपनी साख हमेशा बनाये रखी, वह न तो उनके रंग-ढंग में घुल-मिल गया और न उसने अपने भारतीयता या यूं कहें आध्यात्मिकता को ही तिलांजलि दी। यह सच है कि विदेशी शासनों के द्वारा भारत को बहुत अधिक क्षति पहुंची, वह अपने स्वाभाविक और सुस्थिर विकास में पनपने नहीं पाया, उसकी जीवनशक्ति को बाहरी विजेताओं ने कुछ समय के लिये काफी क्षीण बना दिया और इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र का मानस धर्म के ऊंचे आदर्श से कुछ अंश में पतित हो गया, जिससे ऐसा लगने लगा मानों भारतीय जीवन की आध्यात्मिकता का पुल चरचरा रहा है। इतना सब होने के बाद भी वह पुल चरचराया भर, भरभरा कर ढह न गया, जैसा कि अन्य किसी भी देश में होना संभव था। ऐसा इसलिये नहीं हुआ क्योंकि इसके स्तम्भ इतने दृढ़ हैं कि इनपर ऊपरी तौर पर विदेशी जंग भले कुछ समय के लिये चढ़ जाये लेकिन उसे दीमक चाटकर कभी खोखला नहीं बना सकतीं।

इसका बहुत ही ज्वलन्त उदाहरण हम उस समय देखते हैं जब भारत ने शक और हूण जैसे बर्बरों के आक्रमणों से अपने-आपको बहुत हदतक बचाये रखा। उन्होंने तो सभी प्राचीन सुस्थिर जातियों को अपनी लपेट में ले लिया था, यहांतक कि विशाल रोमन और यूनानी साम्राज्य भी इनके हमलों के सामने टिक नहीं सके। इन बर्बर जातियों ने कई बार भारत पर भी अचानक आक्रमण किये, देश में खलबली, उथल-पुथल, अस्त-व्यस्तता का दौर आया लेकिन उसके गुजर जाने के बाद लोगों ने देखा कि भारत का विशाल भवन ज्यों-का-त्यों सुस्थिर और महान् खड़ा है, इस प्रासाद के ऊपरी पलस्तर कई

बार झड़े, ईटों ने भी रास्ता दे दिया लेकिन इसकी सुदृढ़ नींव को रत्ती भर भी हिलाने का न किसी में साहस था न क्षमता।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
बरसों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा . . .

भारत में जो प्राचीन विदेशी आक्रमण हुए उन्हें अगर हम भारतीय आलोचकों के चश्मे से देखें तो भारत की संस्कृति रसातल में जाती दीखती है, और अगर अतिरंजना के बिना सीधी सादी दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि सिकन्दर का आक्रमण यूनानियों का पूर्व की ओर बढ़ने का आवेग था। चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मूल कर दिये जाने के बाद उसका कोई निशानतक न रहा। बाद में मौर्यवंशी राजाओं के काल में उनकी दुर्बलता के समय जो विभिन्न आक्रमण हुए उन्होंने भारत को दबाया भर, उसे ध्वस्त नहीं कर दिया, क्योंकि अपनी शक्ति से पुनः उठकर भारत ने उन जातियों को खदेड़ दिया। हां, उसके बाद के शक और हूण जाति के आक्रमण कहीं अधिक संकटपूर्ण थे और कुछ समयतक तो ऐसा लगा कि इस बार भारत की अखण्डता अक्षुण्ण न रह पायेगी, लेकिन अन्त में उन्होंने देश के एक हिस्से—पंजाब पर ही अत्यधिक प्रबल रूप से अपना प्रभाव डाला, दक्षिणतक आने में इस ज्वार की लहरें छितर गयीं और वहां भी कुछ समय के लिये इन साम्राज्यों का बोलबाला हो गया लेकिन इस आक्रमण का इन हिस्सों के जातीय स्वभाव पर कितना प्रभाव पड़ा इसके बारे में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने तो यह कल्पना की है कि इस आक्रमण से सारा पंजाब शक जाति में बदल गया, लेकिन इस मान्यता के लिये प्रमाण बहुत कम हैं और अन्य सिद्धांतों के द्वारा भी यह खण्डित हो जाती है। यह बहुत संदेहास्पद है कि ये बर्बर आक्रमणकारी टिड्डी दल इतनी बड़ी संख्या में आया और इस तरह छा गया कि केवल दो या तीन पीढ़ियों में पूरी तरह भारतीय बन गया, उसने भारतीय धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा संस्कृति को इतने पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया कि सारी जाति भारतीय समुदाय में एकदम से घुल-मिल गयी। और न ही इस देश में ऐसी कोई घटना घटी कि बर्बर जातियों ने इस उत्कृष्ट सभ्यता पर अपने नियम, अपनी राजनीतिक प्रणाली, अपने बर्बर रीति-रिवाज तथा नियम-कानून थोप दिये हों।

हमारे आलोचक मानते हैं कि इन प्राचीन महान् आक्रमणों के शासन तले भारत का पड़ा रहना, यह उसकी दुर्बलता का स्पष्ट चिह्न है। यहां उतनी ही दृढ़ता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि यदि ये आक्रामक बहुत महान् थे तो यह मानना पड़ेगा कि भारत उनसे महानतर निकला क्योंकि इनके सामने भारतीय सभ्यता ने अपने-आपको उस यूनानी-रोमन सभ्यता से कहीं अधिक बलशाली प्रमाणित किया जो अरबों के आगे एकदम से परास्त हो गयी और उनके अधीन होकर एक ऐसे दीन-हीन रूप में जीवित रही कि उसे पहचाना भी नहीं जा सकता था और साथ-साथ यह भी कहना होगा कि अन्ततः भारतीय साम्राज्य उस रोमन साम्राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ जो अपनी महानता के गर्व में धुत था, क्योंकि पश्चिम में क्षत-विक्षत होने पर भी भारत अपने बहुत बड़े भाग को सुरक्षित बनाये रखने में सफल हुआ।

हम अपने अगले लेख में भारत पर हुए बाद के युद्धों की चर्चा करेंगे।

—वन्दना

विभिन्न देवता

२६-६-१९२६

शिष्य—कल आपने छोटे और बड़े देवताओं की बात की थी।

श्रीअरविंद—मैं एक भेद करना चाहता था अन्यथा मैं किसी और शब्द का उपयोग करता।

शिष्य—इन दोनों में फर्क क्या है ?

श्रीअरविंद—जब मैंने उन छोटे देवों की बात की तो मेरा मतलब उन देवों से था जो प्रकृति के सामंजस्य के तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें तुम प्रकाश की ओर सीधी नहीं, मुक्त गति पाते हो। वे प्रकाश से प्रकाश की ओर जाते हैं। यह असुर की गति की न्याईं है, असुर की गति विकृत और उग्र, हिंसापूर्ण होती है। वह भगवान् के राज्य को उग्रता के साथ हथिया लेना चाहता है।

बड़े देवताओं से मेरा मतलब है ऐसे देवता जो वैश्व अभिव्यक्ति का नियंत्रण करते हैं। वस्तुतः वे वेद की भाषा में 'एक की शक्तियां' हैं। वे अलग हैं।

शिष्य—उदाहरण के लिये इन्द्र।

श्रीअरविंद—जब मैं उनकी बात कर रहा था तो मैं किसी नाम के बारे में नहीं सोच रहा था। इनका पौराणिक देवों के साथ कोई संबंध नहीं है।

शिष्य—क्या हम वैदिक देवों को ले सकते हैं ?

श्रीअरविंद—मैं वैदिक देवों के बारे में नहीं सोच रहा था। छोटे देव और असुर परम प्रभु की शक्तियां नहीं हैं। वे अंतरात्मा की शक्तियां और वैश्व प्राण के प्रकृति-स्तर पर रूपायन हैं।

शिष्य—क्या वह 'स्वर्ग' जिसमें, माना यह जाता है कि मनुष्य की आत्मा मृत्यु के बाद आराम से भोग करती है, निम्नतर देवों के स्तर से भिन्न है ?

श्रीअरविंद—धर्मों का 'स्वर्ग' बिलकुल अलग चीज है। वह प्राणमय लोक का स्वर्ग है। लेकिन इस धार्मिक स्वर्ग के अलावा, प्राणमय लोक अपने ही सम्मोहन और अपनी ही भव्यता से भरा है। मैं उस विकृत विरोधी लोक की बात नहीं कर रहा जो सामान्यतः हमारे पार्थिव लोक के संपर्क में आता है। इसके अतिरिक्त ऐसी सत्ताएं हैं जिनमें अपनी भव्यता, महानता और ज्ञान होता है। अधिकतर काव्य और कला उसी लोक से आते हैं।

शिष्य—जैसा कि आपने कहा, अगर वे विरोधी सत्ताएं नहीं हैं तो वे यहां पर महान् वस्तुओं को अभिव्यक्त कर सकती हैं।

श्रीअरविंद—लेकिन सामान्यतः वे दर्प से भरी और बहुत ज्यादा आत्म-केन्द्रित होती हैं।

शिष्य—लेकिन उनमें से कुछ मनुष्यों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं।

श्रीअरविंद—हां। उनमें से कुछ, लेकिन अधिकतर जब तुम साधना करने में लगे हो तो तुम्हें विरोधियों से ही पाला पड़ता है।

शिष्य—हमारे और उनके विकास के विधान में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—उनमें मानव जगत् की तरह कोई विकास का विधान नहीं है। उदाहरण के लिये वे मनुष्य की तरह भौतिक चेतना से सीमित नहीं हैं। उनमें मनुष्य की अपेक्षा अधिक वैश्व गति है। उनका विकास बस दो ही तरीकों से हो सकता है। मेरा ख्याल है कि वे भी अपने-आपको ज्यादा ऊंची सत्ताओं में बदलना चाहते हैं। वे अपने ही बल पर एक प्रकार की तपस्या से यह कर सकते हैं और

उच्चतर स्थिति में पहुंच सकते हैं या फिर सेवा द्वारा यानी वे अपनी शक्ति को सत्य की सेवा में लगाकर इस तरह बदल सकते हैं।

शिष्य—वे मनुष्य को क्यों पकड़ना चाहते हैं।

श्रीअरविंद—पहले-पहल तो वे मनुष्य पर प्रभाव डालते और उसपर अधिकार जमाते हैं ताकि अपनी शक्ति प्रकट कर सकें और भौतिक लोक पर अधिकार पा सकें। दूसरे, वे मनुष्यों के रोग दूर करके और भगवान् का रूप धर के पूजा करवाना चाहते हैं। तीसरे, वे केवल अधिकार नहीं जमाते बल्कि भौतिक जगत् का भोग करने के लिये मनुष्यों पर हावी हो जाते हैं।

शिष्य—ये शक्तियां विशेष रूप से ऐसे स्थानों की ओर क्यों आकर्षित होती हैं जहां लोग आध्यात्मिक प्रयास कर रहे हों।

श्रीअरविंद—पहले तो यह कि जब तुम अपने-आपको ऊपर के किसी सत्य की ओर खोलते हो तो इसी प्रयास द्वारा सामान्य आदमी की अपेक्षा ज्यादा प्रबल रीति से उन लोकों की ओर भी खोल देते हो जो पीछे हैं। इससे इन शक्तियों को अवसर मिल जाता है, दूसरे, वे इस तरह के किसी भी प्रयास को असफल कर देना चाहती हैं, तीसरे, उनमें कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जिनमें तुम इन दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण पाते हो। उनमें से कोई चीज आध्यात्मिक वातावरण को पसंद करती और उसमें प्रवेश करती है जब कि कोई और चीज उसका विरोध करती है।

शिष्य—आदमी अपने-आपको इन शक्तियों के प्रति कैसे खोलता है ?

श्रीअरविंद—अलग-अलग तरीके हैं, उदाहरण के लिये महत्त्वाकांक्षा या काम-वासना, लोभ, दर्प, घमंड और इसी तरह की बहुत-सी चीजें हैं जिनमें से होकर ये शक्तियां मनुष्य पर प्रभाव डाल सकती हैं।

तेओं का कहना था कि प्राणिक जगत् पृथ्वी पर उतर आया है और सत्य तथा इन शक्तियों में युद्ध अवश्यंभावी है। या तो सत्य जीतेगा या ये। युद्ध के बाद—यह अंतिम युद्ध होगा, उनमें से एक निवृत्त हो जायेगा। अभी मनुष्य अंतरात्मा की शक्ति नहीं, युद्ध का क्षेत्र है। ऐसे उदाहरण हैं जहां मनुष्य इन शक्तियों का अवतार होता है।

—पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से

'कुछ माताजी के बारे में'

प्रेम—एक महान् शक्ति

मानव प्रेम का भागवत प्रेम के साथ क्या संबंध है ? क्या मानव प्रेम भागवत प्रेम में बाधक है ? क्या यह ठीक नहीं है कि मानव प्रेम को धारण करने की योग्यता भागवत प्रेम को धारण करने के सामर्थ्य का सूचक है ? क्या ईसामसीह, रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसे महान् आध्यात्मिक व्यक्ति स्वभावतः अत्यंत प्रेमी और स्नेही नहीं थे ?

प्रेम विश्वव्यापी महान् शक्तियों में से एक है। यह अपने-आपमें स्थित है और जिन पदार्थों में यह प्रकट होता है अथवा, जिनके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है उनसे पूरी तरह स्वतंत्र रहता है। इसे जहां कहीं अभिव्यक्त होने की संभावना दीखती है, जहां कहीं ग्रहणशीलता होती है जहां कहीं द्वार खुला होता है, वहीं यह अभिव्यक्त हो जाता है। तुम जिसे प्रेम कहते हो, जिसे तुम निजी या व्यक्तिगत वस्तु

समझते हो वह इस विश्वव्यापी शक्ति को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की तुम्हारी क्षमतामात्र है। परंतु विश्वव्यापी होने के नाते यह कोई अचेतन शक्ति नहीं है, यह एक परम सचेतन दिव्य शक्ति है। यह सचेतन रूप में धरती पर अपनी अभिव्यक्ति और सिद्धि के लिये प्रयत्न करती है, सचेतन होकर अपने उपकरण चुनती है, जो लोग इसके आवाहन का उत्तर दे सकते हैं उन्हें यह अपनी तरंगों के प्रति जाग्रत् करती है और अपने शाश्वत लक्ष्य को उनके अंदर सिद्ध करने का प्रयास करती है, और जब कोई उपकरण अनुपयुक्त होता है तो उसे छोड़कर दूसरों को ढूंढ़ती है। मनुष्य सोचते हैं कि वे एकाएक प्रेम-पाश में बंध गये हैं, वे अपने प्रेम को उत्पन्न होते, बढ़ते और फिर मुरझाते देखते हैं—अथवा, हो सकता है कि कुछ लोगों में, जो उसकी अधिक स्थायी क्रिया के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं, यह कुछ अधिक टिके। परंतु यह समझना भ्रम है कि यह उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव था। वह तो विश्वव्यापी प्रेम के सनातन समुद्र की एक लहर मात्र थी।

प्रेम विश्वव्यापी और सनातन है; अपने-आपको सदा अभिव्यक्त करता रहता है और अपने सार-रूप में सदा समरूप रहता है। यह एक भागवत शक्ति है; इसकी बाह्य क्रियाओं में जो विकार दिखायी देते हैं वे इसके उपकरणों के होते हैं। प्रेम केवल मानव प्राणियों में ही अभिव्यक्त नहीं होता; यह सर्वत्र है। इसकी गति वनस्पतियों में भी है, शायद पत्थरोंतक में भी है। पशु-पक्षियों में इसकी उपस्थिति का पता लगाना सरल है। इस महान् और दिव्य शक्ति के विकार, इसके परिमित उपकरण की मलिनता, अज्ञान और स्वार्थ से आते हैं। प्रेम में, इस शाश्वत शक्ति में कोई चिपटने की वृत्ति नहीं होती, न कोई इच्छा न स्वत्व की भूख और न स्वार्थभरी आसक्ति होती है। अपनी विशुद्ध गति में वह परमात्मा के साथ एक होने के लिये आत्मा की खोज है, यह एक ऐसी खोज है जो अन्य समस्त वस्तुओं से निरपेक्ष और निर्लिप्त रहती है। भागवत प्रेम अपने-आपको को देता है, कोई मांग नहीं करता। मनुष्यों ने इसको क्या बना डाला है यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने इसे एक भद्दी और वीभत्स वस्तु बना दिया है। फिर भी, मनुष्यों में भी, प्रेम का प्रथम संस्पर्श अपने पवित्रतर सार का कुछ अंश ले आता है। क्षण-भर के लिये वे अपने-आपको भुला देने में समर्थ हो जाते हैं, क्षण-भर के लिये इसका दिव्य स्पर्श, सभी सुंदर और मनोहर चीजों को जगाता है और बढ़ाता है। परंतु बाद में अपनी अपवित्र मांगों से भरी, बदले में किसी चीज की याचना करती, जो कुछ देती है उसके बदले में कुछ चाहती, अपनी निकृष्ट तृप्तियों के लिये शोर मचाती और जो दिव्य था उसे विकृत और कलुषित करती हुई मानव प्रकृति ऊपरी तल पर उठ आती है।

भागवत प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिये तुम्हें उसे ग्रहण करने योग्य होना चाहिये। क्योंकि, उसे वे ही अभिव्यक्त कर सकते हैं जो इसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति के लिये स्वभावतः खुले होते हैं। उनमें यह उद्घाटन जितना विशाल और अबाध होगा उतना ही वे दिव्य प्रेम को उसकी मौलिक पवित्रता के साथ अभिव्यक्त कर सकेंगे और जितना ही यह निम्नतर मानव भावों से मिश्रित होता है, उतना ही अधिक विकार इसकी अभिव्यक्ति में आ जाता है। जो प्रेम को उसके असली और सत्य रूप में ग्रहण करने के लिये खुला हुआ नहीं है वह भगवान् के समीप नहीं पहुंच सकता। ज्ञान-मार्ग के अनुयायी भी एक समय ऐसे स्थल पर जा पहुंचते हैं, जहांसे यदि वे आगे बढ़ना चाहें तो वे अपने-आपको ज्ञान के साथ प्रेम में प्रवेश करते हुए पाते हैं और अनुभव करते हैं कि दोनों एक ही हैं। ज्ञान भागवत मिलन की ज्योति है और प्रेम ज्ञान का हृदय। आत्मा की प्रगति में एक ऐसा स्थान आता है जहां ये दोनों मिल जाते हैं और तुम एक को दूसरे से अलग नहीं कर सकते। आरंभ में इन दोनों के बीच तुम जो विभाजन करते हो वह मन की रचना है: उच्चतर भूमिका पर उठते ही ये भेद गायब हो जाते हैं।

जो लोग इस जगत में भगवान् को प्रकट करने और पार्थिव जीवन को रूपान्तरित करने के लिये

आये हैं उनमें से कुछ ने दिव्य प्रेम को अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। कुछ में इस अभिव्यक्ति की पवित्रता इतनी अधिक थी कि समस्त मानवजाति ने उन्हें गलत समझा। यहांतक कि उनपर कठोर और प्रेमशून्य होने का दोष लगाया गया है, यद्यपि उनमें दिव्य प्रेम विद्यमान है परंतु उनमें इसका रूप भी इसके तत्त्व की तरह मानव नहीं, दिव्य होता है। मनुष्य जब प्रेम की बात करता है तो वह इसे भावावेश और भावुकतापूर्ण दुर्बलता के साथ जोड़ देता है। परंतु मनुष्य आत्मविस्मृति की दिव्य प्रगाढ़ता से, बिना संकोच अपने लिये कुछ भी बचाकर रखे बिना, बदले में कुछ भी मांगे बिना, भेंट के तौर पर अपने-आपको पूर्ण रूप से न्योछावर कर देने की शक्ति से अपरिचित-सा है। और जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावुकता-भरे भावावेशों के बिना, अपने सत्यस्वरूप में आता है तो लोग इसे निष्ठुर और नीरस पाते हैं; वे इसमें प्रेम की उच्चतम और तीव्रतम शक्ति को नहीं पहचान पाते।

जगत् में भगवान् के प्रेम की अभिव्यक्ति उनकी महान् आहुति थी, उनका परम आत्म-दान था। 'पूर्ण चेतना' ने जड़-प्रकृति की अचेतना में निमग्न और विलीन होना स्वीकार किया ताकि अंधकार की गहराइयों में भी चेतना जाग्रत् की जा सके और उनमें शनैः शनैः दिव्य शक्ति उदित हो सके तथा सारे अभिव्यक्त विश्व को दिव्य चेतना और भागवत प्रेम की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति बनाया जा सके। अपनी परम दिव्यपूर्ण अवस्था को, उसकी निरपेक्ष चेतना को, उसके अनन्त ज्ञान को खोना स्वीकार करके, अचेतना के साथ एक होकर अज्ञान और अंधकार से भरे जगत् में वास करना ही परम प्रेम था। फिर भी शायद कोई भी इसे प्रेम नहीं कहेगा; क्योंकि यह अपने-आपको ऊपरी भावनाओं से नहीं मढ़ता, इसने जो कुछ किया है उसके बदले में कोई मांग नहीं रखता, अपने बलिदान का प्रदर्शन नहीं करता। जगत् में प्रेम-शक्ति उन चेतनाओं की खोज में है जो इस भागवत गति को उसके विशुद्ध रूप में ग्रहण करने और उसे अभिव्यक्त करने के योग्य हों। समस्त जीवों की प्रेम के लिये यह दौड़, समस्त जीवों के तथा जगत् के हृदय में प्रेम के लिये अदम्य आवेग, उस भागवत प्रेम की प्रेरणा के कारण ही है जो मनुष्य की समस्त कामना और चाह के पीछे वर्तमान है। प्रेम-शक्ति करोड़ों उपकरणों का स्पर्श करती है, सदा परीक्षण करती है, सदा असफल होती है; किंतु इसका यह बार-बार का स्पर्श उपकरणों को तैयार कर रहा है और एक दिन आयेगा जब सहसा उनमें आत्म-दान और प्रेम की शक्ति जाग उठेगी।

प्रेम की गति मनुष्योंतक ही परिमित नहीं है और संभवतः मानवजाति की अपेक्षा अन्य सृष्टियों में कम विकृत है। पुष्पों और वृक्षों को देखो। जब सूर्य अस्त होता है और सब कुछ नीरव हो जाता है, तब क्षण-भर के लिये शांत होकर बैठो और अपने-आपको प्रकृति के साथ एक कर दो : तुम अनुभव करोगे कि पृथ्वी से, वृक्षों की जड़ के नीचे से प्रगाढ़ प्रेम और कामना से पूर्ण एक अभीप्सा ऊपर उठ रही है और यह अभीप्सा ऊपर की ओर बढ़ती हुई तथा वृक्षों के तन्तुओं में से संचार करती हुई, उनकी उच्चतम शाखाओंतक में उठ रही है—उस वस्तु के लिये कामना जो प्रकाश लाती है और सुख फैलाती है, उस प्रकाश के लिये जो चला गया है, जिसे वे वापस चाहते हैं। उनमें यह चाह इतनी पवित्र और तीव्र होती है कि यदि तुम वृक्षों में होनेवाली गति को अनुभव कर सको तो तुम्हारी अपनी सत्ता भी उस शांति, उस प्रकाश और प्रेम के लिये हार्दिक प्रार्थना करने लगेगी जो अभीतक यहां अभिव्यक्त नहीं है। एक बार भी यदि तुम इस विशाल, विशुद्ध और सत्य दिव्य प्रेम के संस्पर्श में आ जाओ, यदि तुम थोड़ी देर के लिये भी इसके लघुतम रूप का ही अनुभव कर पाओ, तो तुम यह अनुभव कर लोगे कि मनुष्य की वासना ने इसके स्वरूप को कितना नीच बना डाला है। मानव प्रकृति में यह क्षुद्र, पाशविक, स्वार्थमय, हिंसात्मक और कुरूप हो गया है, या फिर यह दुर्बल और भावुक, अत्यंत तुच्छ भावों से भरा हुआ, क्षण-भंगुर, बाहरी और शोषक बन गया है। और इस नीचता और पशुता को अथवा इस स्वार्थ से भरी हुई दुर्बलता को लोग प्रेम कहते हैं !

मानसिक प्रयत्न और सहज प्रयत्न

व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है, केवल भगवान् का ही अस्तित्व है, यदि इस अनुभूति को पाने के लिये व्यक्ति प्रयत्न करे, तो क्या इस तरह वह अपने अहं से बाहर निकल सकता है ?

व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है ? मुझे पता नहीं कि मानसिक रूप में कोशिश करके व्यक्ति किसी भी वस्तु को पा सकता है, क्योंकि यह एक प्रकार का मानसिक प्रयत्न है। इस तरह व्यक्ति मानसिक रचनाएं गढ़ता रहता है और उसे कोई खास प्राप्ति नहीं होती। नहीं, आवश्यकता ऐसी चीज की है जो सहज, तीव्र हो, सत्ता में जलती हुई **ज्वाला**, अभीप्सा की ज्वाला, एक ऐसी वस्तु . . . पता नहीं इसे कैसे व्यक्त किया जाये।

यदि चीज मस्तिष्क में ही चलती रहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता, कुछ भी नहीं।

हम जो प्रयत्न कर सकते हैं वह मानसिक ही तो होगा। उसे सहज बनाने के लिये क्या किया जाये ?

क्या ?

प्रयत्न को . . .

हां, हां, मैंने तुम्हारी बात सुन ली है। किंतु तुम इस बात पर आग्रह क्यों करते हो कि व्यक्ति जो भी प्रयत्न करता है वह केवल मानसिक ही हो सकता है ?

लेकिन उसे सहज-स्वाभाविक बनाने के लिये क्या किया जाये ?

मेरे विचार में रूपांतर के लिये किये गये प्रयत्न में, जो सत्ता के चैत्य केन्द्र से आता है, और कुछ प्राप्त करने के लिये मानसिक रचना में बहुत अधिक भेद है।

पता नहीं, अपनी बात किसी को समझा पाना बहुत कठिन है, किंतु जबतक वस्तु इस प्रकार (माताजी एक अंगुली अपने माथेतक लाती हैं) दिमाग में घूमती रहती है, उसमें कोई शक्ति नहीं होती। यदि होती भी है तो बहुत ही कम और बहुत अधिक सीमित। सारे समय वह अपनेको झुठलाती रहती है। व्यक्ति को ऐसा लगता है कि वह बड़ी कठिनाई से संकल्प-शक्ति को पकड़ पाता है जो काफी हदतक कृत्रिम होती है, और फिर वह किसी वस्तु को पकड़ने की कोशिश करता है, और अगले ही क्षण सब कुछ लुप्त हो जाता है। और उसे कुछ पता नहीं चलता। वह अपने से कहता है : "यह सब ऐसा कैसे हो गया ?"

पता नहीं, मुझे तो मस्तिष्क से योग करना बहुत कठिन प्रतीत होता है—जबतक कि वह उसकी पूरी पकड़ में न हो।

संकल्प मस्तिष्क में नहीं है।

संकल्प—जिसे मैं संकल्प कहती हूं—एक ऐसी वस्तु है जो यहां है (माताजी छाती के बीच की ओर संकेत करती हैं); जिसमें कार्य करने की शक्ति, उसे चरितार्थ करने की शक्ति है।

जो कार्य व्यक्ति केवल मस्तिष्क में करता है, उसमें असंख्य उलट-फेर होते रहते हैं; उदाहरणार्थ, ऐसा कोई भी सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता जिसमें तत्काल ही विरोधी तर्क उपस्थित करनेवाली वस्तुएं आकर हस्तक्षेप न करें। यही तो मन का बड़ा कौशल है : वह किसी भी वस्तु को प्रमाणित कर सकता है, किसी भी वस्तु के विषय में तर्क उपस्थित कर सकता है। फलस्वरूप, व्यक्ति एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाता। थोड़ी देर के लिये वह किसी शक्तिशाली विचार को पकड़ भी ले, तो भी, यदि वह उसमें तीव्रता की अवस्था को बनाये न रख सके तो थोड़ी-सी शिथिलता आते ही विरोधी वस्तुएं आ धमकेंगी और, जैसा कि तुम जानते हो, अपने-आपको सुन्दर ढंग से व्यक्त करने लगेंगी। अतः, यह कभी न समाप्त होनेवाली लड़ाई है।

इसका कोई समाधान नहीं।

तुम पूछते हो कि यह सहज कैसे हो सकता है। उदाहरणार्थ, शरीर में भी, जब उसपर कोई रोग, दुर्घटना आदि आक्रमण करने की कोशिश करते हैं—कोई भी आक्रमण—तो जो शरीर अपनी सहज प्राकृतिक अवस्था में रहने दिया जाता है, उसमें सहायता पाने के लिये एक प्रवृत्ति, एक अभीप्सा, एक सहज संकल्प होता है। किंतु ज्यों ही यह सारी बात मस्तिष्कतक पहुंचती है, वह उन्हीं चीजों का रूप ले लेती है जिनका व्यक्ति अभ्यस्त होता है : और तब सब कुछ बिगड़ जाता है। किंतु शरीर के वास्तविक स्वरूप को देखा जाये तो पता लगेगा कि उसमें एक ऐसी वस्तु है जो अचानक ही जागकर सहायता की पुकार करने लगती है, इतनी श्रद्धा के साथ, इतनी तीव्रता के साथ जैसे कोई छोटा बच्चा अपनी मां को, या जो कोई भी वहां हो उसे पुकारता है (यदि वह बोलना नहीं जानता तो कुछ कहता नहीं)। किंतु शरीर यदि अपने पर छोड़ दिया जाये और मन भी उसपर सतत रूप में कार्य न करे तो . . . हां, तो शरीर में यह बात होती है : ज्यों ही उसमें कोई विक्षोभ पैदा होता है, तत्काल ही उसमें एक अभीप्सा, एक पुकार, सहायता पाने के लिये एक प्रयत्न जाग उठता है, और उसमें बहुत शक्ति होती है। यदि इसमें कोई हस्तक्षेप न करे, तो उसमें बहुत शक्ति होती है, मानों स्वयं शरीर के कोषाणु ही अभीप्सा और पुकार के लिये उछल पड़े हों।

शरीर में बहुत ही अमूल्य और अज्ञात निधियां भरी हैं। उसके सभी कोषाणुओं में जीवन की, अभीप्सा की, विकास के लिये संकल्प की तीव्रता होती है जिसे मनुष्य साधारणतया अनुभवतक नहीं करता। शरीर-चेतना मन और प्राण की क्रिया के कारण पूरी तरह विकृत हो गयी हो तभी वह संतुलन को वापिस लाने के लिये तुरंत संकल्प नहीं करती। जब वह संकल्प-शक्ति न हो, तो इसका अर्थ है कि पूर्ण शरीर-चेतना ही मन और प्राण के हस्तक्षेप के कारण दूषित हो गयी है। जो लोग कम या अधिक अवचेतन रूप में अपने रोग को इस कारण पोसते हैं—और यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है—कि लोग उनमें रुचि लेने लगें तो इसमें उनके शरीर का दोष नहीं होता—बेचारा शरीर !—यह ऐसी चीज होती है जिसे उन्होंने मानसिक और प्राणिक विकृति के रूप में शरीर पर लादा है। शरीर को अपने-आप पर छोड़ दिया जाये तो वह विलक्षण है, क्योंकि, वह समता एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये अभीप्सा ही नहीं करता, बल्कि अपने अंदर संतुलन भी स्थापित कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने शरीर को अकेला छोड़ दे और समस्त विचारों, प्राणिक प्रतिक्रियाओं, अवसादों, तथाकथित ज्ञान, मानसिक रचनाओं और भयों को उसमें हस्तक्षेप न करने दे—शरीर को स्वयं उसी पर छोड़ दे, तो वह स्वाभाविक रूप में ही अपने-आपको स्वस्थ करने के लिये वह सब कुछ कर लेगा जो उसके लिये आवश्यक है।

अपनी स्वाभाविक अवस्था में, शरीर संतुलन को, सामंजस्य को ही पसंद करता है; यह तो सत्ता के दूसरे भाग हैं जो सब कुछ बिगाड़ देते हैं।

माताजी मन को हस्तक्षेप करने से कैसे रोका जाये ?

आह ! सबसे पहले तो तुम्हें इसके लिये इच्छा करनी चाहिये और फिर कहना चाहिये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उन लोगों से कहा जाता है जो बहुत शोर मचाते हैं : "चुप रहो, चुप रहो, शांत हो जाओ !"

जब-जब मन अपने सुझावों, अपनी क्रियाओं के साथ आगे बढ़े, तुम्हें यही करना चाहिये। तुम्हें उसे शांत, स्थिर एवं नीरव बनाना चाहिये। पहली बात यह है कि तुम्हें उसकी बात नहीं सुननी चाहिये। अधिकतर तो ऐसा होता है कि ज्यों ही ये समस्त वस्तुएं, अर्थात्, विचार आदि आते हैं, व्यक्ति उन्हें देखता है, समझने की कोशिश करता है, सुनता है; तब स्वभावतया ही वह मूर्ख समझता है कि तुम उसमें रुचि ले रहे हो, और वह और भी अधिक क्रियाशील हो उठता है। तुम्हें उसकी बातें न सुननी चाहियें, न ही उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। यदि वह अधिक शोर मचाये, तो उससे कहो : "शांत रहो ! बस, अब चुप हो जाओ !" पर ऐसा कहते समय तुम स्वयं शोर मत करो, समझे ? तुम्हें उन लोगों की नकल नहीं करनी चाहिये जो चीखना शुरू करते हैं : "चुप रहो", और अपने-आप इतना हल्ला-गुल्ला मचाते हैं कि उनका शोर दूसरों के शोर से भी बढ़कर होता है।

(यहां टेप-रिकार्डर का फीता समाप्त हो जाता है। शिष्य से :) दूसरा फीता मत लगाओ, मेरी बात भी समाप्त हो गयी है।

भाग्य !

अच्छा, तो फिर मिलेंगे, शुभ-रात्रि !

—श्रीमातृवाणी, खण्ड ६ से

चीता भी बदल गया

सारे जंगल में हाहाकार मचा था। चीता हर रोज आकर कभी हरिण के बच्चे पर और कभी बकरियों पर हाथ साफ करता था। होते-होते सभी जानवरों का एक-न-एक नातेदार-रिश्तेदार चीते के पेट में समा गया। सभी डरे हुए थे। सभी परेशान थे। किसी को कुछ न सूझ रहा था। सबने मिलकर सभा की। हर एक ने अपनी राय दी और हर एक ने अपने कष्टों की कहानी सुनायी लेकिन परिणाम क्या निकला ? कुछ भी नहीं। सब जहां के वहीं थे।

आखिर बिल्ली मौसी उठीं, बड़ी गंभीरता से इधर देखा, उधर द्रेखा। उनके चेहरे का भाव देखकर जानवरों को लगा कि उनके पास कुछ नया विचार है। सब उत्सुक होकर उनकी ओर ताकने लगे। रुक-रुक कर मौसी ने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया :

"अरे, तुम लोग इस चीते से डरते हो ? उसे समझ पाना कठिन नहीं है, आखिर मेरा भांजा ठहरा। मैं तुम्हें ऐसी तरकीब बता सकती हूं जिससे सांप मरे और लाठी भी न टूटे।"

सब जानवरों की बांछें खिल गयीं। दुःख के दिन खतम होते हुए दिखायी दिये। सब ने एक आवाज होकर नारा लगाया : "बिल्ली मौसी जिन्दाबाद, अत्याचारी चीता नहीं रहेगा, नहीं रहेगा।"

बिल्ली मौसी ने सबके सामने हाथ जोड़े, सबके आगे सिर झुकाया और जानवरों की गुणग्राहकता के लिये धन्यवाद दिया।

कुछ जानवर धीरज खोने लगे। उन्हें लग रहा था कि मौसी ने अभीतक बताया तो कुछ भी नहीं, मुफ़्त में प्रशंसा लिये जा रही हैं। चिन्ता तो सभी को हो रही थी पर कुछ की चिन्ता ईर्ष्या के भार के नीचे दब गयी थी।

भल्लूकराज ने सभापति की शान से कहा, "आर्डर, आर्डर ! सब लोग चुप हो जाओ। बिल्ली हम लोगों की मौसी है, बहुत होशियार है। जो बोलना मांगता बोलने देओ।"

सब फिर से चुप हो गये। मौसी ने फिर सबको नमस्कार किया और बोलीं : "तुम इस धारीवाले से डरते हो, मैं ऐसी तरकीब बताती हूं जिससे उसकी धारियां ही चली जायेंगी। न धारियां रहेंगी, न धारीवाले का डर सतायेगा बोलो, मेरी बात मानने को तैयार हो ?"

"हां, मौसी, तुम्हारी बात सिर-आखों पर," "मौसी, तुम्हारी बात सींग पूंछ पर," "तुम्हारी बात कलगी पर" की आवाजें हवा में गूंज उठीं।

मौसी ने फिर अपना महत्त्व तोलते हुए कहा : "मैं सोच रही थी, भगवान् न करे, मुझे कहीं कुछ हो गया तो तुम लोगों का क्या होगा ? तुम्हारी समस्याएं कौन हल करेगा ?"

सभा में जोर की उसांसों से मिली एक उसांस छूटी। कुछ के हृदय में मौसी की नयी चिन्ता ने भी घर कर लिया।

इतने में धारीवाले की गंध आयी और सभा के पंख लग गये। जिसका जिधर मुंह उठा वह उधर भाग निकला। इतना समय नष्ट हो गया पर अभीतक किसी को यह न मालूम हो पाया कि मौसी की योजना क्या है। सियार भाई चुपचाप बैठा सब बातें सुन रहा था। उसने सोचा :

"मौसी तो यूं ही बकबक करती है, चलो, मैं कुछ करके दिखा दूं।"

उसे अपने पुरखे नीले सियार की कहानी याद थी। उसने लोमड़ी बहन को साथ लिया और जंगल का शृगालावलोकन कर डाला।

पूरब दिशा में चमड़ा कमानेवालों के कुछ हौज थे जिनमें अब भी कुछ रंग पड़ा था। सियार भाई और लोमड़ी बहन ने चालाकी करके चीते को उस रास्ते पर ला डाला। दूसरे दिन जानवरों ने धारीवाले की जगह एक बहुत ही भयंकर विशालकाय काले जानवर को देखा। काले रंग ने उसके लिये छिपना और भी आसान कर दिया था और उसकी गंध भी कम कर दी थी। अब उसकी दसों खून में थीं।

आतंक बढ़ता जा रहा था। जानवरों की सभा फिर से बैठी। इस बार सभी ज्यादा सहमे हुए थे। बिल्ली मौसी और सियार भाई के कहीं दर्शन न हुए। सब अपनी-अपनी विपदा सुनाने में लगे थे। सब का कहना था कि इस काले भूत से तो धारीवाला ही ज्यादा अच्छा था, इसमें तो जरा भी दया-माया नहीं है। इसकी गंध दब गयी है इसलिये यह और भी निःशंक हो गया है।

बन्दर मामा ने किलकारी मारते हुए कहा : तुम सब जानवर कुलकलंक हो। बुरा न मानना, तुम सब आदमी हो, निरे आदमी।"

कुछ जानवरों को आदमी के लिये मान था। उन्होंने सोचा उनकी प्रशंसा हो रही है। कुछ ने इसे गाली के रूप में लिया लेकिन ठीक बात किसी की समझ में नहीं आयी कि आखिर मामा कहना क्या चाहते हैं।

गिलहरी ने साहस करके कहा : "मामा, हम तुम तो पेड़ के वासी हैं इसलिये हमें चीते का तो क्या उसके बाप का भी भय नहीं है। लेकिन इन बेचारों की जान पर बन आयी है, इनके आगे पहेलियां न बुझाओ। जो कहना हो साफ-साफ कह दो।"

"गिलहरी बहन, मैं तो यह मानता हूं कि हर जानवर नामधारी को धीरज का पुतला होना चाहिये। चाहे मुसीबत का पहाड़ क्यों न टूट पड़े उसे अपनी विशेषता न छोड़नी चाहिये। मेरी जाति अपनी हास्यप्रियता के लिये मशहूर है, फिर भला मैं अपना बन्दरपना छोड़कर मनहूस शकल बनाना कैसे स्वीकार कर लूं ?

"तुम सबको मालूम ही होगा कि मैं आदमियों की बस्ती में बहुत बार जाता हूं। उनकी बुद्धि के

बखान सुन-सुनकर मेरे कान पक गये हैं। लेकिन मुझे तो यही लगता है कि आदमी के अंदर इमली के पत्ते के बराबर भी बुद्धि नहीं है।''

"यह कैसे कह सकते हो तुम ? तुम्हारे जैसे सैंकड़ों को वह नचा सकता है और नचाता है। है हम में से कोई ऐसा जो उसका सामना कर सके ? और यह सब शरीर के आधार पर नहीं, बुद्धि के आधार पर करता है वह।''

"अरे यार, तू जंगल में रहता है तो क्या हुआ ? है तो आदमी का टुकड़ाखोर ही।''

भल्लूकराज ने अपना डण्डा उठाया और बोले : "आर्डर, आर्डर ! यह मनुष्यों का सभा नहीं है जहां सब तू-तू मैं-मैं कर सकता, आपको ऐसा बहेवार करना चाहिये जो जानवरों के माफक हो।''

सब चुप हो गये।

बन्दर मामा फिर बोले : "हां, तो मैं कह रहा था आदमियों के बारे में। आदमी आदमी को तंग करने में खूब मजा लेता है। हम लोग तो जो कुछ जंगल में मिल जाता है उसी पर गुजर-बसर कर लेते हैं, पर आदमी को उससे संतोष नहीं होता। वह तरह-तरह की चीजें बनाता है, उनके लिये झगड़े करता है और फिर उन्हें नष्ट कर देता है और उसके बाद फिर से झगड़े करता है। आदमी का स्वभाव ही है गड़बड़ करना।''

"लेकिन, भाई साहब, हम आदमी के बारे में भाषण सुनने नहीं आये। हम अपनी मुसीबत में फंसे हैं, ये बातें किसी और दिन के लिये उठा रखिये," चीतल ने कहा।

"धीरज धरिये जरा, मैं उसी बात पर आ रहा हूं। आदमी ने देखा कि आदमी बहुत गड़बड़ करता है तो उसने एक राजा चुन लिया जो सब आदमियों को ठीक हांक सके, कुछ व्यापारी चुन लिये जो सामान की देखभाल करें और सबकी जरूरतों को पूरा कर सकें। कुछ को सिपाही बना दिया और उन्हें रक्षा का काम सौंपा। लेकिन राजा ने सबको गुलाम बनाया, व्यापारियों ने सारा माल अपने पेट में भर लिया और रक्षक भक्षक बन गये। सारा समाज चौपट होने लगा। बाढ़ खेत खाने लगी।

"हमारे यहां भी जब मुसीबत आयी तो सियार और लोमड़ी ने मिलकर चीते को रंग डाला लेकिन रंग से कोई फर्क न पड़ा। चीता चीता ही रहा। गंध दब जाने से वह और भी खुल खेलने लगा। आदमी के यहां भी ऐसा ही हुआ। राजा की जगह मंत्रियों ने ले ली, व्यापारियों की जगह सरकारी अफसर आ गये। जो रक्षक पहले राजा की चाकरी में थे वे अब मंत्रियों की दुहाई देने लगे। बात वह-की-वही रही, मानव चीते की हिम्मत जरा और बढ़ गयी, अब उसे जनमत नाम का डण्डा मिल गया था, उसकी धारियां छिप गयीं और गंध दब गयी। ऐसी अवस्था में वह पहले से भी ज्यादा खतरनाक हो गया।

"मनुष्यों में यही नाटक होता रहता है। वे एक के बाद एक कितने प्रयास कर चुके हैं, लेकिन उनकी मुश्किलें कम होने में नहीं आतीं। पहले राजाओं का राज रहा, वह गया तो सामंतों का राज आया, उसकी जगह व्यापारियों के राज ने ली और अब 'जन-साधारण' कहानेवाले प्राणी का राज है, लेकिन जो चीता पहले था वही चीता आज भी है। उसकी धारियां बदल गयी हैं, उसका रंग बदल गया है, लेकिन नाखून और दांत वह-के-वही हैं—शायद और भी ज्यादा तेज हो गये हैं।''

"इसका तो मतलब यह हुआ कि आदमी के पास हमें सिखाने लायक कुछ नहीं है। वह अपने-आप इसी चक्कर में फंसा है। जानवर पहले से ही मुसीबत में है। तो क्या हम सबको मिलकर आत्मघात ही कर लेना चाहिये—इसे छोड़कर और कोई उपाय नहीं है ? सारे समय डर से कांपते रहना, हर क्षण अपने-आपको मृत्यु के मुंह में पाना तो हमें प्रिय नहीं है," खरहे ने कहा।

वातावरण की उदासी और गहरी हो गयी। कुण्ठा की परतें जम गयीं। खरहे की बात ने निराशा के

दबे हुए परनाले खोल दिये। सबके चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं। सबका ध्यान अपने और अपनों के अंत पर जमा हुआ था।

अचानक किसी ऊंची टहनी पर से फुदक कर सारिका नीचे आयी। शुक-पिक उसकी छाया की तरह उसके साथ लगे थे। सारिका ने कहा :

"हम लोगों ने आपकी बातें सुनी हैं। हमें आपके साथ पूरी सहानुभूति है। आपकी इजाजत हो तो हम भी इस विषय पर कुछ कहें।"

भल्लूकराज ने आखों पर से बाल हटाते हुए कहा : हम लोग इस समय बहुत उदास हैं, गाना नहीं सुनना मांगता, तुम भाग जाओ।"

शुक ने सलाम करते हुए कहा : "हम लोग गाना सुनाने नहीं आये। आपको एक नया संदेश देने आये हैं। बंदर मामा ने आपको आदमी के बारे में बहुत-सी बातें बतायी हैं और उनके कारण आप बहुत निराश हो गये हैं। लेकिन असली बात तो यह है कि वे आदमी के बारे में कुछ जानते ही नहीं। उन्हें आदमी की बस्ती में घुसने ही कौन देता है ? वे आदमी से डरते हैं और आदमी उनसे। फिर ये उसकी सच्ची बातें कैसे जान सकते हैं ?"

बंदर शुक पर झपटने ही वाला था कि भल्लूकराज का, "आर्डर ! आर्डर !" सुनायी दिया। बेचारा खून के घूंट पीकर रह गया।

भल्लूकराज ने कहा : "तुम लोग का बात अच्छा मालूम होता। क्या बोलना मांगता, जल्दी बोलो। इधर-उधर का बात नहीं सुनना मांगता।"

सारिका ने बात चलाते हुए कहा : "आदमी भी एक तरह का जानवर है, हम लोगों का छोटा भाई है। बहुत नटखट है लेकिन है तो हमारा ही। उसमें कई बहुत अच्छी बातें भी हैं। वह ऐसी बहुत-सी चीजें जानता है जो हमारे बाप-दादों को भी नहीं मालूम थीं।

"बेचारे आदमी की मुसीबत यह है कि वह जानता तो बहुत कुछ है, लेकिन उसका आधा भी नहीं कर पाता। और इसका कारण यह है कि वह अपने-आप से बहुत खुश है और अपने-आपको जगत् में सर्वश्रेष्ठ मानता है।"

यह सुनते ही चारों ओर से तरह-तरह की हंसी सुनाई देने लगी। बड़ी-बड़ी आखें झपकाते हुए चीतल मुसकराया। बोला : "हुं, श्रेष्ठ जानवर ! मेरे साथ दौड़कर देख ले।"

भल्लूकराज जोर से चिल्लाये : "आर्डर, आर्डर ! बीच में गोलमाल नहीं मांगता।"

सारिका ने सिर झुकाकर, पंख बढ़ाकर सलाम किया और बोली : "मेरा नम्र निवेदन है कि हम मनुष्य की करनी पर नहीं, कथनी पर चलें। मनुष्य कहता है जहां एका हो, जहां प्रेम और दृढ़ता हो, वहां तुम्हें कोई नहीं हरा सकता। हम सब जानवर चीते की टोह लगाते रहें और एक-दूसरे को सावधान करते रहें तो चीते से जीत जाएंगे।"

चारों तरफ पंखों की फड़फड़ाहट और पंजों की थपथप फैल गयी। दूसरे ही दिन से धारीवाले की मुसीबत आयी। बेचारा चाहे जितना लुक-छिप कर आये, पेड़ के ऊपर से सारिका का दल या बंदर मामा की जमात सबको सूचना दे ही देती।

एक बार चीता अमलतास के पेड़ में छिपकर बैठा था, चीतल का छौना रोज इसी रास्ते पानी पीने जाता था, लेकिन हाय, छौना मुड़ा ही था कि गिलहरी मौसी पूंछ उठाये उसके सामने इधर-उधर नाचने लगीं और उसे दूसरे रास्ते पर ले गयीं। चीता मूंछें चबाता रह गया। सारा दिन बेकार गया। चीता कुछ झुंझलाया, कुछ निराश हुआ, लेकिन बेकार।

दूसरे दिन उसने खूब सोच-विचारकर तलैया के झुरमुट में अपने-आपको छिपा लिया। कम्बख्त

तालाब ! उसके कितने छोर थे। सभी जानवरों ने दूसरे रास्ते चुन लिये।

एक बार खरगोश का एक छोटा-सा बच्चा शायद मां से बिछड़कर फुदकता हुआ इस ओर आने लगा तो चीते की लार टपक पड़ी। लेकिन हाय भाग्य ! उसके झपटने से पहले ही पेड़ की शाखा से हुक-हुक करता हुआ बदमाश बंदर कूदा और बच्चे को लेकर यह जा वह जा। इसी तरह व्यर्थ प्रयासों में कितने ही दिन बीत गये।

भूख से बेहाल धारीवाला एक पेड़ के नीचे बैठा हांफ रहा था। धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ भालू आया और सामनेवाले पेड़ की छाया में सतर्क होकर बैठते हुए बोला :

"ऐ धारीवाले, हम तुमको बोलता, जंगल छोड़कर भागो, और नहीं तो एकदम मर जायेगा।"

चीता बड़ी दीन आवाज में बोला : "भल्लूकराज, लो अभी जाता हूं, और कर भी क्या सकता हू?"

रोते-झींकते, कराहते धारीवाले ने चलना शुरू किया। भारी-भरकम शरीर को उठाये भालू काफी दूरतक चीते का पीछा करता रहा। जब उसे विश्वास हो गया कि धारीवाला अब न लौटेगा तो चारों पावों से हवा में उछलकर खों-खों करने लगा। तोंद को संभाले चीतल के पास गया। चीतल के चारों ओर नाचते हुए बोला :

"धारीवाला चला गया ! चला गया !"

पहले तो चीतल आंखें फैलाये भालू को देखता रहा। फिर वह भी छलांगें मारने लगा, बोला : "चलो, खरगोश और सियार को खबर दे आएं। आज जंगल में मंगल होगा।"

कुछ ही देर में जंगल के सारे जानवर खुशी मनाने लगे। मोर ने पंख फैलाकर नाचना शुरू किया। सारिका गीत गाने लगी, भालू पंजों से ताल देने लगा, और सारे जानवर अपनी-अपनी ताल में नाचने लगे। सारा जंगल सीटी, गुर्राहट और चीं-चीं, पों-पों से गूंजने लगा।

इधर भूखा-प्यासा धारीवाला आधे जंगलतक तो अपने-आपको घसीट ले गया, फिर अचानक उसपर बेहोशी छा गयी। कुछ देर बाद, न जाने स्वप्न था या सच, लेकिन उसने देखा कि सामने एक विशालकाय चीता खड़ा है। उसके पीछे नीले और सफेद रंग के पेड़ झूम रहे थे। दूर किसी बर्फीले पर्वत में से चांदी का झरना उफन रहा था। उसने देखा चीतादेव के शरीर में से बिजली निकल रही है। वह आकाश के निराले जंगल में हवा के स्तम्भ पर खड़ा है। चीते ने उठने की कोशिश करते हुए कमजोर आवाज में कहा : "चीतादेव !"

चीतादेव ने पंजा उठाकर चुपचाप पड़े रहने का आदेश देते हुए प्यार से उसकी ओर देखा, मन्द-मन्द गुर्राया : "जंगल छोड़कर भागे कहां जाते हो ? यहीं तुम्हारा घर है, यहीं रहना होगा।"

चीता पंजे जोड़कर बोला : "देव, यहां रहूंगा तो भूखों मर जाऊंगा। आप देख ही रहे हैं सूखकर कांटा हो गया हूं।"

देव की मूंछें मुसकान में ऊपर उठ गई। धीरे से बोले : "अरे नादान, जहां प्रेम हो वहां हिंसा नहीं रहती। अब जंगल में प्रेम का राज्य आ गया है। हर एक को बदलना पड़ेगा, तू भी नहीं बच सकेगा। तू जाकर अपने भाई-बहनों से बात कर। छोटे-मोटे जानवर न खा कर, फल-फूल और कन्द-मूल खाया कर। शुरू में कष्ट होगा, किन्तु तुझे इतना प्रेम मिलेगा कि तू भोजन के कष्ट को भूल जायेगा। और तेरा शरीर उस प्रेम से ही ज्यादा पुष्ट बनेगा।"

चीते ने आंखें खोलीं तो देखा, न नीले वृक्षों का आकाशी जंगल था और न हवा में लहराते चीतादेव ही थे। लेकिन उसे विश्वास था कि यह स्वप्न न था। साक्षात् भगवान् ने उसे दर्शन दिये थे, आदेश दिया था। लंगड़ाता-लंगड़ाता वह फिर जंगल की ओर लौट पड़ा।

चीते को अचानक अपने बीच देखकर जानवरों की घिग्गी बंध गयी और सब-के-सब लगे कान, नाक, पूंछ संभालकर भागने। चीता धीरे से गुर्राया : "भागो मत, भाइयो, सुनो, सुनो, मेरी बात सुनो।"

भालू ने हिम्मत करके उसकी ओर दो कदम बढ़ाये। पूछा : "फिर मरने आया ?"

चीता : "नहीं, दोस्त।"

भालू की गोल-गोल आंखें प्रायः बाहर निकल आयीं। वह पंजे जमीन पर टिकाकर आराम से बैठ गया, उसके पीछे घुस-पुस करते और जानवर भी आ गये। चीता बोला :

"आज से मैं तुम सबको भाई-बहन समझता हूं।"

बंदर मामा बोले : "खबरदार, उसकी बातों में न आना, बिलकुल आदमी जैसा है—शैतान। हमें फुसलाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है।"

सारे जानवर असमंजस में पड़ गये। सियार बोला : "जो भी करो, सोच-विचार कर करो, ऐसा न हो कि हम खाई में जा गिरें।"

सारिका बोली : "नहीं, भाई, मैं तो कहती हूं कि चीते भाई को हम एक अवसर दें। लेकिन सवाल यह है कि अगर हम सब यूं मिलकर रहें तो चीते भैया खायेंगे क्या ?

चारों ओर से आवाज आयी : "शाबाश, शाबाश ! ठीक पकड़ा।"

चीता कुछ देर जमीन की ओर देखता रहा। इस चुप्पी से जानवरों में कोलाहल मच गया। भालू जोर से चिल्लाया : "तुम सब छोटा-बड़ा लोग, चुप !" फिर धीरे से खिसककर चीते के पास आकर बोला : "हां, दोस्त, बोलो, क्या करोगे ?"

चीते ने सिर ऊपर करके कहा : "अब मैं आपका भाई हूं, आप जो ठीक कर देंगे वही खाऊंगा।"

क्षण-भर के लिये सब जानवर स्तब्ध रह गये। फिर सियार बोला : "खरगोश के तो बहुत बच्चे होते हैं। एक-आध बच्चा . . . "

पूंछ उठाये गिलहरी कूद पड़ी : " लो, बहुत बच्चे होते हैं तो क्या मार डालने के लिये होते हैं ? तेरे भी तो बहुत होते हैं। अपने बच्चे . . . "

सारिका फुदककर नीचे आयी : "नहीं, नहीं, चीता भाई किसी भी जानवर को नहीं खायेंगे। हम उनके लिये दूर-दूर से, अच्छे-अच्छे फल लायेंगे।"

खरगोश ने कान फड़फड़ाते हुए कहा : "मैं आलू, गोभी और कंद लाऊंगा।"

कुछ ही देर में सभी जानवरों ने अपनी-अपनी ओर से चीते की कुछ-न-कुछ सेवा करना स्वीकार किया।

*

जंगल में शीत के बाद बसन्त ऋतु आयी और बसन्त के बाद ग्रीष्म। सारे प्राणी हर ऋतु का आनंद लूटते हुए जंगल में मंगल मना रहे थे। जंगल के पास ही एक शहर था। ग्रीष्म से परेशान स्कूली बच्चों को एक महीने की छुट्टी दे दी गयी। लेकिन बच्चों के लिये क्या गरमी और क्या सरदी ? छुट्टियां हुईं तो सब मिलकर अधिक ऊधम मचाने लगे। तीन स्कूली लड़कों में गाढ़ी छनती थी। कभी चिड़ियाघर की सैर करते तो कभी एक-दूसरे के बगीचे में खेलते।

एक दिन प्रभाकर, मधु और बण्टी ने जंगल की ओर जाने की ठानी। तीनों साइकिलें लेकर निकल पड़े और वहां बरगद दादा के नीचे साइकिलें टिकाकर मटरगश्ती करने लगे। आकाश से आग बरस रही थी, बड़ी मुश्किल से एक तालाब ढूंढा। आगे-आगे बण्टी चल रहा था। तालाब के दूसरे किनारे

एक अनोखा दृश्य देखकर वह ठिठक गया। कुछ क्षण बाद प्रभाकर और मधु को भी बुला लाया। तीनों की आंखें आश्चर्य से फटी-की-फटी रह गयीं।

एक चीते के चारों ओर खरगोश, चीतल, भालू आराम से बैठे हैं। बिलौटा चीते की गोदी में आरा...म से सो रहा था, गिलहरी चीते की पूंछ के चारों ओर नाच रही थी।

फुसफुसाते हुए मधु ने कहा: "ओह! चीता कितना प्यारा लग रहा है।"

बण्टी बोला: "अरे, उसकी आंखें तो देख, कैसी मुस्करा रही हैं!"

प्रभाकर अभीतक चुप खड़ा था। उसने ठण्डी आह लेते हुए कहा: "मानव समाज में जब बहुत गड़बड़ होती है तो हम उसे जंगल का विधान कहते हैं। काश! मानव जंगल के इस नये विधान को देख पाता।"

—अनुबेन

संस्कृति

भारतीय संस्कृति के बारे में कुछ कहने-सुनने से पहले हमें यह जानना चाहिये कि संस्कृति कहते किसे हैं। इस विषय में श्रीअरविंद कहते हैं:

"जगत् में मनुष्य का पार्थिव लक्ष्य है सच्चा सुख पाना और सच्चा सुख आत्मा, मन और शरीर में सच्चा सामंजस्य स्थापित करने से ही मिल सकता है। किसी संस्कृति का मूल्यांकन करने के लिये हमें देखना होगा कि वह किस हदतक इस सामंजस्य को पाने में सफल हुई है और उसने अपने क्रिया-कलाप और गतिविधि को इस उद्देश्य के लिये कहांतक व्यवस्थित किया है। किसी सभ्यता का मूल्यांकन करने के लिये हमें देखना होगा कि उसके सिद्धांत, विचार, रूप और जीवन इस सामंजस्य को लाने का कहांतक प्रयास करते हैं। इन चीजों को पाने की कोशिश करनेवाली सभ्यता प्रधानतः भौतिक हो सकती है जैसे यूरोपीय सभ्यता। मुख्य रूप में मानसिक और बौद्धिक हो सकती है जैसे प्राचीन रोम और यूनान की सभ्यताएं या फिर प्रधानतः आध्यात्मिक जैसे भारतीय सभ्यता।"

भारतीय सभ्यता में नाना प्रकार के परिवर्तन आ चुके हैं। विकार पैदा हो गये हैं फिर भी उसका मूल सुरक्षित है।

भारतीय संस्कृति ने बहुतेरे तूफान देखे हैं। उसपर ज्वालामुखी फटे हैं, बगूले-पर-बगूले आये हैं, बहुत बार ऐसा लगा है कि बस, अब इसका अन्त आ गया परंतु वह फिर से एक नया जन्म लेकर खड़ी हो गयी है।

इस संस्कृति का बिरवा वेदों से निकला था। वेदों ने ही संस्कृति के आदि काल में मनुष्य को भावी उपलब्धि की एक झांकी दी थी और हर नूतन सूर्योदय का नूतन जीवन के रूप में स्वागत करना सिखाया था।

श्रीअरविंद कहते हैं कि वेदों का अन्तःप्रकाश उन ऋषियों को प्राप्त हुआ जो योग में निष्णात थे, जिन्हें अंतर्दृष्टि प्राप्त थी, जिनकी विशुद्ध प्रज्ञा में शब्द का स्वामी अपने शब्द उंडेलता था। यही श्रुति है। अनगिनत पीढ़ियों से सुरक्षित प्राचीन ज्ञान और शिक्षा को ही स्मृति कहते हैं।

साधारण मान्यता यह है और यूरोपीय जातियों ने इसका खूब प्रचार किया है कि आर्य लोग भारत में बाहर से आकर बस गये थे और उन्होंने यहां के मूल वासियों यानी द्रविड़ लोगों को दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। श्रीअरविंद को यह मान्यता स्वीकार नहीं है। उन्होंने दक्षिण में आकर ध्यान से देखा तो जो

विशुद्ध आर्य चेहरे कहलाते हैं, उन्हें दक्षिण के केवल ब्राह्मणों में ही नहीं सभी जातियों में पाया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि रक्त के चाहे जितने मिश्रण हुए हों, चाहे जितने प्रादेशिक भेद-भाव पैदा हुए हों फिर भी सभी भिन्नताओं के बावजूद समस्त भारत में शारीरिक और सांस्कृतिक एकता है। वे भाषाओं में भी संस्कृत और तमिल को एक दूसरे के लिये अजनबी नहीं मानते। उनका ख्याल है कि प्राचीन काल में संस्कृत और तमिल एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक थीं और शायद लैटिन और संस्कृत के बीच की कड़ी में तमिल का स्थान रहा हो। श्रीअरविंद यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि वेदों में प्राचीन भारत का, आर्यों और अनार्यों के युद्ध का इतिहास है। श्रीअरविंद वेद में ज्योति और सत्य, ऋतम् और अमृत का दर्शन करते हैं। वैदिक मंत्रों ने स्वयं उनकी बहुत-सी आंतरिक अनुभूतियों का स्पष्टीकरण कर दिया जिनकी व्याख्या और कहीं से नहीं मिल सकती थी, वेद की सहायता से उपनिषदों के कुछ अस्पष्ट स्थलों और पुराणों की गुत्थियों को समझने में सहायता मिली।

श्रीअरविंद कहते हैं :

"मानव आत्मा के उतार-चढ़ाव, केवल तत्त्वों और वृत्तियों के ही नहीं, उनके पीछे की, उन्हें बल देनेवाली वैश्व शक्तियों के संघर्ष का भी चित्रण हैं। ये दैवी और आसुरी शक्तियां हैं। व्यक्तिगत आत्मा में, संसार के मंच पर यही नाटक उन्हीं पात्रों के साथ दोहराया जाता है।

मनुष्य की आत्मा सत्ताओं से भरा हुआ जगत् है, एक ऐसा राज्य है जिसमें भगवान् की विजय में सहायता करनेवाली और उसका विरोध करनेवाली सेनाएं लड़ती रहती हैं। यह एक ऐसा मकान है जिसमें देवगण हमारे अतिथि हैं और दानव उसपर कब्जा कर लेना चाहते हैं। उसकी ऊर्जाओं की पूर्णता और उसकी सत्ता का विस्तार यज्ञ की वेदी को बढ़ाता रहता है।"

यदि हम इस दृष्टि से देख सकें तो वेद मानवता का उच्च अभीप्सा से भरा संगीत, उसके स्वर-आरोहण में लगी हुई आत्मा की यात्रा का विवरण हो जाते हैं। यह भूतकाल की नहीं वर्तमान और भविष्य की भी शाश्वत कहानी है।

'गैर्वाणी'

भगवते अर्पणम्

महाराष्ट्रदेशे 'एकनाथ'-नामधेयः कश्चित् सुविख्यातः सत्पुरुषः जातः। सः स्वसम्पूर्णजीवनं प्राणिसेवायाम् आर्पयत्। बाल्यादेव तस्य हृदये महात्मप्रवृत्तयः दृढम् आरोपिताः आसन्। अथ एकदा स्वयुवकाले मित्रैः सह तीर्थाटनाय निर्गतः। तस्मिन् युगे तीर्थाटनं सुकरं नासीत्, श्रद्धालुभक्ताः काशीनगरात् गङ्गाजलं गृहीत्वा पादचारेण दक्षिणापथे रामेश्वरतीर्थमागत्य तत्र जलम् अर्पयन्ति स्म।

एकनाथः अपि स्वकमण्डलौ गङ्गाजलं गृहीत्वा अन्यैः सह महायात्रार्थं प्रस्थितः। भिक्षाटनं कृत्वा एतेषां दलः निरन्तरमग्रे असरत्। एकस्मिन् दिने एकनाथस्य अन्ये बन्धुबान्धवाः भिक्षार्थं कस्मिंश्चित् ग्रामे विरताः, एषः 'न अहम् अधुना क्षुधितः, गच्छेयं तावत् ईषत् दूरम्' इति चिन्तयित्वा अग्रे असरत्। तद्दिनम् उष्णमासीत्, मस्तके सूर्यः तपति स्म, श्रद्धालुः भक्तः तु वातावरणेन अप्रभावितः, ईश्वरदर्शनस्य तीव्रमभिलाषं हृदयमञ्जूषायां निधाय भजनमग्नः आसीत्।

हठात् मार्गस्य पार्श्वे तस्य दृष्टिः एकस्मिन् गर्दभे पतिता, तृषया व्याकुलः वराकः पशुः मरणासन्नः दृश्यते स्म। दयालोः एकनाथस्य हृदयं पशोः तादृशीम् अवस्थां वीक्ष्य हाहाकारमकरोत्। पलमेकमपि अन्यत्

किमपि न चिन्तयित्वा झटिति सः किञ्चित् गङ्गाजलं तस्मै अददात्, तेनापि तस्य पिपासा न शान्ता इति वीक्ष्य कमण्डलुम् एव तस्य सम्मुखे अस्थापयत्। सम्पूर्णं जलं पीत्वा गर्दभः स्वस्थः जातः, स्वस्थं गर्दभं दृष्ट्वा एकनाथस्य हृदयमानन्देन परिपूरितम्।

तावता कालेन तस्य अन्यानि मित्राणि तत्र सम्प्राप्तानि। तैः दृष्टं यत् एकनाथः गर्दभस्य सेवायां निरतः, तस्य गङ्गाजलस्य पात्रं च सर्वथा रिक्तम्!! शङ्कया एकः अपृच्छत्—एकनाथ! किं करोषि त्वम्, कुत्र तव गङ्गाजलम्?

सरलचित्तः एकनाथः प्रसन्नतया उदतरत्—एषः गर्दभः पिपासया मृतप्रायः अत्र पतितः आसीत्, पश्यतु गङ्गाजलं पीत्वा एषः कियान् स्वस्थः प्रसन्नश्च दृश्यते। आगच्छतु, अग्रे सराम वयम्।

त्वया किन्तु सर्वं जलं व्ययितम्! किम् अर्पयिष्यसि अधुना रामेश्वरं गत्वा? तव तीर्थयात्रा तु अपूर्णा, न च त्वं पुण्यं प्राप्स्यसि अधुना।

विस्मयान्वितः एकनाथः अवदत्—स्वस्य सकाशे जलं रक्षित्वा यदि स्वपुण्यलोभेन मया अस्मै न दत्तं स्यात् तदा मत्तः पापीयान् कोऽपि न अभविष्यत्। जीवमात्रः ईश्वरः। मया तु अस्मिन् गर्दभे ईश्वरस्य दर्शनं कृतम्। मया स्वगङ्गाजलं भगवते एव अर्पितम्।

तस्य एतत् वचनं श्रुत्वा सर्वाणि मित्राणि श्रद्धया नतानि।

—वन्दना

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER

"Work done in the right spirit is meditation."

— THE MOTHER

हमें अपनी महान् आत्मा को पाने के लिये लघु अहं को छोड़ना होगा।

—*श्रीमां*

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

दिव्य श्रमिक

मैं पृथ्वी के घटना-चक्रों का समता से करता अभिदर्शन;
सबमें सुनायी देती तेरी पगध्वनि : तेरे अदृश्य चरण
मेरे सामने नियति के मार्गों पर करते संचरण। जीवन की सकल
संपूर्ण विशद व्याख्या है तू अविकल।

कोई संकट मेरी आत्मा की स्थिरता को नहीं कर सकता उद्विग्न :
मेरे कर्म तेरे हैं; मैं चला जाता तेरे कार्यों को करके संपन्न;
तेरी अमर बाहों में असफलता का होता भरण-पोषण,
दैव-दर्पण में विजय होती प्रतिबिंबित तेरा पथ बन।

मानव-नियति के साथ हो रहा यह दुर्धर्ष संग्राम
इसमें बन जाती मेरा पूर्ण बल मेरे हृदय में तेरी मुस्कान;
काल-सर्प के विसर्पणशील विस्तार के प्रति उदासीन,
तेरी शक्ति अपनी महान् योजना पर मुझमें कर रही श्रम कठिन।

मेरी आत्मा का तुझमें है निवास; कोई शक्ति नहीं कर सकती इसका हनन।
तेरी उपस्थिति है मेरी अमरता चिरंतन।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जुलाई

१. सद्भावना और श्रद्धा के साथ कुछ भी असंभव नहीं है।
सुंदरता का आदर्श अपने अनंत लक्ष्य की ओर गति करता है।
सुंदरता को अपनी पूरी शक्ति तबतक नहीं मिलती जबतक वह भगवान् को अर्पित न हो।

२. **प्रश्न**—पता नहीं क्यों, कुछ दिनों से मैं कुछ अस्वस्थ-सा अनुभव कर रहा हूं। मेरा मन क्षुब्ध है, मेरा प्राण दुःखी है और मेरा शरीर रुग्ण।
उत्तर—चिंता न करो, चुपचाप रहो, अपनी श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखो। यह स्थिति चली जायेगी।

३. हमारे ऊपर, हमारे अंदर, हमारे चारों ओर सर्वसमर्थ शक्ति विद्यमान है और बस उसीपर हमें अपने कार्य, अपने विकास और अपने रूपांतरकारी परिवर्तन के लिये निर्भर रहना चाहिये। अगर हम कार्य में तथा अपने-आप उस कार्य के एक यंत्र होने में और हमें काम में लगानेवाली शक्ति पर श्रद्धा रखते हुए आगे बढ़ें तो स्वयं परीक्षाओं, मुश्किलों और असफलताओं का सामना करने और उनपर विजय प्राप्त करने की क्रिया से ही हमारे अंदर शक्ति आयेगी और जिस सर्वसमर्थ शक्ति के हम अधिकाधिक पूर्ण पात्र बनते जायेंगे, उसे धारण करने के लिये हमें जितनी आवश्यकता होगी उतनी क्षमता हमारे अंदर आती जायेगी।

४. हमें चाहे जो रूप-रंग अपनाना पड़े, हमारे भीषण दुःख-दर्द और वर्तमान भाग्य चाहे कैसे भी हों, जब हमें बहाव और उलीचन के सिवा कुछ न दिखलायी देता हो तब भी एक महान् पथ-प्रदर्शक हमें पार लगाता है।

५. हम मार्ग पर जितना आगे बढ़ें, भागवत उपस्थिति की आवश्यकता उतनी ही अधिक अनिवार्य और अपरिहार्य बन जाती है।

६. निम्न प्राणमय प्रकृति के घेराव से बचने का एक ही तरीका है, सभी अहंकारपूर्ण इच्छाओं, मांगों और दावों का पूरी तरह से त्याग कर दिया जाये और असंतुष्ट प्राणिक प्रेरणाओं और लालसाओं की जगह चैत्य अभीप्सा की प्रतिष्ठा की जाये।

७. सच्चा समाधान न तो इन प्राणिक मांगों के कोलाहल को संतुष्ट करने में है और न वैरागी की तरह इन्हें छोड़कर अलग हो जाने में। सच्चा इलाज यह है कि प्राणमय सत्ता को भगवान् की सेवा में उत्सर्ग कर दिया जाये और उस परम सत्य के प्रति एकनिष्ठ समर्पण किया जाये जिसमें मांगों और दावों का प्रवेशतक नहीं हो सकता क्योंकि परम सत्य की प्रकृति है ज्योतिर्मय और आनंदमय, और जहां इच्छा या दावे की उपस्थिति हो वहां आनंद नहीं रह सकता।

८. अगर तुम्हारे अंदर सच्ची वृत्ति हो तो हर चीज कुछ सीखने का अवसर होती है।

९. तुम्हें बहुत एकाग्रता और ध्यान के साथ ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहियें जो तुम्हें सोचने के लिये बाधित करती हैं, उपन्यास या नाटक नहीं। तुम जो पढ़ो उसको बहुत ध्यान से पढ़ो, जबतक तुम किसी विचार को समझ न जाओ तबतक उसपर मनन करो। कम बोलो, शांत और एकाग्र रहो और तभी बोलो जब बोलना अनिवार्य हो।

१०. अगर एक बार संकल्प दृढ़ता से स्थापित हो जाये तो फिर इतना ही पर्याप्त है कि सच्चाई और लगन के साथ मनुष्य आगे बढ़ता जाये और हार को कभी अंतिम चीज न मान बैठे। अगर तुम समस्त दुर्बलता और पीछे हटने से बचना चाहो तो एक महत्त्वपूर्ण बात तुम्हें अवश्य जाननी चाहिये

और उसे कभी नहीं भूलना चाहिये : मनुष्य अपने संकल्प को अपनी मांसपेशियों की तरह विधिबद्ध और वर्द्धमान अभ्यासों के द्वारा उन्नत और विकसित कर सकता है। जो चीज तुम्हें महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती उसके लिये भी अधिक-से-अधिक प्रयास अपने संकल्प से मांगने में तुम्हें हिचकिचाना नहीं चाहिये क्योंकि प्रयास के द्वारा ही क्षमता बढ़ती है, उसे अत्यंत कठिन कार्यों में भी व्यवहार में लाने की शक्ति धीरे-धीरे प्राप्त होती है।

११. सार-रूप में कहा जा सकता है कि हमें अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओं पर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाये और जिन चीजों को रूपांतरित करना है उनका रूपांतर साधित हो जाये।

१२. यौवन इस बात पर निर्भर नहीं है कि हम कितने छोटे हैं, बल्कि इसपर कि हममें विकसित होने की क्षमता और प्रगति करने की योग्यता कितनी है। विकसित होने का अर्थ है अपनी अंतर्निहित शक्तियों को, अपनी क्षमताओं को बढ़ाना, प्रगति करने का अर्थ है अबतक अधिकृत योग्यताओं को बिना रुके निरंतर पूर्णता की ओर ले जाना।

१३. जो कुछ तुमने करने का निर्णय किया है वह तुम्हें अवश्य करना चाहिये चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, यहांतक कि चाहे तुम्हें कितनी ही बार नये सिरे से अपना प्रयास क्यों न आरंभ करना पड़े।

१४. प्रयास के द्वारा तुम्हारा संकल्प सुदृढ़ होगा और अंत में तुम्हें इससे अधिक कुछ भी नहीं करना पड़ेगा कि तुम स्पष्ट दृष्टि से वह लक्ष्य चुन लो जिसके लिये तुम इसका व्यवहार करोगे।

१५. बुढ़ापा आयु बड़ी हो जाने से नहीं आता बल्कि विकसित होने और प्रगति करने की अयोग्यता के कारण अथवा विकसित होना और प्रगति करना अस्वीकार कर देने के कारण आता है।

१६. आगे बढ़ो, हमेशा आगे बढ़ो, भय के बिना और संकोच के बिना आगे बढ़ो।

१७. ऐसा अनुभव करो, ऐसी इच्छा करो, ऐसा कार्य करो कि तुम नये जगत् की सिद्धि के लिये नयी सत्ताएं बनो और इसके लिये मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे।

१८. तुम्हें अपने-आपको अपनी की गयी भूलों के लिये पीड़ा न देनी चाहिये, परंतु तुम्हें **अपनी अभीप्सा में पूर्ण सचाई रखनी** चाहिये और अंत में सब कुछ ठीक हो जायेगा।

१९. धरती पर जीवन, जैसा कि आजकल है, दुःख-दारिद्र्य से भरा है और हर संवेदनशील हृदय उसके कारण दुःख से भरा है। इस कठिनाई और दुःख में से निकलने का एक ही सच्चा प्रभावशाली उपाय है—भागवत चेतना के साथ संपर्क में आना और उसकी दया, उसके बल और उसके प्रकाश में जीना। और चैत्य के साथ एक होकर हम इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

२०. अंतर में निवास करो, बाहरी परिस्थितियों से विचलित न होओ।

२१. संतोष बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, आंतरिक स्थिति पर निर्भर होता है।

२२. मिथ्यात्व का बस एक ही समाधान है।
अपने अंदर उस सबका उपचार करो जो हमारी चेतना में भागवत उपस्थिति का विरोध करता है।

२३. आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् को अर्पण कर दें ताकि वे उसे आनंदभरे 'सत्य' में बदल दें।

यह धरती अभीतक अज्ञान और मिथ्यात्व द्वारा शासित है। लेकिन सत्य की अभिव्यक्ति का समय आ गया है।

२४. हम सत्य के लिये और अपनी सत्ता और अपने कार्य-कलाप में उसकी विजय के लिये अभीप्सा करते हैं।

२५. अगर हर अवस्था और हर मामले में मन अचंचल रहे तो धीरज की अधिक आसानी से वृद्धि होगी।

२६. जब आदमी जल्दबाजी में नहीं होता तो बहुत तेजी से आगे बढ़ता है।
सचमुच आगे बढ़ने के लिये मनुष्य को पूर्ण विश्वास के साथ यह अनुभव करना चाहिये कि उसके सामने शाश्वत बिछा है।

२७. आंतरिक विश्राम को बढ़ाओ। यह ऐसा विश्राम हो जो हमेशा, अधिकाधिक क्रियाशीलता में भी उपस्थित रहे और इतना स्थिर हो कि किसी भी चीज में उसे हिलाने की सामर्थ्य न हो—और तब तुम भागवत अभिव्यक्ति के पूर्ण यंत्र बन जाओगे।

२८. आत्मदान के बिना प्रेम होता ही नहीं; लेकिन मानव प्रेम में आत्मदान बहुत विरल होता है, वह स्वार्थों और मांगों से भरा रहता है।

२९. जिन्होंने अपने-आपको भगवान् को दे दिया है उनके लिये हर कठिनाई नयी प्रगति का आश्वासन होती है और इसलिये उसे भागवत कृपा के उपहार के रूप में लेना चाहिये।

३०. सचाई में विजय की निश्चिति है।
सचाई ! सचाई ! कितनी मधुर है तेरी उपस्थिति की पवित्रता।
भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।

३१. कठिनाइयां सबल लोगों के लिये होती हैं और उन्हें अधिक बलवान् बनने में सहायता देती हैं। डटे रहो और तुम्हारी जीत होगी। विश्वास रखो कि मेरी सहायता, मेरा बल और आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है।
हमारी अग्निपरीक्षाएं हमारी प्रतिरोध-शक्ति से अधिक कभी नहीं होतीं।

चतुर्युग

हम जिस योग की साधना कर रहे हैं वह केवल हमारे लिये नही बल्कि भगवान् के लिये है; इसका उद्देश्य है भगवान् की इच्छा को जगत् में साधित करना, आध्यात्मिक रूपांतर लाना और मानवजाति के जीवन में, उसके मन, प्राण और शरीर की प्रकृति में एक दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन कौ उतार लाना। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की एक आवश्यक अवस्था है, बल्कि उसका उद्देश्य है मानव-सत्ता की मुक्ति और उसका रूपांतर। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनंद पाना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है दिव्य आनंद को—ईसा के स्वर्गीय राज्य को, हमारे सत्य युग को—पृथ्वी पर उतार लाना। मोक्ष की हमें व्यक्तिगत रूप से कोई आवश्यकता नहीं; कारण आत्मा तो नित्य मुक्त है और बंधन केवल भ्रम है। हम तो बद्ध होने का अभिनय मात्र करते हैं, वास्तव में हम बद्ध नहीं हैं। जिस समय भगवान् की इच्छा होगी उसी समय हम मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि वह, हमारी परम आत्मा ही इस लीला के अधीश्वर हैं और उनकी कृपा और आज्ञा के बिना कोई अंतरात्मा इस लीला से अलग नहीं हो सकती। बहुधा हमारे अंदर यह भगवान् की ही इच्छा होती है कि मन के द्वारा अज्ञान का, द्वंद्वों का, हर्ष और शोक का, सुख और दुःख का, पुण्य और पाप का, भोग और त्याग का रसास्वादन किया जाये। बहुत से देशों में भगवान् युगोंतक योग का कभी विचारतक नहीं करते, बल्कि इसी लीला को बिना थके शताब्दियों खेला करते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं, ऐसी कोई बात नहीं जिसे हम दोष दें या जिससे मुंह मोड़ें—यह तो भगवान् की लीला है। बुद्धिमान् वही है जो इस सत्य को पहचानता है और अपनी स्वतंत्रता को जानते हुए भी भगवान् की इस लीला में भाग लेता है और इस लीला की पद्धति में परिवर्तन के लिये उनके आदेश की प्रतीक्षा करता है।

आदेश आ गया है। भगवान् सदा ही अपने लिये एक ऐसा देश चुनकर रखते हैं जिसमें थोड़े या बहुत-से लोग सब प्रकार की संभावनाओं और विपत्तियों में से गुजरते हुए उच्चतर ज्ञान को सदा-सर्वदा सुरक्षित रखते हैं, और वर्तमान काल में, कम-से-कम इस चतुर्युग में, वह देश है भारतवर्ष। जब कभी वह अज्ञान का, द्वंद्वों का, संघर्ष और क्रोध और दुःख और दुर्बलता और स्वार्थपरता का, तामसिक सुखों का, थोड़े में कहें तो कलि की लीला का पूरा-पूरा उपभोग करना चाहते हैं तब वह भारत के ज्ञान को धुंधला बना देते हैं और उसे दुर्बलता और अवनति के गढ़े में डाल देते हैं ताकि वह अपने-आपमें चला जाये और उनकी लीला की इस गति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। जब वह इस कीचड़ से ऊपर उठना चाहते हैं कि नर में जो नर-नारायण हैं वह फिर एक बार शक्तिशाली, ज्ञानवान् और आनंदपूर्ण बन जायें तब वह फिर से भारतवर्ष के ऊपर ज्ञान की वर्षा करते और उसे ऊपर उठाते हैं जिससे वह (भारतवर्ष) समस्त संसार को ज्ञान दे सके और उस ज्ञान के अवश्यम्भावी परिणाम—बल, बुद्धि और आनंद—दे सके। जब ज्ञान की गति संकुचित हो जाती है तब भारत के योगी संसार से अलग होकर केवल अपनी मुक्ति या आनंद के लिये या अपने कुछ शिष्यों की मुक्ति के लिये योगाभ्यास करते हैं, परंतु जब ज्ञान की गति पुनः प्रसारित होती है और उसके साथ-ही-साथ भारत की आत्मा भी प्रसारित होती है तब वे फिर सामने आ जाते हैं और संसार में तथा संसार के लिये कार्य करते हैं। तब जनक (मिथिला के राजा जो राजसिंहासन पर बैठे हुए भी योगी थे) अजातशत्रु (युधिष्ठिर का एक और नाम) और कीर्तवीर्य (हैहयवंश के सुप्रसिद्ध राजा जो सुदर्शन चक्र के अवतार माने जाते थे) जैसे योगी फिर से संसार के राजसिंहासनों पर आरुढ़ होते हैं और विभिन्न राष्ट्रों का शासन करते हैं।

मनुष्य में भगवान् की लीला सदा चक्राकार घूमती रहती है, सत्ययुग से कलियुग की ओर और फिर कलियुग में से होती हुई सत्ययुग की ओर जाती है। स्वर्णयुग से लौहयुग की ओर और फिर लौहयुग से होती हुई स्वर्णयुग की ओर। आधुनिक भाषा में सत्ययुग संसार का वह काल है जिसमें एक प्रकार का स्थायी और पर्याप्त सामंजस्य उत्पन्न होता है और मनुष्य कुछ समय के लिये, कुछ अवस्थाओं और सीमाओं के अंतर्गत, अपनी सत्ता की पूर्णता को प्राप्त करता है। सामंजस्य एक सुप्रतिष्ठित पवित्रता की शक्ति के द्वारा उसकी प्रकृति में विद्यमान रहता है, परंतु उसके बाद वह भंग होने लगता है और त्रेतायुग में इसे मनुष्य व्यष्टिगत और समष्टिगत संकल्पशक्ति के द्वारा संभाले रखता है, आगे चलकर यह और भी अधिक टूट जाता है और द्वापरयुग में मनुष्य बौद्धिक विधान और सार्वजनिक सम्मति और शासन के द्वारा इसे संभाले रखने का प्रयास करता है; फिर कलियुग में आकर यह पूर्ण रूप से ढह जाता है और नष्ट हो जाता है। परंतु कलि एकदम अशुभ ही नहीं है, इसीमें एक नवीन सत्ययुग, एक दूसरे सामंजस्य, एक उच्चतर पूर्णता के लिये आवश्यक अवस्थाओं का उत्तरोत्तर निर्माण होता है। इस कलियुग में, जो समाप्त हो चुका है पर जिसके प्रभाव अभीतक चल रहे हैं लेकिन अब समाप्ति पर हैं, प्राचीन ज्ञान और संस्कृति का बहुत अधिक नाश हो गया है। उसके केवल इने-गिने अंश ही वेदों, उपनिषदों और अन्यान्य धर्मग्रंथों में तथा संसार की अस्तव्यस्त परंपराओं के रूप में हमारे लिये बचे हुए हैं। परंतु अब वह समय आ गया है जब ऊपर की ओर जाने के लिये पहला पग उठाया जा सकता है, एक नवीन सामंजस्य और पूर्णता को स्थापित करने के लिये प्रथम प्रयास किया जा सकता है। यही कारण है कि आज मनुष्य के समाज, ज्ञान, धर्म और सदाचार की पूर्णता के विषय में इतने तरह के विचार फैले हुए हैं परंतु सच्चा सामंजस्य अभीतक नहीं मिला।

केवल भारतवर्ष ही इस सामंजस्य को खोज पायेगा, क्योंकि मनुष्य की वर्तमान प्रकृति में केवल थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके ही नहीं, वरन् उसका परिवर्तन करके ही यह सामंजस्य विकसित किया जा सकता है और ऐसा परिवर्तन योग के बिना संभव नहीं है। आजकल मनुष्य और सभी वस्तुओं की

प्रकृति बेमेल हो गयी है, उसकी सुरसंगति बेसुरी हो गयी है। उसे सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिये मनुष्य के समूचे हृदय, कर्म और मन को परिवर्तित होना होगा, पर अंदर से, बाहर से नहीं। यह परिवर्तन न तो राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा होगा न धार्मिक मतवादों तथा दर्शन शास्त्रों के ही द्वारा। बल्कि होगा, अपने अंदर और जगत् में भगवान् की उपलब्धि करके और उस उपलब्धि के द्वारा जीवन को एक नये ही सांचे में ढालकर। यह परिवर्तन केवल पूर्णयोग के द्वारा ही हो सकता है। एक ऐसे योग के द्वारा जिसकी साधना किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं, भले ही वह प्रयोजन मुक्ति या आनंद की प्राप्ति क्यों न हो, बल्कि अपने अंदर और दूसरों के अंदर दिव्य मानवता को चरितार्थ करने के लिये की जाती है। इस उद्देश्य के लिये हठयोग और राजयोग की साधनाएं पर्याप्त नहीं हैं और न त्रिमार्ग (ज्ञान, कर्म और भक्ति) से ही काम चल सकता है, इसके लिये हमें और भी ऊपर उठना होगा और अध्यात्मयोग का आश्रय ग्रहण करना होगा। इस अध्यात्म-योग का मूल सिद्धांत है ज्ञान की दृष्टि से उन समस्त वस्तुओं को, जिन्हें हम देखते हैं या जिन्हें हम देखते तो नहीं पर जिनका हमें भान है—मनुष्य, वस्तुएं, स्वयं हम, घटनाएं, देवता, दानव और देवदूत—इन सबको एक परब्रह्म के रूप में अनुभव करना और कर्म तथा भाव की दृष्टि से उन परात्पर पुरुष को—जो विश्वातीत, अनंत और विश्वव्यापी हैं—पूर्ण आत्मसमर्पण करना जो एक ही साथ साकार और निराकार हैं, सांत और अनंत हैं, अपने-आपको सीमित रखनेवाले और असीम हैं, एक और बहु हैं तथा ऊपर के देवताओं को ही नहीं, बल्कि यहां नीचे के मनुष्य, कीट और मिट्टी के ढेलेतक को अपनी सत्ता से परिपूरित करते हैं। समर्पण पूर्ण होना चाहिये; कुछ भी बचाकर नहीं रखना चाहिये, कोई कामना, वासना, कोई मांग, कोई राय, यही होगा और वह नहीं हो सकता, यही होना चाहिये और वह नहीं होना चाहिये—ऐसी कोई भावना नहीं रखनी चाहिये, सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये। हृदय को सभी कामनाओं से और बुद्धि को सभी आग्रहों से शुद्ध कर देना चाहिये। हर द्वंद्व को त्याग देना चाहिये, समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् को, गुप्त प्रज्ञा, शक्ति और आनंद की परम अभिव्यक्ति के रूप में जानना चाहिये और समस्त सत्ता को उस तरह समर्पित कर देना चाहिये जैसे कोई इंजन ड्राइवर के हाथों में निष्क्रिय हो जाता है, ताकि दिव्य प्रेम, सामर्थ्य और पूर्ण प्रज्ञा काम कर सकें और अपनी दिव्य लीला को चरितार्थ कर सकें। अहंकार को एकदम मिटा देना चाहिये ताकि अंततः भगवान् हमारे लिये जैसा चाहते हैं उसके अनुसार हम पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति और ज्ञान तथा दिव्य सत्ता की पूर्ण क्रियाशीलता पा सकें . . .।

—श्रीअरविंद

ओंकारनाथ ठाकुर

बात नेपाल की है। महाराणा का दरबार लगा हुआ था। बड़े-बड़े सरदार, नेपाल के सारे चुने हुए कलाकार और संगीतप्रेमी उपस्थित थे। भारत से आया हुआ एक युवा आज अपना गान सुनानेवाला था। ठीक समय से पहले महाराणा के मंत्री ने गायक से उसके गुरु का नाम पूछा। युवक ने बताने से इंकार कर दिया। सभा में खलबली मच गयी। उनके यहां रिवाज था कि घोषणा करते समय कहा जाता था कि अमुक का शिष्य अमुक गायेगा। कइयों ने समझाया पर गायक टस-से-मस न हुआ। उसने कहा, आप मेरा गाना सुन लीजिये, पसंद आया तो गुरु का नाम बताऊंगा और न पसंद आया तो गुरु का नाम कलंकित किये बिना यहां से बिस्तर गोल कर दूंगा। बात लोगों को पसंद आ गयी। और उसे गाने की स्वीकृति मिल गयी। गान क्या हुआ, अमृतवर्षा हुई और सारे श्रोता मंत्रमुग्ध बैठे रहे। अंत

में घोषणा की गयी कि यह गायक विष्णु दिगंबर का शिष्य ओंकारनाथ है!

पंडित ओंकारनाथ ठाकुर के पितामह १८५७ में नाना साहब और तात्या टोपे के विश्वासपात्र सरदार थे जिन्होंने कानपुर, कालपी, झांसी आदि की लड़ाइयों में भाग लिया था और नाना साहब के परिवार को नेपाल ले जाने का भार भी उन्हें ही सौंपा गया था। इनके पिता गौरीशंकर ठाकुर बड़ौदा राज्य में दो सौ घुड़सवारों के सरदार थे। कहते हैं, एक बार राज्य की तिजोरी कहीं जा रही थी। पहरेदारों के साथ गौरीशंकर को भी भेजा गया। इन्होंने इतने पहरेदार देखे तो अपने-आप जरा दूर निकल गये। ठीक उसी समय डाकुओं के सशस्त्र दल का आक्रमण हुआ। पहरेदारों ने घबराकर गौरीशंकर को आवाज दी। गौरीशंकर ने दूर से कहा, "मैं आया" और सारे डाकू इस गरज को सुनकर यह कहते हुए भागे, "अरे, इनके साथ तो एक मर्द है, किसीको जिंदा न छोड़ेगा।" कहते हैं इसी तरह एक बार शाही खजाना ले जानेवाले बैलों पर एक सांड ने आक्रमण कर दिया। इस सांड के नाम से दूर-दूर के लोग भी घबराते थे। गौरीशंकर आगे आये और मुट्ठी भर मिट्टी सांड की आंखों में झोंक दी और सींग पकड़कर उसे गिरा दिया। कहते हैं कि वे लाठी के भी उस्ताद थे। बीस लठैतों से या पचास पत्थर फेंकनेवालों से अपनी रक्षा कर लेना उनके लिये मामूली बात थी। कहते हैं कि उन्होंने अलूणी बाबा नामक एक योगी से प्रणव की दीक्षा ली थी और जब वे जप करते थे, दो-दो मीलतक प्रणवनाद गूंजा करता था। उन्हीं दिनों उनकी श्रीमती के गर्भ रह गया और गौरीशंकर ने निश्चय कर लिया कि गर्भ से लड़का होगा और उसका नाम ओंकार रखा जायेगा।

ओंकारनाथ के जन्म के समय पारिवारिक कलह अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था। इनके पिता घर से दूर पड़े हुए थे और इनके ताऊ ने और सबकी मुसीबत कर रखी थी। ऐसी अवस्था में छोटे-छोटे चार बच्चों को लेकर पीहर जाना इनकी मां को अपनी मर्यादा के विरुद्ध लगा। वह बहादुर नारी दस दिन के ओंकार को लेकर आषाढ़ की बरसात में खेतों में निराई कर-कर के अपना और बच्चों का पेट पालने लगी। सारे गांव में तहलका मच गया पर ओंकार की मां झवेर बा ने परवाह न की। ओंकार चार वर्ष का हुआ। इसके ताऊ रेवाशंकर ने बड़े क्रूरतापूर्ण व्यवहार से अपने पिता को बाधित किया कि सारी संपत्ति उनके नाम लिख दें। गौरीशंकर ने अपने पिता के वचन को मानकर अपने भाग से हाथ खींच लिया। रेवाशंकर ने अपने छोटे भाई के परिवार को फटेहाल घर से निकाल दिया। गौरीशंकर ने किसी पड़ोसी से बारह रुपये उधार लिये और ओंकारनाथ की मां, बहन और भाइयों को अपनी ससुराल में पहुंचा आये और अपने-आप कहीं और चले गये। लेकिन चार वर्ष का ओंकार भरी दुपहरी में पैदल चार मील का रास्ता काटकर उनके पास जा पहुंचा। उस समय नाना के यहां बड़ा भोज हो रहा था इसलिये घर में किसी को पता भी न लगा। फिर छः वर्ष के होते न होते बालक ओंकार ने एक वकील के रसोइये के सहायक के रूप में नौकरी कर ली।

इसी तरह और कुछ समय बीता। गौरीशंकर ने अपने दो बेटों का यज्ञोपवीत करवाया और अपने-आप नर्मदा तट पर वैरागी होकर रहने लगे। तभी से ओंकार ने झाड़ू-बुहारन करके रामलीला दलों में भाग लेकर पैसा कमाना शुरू किया। कुछ समय उसने जैन साधुओं के यहां भी झाड़ू लगायी। उसी समय साधु अपने शिष्यों को पढ़ाते थे। बालक ओंकार झाड़ू लगाते समय सब कुछ सुनता जाता था और जब विद्यार्थी गुरु के प्रश्नों का उत्तर न दे पाते तो चट से ओंकार बोल पड़ता था। इससे साधु लोग बहुत प्रसन्न हुए और इस बालक को पढ़ाना भी शुरू कर दिया।

पिता गौरीशंकर अयाचक वृत्ति के साधु थे। कोई भिक्षा दे जाये तो खा लेते थे, मांगने कहीं न जाते थे। बेटा ओंकार उनकी सेवा में रहता तो उसे भी यही करना पड़ता था। इस तरह कभी-कभी चार दिन बिना खाये रहना पड़ जाता था। इस बीच बालक मां के यहां खा लेता तो उसे प्रायश्चित्त के लिये

उपवास करना पड़ता था। इधर पिता की तपश्चर्या और उधर मां की गरीबी ! बालक नदी में बहते पेड़ों को पकड़ता फिरता था ताकि घर के ईंधन का काम चले। चार महीनेतक रामलीला में काम करने के बाद ३२ रुपये मिले तो दस वर्ष का बालक पैंतीस मील चलकर भड़ूच गया और सारी कमाई मां के चरणों में रख आया। उधर मां भी सवेरे तीन बजे उठकर नर्मदा में से चालीस-चालीस घड़े पानी भरकर लोगों के यहां दे आया करती और नाक पर ढाटा बांधकर तमाखू पीसा करती थी ताकि चार पैसे मिल सकें।

इन दिनों की एक बड़ी मजेदार घटना है जिसपर अविश्वास करने के लिये कोई कारण नहीं। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी पूर्णानंद गौरीशंकर जी के साथ शास्त्रार्थ करने आये। गौरीशंकर जी को यह पसंद न था, उन्होंने बालक ओंकार के सिर पर हाथ रखकर कहा, बेटा तू ही इनसे निबट ले और ओंकार ने धाराप्रवाह शास्त्रार्थ करना शुरू कर दिया जिसमें स्वामीजी की हार हुई।

१९१० की बात है। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा में सात दिन बाकी थे। गौरीशंकर जी ने ओंकार को भेजकर घरवालों से कहला भेजा कि पूर्णिमा को उनका देहावसान होनेवाला है, जो उनसे मिलना चाहते हों मिल जायें। सब नातेदार-रिश्तेदार इकट्ठा हो गये परंतु उनका स्वस्थ-सबल शरीर देखकर किसी को उनकी बात पर विश्वास न हुआ। पूर्णिमा से पहले की रात गौरीशंकरजी ने ओंकार से उपनिषद्-पाठ करवाया और उसके समाप्त होनेपर सवेरे प्रसाद बांटा गया। फिर पिता ने अपने बड़े लड़के बालकृष्ण और तीसरे लड़के ओंकार को लेकर कुटिया के अंदर प्रवेश किया और वहां पान खाकर थूका। उन्होंने पहले अपने बड़े बेटे से पूछा तू इसे खायेगा ? बालकृष्ण ने कहा छिः गंदा, इसे कौन खायेगा ? ओंकार उछल पड़ा और बोला, पिताजी इसपर मेरा अधिकार है और यह कहते-कहते वह उसे खा गया। पिता बहुत खुश हुए और बोले, अभी योग-दीक्षा के लिये तू बहुत छोटा है पर मेरा आशीर्वाद है कि वाणी के बल पर तू सर्वत्र विजयी होगा। यह कहकर उन्होंने ओंकार की जीभ पर वाग्बीज मंत्र लिखा और पद्मासन लगाकर जोर से ॐ ॐ कहते हुए संसार से चल बसे।

अब घर में सबसे बड़े होने के नाते बालकृष्ण ओंकार के संरक्षक बने। उनसे भड़ूच के एक सेठ ने कहा, तुम्हारे भाई में प्रतिभा है वह बहुत अच्छा गा सकेगा। उसे पं० विष्णु दिगंबर के पास भेज दो। विष्णु दिगंबर उन दिनों भारतीय संगीत को नया जीवन देने में लगे थे और उन्होंने बंबई में गांधर्व महाविद्यालय खोला था। यह प्रस्ताव सुनकर ओंकार का दिल बल्लियों उछलने लगा और वह बोला, यदि आप मुझे वहां भेज दें तो मैं संगीत में अद्वितीय बनकर दिखाऊंगा। बात तय हो गयी। सेठ ने रेल के खर्च के लिये कुछ पैसा दे दिया और फटे हाल ओंकार पुराने ब्रह्मचारियों की तरह हाथ में केवल समिधा लिये गुरुद्वार पर जा खड़ा हुआ। गुरु को रत्न पहचानते देर न लगी और उन्होंने ओंकार को अपना अंतेवासी बना लिया। ओंकार घर का काम-काज भी करता था और संगीत भी सीखता था। इतना ही नहीं अन्य विद्यार्थियों की सहायता भी करता था। इसके अतिरिक्त गुरु की पुस्तकें छापने में सहायता करना भी उसका एक मुख्य काम था।

इसी तरह तीन वर्ष बीत गये। भाई बालकृष्ण की इच्छा हुई कि ओंकार को काम पर लगाया जाये ताकि घर की गरीबी दूर हो। एक नाटक कंपनी इसे ४०० मासिक पर लेने को तैयार हो गयी पर जिसके भाग्य में सूर्यालोक बदा हो वह टिमटिमाता दीया लेकर कैसे संतुष्ट हो सकता है ! घरवालों का आग्रह बढ़ता गया पर ओंकार न माना और उनकी अनुनय-विनय की परवाह न की। फिर भी बड़े भाई गरीबी की दुहाई देकर जोर देते ही गये। तब गुरु विष्णु दिगम्बर ने ओंकार की सहायता की। उन्होंने बालकृष्ण से कहा, आपने ओंकार को नौ वर्ष के लिये भेजा था। अब तीन वर्ष के बाद ही उसे ले जाना चाहते हैं। ठीक है, आपका अधिकार है, परंतु इन तीन वर्षों में मैंने उसपर जितना खर्च किया है

उतना मुझे देते जाइये। भाई इतना कहां से लाते ? आखिर अपना-सा मुंह लेकर चले गये।

छः-सात वर्षतक गुरु ने ओंकार को अपने पास रखा और फिर १९१६ में लाहौर के गंधर्व महाविद्यालय का आचार्य बनाकर वहां भेज दिया। वहां उन्हें विद्यालय के अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त विद्यालय का खर्च चलाने के लिये ट्यूशनें करनी पड़ती थीं। यहांपर पंडित ओंकारनाथ को दिन में अट्ठारह घंटे काम करना पड़ता था। नौ घंटे तो एक आसन से बैठकर अभ्यास किया करते थे। गाने के साथ ही तबला भी अपने-आप ही बजाया करते थे। इनकी कठोर तपस्या सरस्वती को रिझाये बिना न रह सकी। १९१८ में सारे भारत में प्रसिद्ध संगीताचार्य भास्कर राव बखले जालंधर के संगीत-सम्मेलन में आये हुए थे। पंडित ओंकारनाथ भी वहां निमंत्रित थे। चार दिनतक सवेरे शाम दोनों का गायन होता रहा। संगीत के पारखी सुनते-सुनते न अघाते थे। अंतिम दिन भास्कर राव ने कहा, 'अब मैं तुमसे ऊंची गद्दी पर बैठकर नहीं गा सकता।' इतने महान् गायक ने इस नवयुवक को अपने से श्रेष्ठ मान लिया। लोगों ने तालियां बजायीं और ओंकारनाथ के गले में फूलों की मालाएं पहना दीं। परंतु उसी समय ओंकारनाथ ने मालाएं भास्कर राव के चरणों में समर्पित कर दीं और बोला, इसपर आपका ही अधिकार है।

१९२० में पं० विष्णु दिगंबर ने अपने कई शिष्यों को संगीत-प्रवीण की पदवी दी। ओंकारनाथ वहां नहीं थे इसलिये उन्हें यह पदवी न मिल सकी। कुछ समय बाद जब विष्णु दिगंबर अपने गुरु बालकृष्ण बुआ के साथ लाहौर आये तो उन्होंने कहा, यहां एक समारोह करके तुम्हें संगीत-प्रवीण की पदवी देनी है। ओंकार ने कहा, यह आपका अनुग्रह है पर अब समय बीत चुका है, इसकी आवश्यकता नहीं। जब गुरु ने बार-बार आग्रह किया तो वह बोले, जब आप अपने गुरुदेव से शिक्षा लेकर विदा हुए थे तो उन्होंने आपको कोई पदवी नहीं दी, परंतु उनकी कृपा से आपने कितने ही संगीत-प्रवीण खड़े कर दिये। मुझे भी अपने गुरु से इतनी विद्या मिली है कि मैं भी सैंकड़ों संगीत-प्रवीण तैयार कर सकूंगा। पदवी तो उन्हें चाहिये जिन्हें उसके बल पर आजीविका कमानी हो। गुरु ने गद्गद् होकर ओंकार को गले लगा लिया।

इसके बाद ओंकारनाथ गुजरात लौट आये और कुछ समय अपने बचपन के साथी श्री अंबालाल पुराणी के साथ नर्मदा तट पर कुटिया बनाकर रहे। साधना के साथ-साथ संगीत भी चलता रहा। कुछ समय के बाद दोनों की इच्छा हुई कि श्रीअरविंद के पास पांडिचेरी जायें। पुराणीजी तो पांडिचेरी जा पहुंचे पर ओंकारनाथ को लगा कि उन्हें संगीत-साधना के द्वारा ही सिद्धि मिलेगी। इसके बाद वीणावादिनी के धनहीन पुत्र का विवाह एक बहुत समृद्ध सेठ की पुत्री इंदिरा से हो गया।

१९२३-२४ में पंडित जी नेपाल गये। महाराज ने पांच हजार रुपयों का ढेर लगाकर उसपर कालीन बिछाकर पंडित जी को उसपर बिठाया और वह धन पंडित जी को समर्पित कर दिया। एक दिन महाराजा ने कहा, "पंडित जी, तुम हमारे राजगायक बन जाओ, तुम्हें पांच हजार तक दे सकता हूं।" पंडित जी ने तुरंत उत्तर दिया, "राजन्, अभी आप मेरे साथ मानपूर्वक व्यवहार करते हैं, मेरे कंधे पर हाथ रखकर बातें करते हैं, राजगायक होने पर मुझे झुक-झुक कर सलामी देनी होगी और यह काम इस ब्राह्मण से न होगा।" महाराज देखते रह गये। नेपाल से लौटकर उन्होंने मां के चरणों के आगे रुपयों का ढेर लगा दिया और जिस गांव से उन्हें अपने जेठ के दुर्व्यवहार के कारण निकलना पड़ा था उसी गांव में उनके लिये एक बड़ा-सा मकान बनवा दिया जहां वह आराम से रह सकें।

१९३० में पंडित जी को फिर नेपाल से निमंत्रण आया। महाराज का राजगायक बालाप्रसाद इनसे बहुत जलता था और तरह-तरह से इनको नीचा दिखाने की कोशिश करता था। इसकी भनक महाराज के कान में भी पड़ी। उन्होंने एक दिन दोनों के गान की प्रतियोगिता की घोषणा कर दी पर कहां राजा

भोज और कहां गंगू तेली। पंडित जी के मुकाबले में वह क्या ठहरता। महाराज ने खुले दरबार में घोषणा की कि ओंकारनाथ विजयी हुए और अपने हाथ से उन्हें विजय-माला पहनायी और दोशाला ओढ़ाया। पंडित जी को पुलिस की सलामी मिलने लगी और उनकी मोटर को ऐसी सुविधाएं मिलीं जो केवल राजघराने के लोगों को ही मिला करती थीं। इन्हीं दिनों पं॰ विष्णु दिगंबर नेपाल में आये हुए थे। पंडित जी विजय-माला और दोशाला लेकर उनके यहां पहुंचे और दोनों चीजें उनके चरणों में रख दीं। विष्णु दिगंबर की आंखें छलछला आयीं और उन्होंने अपने शिष्य को गले से लगा लिया और फिर से माला पहनाकर दोशाला ओढ़ाया।

१९२६ में हैदराबाद सिंध में एक ही मंच पर पंडित जी का और उनके गुरु विष्णु दिगंबर का संगीत होनेवाला था। पंडित जी रात के बारह बजेतक गाते रहे और उनके गुरु एक-एक कड़ी पर वाह-वाह, साधु-साधु कहते जा रहे थे। जब इनका गाना खतम हुआ तो गुरुदेव उछल पड़े और भरी सभा में बोले, "*शिष्यादिच्छेत् पराजयम्*" आज मेरी यह साध पूरी हो गयी। मैंने अपना नया रूप अपने शिष्य में देख लिया। अब मेरे गाने की जरूरत नहीं रही।

इसके बाद पंडित जी यूरोप गये और वहां के हर देश में उनका शाही स्वागत हुआ। लंदन में भारत के उच्चायुक्त ने प्रस्ताव किया, आप महाराज पंचम जार्ज से निवेदन कीजिये कि आपका संगीत सुन लें। पडित जी ने तपाक से उत्तर दिया, भारत का कलाकार ब्राह्मण राजा से इस प्रकार की भिक्षा नहीं मांग सकता। स्वयं सम्राट् का कर्तव्य है कि अपने देश में आये हुए कलाकार को निमंत्रित करें। अपनी ओर से याचना करना मेरी कला और मेरे ब्राह्मणत्व दोनों का अपमान होगा।

इन्हीं दिनों रूस से निमंत्रण आया। लेकिन साथ ही घर से तार भी आया कि नवप्रसूता पत्नी अचानक चल बसी। पंडित जी का हृदय टूट गया। भावुक हृदय इतना बड़ा आघात न सह सका। पंडित जी स्मृति खो बैठे और उन्हें स्वदेश लौटना पड़ा। समय सबसे बड़ा चिकित्सक है। धीरे-धीरे पंडित जी लगभग ठीक हो गये और १९५० में पं॰ मालवीय जी की पुरानी इच्छा पूरी करने के लिये उन्होंने काशी विश्व-विद्यालय के संगीत महाविद्यालय का आचार्य बनना स्वीकार किया।

हमने पं॰ ओंकारनाथ के बाल्यावस्था के साथी (जिनके साथ अंततक मधुर संबंध बना रहा) श्री अंबालाल पुराणी से सुना है कि काशी में पंडित जी एक विशद ग्रंथ लिख रहे थे। एक सज्जन शिष्य-भाव से बड़ी भक्ति के साथ आया करते थे और सहायता करने के बहाने इस ग्रंथ की नकल करते जाते थे और एक दिन दिङ्मूढ़ पंडित जी ने देखा कि उनका ग्रंथ इन भक्त महानुभाव के नाम से छप गया है और उनपर चारों ओर से प्रशंसा बरस रही है। पंडित जी चाहते तो उन सज्जन पर मुकद्दमा कर सकते थे लेकिन जिसे एक बार शिष्य मान लिया उसपर मुकद्दमा कैसे ?

पंडित जी के संगीत के बारे में तो कोई जानकार ही कह सकता है इसलिये हम उस अध्याय को अधिक योग्य व्यक्तियों के लिये छोड़ते हैं। यहां दी हुई घटनाएं कुछ तो पुराणी जी से सुनी थीं और कुछ हीरक जयंती अभिनंदन-ग्रंथ में छपी थीं।

आखिर १९६७ के अंत में उनकी इहलीला समाप्त हो गयी।

————

रुकावटों की क्या परवाह है, हम सदा आगे बढ़ेंगे।

—श्रीमां

'कुछ माताजी के बारे में' :

रोग तथा भय

शारीरिक व्याधियां क्या हैं ? क्या ये विरोधी शक्तियों के आक्रमण हैं जो बाहर से आते हैं ?

इस विषय में दो बातों पर विचार करना चाहिये। एक वह चीज जो बाहर से आती है और दूसरी वह जो तुम्हारी आंतरिक अवस्था से आती है। तुम्हारी आंतरिक अवस्था रोग का कारण तब बनती है जब उसमें कोई प्रतिरोध या विद्रोह हो अथवा जब तुम्हारे अंदर कोई ऐसा भाग हो जो भागवत संरक्षण का प्रत्युत्तर नहीं देता; अथवा उसमें कोई ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक, जान-बूझकर विरोधी शक्तियों को अंदर बुलाती है। तुम्हारे अंदर इस प्रकार की मामूली-सी गति हो तो वह भी पर्याप्त है; विरोधी शक्तियां तुरंत तुमपर चढ़ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोग का रूप धारण करता है।

परंतु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओं के कारण ही रोग होते हैं, योग-साधना के कारण नहीं ?

योग का आरंभ कहां होता है और अंत कहां ? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है ? तुम्हारे शरीर में और तुम्हारे चारों ओर रोग की संभावनाएं सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अंदर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकार की बीमारियों के कीटाणु या रोग-जंतु रहते हैं, वे तुम्हारे चारों ओर मंडराते रहते हैं। तुम्हें जो रोग वर्षों से नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो ? तुम कहोगे कि इसका कारण ''प्राण-शक्ति का मंद पड़ जाना'' है। परंतु यह मंदता कहां से आती है ? यह सत्ता में किसी प्रकार का असामंजस्य होने से, भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशीलता का अभाव होने से आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योति से, जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको जुदा कर लेते हो तब यह मंदता आती है। तब जिसको चिकित्सा-शास्त्र 'रोग के लिये अनुकूल क्षेत्र' कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इसका फायदा उठा लेती है। संदेह, निरुत्साह, विश्वास का अभाव, स्वार्थ के साथ अपनी ओर ही मुड़ना—ये चीजें हैं जो ज्योति और दिव्य शक्ति से तुम्हें अलग कर देती हैं और आक्रमण के लिये लाभकर होती हैं। तुम्हारे बीमार पड़ने का असली कारण यही है, न कि रोग के कीटाणु।

परंतु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदि में सुधार करने से औसत नागरिक का स्वास्थ्य सुधरता है ?

औषध और सफाई साधारण जीवन के लिये अपरिहार्य हैं; किंतु इस समय मैं औसत नागरिकों के संबंध में नहीं कह रही हूं, मैं तो उनके बारे में कह रही हूं जो योग-साधना करते हैं। फिर भी सफाई आदि से यह घाटा होता है कि जहां तुम रोग की पकड़ में आने की संभावना में कमी ले आते हो वहां रोग का प्रतिरोध करने की अपनी स्वाभाविक शक्ति को भी क्षीण कर देते हो। अस्पताल में काम करनेवालों के हाथ, जो सदा अपने हाथ रोगाणुनाशक औषधियों से धोते रहते हैं, औरों की अपेक्षा सहज में संक्रामक जंतुओं के शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक संवेदनशील हो जाते हैं। इसके विपरीत, ऐसे लोग हैं

जो स्वास्थ्य-विज्ञान आदि के बारे में कुछ भी नहीं जानते और अत्यंत अस्वास्थ्यकर काम करते हैं, फिर भी संक्रामक रोगों से मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनकी सहायता करता है क्योंकि वह आरोग्यशास्त्र जानने के कारण आनेवाले विचारों के लिये दरवाज़ा बंद रखता है। दूसरी ओर, स्वास्थ्य-संबंधी सावधानी में तुम्हारा विश्वास इन विचारों को कार्य करने में सहायता पहुंचाता है। कारण, तुम सोचते हो: "अब मैंने रोग-नाशक औषध का प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूं", तो उस हदतक यह विचार तुम्हें सुरक्षित रखता है।

तब हमें स्वास्थ्य-संबंधी सावधानी—जैसे कि छना हुआ पानी पीना—क्यों रखनी चाहिये?

क्या तुम में से कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावों का असर न होता हो? यदि तुम बिना छना पानी पीओ और सोचो: "अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूं", तो तुम्हारे बीमार पड़ने की संभावना बढ़ जाती है। और इस प्रकार के सुझाव सचेतन मन के द्वारा भले न पहुंचें, तुम्हारी समग्र अवचेतना तो है ही जो किसी भी सुझाव को ग्रहण करने के लिये असहाय रूप से खुली रहती है। जीवन में अवचेतना के कार्य का भाग अधिक होता है और सचेतन भागों की अपेक्षा अवचेतना सौगुनी शक्ति के साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था भय और आशंकाओं से भरी होती है। यदि तुम अपने मन को दस मिनटतक गहराई से देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि दस में से नौ विचार भय से भरे हुए हैं, उसमें छोटे-बड़े, दूर और नजदीक के, देखी हुई और बिना देखी हुई अनेक चीजों के भय भरे रहते हैं, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टि में नहीं आती, फिर भी ये भय तुम्हारे अंदर होते अवश्य हैं। समस्त भय से मुक्ति अनवरत प्रयास और साधना द्वारा ही संभव है।

साधना और प्रयास के द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राण को आशंका तथा भय से मुक्त कर भी लिया तो भी शरीर को मना लेना अधिक कठिन होता है। परंतु यह करना भी जरूरी है। एक बार तुम योग-मार्ग में प्रवेश करो तो तुम्हें समस्त भयों से मुक्त हो जाना चाहिये—अपने मन के भयों से, अपने प्राण के भयों से, एक-एक कोषाणु में भरे शरीर के भयों से मुक्त होना चाहिये। योग-मार्ग में तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयों से मुक्त कर दें। भय के कारण उस समय तक तुमपर बारंबार हमला करते रहते हैं जबतक तुम इस योग्य न हो जाओ कि उनके सामने स्वतंत्र, उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसी को समुद्र का भय होता है, कोई आग से डरता है। हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्नि से डरता है उसे एक के बाद एक अनेकों भीषण अग्निकांडों का सामना करना पड़े, यहांतक कि वह इतना अभ्यस्त हो जाये कि इस कांड से उसके शरीर का एक कोषाणु तक न कांपे। जिस चीज से तुम्हारे अंदर त्रास पैदा होता हो वह उस समयतक बारंबार आती रहती है जबतक कि त्रास बिल्कुल बंद न हो जाये। जो रूपांतरित होना चाहता है और जो इस योग-मार्ग का साधक है उसे पूरी तरह से भय-मुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बनना पड़ेगा कि कोई, किसी प्रकार की चीज उसे प्रकृति के किसी भी भाग में छू या हिला न सके।

विभिन्न शक्तियां

१३-७-१९२६

शिष्य—जब 'क' गड़बड़ा गया था तो आपने कहा था कि एक बड़ी और शक्तिशाली प्राणिक सत्ता अभिव्यक्ति के लिये आयी थी। वह 'क' के प्राणिक स्तर को संगठित करने के लिये जरूरी थी। प्राणिक स्तर के संगठित करने से आपका क्या मतलब है ?

श्रीअरविंद—उस स्तर पर कार्यान्वयन के लिये सामंजस्य लाने के लिये। प्राणिक सत्ता प्रभावकारी उपलब्धि के लिये है।

शिष्य—अगर वह उसके प्राणिक जीवन को संगठित कर पाती तो उसका क्या स्वरूप होता ?

श्रीअरविंद—वह उपलब्धि की बड़ी शक्ति ले आती है। एक ऐसी शक्ति जो आंतरिक परिवर्तन ला सकती है और फिर तुम्हारे इर्द-गिर्द परिवर्तन और फिर घटनाओं को बदलने की शक्ति। अगर ये सत्ताएं अपने-आपको चरितार्थ कर सकतीं तो साधना की सभी कठिनाइयां गायब हो जातीं।

शिष्य—क्या अतिमानस की अभिव्यक्ति के लिये हर लोक में ऐसी शक्तियों का उतरना जरूरी है ?

श्रीअरविंद—नहीं, जरूरी नहीं है।

शिष्य—क्या ये सत्ताएं अतिमानस को पहचानती हैं ?

श्रीअरविंद—इन सत्ताओं को अतिमानस का ज्ञान नहीं होता। लेकिन चूंकि उनमें मुक्त बुद्धि होती है अतः उन्हें अतिमानस के प्रभाव में लाया जा सकता है और अगर वे अपने-आपको अतिमानस के अर्पित कर सकें तो वे साधन-रूप में सहायक हो सकती हैं।

शिष्य—क्या यह सच है कि यह शक्ति 'क' के अंदर बहुत बलपूर्वक आ रही थी और अपने लोक के नियमों को आरोपित करने के लिये बड़ा जोर लगा रही थी और 'क' अपने भौतिक लोक के नियमों की परवाह किये बिना उन्हें व्यक्त होने दे रहा था ?

श्रीअरविंद—हां। जैसा कि मैंने कहा, इन सत्ताओं में मुक्त बुद्धि होती है और वे भौतिक जगत् के नियमों से बंधी नहीं होतीं। उनको दुनियादारी की समझ नहीं होती। उनके आगे एक लक्ष्य होता है और उसे पूरा करने के लिये एक बड़ी शक्ति। वे बस अपने चरितार्थ होने के लिये नीचे जोर डालती हैं। इस तरह की शक्तियां क्रांतियों और बड़े आंदोलनों के पीछे होती हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करतीं कि उनकी प्रक्रिया में कितना टूटता-फूटता है। हम इतिहास में देखते हैं कि कुछ प्रतिभाशील लोग इस तरह की शक्तियों को अपने अंदर रख पाये थे। कभी-कभी जब सब कुछ टूट-फूट जाता है और नष्ट हो जाता है तो मन आता और अपना दबाव डालता और चीजों को इकट्ठा करके किसी तरह का सामंजस्य लाने की कोशिश करता है।

अतः जो व्यक्ति इन शक्तियों को ग्रहण करना चाहता है उसका भौतिक मन मजबूत होना चाहिये जो भौतिक जगत् की संभाव्यताओं से परिचित हो और अतिमानस का प्रकाश भी पाये। अगर स्वयं अतिमानस आ जाये तब तो बात ही अलग है क्योंकि वह तो सब कुछ जानता है और अगर तुम उस शक्ति को अतिमानस प्रकाश के नीचे रख सको तो तुम उसका साधन-रूप में उपयोग कर सकते हो।

शिष्य—वह शक्ति अब कहां चली गयी ?

श्रीअरविंद—मुझे नहीं मालूम। जब वह पांडिचेरी से गया तब तो शक्ति थी लेकिन वह अपना पता मुझे नहीं दे गयी ! तुम प्राणमय लोक के डाक-घर को लिख सकते हो। (हंसी)

शिष्य—जी, कोई दूसरा उसे उतार लाने का प्रयास कर सकता है और इस प्रयास में टूट सकता है ?

दूसरा शिष्य—क्या हम इन शक्तियों को देख और जान सकते हैं ?

श्रीअरविंद—हां, संभव तो है। अगर तुम्हारे अंदर कोई चीज इन लोकों के संपर्क में आ सके तो तुम उन्हें देख और जान सकते हो। मैं आशा करता हूं कि तुम यह नहीं मानते कि तुम्हारा भौतिक शरीर ही तुम्हारी एकमात्र सत्ता है। इन शक्तियों का अपना लोक होता है और वे सदा तुम्हारी धरती के साथ व्यस्त नहीं रहतीं। तुम्हें धरती का महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ाकर न देखना चाहिये।

हमारे लिये भी मनुष्य का बाहरी भौतिक जीवन ही बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका यह मतलब नहीं कि पृथ्वी-लोक महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुम उसमें जो रख सको उसके अनुसार वह महत्त्वपूर्ण है अन्यथा मनुष्य का भौतिक जीवन चींटी के भौतिक जीवन से किस तरह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है ? किसी उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति को उतरने के लिये तुम्हें उसके लिये बैठना होगा, उसे नीचे से बुलाना होगा और शक्ति को अपने अंदर धारण करना होगा। तुम्हें उसे यह काम करने देना होगा कि वह तुम्हारी सत्ता को संगठित करे और उसे रूपांतरित कर दे। तब तुम क्रिया के बारे में सोच सकते हो।

इसीलिये मैं कहता हूं कि मुझसे यह आशा करना मूर्खतापूर्ण है कि मैं बंगाल विधान सभा में जाकर वहां काम करूंगा। लेकिन शायद तुम्हारा भौतिक मन सोचता है कि बंगाल विधान सभा में जाना और सब कामों की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण है ! लेकिन हो सकता है कि तुम्हारी अंतरतम सत्ता के पास उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण काम हो।

शिष्य—आपने कहा कि भौतिक लोक में मनुष्य का जीवन इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन मनुष्य के अंदर इतनी सारी अच्छी चीजें हैं। हम इनकी तुलना चींटी से कैसे कर सकते हैं ?

श्रीअरविंद—भौतिक मनुष्य चींटी की अपेक्षा किस तरह अधिक श्रेष्ठ है ?

शिष्य—उसमें साहित्य है, कला है।

श्रीअरविंद—मानवजाति कला के लिये संगठित नहीं है !

शिष्य—और फिर कला भी तो भौतिक स्तर से नहीं आती !

अन्य शिष्य—आपने ऐसी प्राणिक सत्ताओं के बारे में कहा था जो अपने निजी लोक में रहती हैं। क्या वे अपने लोक में भी आपस में लड़ती-झगड़ती हैं ?

श्रीअरविंद—हां, बाइबल में फरिश्तों और शैतानों के संघर्ष की बात कही गयी है उसका यही मतलब है। मैंने 'क' के संबंध में जिस प्राणिक सत्ता की बात की थी वह विरोधी प्राण-लोक की न थी। वह प्राणमय लोक के उच्चतर स्तर की थी।

शिष्य—अतिमानस का क्या अर्थ है ? क्या यह 'परा शक्ति है ?

श्रीअरविंद—परा शक्ति अतिमानस नहीं है। अतिमानस शक्ति के ऊपर उसके अन्य क्षेत्र भी हैं जैसे आनंदमय चेतना। तुम कह सकते हो कि अतिमानस भगवान् की संगठनकारी शक्ति है जो समस्त अभिव्यक्ति के पीछे है। अतिमानस समस्त वैश्व गतिविधि को समर्थन देता है।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

————

कठिनाइयों को जीतने के लिये आह की अपेक्षा मुस्कान में ज्यादा शक्ति है।

—श्रीमां

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

युग युग का भारत

भारत पर मुस्लिम विजय ने सचमुच जो समस्या पैदा की वह विदेशी राज्य के जुए तले रहने और फिर से स्वतंत्रता प्राप्त करने की योग्यता की समस्या नहीं थी बल्कि यह दो संस्कृतियों के बीच का संघर्ष था जिनमें एक थी प्राचीन और स्वदेशीय और दूसरी मध्ययुगीन तथा बाहर से लायी हुई। जिस बात ने समस्या के समाधान को असमाधेय बना दिया वह यह थी कि इन दोनों में से प्रत्येक एक शक्तिशाली धर्म के प्रति आसक्त थी। उनमें से एक का धर्म युद्धप्रिय और आक्रमणकारी था और दूसरी का आध्यात्मिक दृष्टि से नमनीय था लेकिन वह अपने सिद्धांतों के प्रति बहुत अधिक निष्ठावान् रहना चाहता था। ऐसे समय दो समाधान कल्पनीय हैं—या तो ऐसे महानतर आध्यात्मिक सिद्धांत तथा रचना का उदय होता जो दोनों धर्मों का समन्वय कर सकती या एक ऐसी राजनैतिक देशभक्ति का उदय होता जो धार्मिक संघर्ष का अतिक्रमण करके दोनों जातियों को एक कर सकती। इनमें से पहला अर्थात् वह आध्यात्मिक उन्नयन उस युग में संभव नहीं था। यद्यपि अकबर ने मुस्लिम पक्ष की ओर से इसका प्रयास किया लेकिन उसका धर्म एक आध्यात्मिक रचना होने की जगह कहीं अधिक बौद्धिक और राजनीतिक रचना था और उसे दोनों जातियों के धार्मिक मन द्वारा स्वीकृत होने का अवसर नहीं मिला। हिंदुओं की तरफ से नानक ने इसके लिये प्रयत्न किया लेकिन उनका धर्म—सिद्धांत में सार्वभौम होने पर भी—व्यवहार में एक संप्रदाय बन गया। अकबर ने एक सर्वसामान्य राजनैतिक देशभक्ति को उत्पन्न करने का भी प्रयास किया किंतु इस प्रयास की असफलता तो पहले से ही निर्दिष्ट थी।

यह कहा जा सकता है कि मुगल साम्राज्य एक महान् और ऐश्वर्यशाली रचना था और इसके निर्माण तथा इसे बनाये रखने के लिये बहुत अधिक राजनीतिक प्रतिभा का उपयोग किया गया था। इसके शासन में भारत राजनीतिक तथा युद्ध-कौशल में और साथ-ही-साथ आर्थिक दृष्टि और कला तथा संस्कृति की दृष्टि से भी बहुत उन्नत था लेकिन यह भी अपने से पहले के साम्राज्यों की तरह असफल रहा यानी इसका पतन भी बाहरी आक्रमण द्वारा नहीं बल्कि आंतरिक विघटन के कारण ही हुआ। कोई भी सैनिक रूप से प्रबल शासन अपने बल-प्रयोग से भारत की जीवंत राजनीतिक एकता नहीं ला सकता। यद्यपि मुस्लिम शासन के समय भारत ने कई दिशाओं में प्रगति की और ऐसा लगा कि कहीं-कहीं वह संस्कृति में आगे कदम बढ़ा रहा है लेकिन फिर यूरोपीय जातियों के आक्रमण तथा आंतरिक उथल-पुथल द्वारा एक बार फिर उसमें अव्यवस्था तथा अशांति की बाढ़ घुस आयी।

विघटन के इस काल में भी भारत में दो अद्भुत रचनाएं प्रकट हुईं जो पुरानी अवस्थाओं में नये जीवन की नींव स्थापित करने के लिये अंतिम प्रयास थीं लेकिन उनमें से कोई भी समस्या को सुलझा न सकी। एक था मराठों का पुनरुज्जीवन जिसके स्रोत स्वामी रामदास थे और शिवाजी ने उसे आकार प्रदान करने का बीड़ा उठाया। उनका प्रयत्न यह था कि भारत की सच्ची शक्ति आध्यात्मिकता की धूनी फिर से रमायी जाये, अतीत को फिर से वर्तमान बना दिया जाये। उनके इस प्रयास में आध्यात्मिक प्रेरणा होते हुए भी वह असफल रहा। पेशवा प्रतिभा तथा कौशल के होते हुए भी संस्थापना की अंतर्दृष्टि से एक तरह से शून्य थे और वे केवल एक सैनिक और राजनैतिक संघ की ही स्थापना कर सके, और एक साम्राज्य की स्थापना करने का उनका प्रयास सफल नहीं हो सका क्योंकि वह एक ऐसी प्रादेशिक राष्ट्र-भक्ति से प्रेरित था जो अपनी सीमाओं से परे अपने-आपका विस्तार करने में असफल रही और इस तरह भारत के जीवंत आदर्श के प्रति जाग्रत् होने में असफल रही। दूसरी ओर सिक्खों

का खालसा संप्रदाय उठा। यह अपने-आपमें एक अनूठी रचना था और उसकी आंखें भूत नहीं बल्कि भविष्य की ओर लगी हुई थीं, इसने बहुत कुछ किया भी लेकिन फिर भी यह आत्मा तथा बाह्य जीवन के बीच एक माध्यम न बन सका क्योंकि उस समय भारत में वे सब अवस्थाएं विद्यमान न थीं जिनमें यह प्रयत्न सफल हो सकता।

इसके बाद भारत में आयी रात्रि और सभी राजनैतिक अंतःप्रेरणा तथा सर्जन का अस्थायी अंत। पिछली अंतिम पीढ़ी ने पश्चिम के आदर्शों तथा आचार-विचारों की नकल करने का पूरा प्रयत्न किया जिसमें भारतवासियों की प्रतिभा का कोई सच्चा चिह्न न था। लेकिन अस्तव्यस्तता के समस्त कोहरे के बीच एक नयी द्वाभा की संभावना—सायंकालीन नहीं बल्कि प्रभातकालीन 'युग संध्या' की उदित होने की फिर से पूरी-पूरी संभावना है। युग-युग का भारत मरा नहीं है, न ही मर सकता है। उसे अभी मनुष्यों के लिये बहुत कुछ करना है भारत अंग्रेजों के रंग में रंगी कोई जाति नहीं बल्कि वह शक्ति है जो अपनी गभीरतम आत्मा को फिर से प्राप्त करेगी और संसार में अपना सच्चा स्थान फिर से ग्रहण कर लेगी।

—वन्दना

सच्ची निष्कपटता

२५ मार्च, १९५३

आपने कहा है : "तुम्हें जागरूक रहना चाहिये कि कहीं तुम भगवान् को अपनी इच्छाओं की तुष्टि के लिये चोगे की तरह काम में न लाओ।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (१४ अप्रैल)

बहुत-से लोग नाना प्रकार के मतों को अपनाते हैं जिनमें से कई बहुत सुविधाजनक होते हैं। कुछ कहते हैं : "सब कुछ भगवान् की इच्छा से होता है।" और कुछ कहते हैं : "भगवान् सब जगह हैं, हर चीज में हैं और सब कुछ करते हैं।" और कुछ लोग यह भी कहते हैं : "मेरी इच्छा भगवान् की इच्छा के साथ एक है, मुझे वही प्रेरणा दिया करते हैं।" वास्तव में बहुत सारी मान्यताएं हैं जो ऐसा कहती हैं। स्वभावतः उनका अहं बहुत सजीव होता है। वे जो कुछ करना चाहते हैं करते हैं और कहते हैं : "यह तो स्वयं भगवान् ही मेरे अंदर कर रहे हैं।" उनका दिमाग जो कुछ दे दे वही "भगवान् की इच्छा" है। यह व्यक्तिगत प्रेरणा नहीं होती : "सब कुछ भगवान् की इच्छा का परिणाम है।" यह मैं नहीं कर रहा, मेरे द्वारा भगवान् कर रहे हैं।" उनकी जो मर्जी होती है वह सब करते हैं। ऐसे बहुत-से लोग हैं। इसीलिये मैंने कहा है : "भगवान् को अपनी इच्छाओं को छिपानेवाला सुंदर चोगा न बनाओ।"

"सवाल है सच्चाई का। अगर तुम सच्चे नहीं हो तो योग शुरू मत करो।"

(वही)

सच्चाई शायद सब चीजों में सबसे कठिन है और शायद सबसे अधिक प्रभावशाली भी।

अगर तुम्हारे अंदर पूर्ण सच्चाई है तो तुम्हारी विजय निश्चित है। यह अत्यधिक कठिन है। सत्ता के

सब तत्त्वों में, सारी गतिविधियों में (चाहे वे भीतरी हों या बाहरी), सत्ता के सब भागों में यह एकमात्र संकल्प लाना है कि हमें केवल भगवान् का ही अंश होना है, भगवान् के लिये ही जीना है; भगवान् जो चाहते हैं उसीको चाहना है, भागवत संकल्प को ही अभिव्यक्त करना है, भगवान् के अतिरिक्त कोई और शक्ति-स्रोत नहीं रखना है।

और तुम देखोगे कि ऐसा एक भी दिन नहीं, एक भी घंटा नहीं, एक भी क्षण नहीं जब तुम्हें अपनी सच्चाई को तीव्र बनाने की जरूरत न पड़े, सुधारना न पड़े—भगवान् को धोखा देने से एकदम इंकार। पहली बात है अपने-आपको धोखा न देना। व्यक्ति जानता है कि भगवान् को धोखा नहीं दिया जा सकता। असुरों में सबसे चतुर भी भगवान् को धोखा नहीं दे सकता। हम देखते हैं कि व्यक्ति बहुधा अपने जीवन में, यह सब समझ लेने के बाद भी, एक ही दिन के दौरान में अपने-आपको धोखा देने की—सहज रूप से लगभग यंत्रवत्—कोशिश करता है। व्यक्ति जो कुछ करता है उसकी, अपने शब्दों की और अपनी क्रियाओं की हमेशा ही अनुकूल व्याख्या कर लेता है। पहले यही होता है। मैं यहां स्पष्ट दीखनेवाली चीजों की बात नहीं कर रही, जैसे लड़-झगड़कर आदमी कहता है: "यह दूसरे का दोष है।" मैं दैनिक जीवन की छोटी-छोटी चीजों की बात कर रही हूं।

मैं एक बच्चे को जानती हूं जो एक दरवाजे से टकरा गया और फिर दरवाजे को एक अच्छी-सी लात जमायी। बात यही है। हमेशा गलती दूसरे की होती है, दूसरा ही भूलें करता है। बचपन की अवस्था पार कर लेने के बाद भी, जब तुम्हारे अंदर तर्क-बुद्धि आ जाती है, तुम बहुत मूर्खतापूर्ण बहाने बनाते हो: "अगर उसने यह न किया होता तो मैं ऐसा न करता।" लेकिन बात इससे ठीक उल्टी होनी चाहिये!

मैं इसीको सच्चा या निष्कपट होना कहती हूं। जब तुम किसीके साथ हो और निष्कपट हो, तो तुरंत तुम्हारी प्रतिक्रिया यही होनी चाहिये कि तुम ठीक चीज करो, भले तुम जिसके साथ हो वह ठीक चीज न भी करे। सबसे सामान्य उदाहरण ले लो: कोई नाराज होता है: उसे चोट पहुंचानेवाली बातें कहने की जगह तुम चुप रहते हो, स्थिर और शांत रहते हो। तुम्हें उसके गुस्से की छूत नहीं लगती। जरा अपनी ओर देखने से ही तुम्हें पता लग जायेगा कि यह आसान है या नहीं। यह बिल्कुल प्रारंभिक चीज है। यह जानने के लिये कि तुम सच्चे और निष्कपट हो या नहीं, बहुत ही छोटा आरंभ है। और मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जो हर छूत के, यहांतक कि भद्दे मजाकों के भी शिकार हो जाते हैं; मैं उनकी बात भी नहीं कर रही जो वही मूर्खता करते हैं जो दूसरे करते हैं।

मैं तुम्हें कहती हूं: अगर तुम अपने-आपको तेज आंखों से देखो तो तुम अपनी सामान्य वृत्ति में निष्कपट होने की कोशिश करते हुए भी अपने अंदर सैंकड़ों कपट और कुटिलताएं देखोगे, तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है।

मैं तुमसे कहती हूं: अगर तुम अपनी सत्ता के सभी तत्त्वों में, अपने शरीर के कोषाणुओंतक में सच्चे और निष्कपट हो, अगर तुम्हारी सारी सत्ता समग्र रूप से भगवान् को चाहती है तो तुम्हारी विजय निश्चित है, लेकिन उससे जरा भी कम पर नहीं। मैं इसे सच्चा या निष्कपट होना कहती हूं।

मैं ऐसी स्पष्ट दीखनेवाली चीजों की बात नहीं कर रही जैसे कोई अपने आवेगों और सनकों के अनुसार काम करे और कहे: "मैं अब अपना नहीं रहा, मैं पूरी तरह भगवान् का हूं। भगवान् ही मेरे अंदर सब कुछ कर रहे हैं, वे ही मेरे अंदर क्रियाशील हैं।" यह तो अपने-आपमें काफी अनगढ़ चीज है। मैं ज्यादा सुसंस्कृत लोगों की बात कर रही हूं जो जरा कुलीन होते हैं और अपनी इच्छाओं को छिपाने के लिये सुंदर-सा चोगा डाल लेते हैं।

एक दिन में कितनी चीजें, कितने विचार, कितने संवेदन, कितनी क्रियाएं शुद्ध रूप से भगवान् की

ओर अभीप्सा में मुड़ी होती हैं? कितनी? मुझे लगता है कि सारे दिन में एक भी हो तो उसे सुनहरे अक्षरों में लिखा जा सकता है।

जब मैं कहती हूं: "यदि तुम निष्कपट हो तो तुम्हारी विजय निश्चित है," तो मेरा मतलब सच्ची निष्कपटता से होता है, मेरा मतलब होता है कि तुम हमेशा सच्ची ज्वाला बने रहो जो आत्म-निवेदन के रूप में जलती रहती है। सच्ची निष्कपटता है केवल भगवान् के लिये और भगवान् के द्वारा जीने का तीव्र आनंद, और यह अनुभव कि उनके बिना किसी चीज का अस्तित्व नहीं है, उनके बिना जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता, किसी चीज का कोई हेतु नहीं होता, किसी चीज का कोई मूल्य नहीं होता, किसी चीज में रस नहीं होता जबतक कि—उस सबके प्रति जिसे हम भगवान् कहते हैं, क्योंकि किसी-न-किसी शब्द का उपयोग तो करना ही होगा—यह पुकार, यह अभीप्सा, परम सत्य के प्रति उन्मीलन हो। सारे विश्व के अस्तित्व का यही एकमात्र हेतु है। उसे अलग कर दो और सब कुछ गायब हो जायेगा।

(श्रीमातृवाणी खंड ५ से)

विकसनशील आत्मा का लक्ष्य[१]

मनुष्य अंतिम नहीं हो सकता। वह संक्रमणशील सत्ता है। यह बात उसकी चेतना की सभी शक्तियों की अपूर्णता और असमग्रता से एकदम स्पष्ट है। वह बहुत परिश्रम और संघर्ष करके केवल किसी अस्थायी और अस्थिर पूर्णता के सीमित रूप को पा सकता है, फिर भी पूर्णता की खोज उसकी प्रकृति की घुट्टी में पड़ी है। ऐसा कुछ है जो अबतक नहीं है और जो उसे बनना है, वह हमेशा अभीतक अनभिव्यक्त 'उस' वस्तु को पाने की कोशिश करता है, उसका समस्त जीवन और प्रकृति एक तैयारी है, जो कुछ उसके परे है उसतक पहुंचने के लिये प्रकृति का प्रयास है।

मानव चेतना हर दिशा में सीमित है। वह स्वयं को नहीं जानती, वह अपने चारों तरफ के जगत् को नहीं जानती, वह अपने अस्तित्व के मूल, अर्थ और उपयोग को नहीं जानती। लेकिन वह हमेशा अपनी सत्ता के सत्य को जानने, पाने की, अपने जीवन के उचित उपयोग की, उस ध्येय को जानने की कोशिश करती है जिसकी ओर उसके अंदर की प्रकृति उसे खींचती है, वह यह काम खोजने और भद्दी भूलें करनेवाली क्रिया के साथ करती है, मनुष्य की चेतना ऐसा अज्ञान है जो ज्ञान की ओर बढ़ने के लिये संघर्ष कर रहा है, वह एक दुर्बलता है जो स्वयं को शक्ति के लिये प्रशिक्षित कर रही है, वह हर्ष और दुःख-दर्द की वस्तु है जो सत्ता के सच्चे आनंद की ओर हाथ बढ़ा रही है।

*

हम इस भौतिक जगत् में अपने अंदर और अपने चारों तरफ जो कुछ देखते हैं वह शाश्वत और अनंत की गुह्य लीला है। यह जगत् उस देवत्व के आत्मान्वेषण या आत्मोन्मीलन के विचित्र परिवर्तनशील चरणों या परिस्थितियों के ब्यौरे का विशाल योग है जिसने अपनी वास्तविक आत्मा को अभिव्यक्त आत्मा से छिपा रखा है जो प्रकृति की निश्चेतना के विशाल अंधेरे छद्मवेश में छिपी है।

यही सतत चमत्कार सत्ता के अर्थ की कुंजी है—जड़ भौतिक विश्व की निश्चेतना और निर्जीवता में जीवन और चेतना के जन्म और विकास का चमत्कार हैं।

चेतना का जन्म और उसका विकास क्रम-विकास का समग्र अर्थ है। क्योंकि क्रम-विकास अपने आंतरिक और तात्त्विक स्वभाव में जड़ भौतिक के अधिकाधिक संगठित रूपों का विकास नहीं है। यह

[१] श्रीअरविंद ने यह १९४० के करीब लिखा था। शीर्षक संपादक का दिया हुआ है।

विकास जीवन के और जीवन में चेतना के क्रम-विकास के लिये मात्र बाहरी साधन है। फिर यह भी अपने गभीरतम आंतरिक अर्थ में वह प्रगति है जो अंतरात्मा या आत्मा के मंद आत्म-अन्वेषण और आत्म-अभिव्यक्ति को जीवंत भौतिक आकार में मूर्त रूप देती है।

विकास क्रम एक आरोहण है जो उन रूपों से आरंभ होता है जो निर्जीव और निश्चेतन मालूम होते हैं क्योंकि उनमें वस्तुओं की आत्मा सोयी रहती है। वनस्पति और पशु में मंथर गति से जागती हुई वह मनुष्य या मानसिक सत्ता में आत्म-अभिज्ञता के आरंभतक जा पहुंचती है जो बोलने और सोचनेवाला पहला और एकमात्र विवेकशील प्राणी है। लेकिन यह अपूर्ण मानव जिस विचार को पोसता है कि वह क्रम-विकास का शिखर और उसकी इति है इसका कोई आधार नहीं है। मानवता विकसनशील आत्मा की नियति में एक चरण है, वह अपने मुक्त और प्रत्यक्ष देवत्व को प्राप्त करे इससे पहले का अंतिम चरण। उसके अपूर्ण जीवन और चेतना को अपने-आपको पूर्ण रूप से सचेतन सत्ता की अवस्था में विकसित करना चाहिये, मनुष्य के बाद या उससे अतिमानव का जन्म होना चाहिये।

यह पूर्णता व्यष्टि और मानवता की प्रगति की वर्तमान अवस्था से परे जाकर केवल चेतना के विकास द्वारा ही आ सकती है, यह केवल तभी संभव हो सकती है जब मनुष्य उस ओर मुड़ने के लिये तैयार हो जिधर प्रकृति उसे धीरे-धीरे लिये जा रही है। वह अपने-आपको खोजे, अपने-आपको अंतरात्मा और आत्मा के रूप में जाने, जगत्, प्राण और वस्तुओं के पीछे जो यथार्थता है, जिसे वह युगों से खोजता आया है, उसे देखे और अपनी पकड़ में ले सके। प्रकृति का पहला विकास था भौतिक द्रव्य का, भौतिक वस्तुओं का, मंच, दृश्य, बाह्य अवस्थाओं, जड़ पदार्थों के अंदर विकसनशील सचेतन जीवन के नाटक की अवस्थाओं और यंत्रों का विकास। स्वयं जीवन में वह पहले जीवन की भौतिकता, उसके बाह्य रूप को विकसित करने में संतुष्ट रही है। शरीर का विकास उसका चिह्न रहा है, यह यंत्र ही चेतना के विकास का प्रतीयमान कारण है। जब वह मन के विकासतक पहुंची, ऐसी मानवजाति के मनतक जो केवल बाह्य जगत् को बाह्य रूप से जानने में ही समर्थ नहीं है बल्कि अपने अंदर पैठने, अपने-आपको जानने, गुप्त वस्तुओं, शक्तियों, सामर्थ्यों को जानने में सक्षम है जो उसके पीछे, बाह्य, तलीय प्रकृति के कार्यों के पीछे है, उस समय भी उसने एक सतही मन संगठित करने का ध्यान रखा जो ऊपरी तल और बाहरी चीजों के साथ व्यवहार रखता है, और एक ऐसा व्यक्तित्व संगठित किया जो हमारा पूर्ण स्व नहीं बल्कि बाहरी सतह है, जो हमारी गुप्त यथार्थता, हमारी सत्ता के गुप्त सागर की एक लहरमात्र है। उसकी मुख्य तल्लीनता रही है एक ऐसे अहं का निर्माण जो भौतिक जीवन और प्रकृति का केवल व्यवहारकर्ता ही नहीं उसके अधीन भी है, एक ऐसा जीवन जो भौतिक तत्त्व से बंधा है, एक ऐसा मन जो जड़तत्त्व और प्राण से बंधा है। फिर भी चेतना का विकास ही सच्चा और केंद्रीय तथ्य है जिसके बिना विश्व की इस यांत्रिक रचना की सार्थकता एकदम से शून्य होती। मनुष्य यहां मात्र इसलिये नहीं है कि वह अपने जगत् का उपयोग अपने व्यष्टिगत और सामूहिक अहंकार की सेवा के लिये करे। यहां वह ऐसे माध्यम के रूप में है जिसमें अंदर की आत्मा, गुप्त रूप से विकसनशील चेतना अधिक आत्माभिव्यक्ति कर सके, आंशिक (चेतना) से पूर्ण चेतनातक पहुंच सके, समग्र और पूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनतक पहुंच सके, क्योंकि जीवन अपने-आपमें इस विकास का माध्यम और उसका बिंब है। अगर हमारी सत्ता का मनोवैज्ञानिक सत्य वास्तविक और केंद्रीय सत्य है, जड़ भौतिक से अधिक केंद्रीय और महत्त्वपूर्ण है तो उसका सच्चा स्वरूप यही होना चाहिये—एक ऐसी सचेतन सत्ता जो अपनी चेतना की समग्रता में और साथ-ही-साथ अपनी अभिव्यक्ति और रचना में पूर्ण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में विकसित हो रही हो।

—श्रीअरविंद

मातृप्रेम, सामूहिक कल्पनाओं की शक्ति

मधुर मां, बच्चों के प्रति माता-पिता का प्रेम किस प्रकार का होता है ?

किस प्रकार का ? यह भी है तो मानव प्रेम ही, है न ? जैसे कि और सब मानव प्रेम होते हैं : यह भी सब प्रकार की वस्तुओं के साथ भयानक रूप से मिला रहता है। अधिकृत करने की आवश्यकता, भयानक अहंभाव। पहले तुम्हें बता दूं, इसकी बड़ी सुंदर तस्वीर खींची गयी है . . . इसपर बहुत पुस्तकें लिखी गयी हैं, बच्चों के प्रति मां के प्रेम के विषय में बड़ी अद्‌भुत बातें कही गयी हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि खूब बढ़ा-चढ़ाकर इस विषय पर बोलने के सिवा, यह प्रेम भी वैसा ही है जैसा उच्चतर पशुओं का, उदाहरणार्थ . . . चौपायों का अपने बच्चों के साथ होता है, यह बिल्कुल वैसा ही है : वही प्रेमभाव, वही आत्म-विस्मृति, वही आत्म-त्याग, उन्हें शिक्षित करने की वही चिंता, वही धैर्य, सब कुछ वही . . . । मैंने कई बहुत आश्चर्यजनक बातें देखी हैं, और यदि ये सब लिखी जातीं और बिल्ली पर प्रयुक्त न करके स्त्री पर प्रयुक्त की जातीं तो कितने ही सुंदर उपन्यास बन जाते, लोग कहते : "क्या व्यक्तित्व है यह ! मातृप्रेम में ये स्त्रियां कितने अद्‌भुत रूप से समर्पित होती हैं !" ठीक ऐसा ही है। हां, बिल्लियां लंबी-चौड़ी बातें नहीं कर सकतीं। बस, इतनी-सी बात है। न वे पुस्तकें लिख सकती हैं, न भाषण दे सकती हैं, भेद केवल इतना ही है। किंतु मैंने बड़ी आश्चर्यजनक बातें देखी हैं। वही त्याग, वही आत्म-विस्मृति—ज्यों ही प्रेम का आरंभ होता है, ये बातें आ जाती हैं। किंतु मनुष्य . . . जो कुछ मैंने अध्ययन किया है उसके आधार पर मेरा निश्चित विश्वास है कि शायद पशुओं का प्रेम कुछ अधिक पवित्र होता है क्योंकि उनमें सोचने की क्षमता नहीं होती, जब कि मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति, सोचने, तर्क करने, विश्लेषण, अध्ययन करने की क्षमता के साथ, यह सब, ओह ! वे अत्यधिक सुंदर गति को भी नष्ट कर देते हैं। वे हिसाब करना, तर्क करना, शंका करना, व्यवस्था लाना आरंभ कर देते हैं।

उदाहरणार्थ, माता-पिता को लो। तुम्हारी चेतना को भ्रांतियों से मुक्त करने का भय होते हुए भी मैं तुम्हें बच्चे के प्रति मां के प्रेम के स्रोत के विषय में बताती हूं। इसका कारण है बच्चे का मां के तत्त्व से बना होना, और सापेक्ष रूप से, काफी लंबे समयतक तत्त्व का यह स्थूल तंतु मां और बच्चे के बीच बड़े निकट रूप में बना रहता है—मानों उसका थोड़ा-सा हाड़-मांस ही अंदर से निकालकर बाहर, कुछ दूरी पर रख दिया गया हो—और दोनों के बीच का यह बंधन बहुत दिनों के बाद ही टूटता है। यह एक प्रकार का सूक्ष्म वेदन का बंधन है, इतना कि मां बच्चे की भावना को बिल्कुल ऐसे ही ठीक-ठीक समझ लेती है जैसे अपने भाव समझती है। तो मां की बच्चे के प्रति आसक्ति का यही भौतिक आधार है। यह भौतिक तादात्म्य का आधार है, उसके सिवा कुछ नहीं। अनुभूति बहुत पीछे आती है (पहले भी आ सकती है, यह व्यक्तियों पर निर्भर है) किंतु मैं यहां अधिकतर व्यक्तियों की बात कह रही हूं : उनमें अनुभूति बहुत पीछे ही आती है, और उसकी भी कुछ शर्तें होती हैं। उसमें सभी प्रकार की वस्तुएं होती हैं . . . । इस विषय पर मैं घंटों बात कर सकती हूं : किंतु तो भी इस सबको प्रेम के साथ न मिला देना चाहिये। यह एक प्रकार का भौतिक तादात्म्य है जिसमें मां अपने बच्चे की भावना को निकट, बड़े ठोस और प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करती है : यदि बच्चे को कोई आघात लगे, तो, मां उसे अनुभव कर लेती है। ऐसा कम-से-कम दो महीनेतक तो रहता ही है।

यह आधार है। बाकी सब तो लोगों की प्रकृति से, उनके विकास की अवस्था से, उनकी चेतना, शिक्षा एवं अनुभव करने की क्षमता से आता है। यह बात पहली बात से जोड़ दी जाती है। और फिर बहुत-से ऐसे सामूहिक सुझाव भी होते हैं जो कहानियां गढ़ लेते हैं —क्योंकि मनुष्य कहानियां गढ़ने में

बहुत चतुर होते हैं। वे सभी वस्तुओं के विषय में कहानियां बना लेते हैं। उन्होंने अपने मन का कल्पनाओं का निर्माण करने के लिये उपयोग किया है, फिर ये कल्पनाएं वातावरण में घूमती रहती हैं, और बस इसी तरह पकड़ में आती हैं। तो कुछ लोग एक प्रकार की वस्तुएं पकड़ लेते हैं और कुछ अन्य प्रकार की, और फिर, क्योंकि कल्पना धकेलने की एक शक्ति है, उसके साथ व्यक्ति अभिनय करने लगता है और अंत में यदि उसमें कल्पना हो तो उपन्यास का जीवन जीता है . . . । इस सबका सच्ची चेतना के साथ, चैत्य सत्ता के साथ जरा भी संबंध नहीं है, बिल्कुल नहीं, किंतु वे तुमसे अलंकारमयी भाषा में बातें करते हैं और कहानियां सुनाते हैं—यह सब उड़ान लेनेवाली कल्पनाओं में होता है। यदि व्यक्ति देख सके, दूसरे शब्दों में, यदि तुम इस मानसिक वायुमंडल को, भौतिक मन के वायुमंडल को चारों ओर व्याप्त देख सको जो तुम्हें क्रिया करने, अनुभूति प्राप्त करने, सोचने, कार्य करने के लिये प्रेरित करता है, तो ओह, भगवान्! तुम्हारी अपने व्यक्तित्व के विषय में कई भ्रांतियां दूर हो जायेंगी। किंतु होता ऐसा ही है। चाहे व्यक्ति इस विषय में जाने या न जाने, बात यही है।

पृथ्वी पर बहुत-सी आत्माएं हैं, मानवी सत्ताएं हैं . . . । स्पष्ट ही, जिनकी एक विशेष संस्कृति है, जिनमें एक विशेष प्रकार का विकास हुआ है, जो विशेष प्रकार का व्यक्तित्व रखती हैं, सामान्यतया वे इकट्ठी हो जाती हैं : सहज प्रेरणावश ही ये इकट्ठी होती हैं, अपने दल बना लेती हैं। अतएव व्यक्ति काल और देश में कुछ सुसंस्कृत व्यक्तियों को इकट्ठा देख सकता है जो संख्या में बहुत अधिक न भी हों, फिर भी काफी हैं, किंतु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह बात हमें मनुष्यों की संस्कृति और विकास के ठीक अनुपात का दिग्दर्शन कराती है। यह केवल झाग की भांति है जिसे ऊपर लाया गया है। किंतु इन लोगों में भी, इन चुनी हुई सत्ताओं में भी, हजार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सचमुच एक विशुद्ध वैयक्तिक सत्ता हो, जो अपने प्रति सचेतन हो, अपनी आंतरात्मिक सत्ता के साथ जुड़ा हुआ हो, जो अपने आंतरिक धर्म से संचालित होता हो तथा फलस्वरूप, यदि समग्र रूप से न सही, लगभग बाह्य प्रभावों से मुक्त हो; क्योंकि, चेतन होने के कारण ऐसा व्यक्ति इन प्रभावों को आता हुआ देख लेता है : जो प्रभाव उसे अपने आंतरिक और सामान्य विकास के संगत प्रतीत होते हैं उन्हें स्वीकारता है; और जो विरोधी होते हैं उन्हें अस्वीकार कर देता है। और तब, एक अस्त-व्यस्त—या हर हालत में भयानक रूप से मिला-जुला—गड़बड़झाला होने के स्थान पर ये सत्ताएं व्यवस्थित होती हैं, इनका अपना व्यक्तित्व होता है, ये अपने प्रति सचेतन होती हैं, जीवन-पथ पर चलती हुई जानती हैं कि ये कहां जाना चाहती हैं और कैसे जाना चाहती हैं।

यदि तुम चाहो, तो इन्हें हम मनुष्य कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-रूप में ये ही वे अच्छी-से-अच्छी सत्ताएं हैं जिन्हें प्रकृति उत्पन्न कर सकती है—किंतु हैं तो अभी ये मनुष्य ही। किंतु ये मनुष्य के उच्चतम शिखरतक हैं। वे अब कुछ और बनने के लिये तैयार हैं। किंतु जबतक मनुष्य वह नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी हदतक पशु ही रहेगा और मनुष्य का बहुत ही अधिक प्रारंभिक रूप। केवल उसीको मनुष्य कहा जा सकता है। हां, तो बात ऐसी ही है, तुम्हें केवल अपने अंदर झांकना है और जानना है . . . कि तुम मनुष्य हो या नहीं।

अच्छा, तो फिर मिलेंगे।

मैं यह इसी आशा से कह रही हूं कि तुम वह बनोगे।

(श्रीमातृवाणी खंड ६ से)

देर हो रही है, दूर जाना है

आधुनिकता की आंधी शुरू तो हो चुकी थी, लेकिन अभी उसने बवंडर का रूप नहीं लिया था। पुरानी सभ्यता, शिष्टाचार, मान-मर्यादा के पेड़ झकोले तो ले रहे थे पर जड़ों से उखड़े नहीं थे। याद हैं वे मजलिसें जब दूर-दूर से पिताजी के मित्र उनसे मिलने के लिये आया करते थे। अभी लोगों को समयाभाव की बीमारी न लगी थी। मित्रों के साथ बैठकर नाच-गाने के लिये, कविता सुनने और सुनाने के लिये, अच्छे-अच्छे पकवानों का रस लेने के लिये, घोड़े, हाथी, गहने इकट्ठे करने के लिये काफी अवकाश निकल आता था। मेरे पिताजी अच्छे-खासे जमींदार थे, रिआया को अपने बच्चों की तरह पालते थे और ऊपरवाले के साथ भी अच्छा संबंध रखते थे। जलनेवाले व्यंग में और साथी सराहना में कहते : "इनकी तो बीसों घी में हैं।"

भगवान् ने उन्हें छप्पर फाड़ कर दिया था। बड़ा-सा मकान, उसके चारों ओर बगीचा, प्रवेश द्वार के दोनों ओर बड़े-बड़े कमरे जिनमें से एक था पुस्तकालय और दूसरा संगीत-कक्ष। इसीमें नये और शास्त्रीय, दोनों प्रकार के नाचों की भी व्यवस्था हुआ करती थी। जब महफिल जमती तो सौ से कम आदमी न होते और उनके अतिरिक्त पानदान, इत्रदान, पीकदान, और हुक्का आदि लाने ले जानेवालों की भीड़ लगी रहती थी जो बीच-बीच में परवानों की तरह चारों ओर फैल जाती और नया कार्यक्रम आरंभ होने से पहले-पहले गायब हो जाती।

कभी मुशायरे होते, कभी कवि-सम्मेलन। कभी नाच-गाने की ऋतु आती तो कभी होली, बारहमासे और मुहर्रम के मरसिये गाये जाते। मतलब यह कि बंगाली, बिहारी, हिंदू, मुसलमान किसी का भेद न होता। बस, साल में तीन सौ सत्तर समारोह होते थे। कइयों में हमारा स्वागत होता तो कई हमारे लिये निषिद्ध होते और हमें इधर-उधर से झांककर, उझककर, क़ान लगाकर अपनी उत्सुकता शांत करनी पड़ती।

हमारे लिये दुनिया सुख-सुविधा की, मौज-मजे की जगह थी जिसमें दुःख-दर्द का प्रवेश न हो पाता था। कभी-कभी झिड़कियां सुनाई दे जाती थीं और आंसू दिखायी दे जाते थे लेकिन वे तो 'सन्नाटों' का काम करते थे। शायद इससे आपका परिचय न हो। हमारे समाज में बहुत मिठाई खायी जाती है और उसे हजम करने के लिये, बीच-बीच में मुंह का स्वाद बदलने के लिये नमक-मिर्च डालकर बहुत खट्टा दही खाया जाता है। उसको कहते हैं 'सन्नाटा'। बड़े भोज में इसका होना जरूरी है।

हमारे यहां से कोई पचास-साठ मील दूर लाला बाबू की कोठी थी। यूं तो ये सज्जन बंगाली थे पर ऐसी फरटि की हिंदी और उर्दू बोलते थे कि अच्छे-अच्छे बिहारियों को भी मात कर दें। सूर, तुलसी और बिहारी की न जाने कितनी पंक्तियां उन्हें याद थीं! वे अपने-आपको शाक्त कहते थे और महाकाली के पुजारी भी थे, पर इससे यह न समझ लीजिये कि कृष्ण-भक्ति में लाला बाबू किसीसे पीछे थे। उनकी कोठी का एक अच्छा-खासा हिस्सा देवालय बना हुआ था जिसमें काली, मदन मोहन, बाल-मुकुंद, विघ्नेश्वर, लक्ष्मी, हनुमान आदि अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां थीं और हर एक की विधि-पुरस्सर, पूजा-अर्चना होती थी। हर देवी-देवता की पूजा के लिये उसके प्रिय फूलों की व्यवस्था बारह महीने रहती थी। लाला बाबू सभी देवों की पूजा करते थे और सभी देवों का वरद हस्त उनके सिर पर रहता था।

हमारा जीवन शांत नदी के पानी की तरह बहता जा रहा था। कभी-कदास ज्यादा वर्षा हो जाती तो इधर-उधर के किनारे टूट जाते। कभी पानी एकदम तली को छू लेता लेकिन सामान्यतः धारा बिना किसी बाधा के, बिना झिझक के चलती चली जाती। लेकिन 'सब दिन होत न एक समान।'

बाबू जी अभी बाहर से आये थे और कपड़े बदलकर सुस्ताने के लिये बैठे थे। हम सब उनके चारों ओर कोई मजेदार बात सुनने के लिये घेरा डाले हुए थे कि अचानक भूचाल आ गया। तेज आंधी की तरह लाला बाबू का ड्राइवर दौड़ता हुआ अंदर घुस आया और उसने बाबू जी के कान में कुछ फुसफुसाया। इस तरह की असभ्यता हमने कभी देखी न थी, लेकिन इससे पहले कि कोई कुछ बोले बाबू जी उठ खड़े हुए और जैसे खड़े हुए थे वैसे नंगे पैर, नंगे सिर उसके पीछे हो लिये। हम सब देखते-के-देखते रह गये और बाबू जी को लिये हुए मोटर जैसी आयी वैसी ही लौट पड़ी।

हमारे बाल-मानस अटकलें लगाने लगे। लाला बाबू के यहां बहुत बढ़िया अमराई थी जिसमें तरह-तरह के लंगड़ा, दसहरी, बंबइया, मरगोवा, दिलपसंद, जहांगीरी आदि के पेड़ थे। कोई मुरशिदाबाद से आया था तो कोई मलीहाबाद से, कोई रत्नागिरि का पौधा था तो कोई सहारनपुर की कलम। और उनमें भी न जाने कितने प्रकार। हर एक का मिजाज निराला, हर एक के नखरे निराले। एक-एक पेड़ की सेवा अलग-अलग ढंग से की जाती थी और स्वयं लाला बाबू हर एक पर नजर रखते थे। उन्हें पता रहता था कि किस पेड़ का आम किस दिन, किस समय तैयार होगा। मजाल है कोई आम उससे पहले या पीछे उतारा जाये। इसकी देखभाल के लिये विशेष आदमी लगे रहते थे। और जैसे ही अच्छे आम तैयार होते कि उसी समय तेज घुड़सवार दौड़ाये जाते जो कभी इसके यहां और कभी उसके यहां आम पहुंचाया करते।

कभी कोई अच्छी मिठाई पसंद आ जाती तो उसी समय उसका वितरण होता। इस बार भी हमने यही सोचा कि ऐसी ही कोई बात रही होगी। लेकिन फिर बाबू जी इतने घबराये हुए-से क्यों लग रहे थे? उनके यहां कोई अच्छा संगीत चल रहा हो तो कभी-कभी बाबू जी को बुलावा आ जाया करता था। लेकिन ड्राइवर का इस बार का व्यवहार, बाबू जी के चेहरे की परेशानी और किसी से कुछ कहे बिना इस तरह से निकल भागना—ये सब ऐसी चीजें थीं जिनके बारे में हम कोई अंदाज न लगा सकते थे। हमारी बैठकें कई बार हुईं पर कुछ निश्चय किये बिना ही स्थगित हो गयीं।

कई दिन बाद बाबू जी घर लौटे। चेहरे पर वह मुस्कान न थी। कुछ खोये खोये-से दीखते थे। हम लोगों के सामने खुलकर बात तो न होती थी, इधर-उधर कानाफूसी होती और मैं ऐसे दिखाता मानों मुझे इसमें कोई रस नहीं है, फिर भी यहां-वहां से बिखरे हुए शब्द बटोरता रहता था।

मैंने बिखरे हुए गुरियों की तरह उनसे एक लड़ी बना ली और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि लाला बाबू घर-द्वार छोड़कर साधु बन गये। हम बच्चों को उनसे बहुत स्नेह था इसलिये ये बातें हमसे छिपाकर रखी जाती थीं ताकि हम भी कहीं उन्हींके रंग में न रंग जायें। खैर, बाबू जी की बात तो वही जानें पर हम लोग काफी दिनोंतक लाला बाबू के आने की राह देखा करते थे। उनके आम, उनका मैसूरपाक, उनके मालपुए रह-रहकर याद आया करते थे। फिर और-और बातें दिमाग में जगह लेती गयीं और उनकी याद धुंधली पड़ गयी।

कहते हैं जब हम किसी चीज के पीछे दौड़ना बंद कर देते हैं तो वह हमारे पीछे दौड़ती है। मैं कुछ बड़ा हो गया और घर-द्वार की बातें समझने लगा। अब मुझे भी बातें बतायी जाने लगीं।

एक दिन वृंदावन से तार आया और बाबू जी एकदम फूट पड़े। बाबू जी का यह रूप हमने कभी न देखा था। हमारे अंदर आश्चर्य, भय, चिंता, दुःख, सबका एक साथ उफान आ गया। बाबू जी जरा शांत हुए तो अपने सोने के कमरे में घुस गये और अंदर से कुंडी लगा ली। इसका मतलब यह कि अब तीन-चार घंटेतक कोई उन्हें तंग न करे।

लेकिन हमें परेशानी हो रही थी। यह गुप्त रहस्य जानने की इच्छा थी। हमने मां को जा घेरा। उन्होंने तार देख लिया था। हमारे बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा :

"तुम्हें लाला बाबू की याद होगी।"

वे आगे कुछ बोलें इससे पहले हममें से हर एक ने अपनी स्मृति-निहंग में से एक-एक बाण निकालकर दिखा दिया।

मां ने कहा : "और तुम्हें याद है, एक दिन अचानक लाला बाबू का ड्राइवर आकर तुम्हारे बाबू जी को ले गया था ?"

हम सबको उस घटना की याद हो आयी और हम रहस्य के परदे को जरा और हटाने के लिये तैयार हो गये।

मां ने कहा : "उस दिन लाला बाबू संगीत के कमरे में बैठे रियाज कर रहे थे कि उनके कान में आवाज आयी : 'भैया, जल्दी करो, देर हुई जा रही है, दूर जाना है।' ये शब्द उनकी ग्वालिन ने दरबान से कहे थे। ऐसी बातें न जाने कितनी बार सुनी होंगी पर उस दिन इनका असर निराला हुआ। लाला बाबू ने सितार एक ओर रख दिया और अपने-आपसे बोले : 'हां, सच तो कह रही है, देर हो रही है और दूर जाना है।'

"बस, उसी समय मोटर भेजकर तुम्हारे बाबू जी को बुलाया और जबतक ये न पहुंचे तबतक पागल की तरह इधर-उधर टहलते रहे। तुम्हारे बाबूजी के पहुंचते ही उन्होंने यही शब्द दोहराये और बोले : 'बात सच्ची है, देर हो गई है और दूर जाना है। मुझे घनश्याम की मुरली कब से सुनायी दे रही थी। मैं रोज टालता जाता था, यही सोचता था—आज नहीं, कल। कभी बच्चों के छोटे होने का बहाना बनाता, कभी संपत्ति की अव्यवस्था का डर दिखाता और कभी अपने-आपसे कहता, जाना तो है ही, चार दिन और मौज-शौक कर लूं। आज इस ग्वालिन ने मेरी आंखें खोल दी हैं और मैं अब और रुकने के लिये तैयार नहीं हूं। तुम हमारे पुराने हितैषी और सहायक हो। कुछ कोरे कागज हस्ताक्षर करके तुम्हें दिये जाता हूं। इस घर की व्यवस्था का भार, इन बच्चों का भार और मेरा जो कुछ भी है उस सबका भार तुम्हारे सिर पर रखकर मैं आज ही वृंदावन जा रहा हूं। मैं वहां बांके बिहारी का एक अच्छा-सा मंदिर बनवाना चाहता हूं। उनकी सेवा के रूप में देख-भाल तो मैं कर लूंगा पर उसके लिये खर्च तुम्हें भेजना होगा।'

"इतना कहकर लाला बाबू ने कुछ हिसाब-इसाब समझाया, तुम्हारे बाबू जी को चाबियां सौंपीं और पैदल ही चल पड़े। अब घोड़ा, गाड़ी या मोटर से उनका कोई संबंध न था। उन्हें श्याम की बंसी खींचे लिये जा रही थी। जिसके दान पर सैंकड़ों पलते थे वही लाला बाबू सामान्य भिखारी की तरह 'मारग बाली बूट' मांगता-खाता चला जा रहा था। इस काम से तुम्हारे बाबू जी की कमर निहुर गयी।'

"वे काम से घबरानेवाले नहीं थे। लेकिन लाला बाबू के अचानक चले जाने से मानों उनका दाहिना हाथ कट गया। काम इतना बढ़ गया कि इन्हें खाने-पीने की भी फुरसत न रहती थी और उससे बढ़कर डर यह था कि तुम लोगों को लाला बाबू बहुत प्यारे थे, कहीं तुम में से कोई उनकी लीक न पकड़ ले। इसीलिये तुम लोगों के सामने यह बात कभी न की जाती थी।'

"ये बीच-बीच में वृंदावन के चक्कर लगा आते थे। मंदिर बनवाने पर काफी खर्च आया। पर, आज हंसी आती है, आदमी का स्वभाव भी कैसा अजीब है! लाला बाबू यहां से सब कुछ छोड़ गये, वहां जाकर भी याचक वृत्ति से रहते थे पर पड़ोस के एक गुजराती मंदिरवालों से दो गज जमीन के लिये लड़ पड़े। ये उस जमीन पर अपने मंदिर का अधिकार मानते थे और वे अपने मंदिर का। एक ही भगवान् को लेकर दो भक्त आपस में लड़ पड़े और बात मुकदमेबाजीतक जा पहुंची। लाला बाबू अदालत के सब पैंतरे जानते थे और दूसरे सेठ भी कुछ कम न थे।'

"अब जोरदार कुश्ती की तैयारी थी। अदालतों के मगरमच्छ खुश हो उठे। कोई हारे, कोई जीते,

उनकी बला से, उन्हें तो रक्त-मांस मिल ही जायेगा। एक का न सही, दूसरे का।'

"लेकिन भगवान् को इस तरह की कुश्ती मंजूर न थी। लाला बाबू ने स्वप्न देखा, पड़ोस के मंदिर के बालमुकुंद उनसे कह रहे हैं : 'तू कैसा अहंकारी है ! कभी मेरे यहां भिक्षाटन के लिये नहीं आता।' लाला बाबू की आंखें खुल गयीं। मन में बड़ी ग्लानि हुई। सोचा : 'बात तो ठीक है, इतना सब छोड़ा पर दिल की यह गांठ न छोड़ी गयी। बस, आज अहंकार को निगलकर पड़ोसी के यहां ही भीख के लिये जायेंगे।'

"बारह बजे, भोजन का समय हुआ और वे पड़ोसी के द्वार पर दो रोटियां मांगने के लिये जा पहुंचे। गुजराती सेठ के घर में खलबली मच गयी। थाल भर-भरकर तरह-तरह की चीजें आने लगीं। निर्लिप्त लाला बाबू बोले : 'यह सब नहीं चाहिये। दो रूखी रोटियां हों तो दिलवा दीजिये।'

"गृहस्वामी रोटियां लिये हुए आया और आकर लाला बाबू के पैरों पर गिर पड़ा। मुकद्दमा उठा लिया गया। उसने कहा : 'लाला बाबू जो कह दें वही मान्य होगा।' लाला बाबू ने सेठ को गले से लगा लिया और बहुत देरतक रोते रहे। जरा स्वस्थ हुए तो बोले : 'घनश्याम, मैं यहां आकर भी, 'मैं' ही बना रहा, 'तेरा' न बन पाया। अब तो कृपा कर, करुणानिधि, मुझे चरण-रज में स्थान दे दे। मेरा सारा जीवन ही तेरी वंदना बन जाये।'

"आज जो तार आया है उससे पता चलता है कि लाला बाबू की प्रार्थना सुन ली गयी है और वे भगवान् के यहां चले गये हैं।"

'गैर्वाणी' :

लोभः सर्वविनाशकः

भोजराजस्य नाम युष्माकमर्थे अपरिचितं नैव स्यात्। यदि एषः सामान्यः राजा अभविष्यत् तदा अन्यराजवत् सः अपि कालेन सह विस्मृतिकुण्डे मग्नः अभविष्यत्, किन्तु सः आसीत् तथा न्यायप्रियः, असामान्यः, प्रजावत्सलः, चतुरश्च राजा, तस्य सहृदयतायाः कथाः तावत् प्रचलिताः यथा बालकानां जिह्वाग्रे तत् नाम वर्तते। अस्तु, सद्यः पठिता लघु-प्रेरककथा युष्माकमर्थे प्रस्तुता अद्य—

प्रजास्नेही भोजराजः कदापि स्वस्य अर्थे नैव अचिन्तयत् तस्मात् राज्यस्य भोगविलासेषु तस्य ईषदपि प्रवृत्तिः कदापि न अजायत। स्वप्रजासु पुत्रवद् अस्निह्यत् राजा। पुत्रस्य प्रगतये कदा स्नेहः कदा च भर्त्सना प्रयोजनीया इति सम्यक् ज्ञात्वा पिता यथा आचरति तथैव राजा भोजः करोति स्म। यतो हि सः सर्वदैव ऐच्छत् यत् मम प्रजाः सुशीलाः, दयालवः, सर्वदृष्ट्या समृद्धाः सुन्दराश्च स्युः। यथा राजा तथैवासीत् तस्य मन्त्री, कुशाग्रबुद्धिः सहृदयश्च। राजा तस्मिन् भ्रातृवदाचरत्। राज्ञः एकः नियमः आसीत्। बहुधा रात्रौ मन्त्रिणा सह सः नगरस्य परिक्रमां कृत्वा दुःखिनां सन्तापनाशाय उपायम् अकरोत्। द्वे अपि मित्रे सामान्यनागरिकवेषेण मार्गात् मार्गे अभ्रमताम्।

अथ कदाचित् रात्रौ राजा विलापम् अशृणोत्। बालकस्य स्वरः आसीत् सः। क्रन्दनं श्रुत्वा तु राज्ञः हृदयं विदीर्णम्। त्वरितं सः तत् गृहं प्रविष्टः, पश्यति यत् दश-द्वादशवर्षीयः कश्चित् लघुबालकः साश्रुपातं रोदिति। द्रवितः राजा तमपृच्छत्—पुत्र, किमर्थं रोदिषि, तथा किं ते कष्टम्, ब्रूहि माम्।

राज्ञः स्नेहमयीवाणी बालकं बहु असान्त्वयत्। तस्य समीपमागत्य तेन उक्तम्—मम पिता भृशम् अस्वस्थः, अद्य कार्यार्थं अपि न गतः, नास्ति मम सकाशे धनं यत् पितुः अर्थे औषधं आनयेयम्। अहं

प्रतिवेशिनः गृहं गत्वा तं किञ्चित् धनम् अयाचम् किन्तु तेन कथितम् यत् धनं न वृक्षस्य फलम् यत् त्रोटयित्वा तुभ्यं दद्याम्, इति कथयन् सः पुनरपि क्रन्दनम् आरभत।

तत्क्षणं मन्त्री सर्वप्रथमं वृद्धस्य अर्थे औषधम्, बालस्य च अर्थे भोजनम् आनेतुं निर्गतः। तावत् भोजराजः वृद्धस्य सेवाम् अकरोत्। मन्त्री आवश्यक-सामग्रीभिः प्रत्यागतः। अचिरमेव यत् गृहम् रोदनेन विदीर्यते स्म तत्र हासस्य उत्साः लघु-लघु प्रस्फुटिताः। वृद्धः अपि नेत्रे उदमीलयत्, एतत् दृष्ट्वा तु बालकः हर्षेण अनृत्यत्। गृहे प्रसन्नतायाः स्पन्दनानि प्रसृतानि इति वीक्ष्य राजमन्त्रिणौ गन्तुम् उद्यतौ। गमनकाले राजा बालकस्य हस्ते प्रचुरं धनमपि अददात्। गृहात् निर्गत्य मन्त्री राज्ञः कर्णे किमपि अजपत्। प्रसन्नः राजा तस्य गृहस्य देहल्यां स्थित्वा एव ईषत् उच्चैः अवदत्—मित्र, श्वः रात्रौ वयं अस्मिन् गृहे स्वर्णमुद्रापूरितं प्रसेवं क्षेप्स्यामः येन एषः लघुबालकः, तस्य वृद्धपिता च सुखेन जीवनं यापयेताम्।

वस्तुतः यदा मन्त्री औषधाय बहिर् निर्गतः तदा तेन दृष्टम् यत् बालकस्य प्रतिवेशिनः कर्णौ अत्रैव आस्ताम्। सः तं लोलुपम् पाठं शिक्षयितुम् ऐच्छत्।

प्रतिवेशी राज्ञः कथनम् अशृणोत्। शेषरात्रिं तस्य निद्रा नैव अभवत्, कथमहं प्राप्नुयां स्वर्णमुद्राः इति एव कीटकः तस्य मनसि सम्पूर्णरात्रिम् अभ्रमत्। हठात् तस्य मस्तिष्के एका योजना स्फुरिता। आत्मानमेव श्लाघमानः सः प्रभाते बालकस्य गृहं प्राप्तः। अत्यन्तस्नेहेन तेन सह वार्तालापमकरोत् आत्मानं पुनः पुनः धिक्कारबाणैः अविध्यत् यत् अहं महापापी, महामूर्खश्च यत् प्रतिवेशिनः साहाय्यं न अकरवम् इत्यादि। अन्ते सः स्वस्य कथनम् चतुरतापूर्वकम् अस्थापयत्—वत्स, मम एकः उत्तमः विचारः अस्ति। त्वं पितुः औषधस्य अर्थे धनम् इच्छसि, नैवम्! अहं तुभ्यं सहस्ररूप्यकाणि ददामि, त्वं मह्यं स्वकुटीरं देहि, सप्ताहमेकं मम बृहता स्थानेन प्रयोजनं वर्तते, तावत् त्वं मम गृहे एकस्मिन् बृहत्-कक्षे स्वपित्रा सह निवस।

बालकः मूर्खः नासीत्। सः अबोधत् यत् शठः एकेन दिनेन संन्यासी भवितुं न अर्हति, अस्ति अस्य पृष्ठतः किमपि महद् रहस्यम्। सः प्रतिवेशिनः प्रस्तावं न स्व्यकरोत्। प्रतिवेशी तु कथमपि रात्रिपर्यन्तं तत् गृहम् प्राप्तुकामः आसीत्, सः अधिकाधिकधनस्य प्रलोभनम् अददात्। अन्ते प्रतिवेशी दश-सहस्ररूप्यकपर्यन्तम् अगच्छत्। अस्मिन् वारे बालकेनापि स्वीकृतम्। हर्षेण उन्मत्तः सः अचिन्तयत्, गच्छेयुः अधुना दशसहस्रं रूप्यकाणि, प्राप्स्यामि रात्रौ सहस्रशः स्वर्णमुद्राः।

लोभि-प्रतिवेशिनः अर्थे तत् दिनं दीर्घतमम् अभवत्। अन्ते रात्रिः संप्राप्ता। सः मुख्यकक्षे एव उपाविशत्।

स्वचारैः राजा प्रतिवेशिनः सर्वं वृत्तान्तं अजानात्। रात्रौ मन्त्रिणा सह सः गृहस्य सम्मुखे आगत्य उच्चैः अकथयत् ''मन्त्रीमहोदय, यथा मया आदिष्टमासीत् किं भवान् स्वर्णमुद्राणां प्रसेवम् आनयत्?"

मन्त्री अपि तथैव उच्चैः अवदत्,''राजन्, बालकः प्रभाते एव स्वजीवननिर्वाहस्य अर्थे दशसहस्रं रूप्यकाणि प्राप्नोत्। कतिपयमासेभ्यः तस्य अर्थे एतावत् धनं पर्याप्तं भविष्यति। तस्मात् परं द्रक्ष्यामः।"

द्वयोः एतादृशं वार्तालापं श्रुत्वा लोलुपप्रतिवेशिकस्य रक्तं हिमीभूतम्। एषः राजा भोजः, अन्यश्च तस्य मन्त्री, एतत् ज्ञात्वा तु भयेन रात्रौ एव सः तत् राज्यं त्यक्त्वा कुत्र अगच्छत् अद्यावधि न कोऽपि जानाति।

तस्मादेव तु कथ्यते, लोभः सर्वविनाशकः। न कदापि पतनीयं लोभस्य दुश्चक्रे यतो हि एकदा इमं प्रविष्टः जनः क्षतविक्षतः भूत्वा एव निर्गच्छति।

तदा स्मरिष्यथ अस्याः कथायाः सारं यूयम् सर्वदैव, नैवम्!!

—वन्दना

'नयी कोंपलें' :

एक बीज

एक बीज,
पौधे की कलगी से छिटक
एक वीराने बंजर में बिखर गया;
खौलती धूप में न कहीं छांव थी
न कहीं जीवन

बिखरे मैदान सिहरती रेत पर
अपने भूले अस्तित्व को खोज रहे थे।
पर उन शुष्क कणों में
जीवन की बिसरी यादों के अलावा

अब निराशा ही रह गयी थी।
हठात् आशा का मसीहा-सा वह बीज
प्रत्यक्ष उभर आया।

स्मृति में कुछ स्पंदन-सा हुआ
और याद हो आया उन बीते
वर्षों की कमनीयता का स्पर्श,
उस एक बीज, उस एक रहस्य का दान।
निराशा के ढोंग के अवसान के साथ
हुआ, आशा का उदय।

उसकी बढ़ती प्रबलता के साथ
एक बहका-सा बादल
क्षितिज पर दौड़ आया,
वर्षा हुई, अंकुर फूटे
और उसके साथ ही फूटा
एक नये संसार का भूला
हुआ रहस्य।

—आनंद अग्रवाल

"Work done in the right spirit is meditation."

— The Mother

भगवान् के प्रति सच्चे और निष्कपट निवेदन में ही हम अपने अत्यंत मानवीय दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER

दिव्य श्रवण

समस्त ध्वनियां और समस्त स्वर हो गये हैं तेरी वाणी :
संगीत और मेघगर्जना और पक्षियों का कूजन,
जीवन के शोक और हर्ष की मरमर-ध्वनि,
मानव-वाणी और मंद्र शब्दों का आरोह-अवरोहण,

समुद्र के दिगंतव्यापी हर्ष का अट्टहास महान्,
विजित वायुमंडल में विमान का घुरघुराना,
स्वतः का पृथ्वी की ओर वेगशील तूर्यगान,
मशीन की अनिच्छुक घूं-घूं, भोंपू की गर्जना

फूंकती आकाश के वातल शंख पर
रहस्य का और सुदूर का आवाहन,
सूर्य-आलोकित प्रदेशों और समुद्री मार्गों के संस्मरण, —
अब सब हैं तेरे अद्‌भुत सुर और प्रकरण।

एक रहस्यमय सामंजस्य अंध हृदय में चुपचाप करता संचरण
और क्योंकि तू है, सब बन जाता सुंदर सुशोभन।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

अगस्त

१. मुक्त होकर संसार में रहना और फिर भी साधारण मनुष्यों का जीवन-यापन करना बहुत कठिन है; परंतु यह कठिन है इसी कारण इसके लिये प्रयास करना और इसे सिद्ध करना चाहिये।

२. मनुष्य उद्विग्नतापूर्वक जीते हैं, यह जीवन की लघुता के संबंध में एक प्रकार की अर्ध-चेतन अनुभूति है। मनुष्य इसके बारे में सोचते नहीं पर इसे एक अर्ध-चेतन ढंग से अनुभव अवश्य करते हैं; और तब वे सदा सब काम जल्दी, जल्दी और जल्दी करना चाहते हैं, एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भागते हैं, एक कार्य को शीघ्र समाप्त करके दूसरे को हाथ में ले लेना चाहते हैं, जब कि करना यह चाहिये कि वे प्रत्येक वस्तु को अपनी सनातनता में निवास करने दें...।

३. कइयों ने यह उपदेश दिया है: महत्त्वपूर्ण क्षण केवल वर्तमान है—व्यावहारिक रूप से यह सच नहीं है किंतु मनोवैज्ञानिक रूप से इसे सत्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति अगली वस्तु की पहले से योजना बनाये या चाहे या प्रतीक्षा किये बिना या उसके लिये तैयारी किये बिना प्रत्येक क्षण अपनी अधिकतम शक्यता में जिये। कारण तुम हर समय जल्दी, जल्दी, जल्दी में होते हो... और तुम कुछ भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। तुम एक आंतरिक तनाव की स्थिति में होते हो जो कि मिथ्या, बिल्कुल मिथ्या होती है।

४. सनातनता की भावना में जियो... व्यक्ति को आकाश और नक्षत्रों के बारे में चिंतन करना चाहिये और इस प्रकार उनकी असीमता के साथ एकाकार होना चाहिये, उस सबके विषय में चिंतन करना चाहिये जो तुम्हें विशाल बनाता हो, तुम्हें शांति प्रदान करता हो।
ये हैं साधन ही, पर हैं अनिवार्य।

५. व्यक्ति के लिये दिखायी देने की अपेक्षा होना अधिक आवश्यक है। उसे जीना चाहिये न कि दिखावा करना, दूसरों को यह दिखाने की अपेक्षा कि वह कुछ चरितार्थ कर रहा है, यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह वस्तु को उसके समग्र और पूर्ण रूप में सच्चाई के साथ चरितार्थ करे।

६. हर एक में प्रगति करने की इच्छा आवश्यक चीज है—वही हमें भागवत प्रभाव की ओर खोलती और हमें उसके द्वारा लायी चीजों को ग्रहण करने योग्य बनाती है।
भागवत कृपा पाने के लिये तुम्हारे अंदर प्रबल अभीप्सा ही नहीं, सच्ची निष्कपट विनय और संपूर्ण विश्वास भी होना चाहिये।

७. **प्रश्न**—मधुर मां, हमेशा चेतना की समान ऊंचाई पर रहना क्यों संभव नहीं होता? कभी-कभी सारे प्रयास और अभीप्सा के बावजूद मैं गिर पड़ता हूं।
उत्तर—इसका कारण यह है कि व्यक्ति एक ही टुकड़े का बना हुआ नहीं है बल्कि बहुत-सी विभिन्न सत्ताओं से बना है जो कभी-कभी एक-दूसरे से विपरीत होती हैं। कुछ भाग आध्यात्मिक जीवन चाहते हैं, कुछ और सांसारिक वस्तुओं से चिपके रहते हैं, इन सब भागों को सहमत करना और उन्हें एक करना बहुत लंबा और कठिन काम है।

८. अपनी अभीप्सा में लगे रहो तो तुम्हारा स्वप्न चरितार्थ होगा।

९. हर व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है और अगर वह साहस के साथ, सचाई से उस सच्चे स्वभाव के अनुसार कार्य करे तो वह सत्य के अनुसार कार्य होगा। अतः दूसरों को जांचना या उनके लिये निर्णय करना असंभव है। तुम केवल अपने लिये जान सकते हो और

इसके लिये भी तुम्हें बहुत ज्यादा सच्चा और निष्कपट होना चाहिये ताकि तुम अपने-आपको धोखा न दो।

१०. व्यक्ति के अंदर का अहंकार और उसका दंभ ही औरों के सामने अपना अच्छा रूप दिखाना चाहता है और उनसे प्रशंसा पाना चाहता है, लेकिन अगर तुम्हारा समस्त क्रिया-कलाप भगवान् के प्रति उत्सर्ग हो तो तुम्हें औरों की प्रशंसा की जरा भी परवाह न करनी चाहिये।

११. **प्रश्न**—मधुर मां, आपने बहुत बार कहा है कि हमारे क्रिया-कलाप भगवान् के प्रति उत्सर्ग होने चाहियें, इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है और यह कैसे किया जा सकता है? . . . निश्चय ही मानसिक रूपायन द्वारा यह करना काफी नहीं है।

उत्तर—इसका मतलब यह है कि तुम जो कुछ करो वह व्यक्तिगत, अहंकारमय लक्ष्य के लिये, सफलता, यश, लाभ, भौतिक मुनाफे या गर्व के लिये न करके सेवा या उत्सर्ग-भाव से करो ताकि तुम भागवत इच्छा के बारे में ज्यादा सचेतन बन सको, अपने-आपको और भी पूरी तरह उसे सौंप सको और यह अनुभव कर सको कि स्वयं भगवान् तुम्हारे अंदर काम कर रहे हैं; उनकी शक्ति तुम्हें प्रेरित कर रही है; उनकी इच्छा तुम्हें सहारा दे रही है—यह केवल मानसिक ज्ञान न हो बल्कि चेतना की स्थिति की सचाई और निष्कपटता और जीवित अनुभूति की शक्ति हो।

इसे संभव बनाने के लिये जरूरी है कि सभी अहंकारमय अभिप्राय और अहंकारमय प्रतिक्रियाएं गायब हो जायें।

१२. हां, तुम्हें हिम्मत और सचाई के साथ डटे रहना चाहिये, तुम्हें एक दिन निश्चित रूप से सफलता मिलेगी।

१३. काम बहुत तेजी से होगा जब हर एक औरों के दोषों की आलोचना करने की जगह अपने दोषों और त्रुटियों को ठीक करने में संलग्न रहे।

१४. जरा-सा और नियमित अभ्यास बहुत-से अल्पजीवी प्रणों से अधिक मूल्यवान् है।

१५. गलत चीजों की कल्पना करना बंद कर दो तो साथ ही तुम्हारे कष्ट समाप्त हो जायेंगे।

१६. अपने अंदर जीतने का संकल्प जगाओ। केवल मन में ही संकल्प नहीं बल्कि शरीर के कोषाणुओं तक में संकल्प! इसके बिना तुम कुछ नहीं कर सकते; तुम सैंकड़ों दवाइयां ले सकते हो लेकिन वे तुम्हें नीरोग न कर सकेंगी जबतक तुम्हारे अंदर शारीरिक बीमारी को जीतने का संकल्प न हो।

१७. एक सुरक्षित और शांत जीवन लोगों को सुखी बनाने के लिये काफी नहीं है। एक आंतरिक विकास आवश्यक है और एक ऐसी शांति भी जो भगवान् के साथ सचेतन संपर्क से आती है।

१८. जीवन में एकमात्र सुरक्षा, अपनी पुरानी भूलों के परिणामों से बचने का एकमात्र रास्ता आंतरिक विकास है, वही भागवत उपस्थिति के साथ सचेतन एकत्व स्थापित करने में सहायक होता है। वही एकमात्र सच्चा पथ-प्रदर्शक हमारी सत्ता और सभी सत्ताओं का सत्य है।

१९. क्रोध और बदले की भावना निचली मानवता की वस्तुएं हैं, ये बीते कल की मानवजाति की चीजें हैं, आनेवाले कल की नहीं।

२०. यदि तुम्हारा लक्ष्य महान् हो और साधन छोटे, तो भी कर्म करते रहो क्योंकि कर्म के द्वारा ही ये तुम्हारे लिये बढ़ सकते हैं।

२१. यह बात स्पष्ट है कि कोई तराजू किसी कार्य की महानता को नहीं माप सकता, न ही उसकी पूर्णता किन्हीं बाह्य परिस्थितियों अथवा अवस्थाओं पर निर्भर है, वरन् उसका आधार होता है व्यक्ति के आत्म-निवेदन की वह सचाई जिसके साथ वह कार्य करता है।

भगवान् हमसे जो करवाना चाहते हैं वही अपनी सत्ता के पूर्ण समर्पण के भाव में करना—बस,

यही है एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु; कार्य का बाह्य मूल्यांकन कुछ अर्थ नहीं रखता।

२२. जबतक मन जीवन पर इस अभिमानपूर्ण निश्चयता के साथ शासन करता रहेगा कि वह सब कुछ जानता है तबतक भगवान् का राज्य कैसे स्थापित हो सकता है ?

२३. जब हमें दुःख के लिये आकर्षण नहीं रहेगा और जब हम उसकी विकृत आसक्ति से मुक्त हो जायेंगे तब भगवान् हमें उसके पीछे छिपे परम आनंद का अनुभव करायेंगे।

२४. जीवन की सभी परिस्थितियों की व्यवस्था हमें यह सिखाने को की गयी है कि मन से परे, भागवत कृपा में विश्वास ही हमें सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, सभी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने तथा दिव्य चेतना के साथ संपर्क स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है, उस दिव्य चेतना के साथ जो हमें केवल शांति और आनंद ही नहीं बल्कि शारीरिक संतुलन एवं अच्छा स्वास्थ्य भी प्रदान करती है।

२५. जो लोग सत्य के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनके लिये एकमात्र मार्ग है भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन होना और केवल उन्हींकी इच्छा के अनुसार जीवन बिताना। अशुभ और कष्ट से बचने का एकमात्र मार्ग यही है; सदा शांति, प्रकाश और आनंद में निवास करने का यही एकमात्र मार्ग है।

२६. नियमित रूप से उत्तरोत्तर बढ़ते चलने के लिये तुम्हें हमेशा अपनी अभीप्सा की ज्वाला को जीवंत रखना चाहिये।

२७. . . . तुम जितने पूर्ण हो उससे अधिक पूर्ण होने का दिखावा कभी न करो और झूठे आभासों से तो बिल्कुल ही संतुष्ट न होओ।

२८. तुम्हें भीतर से अपनी निम्न प्रकृति का स्वामी बनना चाहिये—अपनी चेतना को दृढ़ता के साथ ऐसे क्षेत्र में स्थापित करके जहां वह समस्त कामना और आसक्तियों से मुक्त हो क्योंकि वहां वह दिव्य ज्योति और शक्ति के प्रभाव तले होती है।

२९. औरों की आलोचना करने से पहले ज्यादा अच्छा है कि यह निश्चित रूप से जान लो कि स्वयं तुम पूरी तरह सच्चे हो।

३०. जब मनुष्य थोड़ा और बुद्धिमान् हो जायेगा तो वह किसी भी विषय में शिकायत नहीं करेगा और भगवान् द्वारा दी गयी वस्तुओं को उनकी कृपा के रूप में स्वीकार करेगा, ऐसी कृपा के रूप में जो अत्यधिक अनुग्रहपूर्ण है।

हम उनके प्रति जितने अधिक समर्पित होंगे उतना अधिक उन्हें समझ सकेंगे।

हम उनके प्रति जितने कृतज्ञ होंगे उतने अधिक प्रसन्न रहेंगे।

३१. आत्मविकास और आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्ति को अपने कर्म पर नियंत्रण रखने में समर्थ बनाते हैं।

— — — — —

बांस के जाल में से बहते हुए चमकते पानी को देख छोटी-छोटी मछलियां बड़ी खुशी के साथ उसमें घुस पड़ती हैं, लेकिन एक बार घुसने के बाद वे निकल नहीं पाती और उसमें फंस जाती हैं। उसी प्रकार, मूर्ख लोग इस जगत् की चमकीली सतह देखकर उसमें प्रवेश करते हैं। परंतु जिस प्रकार जाल से निकलने की अपेक्षा उसमें घुसना ज्यादा आसान है, उसी प्रकार इस जगत् में घुसना ज्यादा आसान है, पर एक बार घुसने के बाद उसे त्यागना कठिन है।

वंदे मातरम् का युग

(वंदे मातरम् का गीत लिखा तो था बंकिम चैटर्जी ने लेकिन उसे देशव्यापी ऊर्जा का प्रतीक बनाया श्रीअरविंद ने। वंदे मातरम् का नारा सुनते ही प्रत्येक भारतवासी के अंदर देशप्रेम की एक ज्वाला भड़क उठती थी। श्रीअरविंद वंदे मातरम् नामक पत्र का संपादन भी करते थे जिसके बारे में बड़े-बड़े अंग्रेज विधिवेत्ताओं का कहना था कि उसका प्रत्येक शब्द अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह से भरा था फिर भी उसे इस तरह सजाया गया था कि पकड़ में न आ सके।)

सन् १९०७ में श्रीअरविंद ने वंदे मातरम् में निष्क्रिय प्रतिरोध के बारे में एक लेखमाला लिखी। उन्होंने समस्त जाग्रत् युवा शक्ति को अपने साथ लेते हुए घोषणा की थी, "हम दरखास्तें देने की इस सारी प्रक्रिया को तबतक के लिये समाप्त कर देना चाहते हैं जबतक कि हमारे इस देश में इतनी शक्ति न पैदा हो जाये कि दरखास्त मांग का एक शिष्ट रूप भर हो। हम इस विषैले धोखे को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहते हैं कि किसी विदेशी और विरोधी हित पर यह विश्वास किया जा सकता है कि वह अपने-आपको हानि पहुंचाकर भी हमें विकसित करेगा और हम राष्ट्र के विरोधियों से सहायता पाने की मूर्खताभरी और हेय लालसा को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहते हैं। नौकरशाही सुविधाओं के प्रति हमारी वृत्ति लाओकून जैसी है, "हम यूनानी लोगों से तब भी डरते हैं जब वे हमारे लिये कुछ उपहार लायें।" हमारी नीति है आत्म-विकास और आत्म-रक्षात्मक प्रतिरोध। लेकिन हम आत्म-विकास की नीति को राष्ट्रीय जीवन के हर विभाग में लाना चाहते हैं, केवल स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्रीय पंचायती अदालतें, स्वास्थ्य-रक्षा, दुर्भिक्ष-बीमा या दुर्भिक्ष-निवारण, हमारे हाथ जो कुछ काम आये या जो भी तुरंत करने की जरूरत है उसे हमें अपने-आप करने का प्रयास करना चाहिये, इसे करने के लिये विदेशियों का मुंह न ताकना चाहिये। और हमें रक्षात्मक प्रतिरोध की नीति को इतना व्यापक बनाना चाहिये कि वह हमारे आत्म-विकास की हर रेखा के साथ-साथ समानांतर चल सके। शुरू में हमारा रक्षात्मक प्रतिरोध मुख्य रूप से निष्क्रिय होना चाहिये यद्यपि जब कभी बाध्य हो तो उसे सक्रिय प्रतिरोध द्वारा संपूरित करने के लिये तैयार रहना चाहिये . . . हम अपने प्रतिरोध को कानून की सीमा में रखना चाहते हैं, जबतक कानून स्वयं हमारी बातों में हस्तक्षेप न करे और हमारी प्रगति तथा देशवासियों के प्रति हमारे कर्तव्य-पालन को असंभव न बना दे। लेकिन अगर कभी ऐसे कानून बनाये जायें जिनका उद्देश्य हो हमारे आत्म-विकास को सरसरी तौर पर समाप्त कर देना या मनुष्य के नाते हमारे अधिकारों पर अनुचित सीमाएं लगाना तो हमें उस कानून को तोड़ने और दी गयी सजाओं को स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये ताकि हम उस कानून को अव्यवहार्य बना दें जैसा कि अन्य देशों में किया गया है। अगर हम यह चाहते हों कि हमारे प्रतिरोध को रद्दी से सरकारी दमकलों से बुझाया न जा सके तो हमें अपने कार्य द्वारा मनमाने राजकीय अवपीड़न को चुनौती देने के लिये तैयार रहना चाहिये। हमें वस्तुओं और व्यक्तियों का बहिष्कार करने से भी न सकुचाना चाहिये। हमें अपने उन देशवासियों के सामाजिक बहिष्कार का पूरा-पूरा परंतु विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिये जो राष्ट्र की मुक्ति के महत्त्वपूर्ण मामले में उसकी इच्छा को चकराने की कोशिश करते हैं। हम निष्क्रिय प्रतिरोध को एक अंधविश्वास बनाये बिना उसकी वकालत करते हैं . . . हो सकता है कि निष्क्रिय प्रतिरोध हमारी मुक्ति का अंतिम उपाय हो और यह भी हो सकता है कि यह अंतिम साधना की तैयारी मात्र हो।"

श्रीअरविंद ने अपनी बड़ौदा की नौकरी से १८ जून १९०७ को त्यागपत्र दे दिया।

२४ जुलाई, भूपेंद्रनाथ दत्त को, जिन्होंने अपने-आपको संपादक घोषित किया था, 'युगांतर' में छपे लेखों के कारण राजद्रोह के अभियोग में जेल की सजा हो गयी। श्रीअरविंद ने क्रांतिकारी के नाते उन्हें सलाह दी कि अदालत में अपनी सफाई देकर विदेशी अदालत के अधिकार को मान्यता न दें।

मातृभूमि के लिये बलिदान देने के उत्साह ने ज्वर का रूप ले लिया था। अमरेंद्र चटर्जी बतलाते हैं कि श्रीअरविंद ने उन्हें इस आंदोलन में कैसे दीक्षित किया।

श्रीअरविंद—मेरा ख्याल है कि उपेन ने तुम्हें उस काम के बारे में बतलाया है जो देश के लिये करना है। मैं आशा करता हूं कि उसके बारे में तुम्हारे मन में कोई संदेह, आगा-पीछा या भय नहीं है।

अमर—क्या आप स्वयं कुछ न कहेंगे? . . . मैं आपसे सुनना चाहता हूं। क्या आपने मेरे बारे में कुछ नहीं सुना?

श्रीअरविंद—मैंने तुम्हारे बारे में सुना है . . . । तुमने स्वदेशी आंदोलन के लिये बहुत-सा धन दिया है . . . लेकिन क्या देश केवल नमक और शक्कर की राजनीति से ही स्वतंत्र हो जायेगा? अगर हम अपने देश की स्वाधीनता पाना चाहें तो हमें उसके लिये सब कुछ न्यौछावर कर देना होगा और हमें उसके लिये अपनी जानतक देने के लिये तैयार रहना होगा। अगर हम देश को स्वतंत्र करना चाहें तो हमें मृत्यु के भय को जीतना होगा।

अमर—आपका क्या ख्याल है, कितने लोग ऐसा कर सकेंगे?

श्रीअरविंद—क्या मातृभूमि के लिये अपनी बलि देना इतना कठिन है? मनुष्य जीवन में सुख पाने के लिये कितने दुःख और कितनी कठिनाइयां झेलते हैं। देश की स्वाधीनता के लिये तो कोई भी बलि कठिन न होनी चाहिये। अगर भारत स्वतंत्र नहीं होता तो मनुष्य भी स्वतंत्र न होगा . . .

अमर—उपेन ने मुझसे कहा है कि अपनी बलि देने के लिये तैयार रहना चाहिये और मैंने बंकिम की बात के आधार पर उत्तर दिया है कि मृत्यु अनिवार्य है उससे क्या डरना। मेरा भय किसी और ही स्थान से आता है। मैं अनुभव करता हूं कि अभी मैं इतने महान् कार्य के योग्य नहीं हूं। क्या इस योग्य बनने का कोई उपाय है?

श्रीअरविंद—अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर दो और दिव्य जननी के नाम पर भारत की सेवा में लग जाओ। तुम्हारे लिये मेरी यही दीक्षा है।

वंदे मातरम् सरकार के लिये बहुत भारी पड़ रहा था। एंग्लो इंडियन अखबारों का चिल्ला-चिल्ला कर गला बैठ गया था कि इस राजनीतिक डाइनामाइट के विरुद्ध कुछ कदम उठाये जायें। तो आखिर ३० जुलाई १९०७ को वंदे मातरम् के कार्यालय की तलाशी ली गयी और राजद्रोह के मामले में मुकद्दमा चलाया गया। 'युगांतर' के कुछ बंगला लेखों का वंदे मातरम् में अंग्रेजी अनुवाद छापा गया था और साथ ही संपादक के नाम एक पत्र जिसका शीर्षक था 'हिंदुस्तानियों के लिये राजनीति'। श्रीअरविंद को गिरफ़्तार करने के लिये १६ अगस्त को वारंट जारी हुआ। श्रीअरविंद अपने-आप पुलिस थाने में जाकर उपस्थित हो गये परंतु उन्हें जमानत पर छोड़ दिया गया। लेकिन जब मुकद्दमा शुरू हुआ तो बिपिन पाल ने जो मुख्य साक्षी थे गवाही देने से इंकार कर दिया और अपने इस साहस के कारण उन्हें छह महीने का कारावास मिला। जो बात सब जानते थे, कि श्रीअरविंद ही इसके संपादक हैं, उसे सरकार प्रमाणित न कर सकी और उन्हें २३ सितंबर १९०७ को रिहा कर दिया गया। सरकार ने अपूर्व बसु को सजा देकर अपने-आपको संतुष्ट किया। यह इस पत्र का मुद्रक था जिसे अंग्रेजी न आती थी और जिसे पता न होता था कि क्या छप रहा है।

इस घटना का एक मजेदार परिणाम आया। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने सोचा कि श्रीअरविंद को जेल की सजा तो होगी ही इसलिये उन्होंने बंगला में श्रीअरविंद को श्रद्धांजलि लिखी और प्रकाशित कर

दी। श्रीअरविंद छूट आये तो कवि उनसे मिलने गये और उन्हें गले लगाते हुए बंगला में बोले, 'आपने हमें ठग लिया'। श्रीअरविंद ने अंग्रेजी में उत्तर दिया, 'आपको ज्यादा दिन इंतजार न करना होगा' और सचमुच हुआ भी ऐसा ही।

उस कविता की कुछ पंक्तियां मूल बंगला में ही उद्धृत की जा रही हैं :—

अरविंद, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार।
हे बंधु, हे देशबंधु, स्वदेश आत्मार
वाणी-मूर्त्ति तूमि। तोमा लागि नहे मान,
नहे धन, नहे सुख; कोनो क्षुद्र दान
चाहो नाई, कोनो क्षुद्र कृपा; भिक्षा लागि
बाड़ाओनि आतुर अंजलि। . . .

देवतार दीपहस्ते जे आसिल भवे,
सेई रुद्रदूते, बलो कोन राजा कबे
पारे शास्ति दिते ? . . . !

(हे अरविंद, रवींद्र का नमस्कार स्वीकार करो, हे बंधु, हे देशबंधु, स्वदेश की आत्मा, तुम वाणी-मूर्त्ति हो, तुम न मान, न धन, न सुख, न कोई क्षुद्र दान या क्षुद्र कृपा चाहते हो, भिक्षा के लिये अंजलि नहीं बढ़ाते . . . देवता का दीपक लेकर जो रुद्रदूत आया है, कौन राजा भला उसको दंड दे सकता है? . . . हे अरविंद रवींद्र का नमस्कार स्वीकार करो।)

सरकार ने जो सोचा रखा था, वंदे मातरम् के मुकद्दमे का परिणाम उससे ठीक उल्टा आया। श्रीअरविंद ने, जो हमेशा पर्दे के पीछे से कार्य करना पसंद करते थे, जो स्वभाव से अल्पभाषी और संकोचशील थे, अचानक देखा कि वे राष्ट्रीय मंच पर अगली पंक्ति में आ गये हैं। सभी की आंखें उनकी ओर लगी थीं, विद्यार्थी, युवक जिनसे राष्ट्रीयतावादी दल भरा हुआ था तथा देश का प्रबुद्ध वर्ग, सभी श्रीअरविंद को आंदोलन का निर्विरोध नेता मानने लगे। अब उन प्रतिभाशाली संपादकीय लेखों का लेखक अजाना न रहा। इंडियन पैट्रियट ने लिखा :

''इस समय उनके लाखों देशवासी उनकी प्रतिभा को श्रद्धांजलि दे रहे हैं, वे उनका नाम मान और कृतज्ञता से ले रहे हैं, वे उनका मान करते हैं क्योंकि ये स्वयं उनका मान कर रहे हैं। वे उनके लिये, अपने देश के लिये परिश्रम कर रहे हैं, वे हर दुःख-दर्द को लाभ मानते हैं। उन्होंने अपना जीवन अपने देश के उत्थान के लिये अर्पण कर दिया है। अगर किसी व्यक्ति की महानता स्वाधीनता और सत्य के लिये दी गयी उसकी बलि से कूती जा सकती है तो मिस्टर घोष निश्चय ही महान् हैं। सोना और शक्ति भले तेरे पल्ले न पड़ें, पर तेरा श्रम व्यर्थ नहीं गया। तेरा साहस सारी जाति को प्रेरणा देने के लिये जीता रहेगा। तू केवल संगे मरमर और सोने में ही नहीं कवि के उस गीत में जीता रहेगा जो अधिक स्थायी है। तू भव्य रूप से समय के हरावल में है।''

इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सदस्य हेनरी नेविनसन श्रीअरविंद के साथ मुलाकात के बाद अपनी पुस्तक 'द न्यू स्पिरिट इन इंडिया' में लिखते हैं, ''तीव्रता के साथ गंभीर, नियति और मत के बारे में लापरवाह, मैंने जो सबसे अधिक चुपचाप रहनेवाले लोग देखे हैं, उनमें एक, वह, उस मिट्टी के बने हैं जिससे स्वप्नद्रष्टा बनते हैं लेकिन स्वप्नद्रष्टा भी ऐसे जो अपने स्वप्नों को जीते हैं, उपायों की परवाह नहीं करते।''

—माधव पंडित

श्रीअरविंद की शिक्षा तथा साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

प्राण की शुद्धि

यह सच है कि बाह्य प्राण की शुद्धि के लिये बाहरी अनुशासन जरूरी है अन्यथा वह बेचैन और मनमौजी और अपने ही आवेशों की दया पर रहता है, जिसके कारण वहां अचंचल-स्थिर, उच्चतर चेतना के दृढ़ता के साथ रहने के लिये कोई आधार नहीं बनाया जा सकता।

*

साधारण जीवन में लोग क्रोध, कामना, लोभ, काम-वासना, आदि प्राणिक गतिविधियों को स्वाभाविक और स्वीकार्य चीजें, मानव स्वभाव का भाग मान लेते हैं। जहांतक समाज इन्हें नापसंद करता है या आग्रह करता है कि इन्हें निश्चित सीमाओं में या उचित नियंत्रण या मर्यादा में रखा जाये, लोग इनपर नियंत्रण रखने की कोशिश करते हैं ताकि नैतिकता के या सामाजिक सदाचार के स्तर के अनुसार रह सकें। इसके विपरीत यहां, जैसा कि हर आध्यात्मिक जीवन में होता है, इन चीजों पर विजय और पूर्ण स्वामित्व की मांग की जाती है। इसीलिये यहां संघर्ष का अधिक अनुभव होता है, इसलिये नहीं कि ये चीजें साधारण लोगों की अपेक्षा साधकों में अधिक जोर से उठती हैं, बल्कि इसलिये कि आध्यात्मिक मन—जो नियंत्रण की मांग करता है—और प्राणिक गतिविधियां—जो विद्रोह करती और नये जीवन में भी पुराने जीवन की तरह ही चलती रहना चाहती हैं—इन दोनों में संघर्ष की तीव्रता होती है। रहा यह विचार कि साधना इस तरह की चीजों को उठाती है, इसमें एकमात्र सत्य यह है कि पहली बात तो यह है कि साधारण मनुष्य के अंदर ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जिनके बारे में वह सचेतन नहीं होता क्योंकि प्राण उन्हें मन से छिपाता है और उनसे संतोष पाता है, जब कि मन को पता भी नहीं होता कि कौन-सी शक्ति क्रिया को चला रही है—जैसे जो चीजें परोपकार, मानवप्रेम, सेवा इत्यादि के नाम से की जाती हैं वे अहंकार द्वारा परिचालित होती हैं जो अपने-आपको इन औचित्यों के पीछे छिपाये रखता है, योग में गुप्त प्रयोजन को पर्दे के पीछे से निकालना, प्रकट करना और फिर दूर करना होता है। दूसरी बात यह कि कुछ चीजें सामान्य जीवन में दबा दी जाती हैं और वे प्रकृति में दबी पड़ी रहती हैं, वे दबी रहती हैं लेकिन निकाली नहीं जातीं; इसलिये किसी भी समय अपने-आपको विभिन्न स्नायविक रूपों में या मन, प्राण अथवा शरीर के उपद्रवों में प्रकट कर सकती हैं, जिससे उनके सच्चे कारण का पता ही नहीं चलता। अभी हाल में यूरोपीय मानस-शास्त्रियों ने इसका पता लगाया है और इसपर बहुत जोर दिया है बल्कि यूं कहें कि अतिशय जोर दिया है और इसे मनोविश्लेषण शास्त्र के नाम से एक नया शास्त्र बना दिया है। यहां साधना में मनुष्य को इन दबे हुए आवेशों के बारे में सचेतन होना और उन्हें निकाल बाहर करना होगा—इसे उठाना कहा जा सकता है पर इसका यह मतलब नहीं है कि उन्हें उठाकर क्रियाशील बनाना चाहिये, उन्हें केवल चेतना के आगे उठाना चाहिये ताकि वे सत्ता में से निकल जायें।

रही यह बात कि कुछ लोग अपने-आपको वश में रख सकते हैं जब कि दूसरे इनमें बह जाते हैं तो यह स्वभाव के अंतर के कारण होता है। कुछ लोग सात्विक होते हैं और उनके लिये संयम आसान होता है, कम-से-कम कुछ हदतक; अन्य लोग अधिक राजसिक होते हैं और उन्हें संयम कठिन और

कभी-कभी असंभव लगता है। कुछ लोगों का मन और मानसिक संकल्प बलवान् होता है जब कि कुछ और लोग प्राणिक होते हैं जिनमें प्राणिक आवेश अधिक प्रबल और अधिक सतह पर होते हैं, कुछ लोग संयम जरूरी नहीं मानते और अपने-आपको खुली छूट देते हैं, साधना में मानसिक या प्राणिक संयम का स्थान आध्यात्मिक प्रभुत्व को ले लेना चाहिये—उसके लिये मानसिक संयम एकांगी है, वह नियंत्रण तो करता है पर मुक्त नहीं करता। केवल चैत्य और आध्यात्मिक ही यह कर सकते हैं। इस दृष्टि से सामान्य और आध्यात्मिक जीवन में यही मुख्य अंतर है।

*

प्राण की शुद्धि में लंबा समय लगता है क्योंकि जबतक सभी भाग मुक्त न हो जायें तबतक कोई भी पूरी तरह मुक्त नहीं होता क्योंकि वे बहुत सारी ऐसी गतिविधियों का उपयोग करते हैं जिन्हें बदलना और आलोकित करना होता है और फिर प्रकृति की अभ्यासगत गतिविधियों में डटे रहने और प्रतिरोध करने की बड़ी आदत होती है। इसलिये तुम आसानी से समझ बैठते हो कि तुमने कोई प्रगति नहीं की—लेकिन शुद्धि के सभी सच्चे और अखंड प्रयासों का परिणाम आता है और एक समय के बाद की गयी प्रगति स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है।

*

योग में कुछ प्राणिक गतियों का तीव्र होना एक जानी-मानी घटना है और इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हारा पतन हो गया है। इसका मतलब यही है कि पार्थिव प्राणिक प्रकृति की आधारभूत वृत्तियों के साथ केवल साहब सलामत का संबंध होने की जगह अब तुम उनके साथ भिड़ंत में आ गये हो... ये चीजें इस कारण इस तरह उठती हैं क्योंकि ये अपने जीवन के लिये लड़ रही हैं—वे वास्तव में तुम्हारे लिये व्यक्तिगत नहीं हैं और उनके आक्रमण की तीव्रता तुम्हारी प्रकृति की किसी "बुराई" के कारण नहीं है। मैं कह सकता हूं कि दस में से सात साधकों को इस तरह का अनुभव होता है। बाद में जब वे अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकतीं—यानी साधक को साधना-पथ से हटा नहीं सकतीं तो सारी चीज डूब जाती है और कोई तीव्र कठिनाई नहीं रहती।

*

वस्तुतः ये सभी अज्ञानमय प्राणिक गतिविधियां बाहर से अज्ञानमय वैश्व प्रकृति में आरंभ होती हैं। मनुष्य अपनी सत्ता के ऊपरी भागों में—मानसिक, प्राणिक और भौतिक में—बाहर की इन लहरों को एक उत्तर देने की आदत डाल लेता है। वह इन्हीं उत्तरों को (क्रोध, कामना और काम-वासना इत्यादि) अपने स्वभाव के रूप में मान लेता है और सोचता है कि अन्य तरह से हो ही नहीं सकता। लेकिन बात ऐसी नहीं है, वह बदल सकता है। उसके अंदर गहराई में एक और चेतना है जो उसकी सच्ची आंतरिक सत्ता है, जो उसकी सच्ची आत्मा है लेकिन जिसे सतही प्रकृति ढके रहती है। साधारण आदमी इसे नहीं जानता लेकिन साधना में प्रगति करते-करते योगी इसके बारे में अभिज्ञ हो जाता है। जैसे-जैसे साधना द्वारा इस आंतरिक सत्ता की चेतना बढ़ती जाती है वैसे-वैसे सतही प्रकृति और उसके प्रत्युत्तर को बाहर हांक दिया जाता है और उससे पूरी तरह पिंड छुड़ाया जा सकता है। लेकिन अज्ञानमय वैश्व प्रकृति

छोड़ना नहीं चाहती और पुरानी गतिविधियों को साधक पर फेंकती है और फिर से उन्हें अंदर घुसाने की कोशिश करती है। आदत के कारण बाहरी प्रकृति पुराने उत्तर देती है। अगर तुम्हें यह पक्का ज्ञान मिल जाये कि ये चीजें बाहरी हैं और तुम्हारा सच्चा भाग नहीं हैं तो साधक के लिये ऐसे लौटने को धकिया देना ज्यादा आसान होता है और अगर वे पकड़ भी लें तो भी उन्हें जल्दी दूर किया जा सकता है।

*

प्राण में उत्पात तबतक आते रहेंगे जबतक पूर्ण शांति का वहां अवतरण न हो जाये। लेकिन मन में दृढ़ निश्चय के साथ, जिसे हमेशा सामने रखा जाये, उत्पातों की तीव्रता लुप्त हो सकती है और रास्ता छोटा हो जाता है।

*

अगर तुम्हें शांति मिल जाये तो प्राण को शुद्ध करना ज्यादा आसान हो जाता है। अगर तुम सफाई करो, केवल सफाई ही करते रहो तो तुम धीरे-धीरे बढ़ोगे क्योंकि प्राण फिर से गंदा हो जाता है और उसे सैंकड़ों बार साफ करने की जरूरत पड़ती है। शांति अपने-आपमें शुद्ध वस्तु है इसलिये उसे प्राप्त करना अपने उद्देश्य को पाने का निश्चित मार्ग है। केवल गंदगी को देखना और उसे साफ करते रहना एक नकारात्मक तरीका है।

—श्रीअरविंद

सावित्री

(जब यमराज भी झुक गये)

मद्र के राजा अश्वपति बूढ़े हो चले थे। अभीतक उनके कोई संतान न थी। रानी ने मिन्नतें मांगीं, राजा ने दानादि दिये। व्रत-उपवास और ब्राह्मणों के आशीर्वाद जब अंततक विफल ही रहे, तो राजा ने घोर तपस्या का संकल्प किया। मां भवानी की आराधना में वे तल्लीन हो गये। कल्याणमयी, भुवनमोहिनी की उपासना करते दिन, सप्ताह और महीने बीतने लगे। वर्ष भी बीतने को आये। राजा की अभीप्सा और भी बढ़ती जाती थी, उनकी भक्ति दृढ़तर होती जाती थी, चित्त निर्मल होता जाता था। पृथ्वी की भक्ति मानों उनमें मूर्तिमान हो गयी थी, वे अब व्यक्तिगत कामना की सिद्धि के लिये तपस्यारत न दीखते थे। उनका स्वरूप सार्वजनीन हो उठा था। समग्र पृथ्वी की साधना उनमें साकार हो गयी थी।

जब से मनुष्य पृथ्वी पर पैदा हुआ है और जब से भाग्य का दुर्वह बोझ उठा वह काल-पथ पर धीरे-धीरे बढ़ रहा है, तब से आजतक क्षणभर के लिये भी उसका यह बोझ हल्का नहीं हुआ। परंतु तपस्या की महिमा से मंडित नृपति आज मात्र राजा न दीखते थे; उनके पार्थिव शरीर में देवलोक की कांति थी और नेत्रों में थी आकाशचारी नक्षत्रों की ज्योति। ऋषि उन्हें देखकर चकित थे और साधारण जन नत-मस्तक। उनके चेहरे पर शांति की निर्मल छटा थी। कोई भी उन्हें देख यह सहज ही जान लेता था कि राजा की अब कोई कामना शेष न थी। तब क्या राजा व्यक्तिगत कामना को लांघ आज विश्व के किसी दिव्य विधान की सिद्धि ढूंढ़ रहे थे। हवा मानों बोल उठी :

मात्र मुक्ति उस एक पुरुष की उसे नहीं भाती है,
जिसके उर में दह्यमान वसुधा छाया पाती है,
जगती के उच्छ्वासों की मैं उर में शिखा जलाये,
मांग रहा जो मिली मुक्ति उसको वह भी पा जाये।

अंतर की आंखों से राजा ने देखा, एक महाशून्य में सारी सृष्टि विलीन हो रही थी, अंत में कुछ भी न बचा। परंतु व्यापक शांति की उस गोपन अवस्था से एक महान् शक्ति का सृजन-कौशल मूर्त्तिमंत हुआ। उस शक्ति के संकल्प का एक छोर था सृष्टि का यह महान् समारोह और दूसरा छोर था अनंत शांति का वह अरूप-अपरूप-खेल जिसमें कुछ भी न था।

अंत में उस रहस्यपूर्ण, विरामपूर्ण शांति को भेद उस राजर्षि की अभीप्सा ऊर्ध्वगामी हुई उन अनुभूतियों की ओर जो आजतक किसी मरणधर्मा को नसीब न हुई थीं। दिव्य तत्त्व की अकल्पनीय ऊंचाइयों से एक विचित्र ध्वनि आयी, राजा का रोम-रोम झंकृत हो उठा उससे : "ऐ वीर अग्रणी, तेरी प्रार्थना सुन ली गयी है। एक शक्ति पृथ्वी पर आविर्भूत होगी और लौह अनुशासन को भंग कर देगी; वह विश्व-प्रकृति के सर्वग्रासी दुर्भाग्य को पलट देगी आत्म-चैतन्य के ऊर्जस्वी प्रताप से।"

राजा अपनी राजधानी लौट आये। कुछ समय बाद रानी गर्भवती हुई और आनंद और तेज से उसका मुखमंडल उद्‌भासित हो उठा। समय आने पर रानी के पुत्री हुई। उल्लास से सारा नगर भर गया।

राजपुत्री का नाम सावित्री रखा गया। सावित्री का मतलब ही होता है प्रकाश की देवी। सचमुच वह थी भी पूंजीभूत तेज की शिखा। वह बढ़ने लगी और निखरने लगा साथ-साथ उसका तेजोमय रूप। उसे विद्याएं सिखलायी गयीं, कलाओं की शिक्षा-दीक्षा दी गयी। सावित्री निर्बन्ध भाव से ऋषियों के आश्रम में आया-जाया करती थी।

रूपवती, गुणवती राजपुत्री अपने शील-स्वभाव में अद्वितीय थी। राजा को अब यह चिंता सताने लगी—सावित्री का विवाह तो किसी अनुरूप वर से ही होना चाहिये। परंतु उसके जैसा शील-गुण, उसके जैसा रूप ! कहां होगा वह राजकुमारों का रत्न जिसका परिणय इस देवकन्या के साथ हो ! चारों ओर दूत भेजे गये, परंतु न मिला वैसा कोई राजकुमार।

अंत में वयोवृद्ध लोगों ने सलाह दी, सावित्री स्वयं रथ में बैठकर जाये अपना साथी ढूंढ़ने। उन्हें विश्वास था साधारण लोग जीवन के जिस मर्म को छू नहीं पाते, सावित्री उन्हें जानती है और उसकी आंखों में वह शक्ति है जो दैवनिर्दिष्ट व्यक्ति को ढूंढ निकालेगी।

सावित्री चली राजमार्गों से होती, बीहड़ वन-पथ पार करती। अंत में उसने देखा तपोवन का एक कुमार। मुनिकुमार का वेश था उसका, और राजपुत्र का तेज ! ब्राह्म तेज के साथ-साथ क्षात्र दर्प का अद्‌भुत मेल था उसके व्यक्तित्व में। सावित्री ने अपने संगी को पहचान लिया और वह भी सावित्री को देखकर भर गया एक निसर्ग-मोहक संवेदना से।

कुमार सचमुच कोई मुनिकुमार न था, वह तो शल्व देश के राजा द्युमतसेन का पुत्र था जो भाग्यचक्र के अशुभ विधान में पड़ा अपने देश से दूर, जंगलों में दिन बिता रहा था। उसके पिता अंधे हो चुके थे और दुश्मनों ने उनसे राज छीन लिया था। अपने मां-बाप का अकेला पुत्र जंगलों में उनके बुढ़ापे की लाठी था।

एक बार देवर्षि नारद वीणा बजाते राजा अश्वपति के दरबार में आ पहुंचे। देवर्षि को आया देख राजा अत्यंत प्रसन्न हुए। उचित सत्कार के बाद राजा और रानी ने उन्हें सावित्री की बातें सुनायीं। सावित्री ने उन्हें प्रणाम किया। ऋषि रूप और गुणों की खान सावित्री को जानते थे। जानते थे वह एक

असाधारण शक्ति है जो किसी दिव्य विधान की पूर्ति के लिये जगत् में आयी है। परंतु ऋषि ने इस गोपन रहस्य को प्रकट न होने दिया। अंत में राजा ने सावित्री के होनेवाले पति सत्यवान् की चर्चा की। ऋषि चुप हो गये। पूछने पर उन्होंने केवल इतना ही कहा, "सावित्री के लिये उचित है कि वह अपना निर्णय बदल दे।"

रानी चिंतित हो उठीं। उन्होंने नारद से पूछा, "देवर्षि, क्या सत्यवान् प्रतिभा से हीन तो नहीं?"

"नहीं देवी," नारद ने सिर हिलाते हुए कहा, "वह तो सूर्य के समान तेजस्वी और बृहस्पति के समान ही बुद्धिमान् है।"

"तब क्या वह निर्बल चित्त का व्यक्ति है?"

"देवी, उसकी संकल्प-दृढ़ता तो देवराज इंद्र के लिये स्पृहणीय होगी।"

"तब क्या सावित्री के प्रति उसका व्यवहार निष्कलुष न होगा?"

"देवी, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वयं उमा और महेश के समान ही इन दोनों का प्रेम निर्मल समझा जाना चाहिये।"

"तब हे देवर्षि, अपनी पहेली की भाषा को छोड़, असली अड़चन की बात सुना दें," राजा ने हैरानी से कहा।

नारद क्षणभर चुप रहे। फिर वे भाग्यविधान के दारुण निर्घोष के समान ही बोले, "राजन्, दिव्य गुणों से युक्त होते हुए भी सत्यवान् एक दृष्टि से स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता। वह अत्यंत अल्पायु है। और आज के ठीक एक साल बाद उसकी मृत्यु हो जायेगी।"

रानी दुःख से विह्वल हो गयी, राजा विपन्न। सावित्री से रानी ने अपना संकल्प बदल देने का अनुनय किया। परंतु सावित्री अटल थी शैलपुत्री की तरह।

ऋषि जाने को उद्यत हुए और जाते-जाते उन्होंने दुःखकातर दंपति से कहा: "सावित्री का संकल्प अडिग है और आप लोग उसके तथा उसके भाग्य के बीच आने की कोशिश न करें।"

विवाह की तैयारियां होने लगीं। शुभ मुहूर्त में सावित्री-सत्यवान् का विवाह संपन्न हो गया। एक-एक कर दिन बीतते गये, फिर दिन जाते देर भी कितनी लगती है! सावित्री मानों सांस रोककर अपने को भाग्य-परीक्षा के लिये तैयार कर रही थी। अंत में वह प्रभात आया। सूर्य की छिटकती अरुणाई के साथ ही सावित्री ने अपने को तैयार कर लिया दैव-विधान के ऐसे मुकाबले के लिये जिसकी कोई मर्त्य कल्पना तक नहीं कर सकता।

सत्यवान् लकड़ी लाने के लिये वन जाने को उद्यत हुआ। परंतु आज उसके साथ सावित्री भी जायेगी। सत्यवान् ने समझाया परंतु वह कब माननेवाली थी। सास-ससुर तो जानते ही थे कि सावित्री एक असाधारण ललना है। दूर चलकर सत्यवान् ने एक सूखे वृक्ष से लकड़ी लेने की तैयारी की। कुल्हाड़ी से वह प्रहार करने लगा। पास ही खड़ी सावित्री आशंका से अभिभूत उसे देखने लगी। कहीं कुल्हाड़ी छिटक न जाये! कहीं आसपास से कोई विषधर न प्रकट हो जाये! परंतु उसकी इस मनोदशा का कौन साझीदार हो सकता था।

इसी समय सत्यवान् ने जोर से सांस ली। फिर उसका प्रहार धीमा पड़ने लगा, वह बोला, सिर में अत्यंत वेदना हो रही है।

सावित्री का प्रेम साकार हो मानों सत्यवान् के चारों ओर घिर गया। वह समीप चली आयी और उसे संभाल, छाया में ला उसके सिर को अपनी गोद में रख सहलाने लगी। सत्यवान् की वेदना तेजी से बढ़ रही थी और अब धीरे-धीरे चेतनाशून्य होते हुए बोला; "एक महान् अंधकार में मैं विलीन हो रहा हूं। क्या विदा का क्षण तो नहीं आ गया?"

सावित्री ने सहलाते हुए उसे धीरज देने की चेष्टा की। इसी समय सामने एक काली छाया प्रकट हुई। सावित्री ने देखा उसमें से काल के दूत निकले। परंतु सावित्री ने अपने दिव्य प्रभाव से सत्यवान् के चारों ओर एक अग्निमय घेरा डाल रखा था। यमदूत इसमें पैठ न सके और इस अप्रत्याशित विधान की खबर देने यमराज के पास लौट गये। शीघ्र ही सावित्री ने फिर देखी वही काली छाया। इस बार महिष-वाहन कृतांत स्वयं प्रकट हुए। उन्होंने सावित्री से कहा : "देवी, संसार अनित्य है, कोई भी यहां अपने निर्दिष्ट काल से क्षण भर के लिये भी अधिक नहीं जी सकता। अतः, सत्यवान् का मोह छोड़ अपने सास-ससुर की सेवा के लिये लौट जाओ।"

परंतु सावित्री अटल रही। बोली : "धर्मराज, सती नारी की एकमात्र गति उसका पति है। सत्यवान् के बिना मैं कैसे जी सकती हूं ?"

"परंतु," धर्मराज ने कहा, "सत्यवान् के दिन पूरे हो चुके हैं, तुम्हारे नहीं।" इतना कहकर कृतांत ने अपना यमपाश सत्यवान् पर फेंका और उसकी आत्मा को लेकर वहां से चल पड़े। सावित्री ने भी एक अद्‌भुत संकल्प और प्रयास दिखलाया।

यमराज ने देखा, असाधारण नारी की दिव्य छाया उनके पीछे-पीछे चली आ रही है। उन्होंने सावित्री को संबोधित करते हुए कहा : "देवी, भाग्य के विधान को कैसे पलटा जा सकता है ? तू सत्यवान् को छोड़ मुझसे कोई इच्छित वर मांग ले और लौट जा अपने घर। यह पथ जीवित प्राणियों का नहीं। देखती नहीं, मृत्यु की यह व्यापक सुनसान छाया ? इस पथ पर तो केवल वे ही चलते हैं जिनका पार्थिव शरीर सदा के लिये उनसे छूट गया हो।"

सावित्री ने कहा, "देव, यदि आप सचमुच मुझे वर देना चाहते हैं तो ऐसी कृपा कीजिये कि मेरे वृद्ध श्वसुर की आंखों में फिर से ज्योति आ जाये और उनके शत्रु पराजित हो जायें और उनका राज्य उन्हें फिर से वापस मिल जाये।"

"एवमस्तु, बेटी ऐसा ही होगा, अब तू लौट जा, यहां से आगे का पथ अत्यंत विकराल है।"

सचमुच पथ वहां से और भी भयंकर हो गया था। परंतु ज्यों-ज्यों पथ की भयंकरता बढ़ती जाती थी सावित्री का दिव्य स्वरूप त्यों-त्यों अधिकाधिक उसका सामना करने के लिये ऊर्जस्वित होता जाता था।

यमराज ने देखा, उस दिव्य रमणी की सतेज छाया कालपथ की मारक कठिनाइयों को झेलती आगे बढ़ती ही आ रही है। क्षण भर के लिये उनका हृदय द्रवित हो गया, फिर वे सहज आवाज में बोले : "हठ छोड़ दे बेटी, अपना चाहा एक वर तू और मांग ले, परंतु सत्यवान् को छोड़कर ही तू कुछ मांग सकती है।"

"धर्मराज, आप हमारे पिता को योग्य पुत्र दें जो उनके राज्य का योग्य अधिकारी हो सके।"

"ऐसा ही होगा, अब तू लौट जा," धर्मराज ने कहा।

परंतु सावित्री ने पीछा न छोड़ा। यमराज को आश्चर्य हो रहा था। सचमुच कैसा तेज है इस अद्‌भुत रमणी का जो मृत्यु की सब कुछ मिटा देनेवाली कंदरा में भी निर्भय पाद-संचार करती आगे बढ़ी आ रही है ! वे विगलित हो उठे करुणा से। उन्होंने सावित्री की ओर देखकर एक बार फिर प्रयास किया : "तू अपना अत्यंत प्रिय कोई वर मांग ले सावित्री, और लौट जा इस संहार की दुनिया से।"

सावित्री ने देखा, यमराज ने इस बार कोई अपवाद न किया था और वह अवसर से लाभ उठाती हुई झट बोल पड़ी : "देव, मेरे सौ प्रतापशाली पुत्र हों और उनके चरित्र का उज्ज्वल आदर्श लोगों के लिये अत्यंत प्रिय हो।"

"एवमस्तु," यमराज ने कहा।

सावित्री को फिर आते देख यमराज ने पूछा, "अब तू लौटती क्यों नहीं ?"

सावित्री ने सहज विनम्रता से कहा, "धर्मराज, आपने मुझे सौ पुत्रों का वरदान दिया है, परंतु सती नारी क्या अपने पति को छोड़ दूसरे पुरुष के संग की कल्पना भी कर सकती है ?"

यमराज मुस्करा उठे। उन्होंने सत्यवान् की बद्धपाश प्राण-शिखा को मुक्त करते हुए कहा : "संसार में तुम्हारी यह दिव्य प्रेम-गाथा अमिट रहेगी।

सावित्री लौट आयी और जैसे गाढ़ी नींद से जग पड़ा थका-मांदा सत्यवान्। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। फिर सत्यवान् को याद आयी मृत्यु-निद्रा में सोने से पहले की वह मरणांतक वेदना। उसे यह समझते देर न लगी कि आज सावित्री ने इतने आग्रह से वन में उसका पीछा क्यों किया था।

देर हो रही थी, सदल-बल राजा द्युमत्सेन चले आ रहे थे अपने प्रिय पुत्र को ढूंढ़ने। सत्यवान् ने उन्हें देखा। सभी आश्चर्यचकित थे। एक सावित्री मौन थी। सबके कुतूहल का समाधान करते हुए सत्यवान् ने सावित्री की ओर इशारा किया : "सबके मूल में है इसकी दिव्य तपस्या।"

उस नारी रत्न के प्रति सब की श्रद्धापूर्ण आंखें उठ गयीं।

—छोटेनारायण शर्मा

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

नवसृजन

हम पिछले लेखों में इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति विदेशी आक्रमणों के जूए तले बहुत अधिक प्रभावित हुई और निरंतर हो भी रही है। यद्यपि भारतीय सभ्यता लुप्त कभी नहीं हो सकती फिर भी इसपर विदेशी प्रभावों का जो पर्दा आ गया है और जिसके कारण इसका सच्चा रूप दिखायी नहीं दे रहा है उस पर्दे को हटाना ही होगा और इसके लिये इसके पुनरुत्थान पर विचार करने की आवश्यकता है। इस सिलसिले में कहा जा सकता है कि भारत को धूमिल न होने देने के लिये इसके सभी क्षेत्रों में शक्तिशाली नूतन निर्माण करना ही हमारी पहली महान् आवश्यकता है अन्यथा उसपर विदेशी प्रभावों की परत पर परत चढ़ती चली जाने का सदैव भय बना रहेगा, भारत को आज आधुनिक जीवन और चिंतन की विशाल बाढ़ का सामना करना पड़ रहा है, उसपर एक अन्य शक्तिशाली सभ्यता का आक्रमण हो रहा है और वह भी ऐसी सभ्यता का जो प्रायः उससे उल्टी है या कम-से-कम उसके लक्ष्य इसके साथ मेल नहीं खाते और यह भिन्न भावना से ही प्रेरित है। इस बाढ़ का सामना तो उसे करना ही होगा, लेकिन कैसे ? इस हालत में वह तभी जीवित रह सकता है जब वह इस नये, अपरिपक्व, आक्रमणशील तथा शक्तिशाली जगत् का सामना अपनी अंतरात्मा के उन दिव्यतर सृजनों के द्वारा करे जो उसके अपने आध्यात्मिक आदर्शों के सांचे में ढले हुए हों। उसे इसका सामना अपने ही तरीके से, अपने गभीरतम तथा विशालतम ज्ञान के द्वारा ही करना होगा—और इस हल की वह उपेक्षा नहीं कर सकता अन्यथा यह बाढ़ उसको न जाने कहां का कहां बहा ले जाये।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि पश्चिम के ज्ञान, उसकी क्षमताओं, उसके विचारों में से जो कुछ भी भारत के लिये आत्मसात् करने योग्य है, उसकी मूल भावना के साथ संगत है, उसके आदर्शों के साथ मेल खा सकता है, जीवन के नये विवरण के लिये मूल्यवान् है उन सबको इसे ग्रहण करके आत्मसात् कर लेना चाहिये। बाहर से पड़नेवाले प्रभाव और अंदर से करने योग्य नवसृजन का यह प्रश्न

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सबसे पहले तो हमें यह समझना होगा कि ग्रहण करने से हमारा क्या मतलब है और आत्मसात् करने का वास्तविक परिणाम क्या होगा; क्योंकि इसका प्रभाव भविष्य पर पड़ेगा और उसके लिये हमें दूरदर्शिता से काम लेना होगा।

इसके साथ-साथ एक दूसरी मान्यता भी संगत प्रतीत होती है कि यद्यपि नवसृजन हमारे जीवन और हमारी मुक्ति का एकमात्र उपाय है फिर भी हमें पश्चिम की किसी चीज को ग्रहण या आत्मसात् करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि हमें जिन चीजों की जरूरत है वे सब हमें अपने अंदर ही मिल सकती हैं; कोई भी मूल्यवान् वस्तु अपने अंदर छेद किये बिना ग्रहण नहीं की जा सकती और फिर वह छेद तो पाश्चात्य बाढ़ की बाकी सभी चीजों को भी अंदर बहा ले आयेगा। अतः यह कहीं अधिक अच्छा है कि नवसृजन राष्ट्र की भावना तथा उसकी प्रणाली के अनुसार उसके अंदर से ही जगे। अपने-आपको, अर्थात् अपने विशेष स्वभाव और सामर्थ्य को मिटाकर नहीं बल्कि उसका अनुसरण करके तथा उसकी स्वतंत्रता तथा क्रिया की उच्चतम संभावनाओं तक उसे ऊपर उठाकर ही हम जीवंत एकतातक पहुंच सकते हैं। अतः इस मान्यता के अनुसार हमें समाधान बाहर से नहीं बल्कि अपने अंदर ही ढूंढ़ना है। बाहर से आत्मसात् करने की यह बात कि बुरी चीज को छोड़कर अच्छी को रख लिया जाये, सुनने में बहुत अच्छी लगती है, लेकिन यह भला और बुरा इस तरह अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यह तो एक ही सत्ता का ऐसा मिश्रित विकास है कि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना संभव नहीं। ये किसी बच्चे के खिलौने के मकान के अलग-अलग टुकड़े नहीं हैं जो पास-पास रखे हुए हैं और जिन्हें आसानी से अलग किया जा सकता है—और फिर भला टुकड़े-टुकड़े में किसी तत्त्व को ले लेने और बाकी को छोड़ देने का क्या अर्थ है ? अगर हम किसी पश्चिमी आदर्श को ग्रहण करते हैं तो हम उसे ऐसे जीवंत लेकिन बाहरी आचार की तरह लेते हैं जो हमें प्रभावित करता है, हम पश्चिम के उस बाह्य आचार की नकल करने लगते हैं, उसकी भावना के रंग में रंग जाते हैं और उसके वश में होने लगते हैं और इस तरह उस आचार के अच्छे और बुरे प्रभाव जो एक ही साथ गुंथे हुए हैं, हम पर बुरी तरह से टूट पड़ते हैं। सच पूछा जाये तो लंबे समय से हम पश्चिम का ऐसा ही अनुकरण करते आ रहे हैं, उसके जैसा या कुछ-कुछ उसके जैसा बनने का प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन सौभाग्यवश हम इसमें कभी पूरे सफल नहीं हुए, इसमें सफल होने का अर्थ होता एक कृत्रिम या दो प्रकृतियोंवाली रचना करना लेकिन इन दोनों में से कोई भी प्रकृति न तो स्वस्थ होती है और न ही सत्य को चरितार्थ करनेवाली।

अतः, बाहर से उधार लेकर नहीं बल्कि अंदर से अपने स्वरूप को पूरी तरह से पुनः प्राप्त कर लेना ही हमारी मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

—वंदना

— — — —

एक व्यक्ति ने कहा : "जब मेरा बेटा, हरीश, बड़ा हो जायेगा तब उसका ब्याह करके, घर-द्वार उसे सौंपकर मैं संसार का त्याग करूंगा, और योगाभ्यास शुरू करूंगा।" यह सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया : "तुम्हें योग करने के लिये कभी मौका नहीं मिलेगा। बाद में तुम कहोगे : 'हरीश और गिरीश दोनों को मुझसे बहुत आसक्ति है। अभी वे मेरा साथ छोड़ना नहीं चाहते।' उसके बाद तुम फिर चाहोगे कि 'हरीश का एक बेटा हो जाये और उसका भी ब्याह हो जाय।' इस तरह तुम्हारी इच्छाओं का कहीं अंत ही न होगा।"

'कुछ माताजी के बारे में' :

दिव्य प्रेम

क्या हमारी प्राणमय सत्ता को दिव्य प्रेम के आविर्भाव में भाग लेना है? यदि हां, तो इसके सहयोग का उचित और ठीक रूप क्या है?

क्या भागवत प्रेम की अभिव्यक्ति का कहीं रुक जाना अभीष्ट है? क्या उसे किन्हीं अमूर्त्त या अपार्थिव क्षेत्रों तक ही सीमित रहना होगा? भागवत प्रेम पृथ्वी पर अपनी अभिव्यक्ति को अत्यंत जड़प्राकृतिक पदार्थतक में प्रवाहित करता है। यह ठीक है कि मानव चेतना के स्वार्थमय विकारों में उसका पता नहीं चलता; किंतु अपने-आपमें प्राण-तत्त्व दिव्य प्रेम के लिये वैसा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जैसा कि समग्र अभिव्यक्त जगत् के लिये। प्राण के माध्यम के बिना गति और प्रगति की कोई संभावना नहीं रहती; किंतु प्रकृति की यह 'शक्ति' इतनी बुरी तरह से विकृत की जा चुकी है कि कुछ लोग यह मानना पसंद करते हैं कि इसे जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिये। परंतु आत्मा की रूपांतर करनेवाली शक्ति प्राण के द्वारा ही जड़-प्रकृति का स्पर्श करती है। यदि प्राण अपनी गतिशीलता और जीवंत शक्ति को जड़ प्रकृति में संचारित करने के लिये न हो तो जड़ प्रकृति मुर्दा बनी रहेगी, क्योंकि सत्ता के उच्चतर भाग पृथ्वी के साथ संबंध स्थापित न कर पायेंगे, वे जीवन में मूर्त्त रूप न ले सकेंगे, और असंतुष्ट लौटकर अंतर्द्धान हो जायेंगे।

जिस भागवत प्रेम के संबंध में मैं कह रही हूं वह ऐसा प्रेम है जो यहां इस भौतिक पृथ्वी पर, जड़-प्रकृति में अभिव्यक्त हो रहा है, किंतु यदि उसे अवतरित होना है तो उसे मानव विकृतियों से सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। अन्य सभी अभिव्यक्तियों की तरह इसके लिये भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परंतु जैसा कि हमेशा हुआ है, इस अमूल्य वस्तु पर विरोधी शक्तियों ने अपना अधिकार जमा लिया है। प्राण की शक्ति ही इस मंद और संवेदनशून्य जड़-प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे संवेदनक्षम तथा सजीव बनाती है। परंतु विरोधी शक्तियों ने इसे विकृत कर दिया है; उन्होंने इसे हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकार के भद्देपन का क्षेत्र बना दिया है, इसे भागवत कर्म में भाग लेने से रोक दिया है। बस, करने लायक काम यही है कि हम इसे रूपांतरित करें, इसकी गति का निग्रह अथवा नाश न करें, इसके बिना कहीं तीव्रता संभव नहीं है। हमारे अंदर प्राण ही वह चीज है जो स्वभाव से ही अपने-आपको दे सकता है। प्राण ही वह तत्त्व है जिसमें हमेशा किसी चीज को लेने का आवेग तथा बल रहता है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको संपूर्ण रूप से उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है; चूंकि वह अधिकार जमाना जानता है, इसलिये वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दिया जाये। प्राण की सत्य गति अन्य सभी गतियों से अधिक सुंदर और अत्यंत उत्कृष्ट है किंतु इसे तोड़-मरोड़ कर अत्यंत भद्दा, अत्यंत विरूप और अत्यंत घृणास्पद बना दिया गया है। प्रेम-संबंधी मानव कथाओं में जहां कहीं शुद्ध प्रेम का अणुमात्र भी प्रवेश हो पाया है और उसे बहुत अधिक विकार के बिना अभिव्यक्त होने दिया है, वहीं हमें एक सत्य और सुंदर वस्तु दीख पड़ती है। और यदि यह गति अधिक देरतक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोज से सचेतन नहीं है; इसे यह ज्ञान नहीं है कि इसकी खोज का विषय एक जीव की दूसरे जीव के साथ एकता नहीं, बल्कि समस्त जीवों की भगवान् के साथ एकता है।

प्रेम एक परम शक्ति है जिसे 'शाश्वत चेतना' ने अपने-आपमें से निकाल कर धुंधले और अंधकारग्रस्त जगत् में नीचे भेजा है, ताकि वह इस जगत् को और इसके जीवों को भगवान् के पास

लौटा लाये। अज्ञान और अंधकार में डूबा हुआ जड़प्राकृतिक जगत् भगवान् को भूल चुका था। प्रेम उस अंधकार में आया; जो सोये पड़े थे उन्हें जगाया; जो कान बंद थे उन्हें खोलकर उनमें यह संदेश फूंका : "एक वस्तु है जो इस योग्य है कि उसके लिये जागा जाये और उसके लिये जिया जाये, और वह है प्रेम !" और प्रेम के प्रति इस जाग्रति के साथ-साथ भगवान् के पास लौट चलने की संभावना भी इस जगत् में प्रविष्ट हुई। प्रेम के द्वारा सृष्टि भगवान् की ओर उठती है और प्रत्युत्तर में भागवत प्रेम और भागवत कृपा सृष्टि से मिलने के लिये नीचे की ओर झुकते हैं। जबतक यह आदान-प्रदान न हो, परमात्मा और पृथ्वी का यह पारस्परिक मिलन न हो, भगवान् की ओर से सृष्टि के प्रति और सृष्टि की ओर से भगवान् के प्रति प्रेम की यह गति न हो तबतक प्रेम अपने शुद्ध सौंदर्य में नहीं रह सकता, अपनी नैसर्गिक शक्ति का और अपनी पूर्णता के प्रगाढ़ आनंद का संचार नहीं कर सकता। यह संसार मृत जड़ प्रकृति का जगत् था। फिर इसमें प्रेम का अवतरण हुआ जिसने इसे जीवन के प्रति जगा दिया। तभी से यह जगत् जीवन के इस दिव्य आदि-स्रोत की खोज में लगा है, किंतु अपनी इस खोज में इसने हर प्रकार के गलत मोड़ लिये हैं, बारंबार उल्टे रास्तों पर पड़ता और अंधेरे में इधर-से-उधर भटकता रहा है। यह समूची सृष्टि किसी अज्ञात को खोजनेवाले एक अंधे की तरह अपने मार्ग पर चली है, इसमें खोज तो है, पर वह यह नहीं जानती कि वह क्या खोज रही है। इसने जो अधिक-से-अधिक प्राप्त किया है, जो मानव प्राणियों को प्रेम का उच्चतम स्वरूप दिखायी देता है, जो उनकी समझ में शुद्धतम और निःस्वार्थतम प्रकार का प्रेम है, वह है माता का अपने बच्चे के प्रति प्रेम। प्रेम की यह मानव गति अबतक जो पा सकी है उससे इतर किसी वस्तु को गुप्त रूप से ढूंढ़ रही है; किंतु उसे नहीं मालूम कि वह वस्तु कहां मिलेगी, वह यह भी नहीं जानती कि वह है क्या। ज्यों ही मनुष्य की चेतना दिव्य प्रेम के प्रति जाग्रत् होती है, उस प्रेम के प्रति जो शुद्ध है, जो मानव रूपों में हुई सभी अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र है, त्यों ही वह उसे जान जाती है जिसके लिये वास्तव में उसका हृदय इतने समय से तरस रहा था। यही है आत्मा की अभीप्सा का आरंभ, जिसके फल-स्वरूप चेतना में जाग्रति आती है और भगवान् के साथ एकता के लिये उत्कंठा उत्पन्न होती है। इसके साथ ही अज्ञान से उत्पन्न रूप और उसके लादे हुए विकार मुरझाकर लुप्त हो जाते हैं और इन सबके स्थान पर सृष्टि की एक ही प्रकार की गति होती है जो भागवत प्रेम की पुकार का उत्तर भगवान् के प्रति अपने प्रेम द्वारा देती है। ज्यों ही सृष्टि भागवत प्रेम के लिये उन्मुख, सचेतन और जाग्रत् होती है त्यों ही भागवत प्रेम सृष्टि में फिर से अपनी असीम वर्षा करने लगता है। गतिचक्र अंतर्मुख हो जाता है और इसके दोनों छोर आपस में मिल जाते हैं, चरम तत्त्व, अर्थात् परम आत्मा और विकासोन्मुख जड़ प्रकृति एक हो जाते हैं तथा इनका दिव्य मिलन पूर्ण और स्थायी हो जाता है।

दिव्य प्रेम की परम पवित्रता और शक्ति के कुछ अंश को यहां उतार लाने के लिये महान् आत्माओं ने इस संसार में जन्म लिया है। इस संसार में अपनी सिद्धि को एक ही साथ सहजतर और पूर्णतर करने के लिये भागवत प्रेम ने इन लोगों के द्वारा अपने-आपको व्यक्तिगत रूप में प्रकट किया है। भागवत प्रेम जब किसी शरीरधारी व्यक्ति में प्रकट होता है तो उसे अनुभव करना अधिक सुगम होता है; किंतु इसकी अप्रकट या निर्वैयक्तिक गति को अनुभव करना अधिक कठिन होता है। जो मनुष्य इस व्यक्तिगत स्पर्श के कारण, इस व्यक्तिगत प्रगाढ़ता के साथ भागवत प्रेम की चेतना की ओर जाग्रत् होगा वह अनुभव करेगा कि उसका कार्य और उसका रूपांतर अधिक सुगम बन गया है; जिस ऐक्य को वह खोज रहा है वह उसके लिये अधिक स्वाभाविक और अधिक निकट हो जाता है। और यह ऐक्य, यह आत्म-साक्षात्कार उसके लिये पूर्णतर और सिद्धतर हो जायेगा; क्योंकि उसमें एक विराट् तथा निर्वैयक्तिक प्रेम की विशाल एकरूपता प्रकाशमान हो जायेगी और वह भगवान् से जितने प्रकार के संबंध संभव हैं उन सबके रूप-रंगों से अनुप्राणित और प्रकाशित हो जायेगी।

चेतना तथा अतिमानस

१३-७-१९२६

शिष्य—क्या हम कह सकते हैं कि अतिमानसिक शक्ति भी हमारी अपनी होती है। जैसे हम 'मेरा मन' कहते हैं उसी तरह 'मेरा अतिमानस' भी कह सकते हैं क्या ?

श्रीअरविंद—'तुम्हारा मन' क्या है ? यह किसी विशेष प्रयोजन के लिये वैश्व मन का एक संगठन मात्र है। जबतक तुम अज्ञान में हो तुम 'मैं' 'मैं' और 'मेरा' 'मेरा' करते रहते हो और तुम्हें इससे अधिक और किसी चीज में रस नहीं आता। लेकिन अतिमानस में पहुंचने पर तुम्हें पता लगता है कि यह सब मिथ्या है। तब तुम अपनी आत्मा को पहचानते हो, जीव अपने-आपको जानता है और प्रकृति के ढांचे को भी देखता है। तुम ऊपर की उच्चतर शक्ति को भी देख पाते हो अतः वही भूल नहीं दोहराते जो मन करता है। जब योगी 'मेरी शक्ति' या 'मेरा काम' कहता है तो यह केवल बोलने की सुविधा के लिये। वह सारे समय उस दिव्य शक्ति के बारे में सचेतन रहता है जो उसके द्वारा काम करती है; 'मेरे द्वारा काम करनेवाली दिव्य शक्ति' कहना आडंबरपूर्ण मालूम होता है।

शिष्य—'मैं' और 'मेरा' कहे बिना तो बोलना ही असंभव है।

अन्य शिष्य—क्या हम यह नहीं कह सकते हैं कि अतिमानस अब भी हर जगह काम कर रहा है क्योंकि वह सबके पीछे है ?

श्रीअरविंद—इस समय विश्व में अतिमानसिक शक्ति कार्य नहीं कर रही। वह इस वैश्व गति को समर्थन देती है। लेकिन वह प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं कर रही। अगर अतिमानसिक शक्ति न होती तो तुम जड़-भौतिक शक्तियों के साथ उस तरह ठीक-ठीक काम न कर पाते जैसे अभी कर रहे हो। तुम यह इस कारण कर पाते हो कि अतिमानस जड़ में भी है।

शिष्य—क्या अतिमानस यंत्र या साधन है ?

श्रीअरविंद—वह एक चेतना है और अगर तुम उस चेतना को मन, प्राण, शरीर में ला सको तो तुम यंत्रों को पूर्ण बना सकते हो।

शिष्य—क्या समस्त परा प्रकृति को अभिव्यक्त करना मनुष्य के लिये संभव नहीं है ? जीवन में आनंद-स्तर क्या है ?

श्रीअरविंद—शायद यह भविष्य में संभव हो जब अतिमानस जीवन में स्थायी उपलब्धि बन जाये लेकिन मनुष्य का वर्तमान संगठन तो उसे सह सकने में एकदम असमर्थ है। वह मनुष्य के लिये अत्यधिक अनंत है। मैं मानसिक अनंत की बात नहीं कह रहा। मैं अपने निजी उच्चतम स्तर पर सच्चिदानंद की बात कह रहा हूं। तुम कल्पना कर सकते हो कि मनुष्य की क्या हालत होगी यदि अनंत सच्चिदानंद पूरा-का-पूरा उसके ऊपर उतर आये जब कि तुम जानते हो कि मन के अंदर उसकी एक बूंद भी आ जाये तो आदमी रोना, गाना, नाचना, उड़ना शुरू कर देता है ! जब आनंद का एक कण मन में आ जाता है तो तुम्हें परमहंस, जड़, बाल, उन्मत्त और पिशाच-गति प्राप्त होती है।

शिष्य—शायद एक खंड के आने से ही मनुष्य इस तरह अस्त-व्यस्त हो जाता है। उसकी प्रकृति की सभी अशुद्धियां आनंद के साथ ऊपर उठ आती हैं।

श्रीअरविंद—हां, अगर उच्चतम अतिमानस उतर आये तो वह तो सब कुछ जानता होगा। उसे आवश्यक वर्गों, अवस्थाओं, चरणों का, काल का, सभी का पता होगा।

शिष्य—गीता जिस अक्षर चेतना के बारे में कहती है वह क्या है ?

श्रीअरविंद—वह निर्विकार निर्वैयक्तिक ब्रह्म चेतना है—वह निश्चलता, समता और वैश्व निष्क्रियता का आधार है। वह परात्पर, पुरुषोत्तम का एक रूप है।

शिष्य—साधना में इस चेतना को पाने से क्या लाभ होता है ?

श्रीअरविंद—एक निर्वैयक्तिक मनोवृत्ति, निश्चलता तथा समता—यह तुम्हें प्रकृति से और समस्त बंधनों से मुक्ति दिला सकता है।

शिष्य—परम पुरुष निर्वैयक्तिक परिस्थिति या वृत्ति क्यों अपनाते हैं ?

श्रीअरविंद—क्योंकि यह सृष्टि के लिये जरूरी है। वैश्व प्रकृति के लिये सहारे के रूप में, सभी वैश्व शक्तियों के खेल को बनाये रखने के लिये यह जरूरी है, वे अक्षर के रूप में सभी को समान रूप से समर्थन देते हैं।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'सांध्य-वार्ताओं' से)

तीन साथी

एक था गधा, एक था बंदर और एक था कौआ। तीनों में दोस्ती हो गयी। गधा बेचारा सीधा-सादा था, न किसी के लेने में, न किसी के देने में। जो चाहता उससे अपना काम करवा लेता था। वह सिर नीचा किये सबका हुकुम मान लेता था। चराने के नाम पर उसे इधर-उधर सूखी घास पर मुंह मारने के अवसर दिये जाते थे।

बंदर तो था ही बंदर। छीना-झपटी, मार-काट, चिढ़ाना-बिराना और तरह-तरह से तंग करना और औरों को तंग करके अपने-आप मजा लेना—यही उसके खास काम थे।

और कौआ महाशय—वे हमेशा ऊंची उड़ान भरते, बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाते और अपने-आपको सारी दुनिया का सिरमौर समझते थे।

हम पहले कह आये हैं तीनों में दोस्ती हो गयी। तीनों ने मिलकर निश्चय किया : "चलो, दुनिया देखी जाये।"

रास्ते के लिये तैयारी करनी थी। कौए ने ले ली बुद्धि, बंदर ने ले ली शैतानी और गधा यूं ही चल पड़ा। कौए ने कहा :

"मैं योजनाएं बनाऊंगा, तुम लोगों का कार्यक्रम ठीक करूंगा।"

बंदर ने कहा : "मैं मौज-शौक करवाऊंगा।"

गधा बोला : "मैं तुम दोनों की तरह कुशल नहीं हूं। लेकिन तुम हमारे लिये इतना कर रहे हो, चलो, मैं तुम दोनों को पीठ पर बिठाकर ले चलूंगा। चलो चलें।

तीनों निकल पड़े। बंदर सबसे वाचाल था। बोला : "चलो, पहले कुछ खा-पी लें।"

बस, गधे महाशय घुस गये पास के ही बगीचे में। बंदर ने आडू खाये, खुरमानियां खायीं और गधे से बोला : "खट्टे-खट्टे फल तुम्हें न भायेंगे। तुम मजबूत हो, तुम्हारा शरीर ताकत देनेवाली चीजों की मांग करता है। तुम इनकी गुठलियां खा लो। वे तुम्हारा भला करेंगी।"

गधा सोचने लगा। लेकिन सोचना उसका क्षेत्र न था। कौआ 'कांव-कांव' करता हुआ बंदर की सहायता के लिये आ गया। उसने कहा :

"हां, गधे भाई, मैंने देखा है आदमी बादाम खाते हैं, अखरोट खाते हैं और इसलिये बुद्धिमान् होते

हैं। हमारे पास बादाम और अखरोट की जगह यही दो चीजें हैं। चलो, इन्हीं पर मुंह मारो।''

गधा मान गया और लगा गुंठलियां चबाने। गुठलियां कुछ सख्त तो थीं ही। उनके चबाने से आवाज हुई। उसे सुनकर बगीचे का माली दौड़ा आया और लगा लाठियां बरसाने। कौए महाशय उड़ गये। बंदर भाई एक पेड़ से दूसरे पर होते हुए बाहर निकल गये। लाठियां झेलनी पड़ीं बेचारे गधे को।

खैर, अगले दिन तीनों फिर मिले। बंदर ने सहानुभूति के आंसू बहाये, कौए ने गधे की भूल समझायी और जरा ज्यादा सावधानी के साथ चलने का उपदेश पाकर गधे जी फिर से चलने को तैयार हो गये। तीनों जहां जा निकलते वहीं लोगों की भीड़ लग जाती। ऐसा दृश्य उन्होंने कभी न देखा था।

कौआ सोचता था : ''यह सब मेरे मान में है। मैं सचमुच इन दोनों का स्वामी हूं। गधे पर बंदर बैठता है और मैं उसके भी ऊपर बैठता हूं। बस, मैं ही राजा हूं। बाकी दोनों को प्रेरणा देनेवाला तो मैं ही हूं। ये मनुष्य अपनी-अपनी बोली में 'कांव-कांव' करके मेरा ही स्तवन करते हैं।

बंदर सोचता : ''तीनों में प्रधान तो मैं ही हूं। कौआ भले होशियार हो, पर मेरे जैसी चंचलता और चपलता तो नहीं है उसमें। जीवन का असली आनंद लेना तो मैं ही जानता हूं। मैं न होऊं तो सारी यात्रा फीकी पड़ जाये, फिर कोई आंख उठाकर भी न देखे इन लोगों की ओर।''

गधा सोचता : ''ये दोनों जो सोचना चाहें सोचते रहें, मैं तो जानता हूं कि असली आकर्षण मेरा ही है। मेरे ही कारण इन दोनों का जुलूस निकलता है। खाली बंदर-कौए को कौन पूछता है ? मेरे ऊपर सवार होकर चलते हैं इसलिये चारों ओर ठट-के-ठट इकट्ठे हो जाते हैं देखने के लिये। लेकिन ये दोनों मुझे अपनी मरजी का नाच नचा लेते हैं। मौज ये दोनों करते हैं और परिणाम मुझे भुगतने पड़ते हैं। न जाने क्यों फंस जाता हूं मैं इनके चक्कर में।''

और गधा अभी उनके चक्कर में से निकलने की सोच ही रहा था कि सड़क के उस पार से संगीत-लहरी सुनायी दी। बंदर मामा संगीत सुनने के लिये उतावले हो गये। कौए ने संगीत की क ख ग समझायी, लेकिन गधा जहां से संगीत आ रहा था वहां घुसने के लिये तैयार न हुआ। उसकी अपनी बुद्धि आगे बढ़ने में बाधक हो रही थी।

अब कौए और बंदर को इस सवारी का इतना चाव हो गया था कि वे इसके बिना एक कदम न चलते थे। कौए ने बहुत समझाया पर गधा न माना। यह देख बंदर ने हड़ताल कर दी। अटवाटी-खटवाटी लेकर एक कोने में जा लेटा। कौए की नाराजगी, बंदर का रूठना—दोनों को सह सकना गधे के लिये बहुत ज्यादा हो गया। आखिर हार कर संगीत-कक्ष में घुसने को तैयार हो गया।

संगीत तो उसे क्या खाक समझ आता, आंगन में लगी हरी-हरी घास का आकर्षण उसे भी घसीट रहा था। तीनों की सवारी अंदर घुसी। गानेवाली इस दृश्य को देख चिचिया उठी। बजानेवाले तितर-बितर हो गये। सारे घर में हल्ला मच गया। लाठी लेकर आते हुए आदमी को देख कौआ उड़ गया, बंदर अमरूद के पेड़ पर जा बैठा। गधे ने न इधर देखा न उधर देखा, पूरी एकाग्रता के साथ गुल मेंहदी और गुल दावरी के पौधों को चरता गया। लगुडहस्त आदमी ने आकर जो डंडे बरसाये कि बेचारा गधा अधमरा होकर ही निकला वहां से। मन-ही-मन कौए और बंदर को कोसता जाता था। बार-बार अपने-आपसे कहता जाता था :

''अबसे मैं उन धूर्तों की बात सुनने भी नहीं वाला। दोनों ठग हैं, उन्हींकी बातों में आकर मेरी दुर्दशा होती है। अब मैं स्वतंत्र रहूंगा।''

गधा थोड़ी दूर जाकर लेट गया। अंग-अंग में दर्द हो रहा था। धूल में लोटना भी कठिन हो गया। ''हाय ! हाय ! करते भी डर लगता था। कहीं कोई फिर से लाठी लेकर न आ जाये। थोड़ी देर में कौआ भी लौट आया और बंदर भी आ धमका।

गधा दृढ़ निश्चय किये पड़ा रहा। न आंखें खोलीं, न मुंह से बोला। गधे के बिना बंदर और कौए का सारा ठाठ बिगड़ रहा था। उनका मौज-शौक खतम हो गया। उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। इस विचार के आते ही कौआ सहम उठा। बंदर ने नजदीक जाकर देखा गधा मरा न था। अभी उसे और सेवा करनी चाहिये। कौआ गेंदे के पत्ते ले आया और गधे के घावों पर रख दिये। बंदर उसके सिरहाने बैठकर मंत्र पढ़ने लगा। अभी गधे से सेवा लेनी थी। उसके लिये सब कुछ करने को तैयार थे। छल से, बल से, सचाई से, झूठ से, सहानुभूति दिखाकर या ठग कर किसी-न-किसी तरह उसे अपनी सेवा में लगाये रखना था।

उधर गधा सोच रहा था : "आखिर मेरा भी तो अपना अस्तित्व है। सब कुछ करता-धरता तो मैं हूं, फिर इन दोनों के आधीन क्यों रहता हूं? ये मौज करते हैं, इनकी सनक पूरी होती है और मार खानी पड़ती है मुझे! नहीं बन सकती इन दोनों के साथ मेरी . . . लेकिन उनके बिना भी तो नहीं रह सकता। क्या भगवान् आदि-गर्दभ इसका कोई उपाय नहीं कर सकते?"

अचानक गधे ने निश्चय कर लिया कि अब वह स्वतंत्र जीवन बितायेगा। इन दोनों को दिखा देगा कि उसे इनकी परवाह नहीं है। वह एकदम उछल पड़ा और लगा दोलत्तियां झाड़ने।

कौए ने समझाया, "ऐसा न करो, अभी घाव भरे नहीं हैं, यह सब करने से रिसने लग जायेंगे।"

पर अब तो गधे जी विद्रोह का झंडा ऊंचा किये हुए थे। उसकी क्यों सुनते? आखिर वही हुआ। जिन घावों पर कौए ने गेंदे के पत्ते लगा दिये थे वे खुल गये और खून टपकने लगा। गधे के बाप-दादों को जड़ी-बूटियों का ज्ञान था लेकिन बेचारा गधा अपने मित्रों के संग में सब कुछ भुला बैठा था। उसने औषध समझकर पास खड़ी कुवच पर मुंह मारा और हाल-बेहाल हो गया। इधर भागा, उधर भागा, कहीं चैन ही नहीं।

उधर कौआ और बंदर भी अकेले पड़ गये थे। गधे के अभाव में उन दोनों के आपसी-संबंध भी समाप्त हो चुके थे। अब तीनों को अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अपने-आप पकानी पड़ रही थी और इसके लिये कोई भी तैयार न था। किसीको सफलता न मिल रही थी। जबतक गधा साथ था तो उससे लाभ उठाने के लिये बंदर और कौए में एक तरह का सहयोग रहा। उसके अलग होते ही यह सहयोग की कड़ी भी टूट गयी। अब तीनों ही अपने पिछले अनुभव से दुःखी थे, पर आगे मिलने की बात सोचते ही जले फफोले फूटने लगते। हर एक को अपनी ज्यादती अखर रही थी, पर आगे के लिये विश्वास भी तो न था।

आखिर कौए ने सोच-विचार कर एक तरकीब निकाली। वह 'कांव-कांव' करता हुआ बंदर के पास गया और बोला : "बंदर भैया, अबसे हम लोग अलग-अलग सिर नहीं मारेंगे। जो कुछ करना-धरना होगा उसके बारे में सब मिलकर सोचेंगे और जो ठीक होगा उसी के अनुसार काम करेंगे।"

बंदर ने कहा : "हां, काफी मार खा चुका, आगे के लिये दोनों कान पकड़े। तौबा! तौबा! जो करना होगा तीनों मिलकर करेंगे, इसे छोड़कर और उपाय नहीं है।"

दोनों झिझकते, सकुचाते पहुंचे गधे के पास। बंदर ने गधे के गले में बाहें डाल दीं। कौआ उसके सिर पर बैठकर कीड़े निकालने लगा। गधा बेचारा भोला-भाला, इतना मान-मनौवल पाकर फूल उठा। उसने पूछा :

"क्या बात है?"

दोनों ने अपनी-अपनी बात कही। गधा खुश हो गया और उनकी बात मान ली।

तीनों मिलकर चल पड़े—कहां जा रहे थे? पता नहीं। लेकिन जा रहे थे एक साथ। चलते-चलते उन्होंने एक आदमी को हजामत करते देखा। बंदर के हाथ में खुजली होने लगी।

उसने गधे से कहा : "चलो, हम भी हजामत बनायें।"

कौए ने कहा : "लेकिन इसके लिये कितनी चीजें चाहियें—साबुन, उस्तरा, बुरुश और न जाने क्या-क्या ! हम कहां से लायेंगे यह सब ?

बंदर बोला : "यह तो कठिन काम नहीं है। गधा उसे दुलत्ती लगाकर गिरा देगा। कुछ सामान मैं ले आऊंगा, कुछ तुम ले भागना। काम बन जायेगा।"

गधे ने कहा : "ना बाबा, यह आदमी है आदमी ! मैं नहीं करता यह बंदरपना।"

अब बंदर कौए की बिनती करने लगा। कौए ने सोचा : हुं . . . आदमी अपने-आपको न जाने क्या मानता है। यह अच्छा अवसर है उसे एक बार तिगनी का नाच नचा दूं।"

वह बंदर के साथ सहमत हो गया। अब आयी असली शरारत की बारी। कौआ 'कांव-कांव' करता हुआ खिड़की पर जा बैठा। लेकिन आदमी ने उसकी ओर ध्यान न दिया, हजामत बनाता रहा। कौआ धीरे से उसके पास पहुंचा। और हजामत का बुरुश चोंच में दबाकर यह जा वह जा। आदमी उस्तरा एक ओर रखकर बुरुश लेने दौड़ा।

बंदर इसी ताक में था, वह दूसरी खिड़की में से आईने पर झपटा। एक हाथ में उस्तरा और दूसरे में आईना लेकर वह अपना शुक्रवदन आईने में निहारने लगा। वह आईना देख-देखकर मुंह बना रहा था। उसी समय कमर पर लाठी की करारी मार पड़ी। आईना जमीन पर गिर कर चूर-चूर हो गया, उस्तरा छटक कर दूर जा गिरा और बंदर महाशय तौबा करते हुए भागे।

अब गधा कौए की मदद से बंदर की सेवा करने लगा। बंदर की कमर में करारी चोट आयी थी पर इनकी देख-रेख में जल्दी ही अच्छा हो गया। इतनी मार खाकर बंदर बुद्धिमान् बन गया। उसने कान पकड़े कि गधे की सलाह से उल्टा न चलेगा। दो-एक दिन और आराम करके तीनों फिर से आगे बढ़े।

चलते-चलते उन्होंने देखा कि एक पेड़ के नीचे एक सुराही पड़ी है। सुराही में छाछ थी। कौए के मुंह में पानी भर आया। बंदर को बहुत समझाया कि सुराही को जरा टेढ़ा करके अपने हाथों में छाछ ले आये। लेकिन बंदर टस-से-मस न हुआ। मार की याद हरी थी। साहस करके कौआ अकेले ही निकल पड़ा।

इधर-उधर देखा, छाछवाला दिखायी न दिया। झट से सुराही की किनारी पर जा बैठा। बड़ी सावधानी से चोंच अंदर घुसायी कि बस कंबख्त छाछवाला आ धमका और आते ही कौए की गरदन पकड़ ली। वह 'कांव-कांव' भी नहीं कर सका, खूब पंख-पांव मारे लेकिन सब बेकार। छाछवाले ने कौए के पांव सुतली से बांधे और उसे पेड़ की एक डाल से लटका दिया। बेचारे का हाल खराब था। बस न चला तो जोर-जोर से 'कांव-कांव' करके बंदर को बुलाने लगा।

आदमी के आंखों से ओझल होते ही बंदर ने कौए को मुक्त कर दिया। तीनों मित्र फिर से सोच-विचार में पड़ गये कि यह कैसे पता लगाएं कि किसकी बात ठीक है। तीनों बहस करते रहे पर एकमत न हो पाये। बहस चलती रही, बढ़ती रही और वे समाधान से और भी दूर होते गये। हारकर तीनों अब थककर बैठ गये और आकाश की ओर निहारने लगे।

अचानक देखा कि एक हंस उड़ता हुआ उनकी ओर आ रहा है। हंस की सुंदरता पर तीनों मुग्ध हो गये। कौए ने अपना काला रंग देखा और हंस का दूध-सा सफेद रंग, अपनी फुदक देखी और हंस की चाल। ग्लानि से भरा वह धीरे-धीरे हंस के पास गया। बातें बनाना तो जानता ही था, बस, लगा अपनी सारी यात्रा का हाल सुनाने। हंस आखिर हंस ठहरा। एक-एक शब्द सोच-विचार कर बोलता था, मानों मोती तोल रहा हो। कौए की इतनी लंबी 'कांव-कांव' के बाद भी वह चुप ही रहा।

तब बंदर महाशय ने सोचा : "मैं क्यों पीछे रहूं ?"

कूदता-फांदता वह भी हंस के पास आ पहुंचा। उसने अपनी बुद्धिमत्ता दिखाते हुए हंस से कहा : "हम हिमालय जाना चाहते हैं। न जाने कबसे प्रयास कर रहे हैं, कितने रास्तों पर भटके और कितनी डगर अपनायीं, किसीका कुछ हिसाब नहीं। अब हिम्मत टूट रही है। तुम . . ."

गधा बात काटते हुए बोला : "यार, तू रहा बंदर-का-बंदर ही, तू इन्हें हिमालय की राह दिखायेगा ? याद नहीं रास्ते में वह आदमी भजन गा रहा था : 'चल रे हंसा मानस की ओर' ? ये तो मानसरोवर के ही रहनेवाले हैं।"

फिर हंस की ओर मुड़कर बोला : "हंस महाराज, जब हम हिम्मत हार चुके थे और प्रयास को असंभव मानकर छोड़ने ही वाले थे ऐसे समय आप आ गये। शायद इससे अच्छा शकुन नहीं हो सकता। हम बंदरपना आजमा चुके, कौए की बुद्धि के कारण भी लातें खा चुके और गधापना तो है ही गधापना। अब आप ही हमें राह दिखाइये। आप जो कहेंगे वही होगा। आप ही हमें गिरिराज के शिखर तक ले चलिये।"

हंस भगवती सरस्वती का वाहन था। ब्रह्मा जी की उसपर विशेष कृपा थी। और पर्वतराज तो उसका घर था। उसे इन तीनों की बातें समझते देर न लगी। लेकिन यह स्पष्ट था कि वह मार्ग दिखाने से पहले इनकी आपसी प्रतिद्वंद्विता को समाप्त करना चाहता था। उसने तीनों पर एक प्रश्नसूचक दृष्टि डाली और उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। तीनों उसकी बात समझ गये और एक स्वर से बोले : "करिष्ये वचनं तव।"

और दुनियावालों ने एक अद्भुत चमत्कार देखा। हंस रास्ता दिखा रहा था, उसके साथ-साथ कौआ, बंदर और गधा आनंद-विभोर होते हुए गिरिराज हिमालय पर चढ़ते चले जा रहे थे।

व्यक्तिगत प्रयत्न और भागवत शक्ति

माताजी, इन दिनों जो नयी शक्ति कार्य कर रही है वह व्यक्ति के प्रयत्न द्वारा कार्य करेगी या उससे स्वतंत्र रूप में ?

यह विरोध क्यों ? यह शक्ति संसार में सब व्यक्तिगत प्रयत्नों से स्वतंत्र होकर, यह भी कह सकते हैं कि स्वतः ही कार्य कर रही है, किंतु यह व्यक्तिगत प्रयत्न को **उत्पन्न** करती है और उसका **उपयोग करती है**। व्यक्तिगत प्रयत्न उसकी क्रिया का शायद सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है। यदि कोई यह समझे कि व्यक्तिगत प्रयत्न का कारण व्यक्ति है तो यह भ्रम है, किंतु यदि मनुष्य इस बहाने कि वैश्व क्रिया उससे स्वतंत्र है, व्यक्तिगत प्रयत्न करना अस्वीकार कर दे तो इसका अर्थ है कि वह सहयोग नहीं देना चाहता। भागवत शक्ति उसका उपयोग करना चाहती है, और वस्तुतः अपने अधिकार में सबसे अधिक शक्तिशाली साधनों में से एक रूप में व्यक्तिगत प्रयत्न का उपयोग करती है। स्वयं भागवत शक्ति, यह दिव्य बल ही तुम्हारा व्यक्तिगत प्रयत्न है।

और प्राण को जब कहा जाता है : "तुम्हारा अपने-आपमें कोई अस्तित्व नहीं" तो उसके आत्म-प्रेम की प्रथम प्रतिक्रिया को तुम नहीं जानते; यह सहज ही कहता है : "अच्छा, तो अब मैं कोई काम नहीं करूंगा। कार्य का कर्त्ता मैं नहीं हूं, तो फिर मैं कोई काम नहीं करूंगा," और "अच्छा ही है, भगवान्

सब कर सकते हैं, यह उनका काम है, मैं अब हिलता भी नहीं। यदि काम करने का श्रेय मुझे नहीं मिलता (यह इस हदतक पहुंच जाता है), तो मैं कोई काम नहीं करता।'' ठीक है, किंतु यथार्थतया यह कोई प्रशंसा की बात नहीं है, ये बातें मैं निरंतर सुनती रहती हूं। यह केवल क्षुब्ध अहं का गुबार निकालने का एक तरीका है, बस! किंतु यथार्थ प्रतिक्रिया, विशुद्ध प्रतिक्रिया है किसी भी परिस्थिति में सहयोग देने की उमंग के साथ, खेल को सारी शक्ति के साथ, अपनी चेतना में विद्यमान संपूर्ण संकल्प-शक्ति के साथ इस भावना से खेलना कि तुमसे अनंत गुनी शक्तिशाली कोई ऐसी चीज है जो तुम्हें संभाले हुए है और तुम्हें आगे की ओर ले जा रही है, एक ऐसी चीज है जो निर्भ्रांत है और साथ ही तुम्हें सब आवश्यक बल प्रदान करती है एवं तुम्हारा सर्वोत्तम उपकरण के रूप में उपयोग करती है। मनुष्य उसका अनुभव करता है और उसे यह भी लगता है कि किसीकी छत्रछाया में रहकर काम कर रहा है और कभी धोखा नहीं खा सकता तथा जो कुछ भी करता है उसे अधिकतम सफलता के साथ—प्रसन्न-भाव से—करता है। यही वस्तुतः सही क्रिया है, अर्थात्, यह अनुभव करना कि उसका संकल्प अत्यंत तीव्र हो गया है, क्योंकि तब वह असीम में विद्यमान एक क्षुद्र व्यक्ति नहीं रहता, एक विश्वव्यापी अनंत 'शक्ति', 'सत्य' की 'शक्ति' उससे कार्य करवाती है। एकमात्र यही सच्ची प्रतिक्रिया है।

और दूसरा—बेचारा। वह मन में सोचता है: ''ओह, कर्म का करनेवाला मैं नहीं। हाय, इसमें मेरी इच्छा व्यक्त नहीं होती, मेरी शक्ति कार्य नहीं करती . . . अच्छा मैं लेट जाता हूं और अपने-आपको जड़ निष्क्रियता में लंबा करता हूं और अब जरा भी हिलूंगा-डुलूंगा नहीं।'' और भगवान् से कहता है: ''अच्छा, अच्छा, सब कुछ अपनी इच्छा के अनुसार किये जाओ, अब मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं है।'' यह अवस्था सचमुच दयनीय है! तो बस, यही है बात!

(श्रीमातृवाणी खंड ९ से)

सावित्री से

अगर यही वह है जिसके बारे में जगत् ने सुना है तो किसी भी सुखद परिवर्तन पर आश्चर्य न करो।
उसके रूपांतरकारी हृदय का हर सरल चमत्कारिक आनंदातिरेक एक कीमिया है।

हे आत्मा, मेरी आत्मा, हमने स्वर्ग का निर्माण किया है, हमने अपने अंदर भगवान् के राज्य की स्थापना की है, उनका दुर्ग कोलाहलपूर्ण अज्ञानमय संसार ने बनाया है। हमारा जीवन प्रकाश की दो सरिताओं के बीच घिरा है। हमने अंतरिक्ष को शांति की खाड़ी में बदल दिया है और शरीर को आनंद का प्रासाद बनाया है। इसके बाद कुछ और भी करना है तो वह क्या है? क्या है वह? विकसनशील आत्मा की धीमी प्रक्रिया में मृत्यु और जन्म के बीच की संक्षिप्त स्थिति में अंततः प्रथम पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो गयी है। हमारी प्रकृति के द्रव्य के लकड़ी पत्थर से मंदिर तैयार हुआ है जिसमें महान् देव निवास कर सकते हैं। चाहे संघर्षरत संसार बाहर ही छूट जाये फिर भी केवल एक मनुष्य की पूर्णता भी संसार की रक्षा कर सकती है। गगन से नूतन सामीप्य प्राप्त हुआ है। धरती की स्वर्ग के साथ पहली सगाई हुई है। दिव्य सत्य और जीवन में गहरा सामंजस्य आया है, मानव काल में भगवान् का शिविर स्थापित हो गया है।

मैं परम पावन आनंद हूं, जिन्होंने मेरी ओर देख लिया, वे फिर कभी दुःखी न होंगे।

उन्होंने कहा कि मनुष्य की मनोव्यथा और उसका दैनिक श्रम व्यर्थ है। उसके काफिले व्यर्थ ही काल की मरुभूमि से होते हुए शाश्वत की ओर जाते हैं। उसकी सभी दीप्तिमान कामनाओं को सघन, स्थिर, आग्रही रात्रि का सामना करना पड़ता है। मृत्यु की अंधकारपूर्ण दरांती उसके जमघटों और भीड़-भाड़ को फसल की तरह काटती चलती है।

अगर समस्त जीवन असफल हो भी चुका है तो क्या यह असफलता सदा के लिये है? क्या हमारे सामने जो युग पड़े हैं वे अधिक बड़े प्रयासों के लिये नहीं हैं? क्या खतरनाक सम्मोहक जगत् में चारों ओर दिव्य सुंदरता नहीं है? साहस हमारे कदमों को उत्तेजित नहीं कर रहा और विचार शाश्वत को नहीं पुकार रहे?

अमर देव और प्रकृति कैसे बदल सकते हैं? जगत् वह-का-वही है फिर भी उसमें सभी चीजें बदलती रहती हैं। जैसे आदमी तो वही रहता है पर बचपन से बड़ा होते हुए बदलता जाता है। सबसे अधिक बदलना होगा मनुष्य को क्योंकि वह काल की आत्मा है और उसके मन पर शासन करनेवाले देवता भी बदलते हैं; अपने नारकीय अंधकार से निकलकर अपने नये जन्म में वे ज्योति-सूर्य बन जाते हैं। तब मनुष्य भी प्रकाश की अंतरात्मा में बदल जायेगा और अपने देवों की अनुकृति होगा।

उसमें निराकार और साकार एक हो गये थे, एक दृष्टि विशालता का अतिक्रमण करती थी। एक दिव्य चेहरा संकुल अनंत को व्यक्त करता था। अब वह अपने अंग-प्रत्यंग में उस असीम आनंद को प्रकट करती थी जिसे अंधी जगत्-शक्तियां खोजती हैं। उसका सौंदर्य-भरा शरीर आनंद सागर में घूम-फिर रहा था। वह जन्म, श्रम और नियति के शिखर पर खड़ी है, अपनी मंद गति में युग-चक्र उसकी पुकार पर मुड़ जाते हैं। केवल उसीके हाथ काल के सर्पिल आकार को मोड़ सकते हैं। दिव्य रात्रि उसीके रहस्यों को छिपाती है। आत्मा की कीमियाई शक्ति उसीकी है, वही स्वर्ण-सेतु और अद्भुत अग्नि है और अज्ञात का ज्योतिर्मय हृदय भी वही है, भगवान् की गहराइयों में वही नीरवता की शक्ति है। वही दिव्य शक्ति और अनिवार्य शब्द है। हमारी कठिन चढ़ाई का चुंबक वही है और वही है वह सूर्य जिससे हम अपने सूर्यों को सुलगाते हैं, वह प्रकाश जो अभीतक अनुपलब्ध बृहत् से झुकता है, वह आनंद जो असंभव में से संकेत करता है और वह समस्त की सामर्थ्य जो अभीतक कभी नीचे नहीं आयी।

इसे दिव्य प्रकृति मौन होकर केवल अपने निकट बुलाती है ताकि वह अपने चरणों से जीवन के स्पदनों के दर्द को दूर कर दे और मनुष्य की धुंधली आत्मा पर लगी मुहर तोड़ दे, और वस्तुओं के बंद हृदय में अपनी अग्नि उद्बुद्ध करे।

एक दिन यहांपर सब कुछ उसकी मधुरिमा का आवास होगा, सभी परस्पर विरोध उसके सामंजस्य की तैयारी कर रहे हैं। हमारा ज्ञान उसीकी ओर चढ़ता है, हमारे आवेश उसीको टटोलते हैं। हम उसके चमत्कारिक आनंद में निवास करेंगे, उसका आलिंगन हमारी पीड़ा को परमानंद में बदल देगा।

—श्रीअरविंद

'नयी कोंपलें' :

असीम की चाह

वह जब-जब अपने अधूरेपन को
कोसने बैठता है,
तब-तब एक गभीर विचार उसके गाभीर्य को
कुछ और गभीर बना देता है।
उस शाश्वत का विचार जो उसके हृदय में छिपा
आविर्भाव की प्रतीक्षा करता है
और उसमें छिपे असीम ब्रह्मांड की अनंत क्षमताओं की ओर
संकेत करता है।
फिर वह शून्य में ताकता अपने अधूरेपन
को नहीं कोसता;
क्योंकि वह छोटा-सा संकेत उसे इस
पार्थिव सतह से बहुत ऊपर उठा देता है
जहां तारों से ऊंचा उसका उत्साह
अधूरेपन की दीवारों को भेद
असीम की सीमाओं को छूने
चलता है निकल।

—आनंद अग्रवाल

'गैर्वाणी' :

"तीर्थभूता हि साधवः"

गतसप्ताहे एव पठितया कथया सह अस्मिन् मासे प्रस्तुताहम्—

आसन् त्रयः सन्तः। कदाचित् ते तीर्थाटनाय निर्गताः। गमनसमये एव तैः एषः व्रतः गृहीतः यत् एतादृशस्य जनस्य गृहे एव रात्रिं यापयिष्यामः येन तीर्थं कृतं स्यात्। बहवः ग्रामाः अतिक्रान्ताः तैः, न कुत्रापि कापि समस्या उपस्थिता यतो हि प्रत्येकं ग्रामे तैः बहूनि ईदृशानि गृहाणि प्राप्तानि येषां जनाः अनेकवारं तीर्थं गताः। 'अहो, अस्माभिः गतजन्मसु अवश्यमेव बहु पुण्यं कृतं स्यात् यत् यात्रा निर्विघ्नं प्रचलति,' इति विचिन्त्य अत्यन्तसन्तुष्टाः आसन् त्रयः एव।

किन्तु एकदा मार्गे कथमपि विलम्बिताः ते, परिणामतः सायङ्कालः सञ्जातः, न कुत्रापि तेषां दृष्टिगोचरोऽभवत् कोऽपि ग्रामः। "किं वने एव रात्रिः यापनीया" इति दुश्चिन्तया स्वतः एव तेषां वेगः त्रिगुणितः। अन्ततः तैः ईषत् प्रकाशः लक्षितः, आशाकिरणश्च प्रस्फुटितः। रात्रिपर्यन्तं ते कस्यापि ग्रामस्य उपान्ते प्राप्ताः यत्र नासन् अधिकानि गृहाणि। 'कमपि पुण्यवन्तं मनुष्यं तु प्राप्स्यामः एव' इति चिन्तयित्वा ते किमपि गृहं प्राप्ताः। किन्तु अहो! तेषां दुर्भाग्यम्। गृहात् गृहं गताः किन्तु न प्राप्तम् एकमपि एतादृशं निवासस्थानम् यतः एकेनापि पुरुषेण तीर्थयात्रा कृता स्यात्, सर्वेषां जिह्वाग्रे एकमेव उत्तरम् आसीत्—"अस्माभिः तीर्थयात्रा न कृता किन्तु किञ्चित् दूरे एकलः वसति कश्चित् वृद्धकृषकः, वयं तु तमेव तीर्थभूतं मन्यामहे यतो हि सः एव सर्वदा अस्माकं दुःखनिवारणं करोति।

निबिडरात्रिः सञ्जाता, धारासारैः वृष्टिः अपि आरब्धा, शीतेन कम्पमानाः सन्तः कथमपि वृद्धकृषकस्य गृहं प्राप्ताः। ते तस्य तीर्थगमनस्य विषये तथा निश्चिन्ताः आसन् यत् द्वारे केवलम् एतावदेव अकथयन्—"भ्रातः ! तीर्थाटनाय निर्गताः पथिकाः वयम्, रात्रिं यापयितुं शक्ष्यामः किं तव गृहे ?"

कृषकः अतीव प्रीतः गद्गद्भावेन तेषां स्वागतम् अकरोत्। यत्किञ्चित् तस्य गृहे अन्नम् आसीत् तत् तेभ्यः परिवेषितम्। भोजनं कृत्वा ईषत् सत्सङ्गाय ते उपविष्टाः।

एकेन साधुना पृष्टम्—"भ्रातः, भवान् काशीनगरं तु गतः एव स्यात्। कथ्यतां, तत्र गङ्गातीरे कथं श्रद्धालवः भजनकीर्तनं कुर्वन्ति ? कीदृशी च तत्र आरात्रिकं भवति ?"

"न, अहं कदापि नैव गतः काशीनगरम्।"

"अहो, तदा वर्ण्यतां हरिद्वारस्य शोभा", द्वितीयः साधुः अकथयत्।

"महाशय ! न गतः कदापि अहं हरिद्वारम्।"

"अस्तु, तदा द्वारकानगरीं तु गतः स्यात्", तृतीयः अधीरः अपृच्छत्।

"नैवम्।"

"रामेश्वरम् ?"

"नहि।"

"जगन्नाथपुरीम्, प्रयागराजम् ?"

"न न महाशयाः, अहम् एकमपि तीर्थं न गतः।"

"किम् ! एकमपि तीर्थम् न कृतम् !!" इति एकसार्थं तेषां मुखात् निर्गतम्।

"किं तीर्थं महाशयाः ! मम अर्थे तु मम एतत् लघुगृहं मन्दिरं, मम लघुक्षेत्रं च तीर्थस्थलम्। प्रतिदिनं प्रभाते गच्छामि क्षेत्रतीर्थं, रात्रौ च स्वपिमि गृहमन्दिरे। अहम् एकः सामान्यः कृषकः, भवन्तः साधुसंन्यासिनः, मम भाग्यमुदितं यत् भवतां मम क्षुद्रगृहे पदार्पणम् अभवत्। धन्योऽस्मि।" इति कथयित्वा श्रद्धया तेषां चरणेषु प्रणतः सः कृषकः।

किन्तु किं साधूनां कर्णयोः तस्य एते शब्दाः प्रविष्टाः। नैवम् ! तेषां तु हृदयं क्रन्दति स्म। अतिदुःखिताः परस्परं ते अवदन्—"अहो ! कस्य पापस्य फलं प्राप्तम् अस्माभिः यत् अद्य अस्माकं व्रतः भग्नः। को लाभः अधुना अग्रे गमने, व्रतभञ्जकाः वयं, न एकोऽपि देवः अस्माकं पूजा स्वीकरिष्यति।"

महादुःखे पतितस्य जनस्य कुत्र निद्रा !! प्रायश्चित्तरूपेण तैः एषः निश्चयः कृतः यत् तथा शीतकाले कुटीरस्य बहिरेव उपवेक्ष्यामः; भवेत् अस्माकं शरीरं हिमीभूतम्।

हठात् निबिडरात्रौ तैः शब्दः श्रुतः, किमपश्यन् ते ! बहवः कृष्णधेनवः कृषकस्य क्षेत्रं प्राप्ताः। एकैकं तत्र धूल्यां लुठित्वा स्व-अङ्गप्रत्यङ्गम् कालिमानं निष्कास्य उज्ज्वलाः प्रतिगच्छन्ति स्म। तादृशम् आश्चर्यं तैः कदापि न दृष्टमासीत्। किङ्कर्तव्यविमूढा पूर्वं तु केवलम् इमां लीलाम् अपश्यन्। यदा सचेतनाः जाताः तदा अपश्यन् यत् एका एव कृष्णा गौः तत्र लुठन्ती अवशिष्टा।

त्वरिताः तस्याः समीपे आगताः ते। धेनुः तान् दृष्ट्वा गन्तुम् उद्यता अभवत्। बद्धाञ्जलिः तैः पृष्टम्—"गोमातः, काः यूयम् ? कथं कृष्णाः आस्त, अत्र लुठित्वा च भास्वराः अभवत ?"

धेनुः अवदत्—"वयं सर्वाः तीर्थस्थानानि, धेनुरूपेण प्रतिरात्रि अत्र आगच्छामः। सर्वतः आगत्य जनाः स्वपापानि अस्मासु क्षिप्त्वा गच्छन्ति तस्मात् अस्माकं शरीरं मलिनं जायते। अत्र आगत्य अस्य सत्-महात्मनः क्षेत्रस्य धूल्यां लुठित्वा वयं स्वशरीरं पुनः पवित्रं कुर्मः।" एतत् कथयित्वा सा अपि गता।

साधवः जडीभूता। बहुकालात् परं यदा सचेतनाः अभवन् तदा परस्परम् आलिङ्ग्य पुनरेकदा अक्रन्दन्—अक्षिभ्याम् अविरलं विगलद्-धाराभिः, किन्तु किम् एतानि अश्रूणि आसन् अथ वा कृषकं प्रति तेषां कृतज्ञताकुसुमानि !!

—वन्दना

"Work done in the right spirit is meditation."

— THE MOTHER

अपने-आपको बदलो तो परिस्थितियां बदल जायेंगी।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER

विश्वरूप आत्मा

संपूर्ण प्रकृति से परिपूरित मैं एक आत्मा हूं केवल।
अप्रमेय साक्षी अध्यासीन है अविचल :
वह है प्रकृति के शिखरों का विचारमग्न मौन,
उसकी वैश्विक शक्तियों का मंडलाकार संचलन।

भौतिक मन की परिधियों को मैंने किया है पार,
मैं अब नहीं हूं किसी जीवात्मा का रूपाकार।
जाज्वल्यमान आकाशगङ्गाएं मुझमें हुई हैं रूप-रेखांकित;
मेरी अतिविशाल समग्रता है यह जगत्।

मेरे जीवन में निहित है ग्राम और महादेश का जीवन,
मैं हूं पृथ्वी की यातना और उसके आनंद का स्पंदन;
मैं बांटता समस्त प्राणियों का दुःख और संतोष-संतर्पण
और अनुभव करता हर व्रण और चुम्बन का संक्रमण।

प्रतिकार रहित, मैं सहन करता हर मनोदशा, क्रिया और विचार;
काल संचरण करता मेरी नीरव अनंतता के आर-पार।

अनु०—अमृताभारती —श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

सितंबर

१. अपने-आपको खोलो, अभीप्सा करो और . . . प्रतीक्षा करो। अनुभव निश्चित रूप से आयेगा। भगवत्कृपा विद्यमान है, वह बस यही चाहती है कि वह सबके लिये कार्य कर सके।

२. सच्ची प्रज्ञा तभी प्राप्त होती है जब अहंभाव विलीन हो जाता है और अहंभाव केवल तभी विलीन होता है जब तुम कोई व्यक्तिगत उद्देश्य रखे बिना, किसी लाभ की आशा के बिना, परात्पर प्रभु के चरणों में अपने-आपको संपूर्णतः समर्पित करने के लिये तैयार हो जाते हो, जब तुम ऐसा इसलिये करते हो कि तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते।

३. प्रत्येक वस्तु को सद्भावनाभरी मुस्कान के साथ देखो, जो चीजें तुम्हें क्षुब्ध करती हैं उन्हें अपने लिये एक प्रकार की शिक्षा के रूप में ग्रहण करो और तब तुम बहुत अधिक शांति के साथ और बहुत अधिक प्रभावशाली रूप में जीवन-यापन करोगे, क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य जिस पूर्णता को स्वयं उपलब्ध करना चाहता है उसे दूसरों में न पाने के कारण होनेवाली नाराजगी और उत्तेजना में अपनी शक्ति का अधिकांश व्यर्थ नष्ट कर देता है।

४. दूसरे जो कुछ करते हैं उसमें व्यस्त हुए बिना, तुम्हें जो कुछ करना है उसे करो क्योंकि आखिरकार, दूसरे जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं। और सच्चा मनोभाव ग्रहण करने का सबसे उत्तम उपाय है बस अपने-आपसे यह कहना : मेरे इर्द-गिर्द जो भी हैं, मेरे जीवन की सारी परिस्थितियां, मेरे समीप जो हैं वे सभी वह आईना हैं जिसे दिव्य चेतना ने मेरे सम्मुख मुझे यह दिखाने के लिये रखा है कि मुझे कौन-कौन-सी प्रगति करनी चाहिये। जो कुछ मुझे दूसरों के अंदर खटकता है वह वही कार्य है जिसे मुझे स्वयं अपने अंदर करना है।

और संभवतः अगर कोई व्यक्ति स्वयं अपने अंदर कोई सच्ची पूर्णता वहन करे तो वह अक्सर उसे दूसरों में भी देखेगा।

५. यह कभी न भूलो कि एक अच्छा अध्यापक होने के लिये तुम्हें अपने अंदर से समस्त अहंकार का उन्मूलन करना होगा।

६. जब हम अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखें और समय के साथ खिलते चलें तब हम यह जान लेते हैं कि हमारे साथ जो कुछ होता है वह सदा हमारे भले के लिये होता है।

७. अगर तुम अकेले नहीं हो—बल्कि औरों के साथ रहते हो तो ऐसी आदत डालो कि अपने-आपको सारे समय ऊंची आवाज में उच्चारित शब्दों में अभिव्यक्त न करते रहो, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे और औरों के बीच थोड़ी-थोड़ी करके एक आंतरिक समझ पैदा हो गयी है, तब तुम उनके साथ कम-से-कम शब्दों में या बिना शब्दों के ही संपर्क रख सकोगे। यह बाहरी मौन आंतरिक शांति के लिये बहुत अनुकूल होता है और अगर तुम्हारे अंदर सद्भावना और सतत अभीप्सा है तो तुम प्रगति के लिये सहायक वातावरण पैदा कर सकोगे।

८. तुम्हें हमेशा अपने उच्चारित शब्दों पर संयम रखना चाहिये।

९. तुम्हें अपनी जीभ को क्रोध, उग्रता या रोष के अधीन काम न करने देना चाहिये। उससे आनेवाले परिणामों में केवल झगड़ा ही बुरा नहीं है बल्कि यह तथ्य भी है कि तुम अपनी जीभ के द्वारा वातावरण में बुरे भाव प्रक्षिप्त होने देते हो, क्योंकि ध्वनि के स्पंदनों से ज्यादा छुतहा कोई और चीज नहीं है। इन गतियों को अपने-आपको प्रकट करने का अवसर देकर तुम उन्हें अपने अंदर और दूसरों के अंदर स्थायी बनाते हो।

१०. हर हालत में, सामान्य रूप से, दूसरों के बारे में तुम जितना ही कम बोलो—उनकी प्रशंसा में भी—उतना ही अच्छा। अपने अंदर क्या हो रहा है उसे ही ठीक-ठीक जानना इतना मुश्किल है—फिर भला निश्चित रूप से यह कैसे जाना जाये कि दूसरों में क्या हो रहा है ? इसलिये किसी भी व्यक्ति के बारे में कोई अटल निर्णय न सुना दो। वह यदि दुर्भावनापूर्ण न भी हुआ तो मूर्खतापूर्ण तो अवश्य होगा।

११. ऐसा लगता है कि शब्दों की एक सतत गूंज हमारे दैनिक रूढ़-कार्य की अनिवार्य संगत बन गयी है। लेकिन फिर अगर तुम शोर को कम-से-कम करने का प्रयत्न करो तो तुम देखना शुरू करोगे कि बहुत-सी चीजें नीरवता में ज्यादा अच्छी और ज्यादा जल्दी की जा सकती हैं। और इससे आंतरिक शांति और एकाग्रता बनाये रखने में भी सहायता मिलती है।

१२. हम सब अपनी दिव्य जननी के सच्चे बालक बनना चाहते हैं। लेकिन मधुर मां, उसके लिये हमें धीरज और साहस, आज्ञाकारिता, सद्‌भावना, उदारता और निःस्वार्थता तथा अन्य सभी आवश्यक गुण प्रदान कर।

१३. अगर कोई नियंत्रण में रहने की क्षमता नहीं रखता हो तो वह जीवन में कोई भी चिरस्थायी मूल्य की चीज करने में असमर्थ होता है।

१४. सभी अतिशयोक्तियों, सभी पृथक्करणों का अर्थ है संतुलन का अभाव और समस्वरता-संबंधी दोष; अतएव, यह सब उस व्यक्ति के लिये एक भूल होती है जो पूर्णता की खोज करता है। कारण, पूर्णता केवल सर्वोच्च समस्वरता में ही निवास कर सकती है।

१५. **जितना कम बोला जाये, उतना ही अच्छा।** और यदि किसी दूसरे को या दूसरों को कुछ बताना अनिवार्य हो तो बुद्धिमत्ता इसीमें है कि अनिवार्य शब्द ही बोले जायें, उससे अधिक कुछ नहीं।

१६. किसी घटना की महानता और श्रेष्ठता उसकी भौतिक सफलता पर नहीं बल्कि उन भावनाओं पर निर्भर है जो उसे प्रेरित करती हैं और उस लक्ष्य पर निर्भर है जिसके लिये मनुष्य काम करते हैं। सफलता महानता का कारण नहीं होती बल्कि कार्य को प्रेरित करनेवाला उद्देश्य और भावनाओं की श्रेष्ठता ही उसका कारण होती है।

१७. समय और सफलता की चिंता न करो। अपनी भूमिका निभाते रहो, चाहे उसमें सफलता मिले या असफलता।

१८. जीवन में हमें वही करना चाहिये जो हमारे बोध को करने योग्य सच्ची वस्तु प्रतीत हो, चाहे दूसरे लोग हमारी कितनी भी आलोचना करें या हमारी हंसी उड़ायें। क्योंकि, लोगों के मत का कोई मूल्य नहीं है, केवल भागवत इच्छा ही सच्ची है और उसीकी विजय होगी।

१९. यदि व्यक्ति सच्चे हृदय से 'सत्य' के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे यह जान लेना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु उसे कुछ सिखा सकती है। प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रगति की संभावना रहती है। प्रायः एक बड़ी मूर्खता ही तुम्हारे सामने महान् प्रकाश को प्रकट कर देती है। पर ऐसा तभी होता है जब व्यक्ति उसे देखना जाने।

२०. अपने आदर्श की पूर्ति के लिये कोई समय या विधि निश्चित न करो। कार्य करो और समय एवं विधि उन सर्वज्ञ भगवान् पर छोड़ दो।

२१. जबतक व्यक्ति अपने पुण्य पर अभिमान करता रहेगा, परम प्रभु उसे विनय की आवश्यकता सिखाने के लिये पाप-गर्त में गिराते रहेंगे।

२२. निराशा कभी भी विकास के लिये आवश्यक नहीं होती, वह सदा दुर्बलता और तमस् का चिह्न होती है। वह प्रायः एक विरोधी शक्ति की उपस्थिति की द्योतक होती है, एक ऐसी शक्ति की जो जान-बूझकर साधना के विरोध में काम करती है।

२३. भविष्य प्रत्याशा से भरा है। अपने-आपको उसके लिये तैयार करो।

२४. जीवन की परिस्थितियां चाहे जैसी हों, तुम्हें सदैव निराशा से दूर रहना चाहिये और फिर मलिन, उदास और हताश रहने की यह आदत वस्तुतः परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि यह प्रकृति में विश्वास न होने से उत्पन्न होती है। जिस व्यक्ति में विश्वास होता है, चाहे वह केवल अपने ऊपर ही क्यों न हो, वह सब कठिनाइयों का, सब परिस्थितियों का, अत्यधिक विपरीत परिस्थितियों का भी, बिना निरुत्साहित या निराश हुए सामना कर सकता है।

२५. जिन व्यक्तियों की प्रकृति में विश्वास नहीं होता उन्हींमें सहनशीलता और साहस का अभाव होता है।

२६. हम जितना अधिक जानते हैं उतना ही अधिक देख सकते हैं कि हम नहीं जानते।

२७. हमारे हृदय की गहराई में हमेशा महान् आनंद रहता है और हम उसे हमेशा वहां पा सकते हैं। सरल और निष्ठावान् हृदय एक महान् वरदान है।

२८. पथ-प्रदर्शन तुम्हारे हृदय में है। अपनी प्रेरणा के अनुसार आगे बढ़ो।

२९. प्राण उत्साह देता है लेकिन स्वभावतः प्राण अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीजों की मांग करता रहता है। जबतक कि वह परिवर्तित होकर भगवान् का आज्ञाकारी सेवक न बन जाये, चीजें हमेशा घटती-बढ़ती रहती हैं।

३०. तुम्हें अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि हर एक का अपना सिद्धांत होता है। व्यक्तिगत इच्छाओं के सुखद संयोजन में समझ, सहानुभूति और सामंजस्य की भूमि खोजना जरूरी है न कि यह कोशिश करना कि सभी की एक जैसी इच्छाएं और एक जैसे कर्म हों।

—***—

मैं काफी समय से अनुभव कर रहा हूं कि मुझे अपनी बाहरी क्रिया-कलाप को सीमित कर देना चाहिये और अपने-आपको किसी शांत काम में सीमित कर लेना चाहिये जहां मुझे बहुत भाग-दौड़ न करनी पड़े।

मुझे किसी भीतरी संकट का सामना करना पड़ रहा है। मेरा जीवन लक्ष्यहीन होता जा रहा है। बार-बार आनेवाला एक स्वप्न मुझे अपनी आंतरिक अस्थिरता के बारे में सावधान करता है। मेरी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि मैं भीतरी संतुलन और स्थिरता प्राप्त करूं। धुंधलापन और भीतरी जड़ता कम होनी चाहिये।

अगर माताजी स्वीकृति दें तो मैं अपने विभाग के काम से छुटकारा चाहूंगा। फिर भी मैं करूंगा वही जिसके लिये माताजी आदेश दें। कृपया राह दिखाइये।

अगर तुम विभाग को छोड़ दोगे तो काम बरबाद हो जायेगा! जैसे ही मेरे पास कुछ खाली समय होगा, मैं किसी सवेरे तुम्हें बुलाऊंगी और हम इस बारे में बातचीत करेंगे।

मैं जितना ही देखती हूं उतना ही अधिक जानती जाती हूं कि श्रीअरविंद का पूर्णयोग काम के द्वारा ही अच्छे-से-अच्छी तरह किया जा सकता है।

प्रेम और आशीर्वाद।

—माताजी

९ अक्तूबर १९६६

वैश्व हलचल की गहराई में छिपा सत्य

(श्रीमां 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति' के अंतिम पृष्ठों का पढ़ना समाप्त करती हैं।)

असल में यह पुस्तक पूरी नहीं हुई थी, यह वहीं रह गयी, और भाग आनेवाले थे . . .

(मौन)

अच्छा तो, हम बिना प्रश्नों के ही समाप्त करनेवाले हैं?

मां, एक प्रश्न है जो इस अंतिम पैरे के बारे में है: "यहांतक कि इस भौतिक जड़-जगत् में भी, जो कि हमें अज्ञान का जगत् प्रतीत होता है तथा जो एक अंधी अचेतना से आरंभ कर 'अज्ञान' में से होती हुई और कठिनाई के साथ अपूर्ण 'प्रकाश' एवं 'ज्ञान' की ओर बढ़ती हुई 'शक्ति' का—कार्य प्रतीत होता है, ऐसे इस जड़ जगत् में भी वस्तुओं में एक गुप्त 'सत्य' विद्यमान है जो सब कुछ की व्यवस्था करता है, सत्ता की अनेक परस्पर-विरोधी शक्तियों को 'आत्मा' की ओर निर्दिष्ट करता है और स्वयं अपनी ही उन ऊंचाइयों की ओर बढ़ता जाता है जहां वह अपने उच्चतम सत्य को अभिव्यक्त कर सके और विश्व के गुप्त प्रयोजन को पूरा कर सके। यहांतक कि अस्तित्व रखनेवाला यह भौतिक जगत् भी वस्तुओं में विद्यमान उस सत्य के प्रतिरूप बना है जिसे हम प्रकृति का 'विधान' कहते हैं, इसी सत्य से हम उच्चतर सत्य की ओर आरोहण करते हैं जबतक कि हम परमोच्च सत्ता के 'प्रकाश' में उभर नहीं आते। यह जगत् वस्तुतः प्रकृति की अंध शक्ति ने नहीं बनाया है: 'अचेतना' तक में परम 'सत्य' की उपस्थिति अपना कार्य कर रही है; इस अचेतना के पीछे एक देखनेवाली 'शक्ति' है जो निर्भ्रांत रूप से कार्य करती है और स्वयं अज्ञान के कदम भी, जब वे लड़खड़ाते प्रतीत होते हैं, तब भी, (इसी शक्ति द्वारा) निर्देशित होते हैं; क्योंकि जिसे हम 'अज्ञान' कहते हैं वह 'ज्ञान' ही है जिसपर पर्दा पड़ा है, ऐसा 'ज्ञान' है जो उस शरीर में कार्य करता है जो उसका अपना नहीं है, पर जो अपने परम आत्म-आविष्कार की ओर अग्रसर हो रहा है। यह 'ज्ञान' ही प्रच्छन्न अतिमानस है जो सृष्टि का आधार है और सभीको अपनी ओर लिये चल रहा है और इन अनेकानेक बहुविध मनों, प्राणियों और पदार्थों के समूह का पीछे से मार्ग-दर्शन करता है जिसमें प्रत्येक अपनी ही प्रकृति के विधान का अनुसरण करता प्रतीत होता है। इस विशाल और विस्तृत जगत् के ऊपरी जंजाल में एक विधान है, सत्ता का एक अनन्य सत्य है, जागतिक जीवन को परिचालित और परिपूर्ण करनेवाला एक उद्देश्य है। अतिमानस यहां आवृत रूप से विद्यमान है, वह अपनी सत्ता के स्वाभाविक विधान और आत्म-प्रकाश के अनुसार कार्य नहीं करता, परंतु यदि वह यहां न होता तो कोई चीज अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकती। अज्ञानी मन द्वारा संचालित संसार शीघ्र ही विशृंखला में बह जायेगा; असल में गुप्त 'सर्वज्ञता', जिसका कि यह आच्छादन है, के सहारे के बिना वह अस्तित्व में ही न आ सकेगा और न बना रह सकेगा। और एक अंध अचेतन शक्ति से चलनेवाला संसार निरंतर उन्हीं आंतरिक क्रियाओं को दुहराता तो रह सकता है, पर न तो उसका कोई अर्थ होगा और न वह कहीं पहुंच ही सकेगा। यह उस क्रम-विकास का मूल हेतु नहीं हो सकता, जो 'जड़-तत्त्व' में से जीवन और जीवन में से मन का तथा 'जड़-तत्त्व', 'जीवन' और 'मन' की चढ़ती हुई और अतिमानसतक पहुंचती हुई स्तर-परंपरा का निर्माण करता है। वह गुप्त सत्य जो अतिमानस

में आकर आविर्भूत हो जाता है, सब समय वहां था, परंतु अब वह अपने-आपको तथा वस्तुओं में विद्यमान सत्य को एवं हमारे अस्तित्व के अर्थ को अभिव्यक्त करता है।''

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

यदि अतिमानस वस्तुओं के पीछे छिपा हुआ है तो उसे पाना इतना कठिन क्यों है?

क्योंकि वह छिपा हुआ है! (हंसी)

यहांतक कि अज्ञान में भी यह कार्य करता है, यह उसे 'सत्य' की ओर ले जा रहा है...

श्रीअरविंद बताते हैं कि यदि अतिमानसिक सत्य वस्तुओं के पीछे विद्यमान न होता तो संसार जितना व्यवस्थित है उतना भी व्यवस्थित रूप न ले पाता। हम महसूस करते हैं कि एक चेतना है जो अत्यंत आलोकित संकल्पवाली है, उसीने इस सबको एक सुनिश्चित योजना के अनुरूप व्यवस्थित किया है और वह न तो अज्ञान और ना ही अचेतना का परिणाम हो सकती है।

वस्तुतः, तुम्हारी अतिमानस या 'सत्य-चेतना' को वस्तुओं के पीछे देख सकने की जो कठिनाई है वह ठीक तुम्हारे अपने व्यक्तिगत अज्ञान और अचेतना का ठीक परिमाण दिखाती है; क्योंकि जो लोग इस अज्ञान और अचेतना से बाहर निकल आये हैं वे इसे बहुत स्पष्ट रूप में देखते हैं। कठिनाई अचेतना की जिस अवस्था में व्यक्ति होता है उसपर निर्भर होती है। पर जो अचेतना की इस अवस्था को पार कर गया है उसके लिये अतिमानस को देख पाना जरा भी कठिन नहीं होता, उसके लिये यह एकदम प्रत्यक्ष होता है।

(मौन)

यदि कोई व्यक्ति जरा दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और आत्मनिष्ठ चेतना में प्रवेश करे तो वह बहुत आसानी से वस्तुओं की एक प्रकार की ''वस्तुनिष्ठ अवास्तविकता'' से परिचित हो सकता है, जो वस्तु सामान्य चेतना के लिये एकमात्र वास्तविक, सुनिश्चित, ठोस और कह सकते हैं कि परिमेय होती है वही इतनी अनिश्चित, लगभग अवास्तविक-सी बन जाती है, उसकी वास्तविकता केवल उसे देखनेवाली चेतना में ही रहती है—और वह पूरी तरह परिवर्तनशील वास्तविकता होती है, कभी-कभी तो चेतना-बोध के अनुसार परस्पर-विरोधी भी होती है। यदि हम संसार के बारे में दी गयी विभिन्न व्याख्याओं को, इसे व्यक्त करनेवाले विभिन्न तरीकों को अपने सामने रखें तो हमें कई तरह की, कभी-कभी तो परस्पर-विरोधी, विचार-शृंखलाएं मिलेंगी, फिर भी वे हैं विभिन्न चेतनाओं के किसी एक ही चीज के बारे में प्राप्त बोध। ठीक, इस अंतिम अनुच्छेद के बारे में, यह एक चरम दृष्टिबिंदु है, एक प्रतिज्ञा है कि जो कुछ है वह भागवत संकल्प की ही पूरी-पूरी अभिव्यक्ति है (दार्शनिकों के कुछ संप्रदाय ऐसे हैं जो, अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर, इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तु पूरे रूप में भागवत संकल्प की ही अभिव्यक्ति है), और फिर एकदम दूसरे सिरे पर यह कथन है कि जगत् एक प्रकार का गड़बड़झाला है, इसमें कोई छंद नहीं, कोई हेतु नहीं, न जाने यह क्यों और कैसे अस्तित्व में आया, और न मालूम किधर जा रहा है, इसमें न कोई तर्क है, न युक्तियुक्तता, न संगति—यह केवल एक संयोग है। यह यूं ही है, हम नहीं जानते क्यों। अच्छा तो, अब यदि तुम इन दो चरम दृष्टिबिंदुओं को लो और उस सबको अपने सामने रखो जो जगत् के विषय में इस सिरे से उस सिरेतक कहा गया,

लिखा गया, बताया और सोचा गया है और यदि तुम उस सबको इकट्ठा एक साथ देख सको तो तुम देखोगे कि यह सब है तो उसी एक जगत् के बारे में, पर फिर भी व्याख्याएं इतनी अधिक भिन्न-भिन्न हैं कि यह जगत्, यूं कह सकते हैं कि, केवल देखनेवाले की चेतना में ही अस्तित्व रखता है . . .। निश्चय ही, वहां जरूर "कुछ चीज" होनी चाहिये, पर वह कुछ चीज मनुष्य जो सोचते हैं उससे परे की होनी चाहिये—बहुत परे की, बहुत भिन्न। इसीसे व्यक्ति को पूरी तरह ऐसा महसूस होता है कि जगत् भ्रमपूर्ण एवं अवास्तविक है।

मूलतः, जगत् की वास्तविकता प्रत्येक व्यक्ति की चेतना के लिये बिल्कुल व्यक्तिनिष्ठ होती है, उसकी कोई व्यक्ति-निरपेक्ष वास्तविकता नहीं है, कारण, एक तरफ तो यह कहा जा सकता है कि यह जगत् परम सचेतन सर्वोच्च संकल्प का परिणाम है और वही सब कुछ को शासित करता है और दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि इस जगत् के अस्तित्व का कोई तर्कसंगत कारण नहीं, यह बस, एक अगम्य संयोग है—पर फिर भी ये दोनों धारणाएं किसी ऐसी चीज के बारे में हैं जो बिल्कुल एक ही चीज है।

क्या तुमने इसके बारे में कभी सोचा नहीं?

हर एक का अपना विचार होता है—जो थोड़ा-बहुत स्पष्ट, थोड़ा-बहुत व्यवस्थित और थोड़ा-बहुत सुनिश्चित होता है—इसी विचार को वह जगत् कहता है। प्रत्येक का देखने का अपना तरीका होता है, अनुभव करने का अपना तरीका होता है, और दूसरों के साथ उसके अपने विशिष्ट संबंध होते हैं, इसी चीज को वह जगत् कहता है। वह स्वभावतः, अपने-आपको केंद्र में रखता है और तब हर एक उसके देखने, अनुभव करने, समझने और चाहने के, उसकी अपनी प्रतिक्रिया के अनुसार उसके चारों ओर व्यवस्थित हो जाता है। पर चूंकि यह प्रत्येक चेतना के लिये व्यक्तिगत रूप से भिन्न होता है, इसलिये इसका अर्थ हुआ कि हम जिसे जगत् कहते हैं—स्वयं वह चीज—वह हमारे अनुभव से पूरी तरह छूट जाती है। यह कोई दूसरी ही चीज होनी चाहिये। और वह क्या है उसे समझ सकने के लिये हमें अपनी व्यक्तिगत चेतना से बाहर आ जाना चाहिये और इसी चीज को श्रीअरविंद "निम्न से उच्चतर गोलार्द्ध का पथ" कहते हैं। निम्न गोलार्द्ध में उतने ही विश्व हैं जितने कि व्यक्ति, पर उच्चतर गोलार्द्ध में ऐसी "कुछ चीज" है—जो वही है जो वह है—जिसमें सभी चेतनाएं अवश्य ही मिल जाती हैं। इसीको वे "सत्य-चेतना" कहते हैं।

जैसे-जैसे मानव चेतना प्रगति करती है वैसे-वैसे उसमें सापेक्षता का यह बोध भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है और साथ ही एक प्रकार की भावना, बल्कि यूं कहें कि एक अस्पष्ट-सी छाप कि एक 'सत्य' है जो साधारण तरीकों से नहीं जाना जा सकता, पर जो किसी-न-किसी तरीके से जाना जरूर जा सकता है।

बस, यही बात है। मैं आशा करती हूं कि हम जो अब अगली पुस्तक पढ़ेंगे, अर्थात् 'दिव्य जीवन', उसमें हमें इस समस्या की कुंजी मिलेगी।

(श्रीमातृवाणी खंड ९ से)

हे दिव्य प्रेम के स्वामी, शाश्वत गुरु, तू हमारे जीवन का पथ-प्रदर्शन करता है। हम केवल तेरे लिये और तेरे द्वारा जीना चाहते हैं।

—श्रीमां

संसार में रहना

जब तुम्हें सामान्य व्यवसायों और परिवेशों में रहना हो तो अपने-आपको आध्यात्मिक जीवन के लिये तैयार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि अपने अंदर पूर्ण समानता और अनासक्ति तथा गीता की समता पैदा करो, यह श्रद्धा रखो कि भगवान् हैं और सभी चीजों में भगवान् की इच्छा काम कर रही है, भले अभी वह अज्ञान के जगत् की परिस्थितियों में हो। इसके परे प्रकाश और आनंद है जिनकी ओर जीवन कार्य कर रहा है। लेकिन उनके आगमन के लिये और व्यक्तिगत सत्ता तथा प्रकृति में उनके आधार के लिये सबसे अच्छा उपाय है इस आध्यात्मिक समता में बढ़ना। यह तुम्हारी अप्रिय और अरुचिकर वस्तुओं की कठिनाई को भी हल कर देगा। समस्त अप्रियता का सामना समता के इस भाव के साथ करना चाहिये।

*

जब तुम संसार में रहते हो तो तुम आश्रम की तरह नहीं कर सकते—तुम्हें औरों के साथ मिलना-जुलना होता है और बाहर से औरों के साथ कम-से-कम एक सामान्य संबंध रखना पड़ता है। महत्त्वपूर्ण चीज है आंतरिक चेतना को भगवान् की ओर खुला रखना और उसमें बढ़ना। तुम अपनी साधना की आंतरिक तीव्रता के अनुसार कार्य धीरे या तेजी से करोगे उसीके अनुसार औरों के प्रति तुम्हारी वृत्ति बदलेगी। सब कुछ अधिकाधिक भगवान् के अंदर दिखायी देगा और भाव, क्रियाएं वगैरह पुरानी बाह्य प्रतिक्रियाओं के द्वारा नहीं बल्कि तुम्हारे अंदर बढ़ती हुई चेतना द्वारा अधिकाधिक निश्चित होंगे।

*

तुम संबंधियों तथा औरों से जिस कठिनाई का अनुभव करते हो वह हमेशा वही है जो तब अड़ंगा डालती है जब तुम्हें साधना सामान्य या प्रतिकूल परिवेश में करनी होती है। उससे बच निकलने का एक ही रास्ता है, अपने अंदर, अपनी आंतरिक सत्ता में जीना—जो तब संभव होता है जब तुम जिस अनुकूलता और ज्योतिर्मयता के बारे में अपने पत्र में कह रहे हो वह बढ़े और सामान्य हो जाये, क्योंकि तब तुम अपनी आंतरिक सत्ता के बारे में सतत अभिज्ञ रहते हो और उसमें निवास भी करते हो—और तब बाह्य, बाहरी जगत् में कार्य का एक यंत्र, संचार और क्रिया का साधन बन जाता है। तब यह संभव होता है कि बाहर के लोगों के साथ संबंध को बंधन से तथा आवश्यक प्रतिक्रिया से मुक्त रखा जा सके—तुम अपने अंदर से अपनी प्रतिक्रिया या प्रतिक्रिया के अभाव का निश्चय कर सकते हो: बाहरी संबंधों से एक मौलिक मुक्ति मिलती है—हां, तभी जब तुम चाहते हो कि ऐसा हो।

—श्रीअरविंद

——***——

जीवन रात्रि के अंधकार में एक यात्रा है। भीतरी प्रकाश की ओर जागो।

—*श्रीमां*

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

ग्रहणशीलता

हमने अपने पिछले लेख में भारत के द्वारा पश्चिम की चीजों के आत्मसात्करण और उसकी नकल करने की चर्चा की थी। प्रश्न यह उठा था कि सचमुच जिसे हम आत्मसात्करण समझते हैं वह सच्चा अपनाना है क्या ? कहीं ऐसा तो नहीं कि पश्चिम की नकल करने पर उतारू हम उधर उनके रंग में तो न रंग पाये इधर अपने स्वभाव को धूमिल कर बैठे। हर एक नकल का परिणाम समान होता है। व्यक्ति अपने स्वभाव पर एक कलई चढ़ा लेता है, ऊपरी तौर पर भले वह कुछ समय के लिये चमकदार लगे लेकिन वह टिकाऊ कभी नहीं रह सकती। भारत ने भी अपने ऊपर वही कलई चढ़ाने का प्रयास किया। पिछली शती से—और कई दिशाओं में आज के युगतक भी—भारतीयों ने अपनी संस्कृति भूलकर पश्चिमी सभ्यता की नकल उतारने की कोशिश की, हमने एक तरह के भूरे अंग्रेज बनने का, अपनी प्राचीन सभ्यता को कूड़ेदान में फेंककर, पश्चिम के लोगों की वरदी या उनकी पोशाक पहनने का जो प्रयास किया वह सचमुच भूल-भरा और अनुचित प्रयास था। खेद का विषय यह है कि हम अब भी इसे जारी रख रहे हैं। हां, हम इतना जरूर कह सकते हैं कि पिछली सदी के उस काल में, परिस्थितियों को देखते हुए कुछ मात्रा में—यहांतक कि बड़ी मात्रा में भी—अनुकरण करना जैवीय आवश्यकता थी, और नहीं तो कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तो थी ही। उस समय भारत सोया-सा पड़ा था, उसकी शक्तियां प्रकट रूप में खिल नहीं रही थीं, वह शक्तिहीन-सा दिख रहा था। और केवल तभी नहीं जब कि कोई महान् शक्ति अपने से निम्नतर शक्ति के संपर्क में आती है तो महानतर शक्ति उसे अपने ही रंग में रंग लेती है बल्कि तब भी जब निष्क्रियता, निद्रा, अकर्मण्यता की अवस्था में गिरी हुई संस्कृति को जाग्रत्, सक्रिय, प्रबल रूप से सर्जनशील संस्कृति का सामना करना पड़ता है, जब वह नयी तथा सफल शक्तियों तथा उनकी क्रियाओं को अपने ऊपर टूट पड़ते हुए अनुभव करती है तथा नये विचार तथा नयी रचनाओं के विकास की एक महान् शृंखला को देखती है तो वह जीवन की सहज वृत्ति द्वारा उन विचारों तथा रूपों को ग्रहण करने, उन्हें अपने अंदर मिला लेने, उनसे अपने-आपको समृद्ध करने, यहांतक कि उनकी नकल करने, उन्हीं जैसा बन जाने और किसी-न-किसी तरह इन नयी शक्तियों तथा नये अवसरों को फैलाने और उनसे लाभ उठाने के लिये प्रेरित होती है। यह एक ऐसी घटना है जो इतिहास में—कम या अधिक मात्रा में, पूर्ण या आंशिक रूप से—बार-बार दोहरायी गयी है। भारत के साथ भी ऐसा ही हुआ। जब पश्चिम उसपर हावी हुआ तो उसकी यही हालत थी—सोते शेर पर हमला बोल दिया गया। भारत पश्चिम की चपेट में आ गया—कोई भी पराधीन जाति अगर केवल यंत्रवत् अनुकरण करे, अगर उसके अंदर अधीनता और दासता की वृत्ति पैदा हो जाये तो निष्क्रिय और अपेक्षाकृत दुर्बल संस्कृति नष्ट हो जाती है, उसे आक्रमणकारी हड़प जाता है। और अगर वह सचेत न हो पाये तो वह धीरे-धीरे क्षीण होती हुई, अपनी आत्मा की शक्ति गंवा बैठती है; और तब उसके लिये उद्धार का एकमात्र उपाय होता है अपने केंद्र को फिर से प्राप्त करना, अपने आधार को ढूंढ़ना और अपनी सुप्त शक्तियों को जगाना। सौभाग्यवश भारत ने पश्चिम की नकल की पर इतनी अधिक नहीं कि अपनी निजी संस्कृति को गंवा बैठे—कभी-कभी अनुकरण करना लाभप्रद या अनिवार्य भी हो उठता है; उदाहरण के लिये विज्ञान में पश्चिम की खोजों से लाभ उठाने में अगर वह उसके पीछे-पीछे चला तो वह अनुचित न था—पश्चिम के प्रभाव से हमारे जीवन में जो आधुनिक चीजें जुड़ गयी हैं उन्हें विदेशी वस्तुएं मानकर हमें उनका बहिष्कार न करना चाहिये—यद्यपि ये सब शुद्ध रूप से

हमारे लिये वरदान नहीं हैं। प्रश्न यह उठता है कि इन चीजों का हम उपयोग किस प्रकार करते हैं और क्या हम कुछ विशिष्ट परिवर्तन करके अपनी आत्मा के भाव के साथ उन्हें ढाल सकते हैं या नहीं। अगर ऐसा हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमने उन्हें ग्रहण करके आत्मसात् कर लिया है, नहीं तो बस हमने विवश होकर उनकी नकल भर की है।

लेकिन केवल बाहरी रूपों तथा आकारों को ग्रहण करना प्रश्न का मर्म नहीं है। श्रीअरविंद कहते हैं कि जब वे यूरोप की चीजों को स्वीकार और आत्मसात् करने की बात कहते हैं तो उनका अर्थ उन विशेष प्रभावों, विचारों तथा ऊर्जाओं से होता है जिन्हें यूरोप भारत के सामने एक महान् जीवंत शक्ति के साथ लाया है और जो हमारी अपनी सांस्कृतिक क्रियाओं तथा सांस्कृतिक सत्ता को जाग्रत् तथा समृद्ध कर सकते हैं अगर हम उनके साथ विजयशील शक्ति तथा मौलिकता के साथ व्यवहार करने में सफल हो जायें, अगर हम उन्हें अपनी सत्ता के विशिष्ट तरीके में ढालकर उन्हें रूपांतरित कर सकें। सचमुच हमारे पूर्वजों ने यही किया—उन्होंने अपनी मौलिकता को कभी नहीं गंवाया, अपने अनूठेपन को कभी न मिटने दिया क्योंकि बाहर से आनेवाले जिस ज्ञान या कलात्मक सुझाव को वे अपनाने या भारतीय तरीके से प्रयोग करने योग्य समझते थे उसे लेकर वे अंदर से शक्तिशाली रूप में सृजन करते थे। लेकिन धीरे-धीरे भारतीयों ने इस चीज को बहुत कुछ भुला दिया, उन्होंने अंधाधुंध अनुकरण कर बहुत हदतक पश्चिम के रंग में रंगने का प्रयास किया लेकिन सौभाग्यवश भारतीयों के भारतीयपन पर वह रंग पक्का नहीं चढ़ा और अब कई दिशाओं में वे इस बारे में कुछ सचेतन हो रहे हैं...।

—वंदना

सांध्य-वार्ताएं :

देव-लोक इत्यादि

१७-८-१९२६

शिष्य—आपने देव-लोक की बात की थी। हम उस लोकतक कैसे पहुंच सकते हैं?

श्रीअरविंद—उसकी चाबी किसी कौशल में है, तुम्हें वहांतक चढ़ना होगा।

शिष्य—वहांतक पहुंचने की क्या शर्तें हैं?

श्रीअरविंद—शर्तें? कोई शर्त नहीं है। मुझे नहीं लगता कि अगर मैं तुम्हें कुछ शर्तें बताऊं भी तो तुम्हें कोई मदद मिलेगी। लो, पहली शर्त यह है कि तुम सच्चे देवों तक अपने अहंकार को लेकर नहीं पहुंच सकते।

शिष्य—और प्राणिक देव?

श्रीअरविंद—देवता हर लोक में हैं। 'देव' बहुत विस्तृत परिभाषा है और उसका कोई बंधा हुआ अर्थ नहीं है। वह जरा असंयत-सा शब्द है।

प्राणिक देव तुम्हें बल दे सकते हैं, तुम्हारी आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयां दूर कर सकते हैं, हां, किसी शर्त पर।

शिष्य—शर्त कैसी?

श्रीअरविंद—उदाहरण के लिये वे तुम्हें शक्ति दे सकते हैं पर तुम्हें उनकी पूजा करनी और शर्तें पूरी करनी होंगी।

शिष्य—असुर भी तो शक्ति देता है।

श्रीअरविंद—असुर तुम्हें कुछ नहीं देता। वह अपने प्रयोजन के लिये तुम्हारा उपयोग करता है और जब तुम्हारा काम नहीं रहता तो तुम्हें उठा फेंकता है।

लेकिन प्राणिक देवता कभी-कभी आध्यात्मिक जीवन के सहायक होते हैं। तुम्हें उनके परे जा सकना चाहिये। लेकिन अगर तुम उनके पार जाना चाहो तो वे तुम्हारा विरोध करते हैं, तुम्हारे रास्ते में रोड़े अटकाते और तुम्हें अपने ही वश में रखने की कोशिश करते हैं। जब कहा जाता है कि इन्द्र ऋषियों के पास अप्सराएं भेजते थे तो इसका यही मतलब है।

शिष्य—मेरा ख्याल था कि यह एक कहानी है।

श्रीअरविंद—यह तुम्हारे अंदर यूरोपीय मानस है जो तुमसे ऐसी बात कहलवाता है। रूप कहानी का है परन्तु उसके पीछे सत्य है। उदाहरण के लिये विश्वामित्र और इन्द्र की कहानी में आध्यात्मिक सत्य है। अगर तुम उनकी कठोर परीक्षा में से सफल होकर निकलो तो देवता तुम्हें अपना अतिक्रमण करने की स्वीकृति देते हैं।

शिष्य—असुर भी तो दिव्य कुल के हैं।

श्रीअरविंद—हां, और वे अपने ही तरीके से दिव्य प्रयोजन के लिये काम करते हैं।

शिष्य—क्या हम कह सकते हैं कि सच्चे देवता भगवान् की शक्तियां हैं?

श्रीअरविंद—वे भगवान् के व्यक्तित्व हैं।

शिष्य—वे किस लोक के हैं?

श्रीअरविंद—वे अतिमानसिक और उससे ऊपर के लोकों के हैं।

शिष्य—अतिमानस से भी ऊपर के?

श्रीअरविंद—हां, क्यों? क्या तुम समझते हो कि अतिमानस ही सबसे ऊंचा है?

शिष्य—कहते हैं कि परम सच्चिदानन्द चेतना सबसे ऊंची है।

श्रीअरविंद—सबसे ऊंचा तो वह है जिसे हम पुरुषोत्तम कहते हैं लेकिन मनुष्य केवल आनंद तक ही जा सकता है।

शिष्य—वैष्णवों के कृष्ण किस लोक के हैं?

श्रीअरविंद—कृष्ण से तुम्हारा क्या मतलब है?

शिष्य—वैष्णवों के अनुसार कृष्ण आनंदमय लोक के हैं। और उनके अनुसार यह अक्षर से परे, बहुत दूर है।

शिष्य—क्या यह सच है कि अगर हम देवोंतक पहुंचना चाहें तो हमें चैत्य द्वारा जाना होगा?

श्रीअरविंद—यह लो! तुम्हें एक और चाबी मिल गयी।

शिष्य—मैं और भी जानना चाहता हूं ताकि एक और चाबी मिल जाये। मैं जाकर गलत दरवाजों पर खटखटाना नहीं चाहता।

श्रीअरविंद—अगर तुम चाहो तो एक और भी तरीका है। अपने सबसे ऊंचे जीव को पहचानो जो तुम्हारा अहं भी नहीं है और आत्मा भी नहीं है। तब तुम देवलोक में जा पहुंचोगे।

शिष्य—कुछ की मान्यता है कि हमारा 'स्व' जीव है और अगर हम उस स्तरतक पहुंच जायें तो देवों की सहायता पाते हैं।

शिष्य—क्या मनुष्य का उच्चतम 'स्व' देवता है?

श्रीअरविंद—मनुष्य देव नहीं है लेकिन देवलोकतक जा सकता है और वहां उसका जीव होता है जो

भगवान् का एक अंश है। अगर तुम कामना के साथ उनके द्वार खटखटाओ तो वे तुम्हें प्राणिक देवों का रास्ता दिखा देते हैं।

शिष्य—कहा जाता है कि कृष्ण का नीला प्रकाश होता है जिसके पीछे से बिजली चमकती है।

श्रीअरविंद—नीला रंग विशेष रूप से आध्यात्मिक लोक का और कृष्ण का है। कृष्ण अपने दिव्य व्यक्तित्व की पूर्णता में आनंदमय लोक के हैं और वहीं पर पूर्णता मिलती है।

शिष्य—हिन्दू जिन देवों की पूजा करते हैं वे किस लोक के हैं?

अन्य शिष्य—क्या वे प्राणमय लोक के हैं?

श्रीअरविंद—नहीं, उन्हें प्राणिक रूप से पूजा जाता है पर उनकी कल्पना उससे कहीं अधिक, साधरणतः उच्चतर मनोमय लोक की है।

जब यूरोपीय मन जड़वाद को छोड़ता है तो प्राणिक देवों को ही सच्चे देव मान लेता है।

शिष्य—क्या जड़-भौतिक के नियम बदलते हैं?

श्रीअरविंद—भौतिक कोषाणु बदलते हैं और एक चीज जो पहले पीड़ा देती थी, तीव्र आनंद देने लगती है।

शिष्य—यह जड़-भौतिक में अभिव्यक्त जीवन के अंदर हो सकता है लेकिन विशुद्ध जड़ में, यानी भौतिकी और रसायन में?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं? हम मानव चेतना के भौतिक भाग के बारे में बात कर रहे हैं। नियम या विधान क्या है? इसका मतलब है अमुक परिस्थितियों में वैश्व शक्तियों में एक तरह का संतुलन। अगर तुम परिस्थितियां बदल दो तो तुम्हें परिणाम भी अलग-अलग मिलेंगे, तुम जिसे नियम कहते हो उसे किसी चमत्कार के द्वारा नहीं बदला जाता।

शिष्य—रेडियम का विघटन किसी भी जाने हुए तरीके से प्रभावित नहीं होता।

श्रीअरविंद—इसका मतलब यह है कि तुम अभीतक विद्युदणु के पीछे नहीं पहुंचे हो। विद्युदणु ही तो अंतिम चीज नहीं है।

शिष्य—कहते हैं विद्युदणु में जीवन तो होता है पर उम्र नहीं होती। नये और पुराने विद्युदणुओं को अलग नहीं किया जा सकता।

श्रीअरविंद—क्या तुम मानते हो कि घड़ी में जीवन होता है?

शिष्य—बच्चे मानते हैं!

श्रीअरविंद—और मैं बच्चों के साथ सहमत हूं। घड़ियां अलग-अलग व्यक्तियों के साथ अलग-अलग तरह से व्यवहार करती हैं। और यह भी निश्चित है कि मनुष्य के विचार और इच्छा-शक्ति को उत्तर देती हैं।

शिष्य—तो घड़ियों में जीवन होता है!

श्रीअरविंद—तुम्हें एक के बाद एक आश्चर्य की बातें मिलती जा रही हैं।

शिष्य—फूलों में आत्मा होती है, घड़ियों में जीवन होता है! ये तो चकरानेवाली बातें हैं। मैंने सुना है कि मोटरों में भी जीवन होता है।

श्रीअरविंद—हां, इंजनों और औजारों में भी।

शिष्य—'धातुओं' में थकान क्या उसके जीवन का लक्षण है?

श्रीअरविंद—थकान जीवन का लक्षण है। धातुओं में भी चेतना होती है और मन भी। जीवन हर जगह है।

—पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'सांध्य वार्ताओं' से

'कुछ माताजी के बारे में' :

पथ-प्रदर्शक की भूमिका

अगर तुम बिलकुल सच्चे हो, तो मेरे साथ इस बात में सहमत होगे कि तुम मेरे बहुत अधिक दिव्य होने की नहीं, काफी दिव्य न होने की शिकायत कर रहे हो। क्योंकि, उदाहरण के लिये, यदि मैंने अपने भौतिक शरीर में वैसा रूप धारण किया होता जैसा प्राचीन भारतीय परंपरा में संजोया गया है, तो कितनी सुविधा होती! कल्पना करो, कितना अच्छा होता यदि मेरे बहुत-से सिर होते, बहुत-सी भुजाएं होतीं और साथ ही सर्वव्यापकता की क्षमता होती, तो जब 'क' मेरे नख-प्रसाधन के लिये आकर बिना किसी समारोह के अपने आने की सूचना देने के लिये दरवाजा खटखटाती, (वह बहुत व्यस्त होती है इसलिये मैं उसे खटखटाने के लिये मना भी नहीं कर सकती) तो उस समय मैं उसके पास काम के लिये एक जोड़ी हाथ भेज देती और साथ ही अपने छोटे कमरे में वहां बैठे हुए 'ख' की बातों का उत्तर देने के लिये बनी रहती, कितना अच्छा होता! . . .

तो तुम देख रहे हो ना, मुझे लगता है कि मैंने बहुत अधिक मानव बनना स्वीकार किया है, देश और काल के मानव-नियमों से बहुत अधिक बंधी हुई हूं, और इसलिये एक ही साथ आधा दर्जन चीजें करने में असमर्थ हूं!

*

प्रभो, मुझे अपनी सीमाओं के लिये खेद है . . . लेकिन उनके द्वारा, उन्हीं के कारण मनुष्य तुमतक पहुंच सकते हैं। उनके बिना तुम उतने ही दूरवर्ती और अगम्य बने रहते मानों तुमने कभी हाड़-मांस का शरीर धारण ही न किया हो।

इसलिये उनकी हर प्रगति मेरे लिये सच्ची मुक्ति का द्योतक है, क्योंकि तुम्हारी तरफ बढ़ाया हुआ उनका हर कदम इन सीमाओं में से किसी एक को दूर हटाने. और तुम्हें अधिकाधिक सचाई, अधिकाधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने का मुझे अधिकार देता है।

और फिर भी इन सीमाओं से पिण्ड छुड़ाया जा सकता था। लेकिन फिर यह आवश्यक होता कि हम अपने पास केवल उन्हीं लोगों को रखते जिन्हें भगवान् की अनुभूति हो चुकी हो, हे प्रभो, जिन्होंने तुम्हारे साथ तादात्म्य पा लिया है, भले एक ही बार हो, चाहे अपने अंदर या इस विश्व में। क्योंकि यह तादात्म्य हमारे योग का अनिवार्य आधार है, यह उसका आरंभ-बिन्दु है।

*

लोग मुझसे नहीं, अपने ही बनाये हुए मेरे मानसिक और प्राणिक रूप से प्रेम करते हैं। मुझे इस तथ्य का अधिकाधिक सामना करना पड़ता है। हर एक ने अपनी आवश्यकताओं और कामनाओं के अनुसार अपने लिये मेरी प्रतिमा बना ली है, और उसका संबंध इसी प्रतिमा के साथ होता है, वह उसी के द्वारा वैश्व-शक्तियों की थोड़ी-सी मात्रा और उससे भी कम अतिमानसिक शक्तियों की मात्रा पाता है जो इन सब रचनाओं में से छनकर जा पाती है। दुर्भाग्यवश, वे मेरी भौतिक उपस्थिति से चिपके रहते हैं, अन्यथा मैं अपने आंतरिक एकांत में जाकर वहां से चुपचाप, आजादी के साथ काम कर सकती हूं; लेकिन उनके लिये यह भौतिक उपस्थिति एक प्रतीक है और इसीलिये वे उससे चिपके रहते हैं, क्योंकि वस्तुतः मेरा शरीर सचमुच जो है या वह जिस जबर्दस्त सचेतन ऊर्जा के संग्रह का प्रतीक है उसके साथ उनका बहुत ही कम वास्तविक संपर्क होता है।

और अब, हे 'उच्चतर शक्ति', जब कि तुम मेरे अंदर उतर रही हो और मेरे शरीर के सभी अणुओं में पूरी तरह से प्रविष्ट हो रही हो, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे और मेरे चारों ओर की हर चीज के बीच अधिकाधिक दूरी बढ़ रही है, और मैं अधिकाधिक यह अनुभव करती हूं कि मैं कांतिमय और प्रफुल्लित चेतना के ऐसे वातावरण में तैर रही हूं जो उनकी समझ के बिलकुल परे है।

*

हे प्रभो, मैं सिर्फ तुम्हारे साथ प्रेम करती हूं, अतः मैं सबके अंदर और हर एक के अंदर तुमसे ही प्रेम करती हूं; और उनमें स्थित तुमसे प्रेम करने के द्वारा मैं अंततः उन्हें तुम्हारे बारे में जरा चेतन बना दूंगी।

उनके लिये असली चीज है यह जानना कि बिना किसी पसंद के, बिना किसी रुकावट के अपने साथ कैसे प्रेम करने दें। लेकिन इतना ही नहीं कि वे अपने तरीके को छोड़कर किसी और तरीके से प्रेम करना नहीं चाहते, वे अपने-आपको प्रेम के प्रति तबतक नहीं खोलना चाहते जबतक वह अपने चुने हुए माध्यम के द्वारा न आये . . . और जो चीज कुछ घंटों में, कुछ महीनों में, कुछ वर्षों में की जा सकती है वह चरितार्थ होने के लिये शताब्दियां ले लेती है।

*

हर उपस्थित व्यक्ति के साथ सचेतन संपर्क स्थापित कर लेने के बाद मैं परम प्रभु के साथ एक हो जाती हूं और तब मेरा शरीर केवल एक माध्यम के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता जिसमें से वे सब पर अपना 'प्रकाश', 'चेतना' और 'आनंद' उंड़ेलते हैं, हर एक पर उसकी क्षमता के अनुसार।

*

मैं तुम सबमें द्वार खोलने के लिये पूरा ध्यान देती हूं, ताकि अगर तुम्हारे अंदर एकाग्रता की जरा भी गति हो तो तुम्हें ऐसे बंद दरवाजे के सामने लंबी अवधियोंतक न ठहरना पड़े जो हिलतातक नहीं, जिसकी चाबी तुम्हारे पास नहीं है और जिसे तुम खोलना नहीं जानते।

दरवाजा खुला हुआ है, तुम्हें उस दिशा में देखना-भर होगा। तुम्हें उसकी ओर पीठ न करनी चाहिये।

*

मैं किसी का गुरु होने के लिये उत्सुक नहीं हूं। मेरे लिये सबकी मां होने का और उन्हें चुपचाप प्रेम की शक्ति से आगे ले जाने का अनुभव ज्यादा सहज और स्वाभाविक है।

*

मैं किसी का गुरु होने के लिये उत्सुक नहीं हूं। मेरे लिये विश्व-जननी होना और प्रेम के द्वारा नीरवता में काम करना ज्यादा सहज और स्वाभाविक है।

लेकिन चूंकि तुमने पूछा है, इसलिये मैं उत्तर देती हूं।

जब से तुमने मंत्र का उपयोग करना शुरू किया, मैंने उसे प्रभावशाली बनाने के लिये उसमें शक्ति रखी थी। अब जब तुमने बताया है कि इस मंत्र का शब्द क्या है, तो मैं उसमें शक्ति को स्थायी करती

*

अभीतक, मेरी सहजवृत्ति परम जननी की थी जो सारे विश्व को अपनी प्रेममय भुजाओं में लिये रहती हैं, और मैं हर एक के साथ एक ऐसे बच्चे की तरह व्यवहार करती थी जिसकी हर बात समान रूप से सह ली जाती है; और यहां के लोग मुझे प्रसन्न करने के लिये जो कुछ करते थे उसे मैं उनके प्रेम के चिह्न के रूप में स्वीकारती थी और उसके लिये बहुत कृतज्ञ थी। आज मैंने जान लिया है कि अगर सब नहीं तो बहुत-से मुझे गुरु के रूप में मानते और देखते हैं और वे मुझे प्रसन्न करने के लिये उत्सुक हैं क्योंकि गुरु को प्रसन्न करना मार्ग पर पुण्य अर्जन करने का सबसे अच्छा तरीका है। और तब मैंने यह समझ लिया है कि गुरु का कर्तव्य है कि हर एक में केवल उन्हीं चीजों को प्रोत्साहन दे जो उसे तेजी से प्रभु की ओर ले जा सकें और 'भागवत उद्देश्य' की पूर्ति करें, और मैं इस पाठ के लिये बहुत कृतज्ञ हूं।

*

हर एक को अपने ही मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जो अनिवार्य रूप से लक्ष्यतक पहुंचने के लिये सबसे अच्छा और सबसे तेज होता है।

चूंकि मैं रास्ता जानती हूं, इसलिये उसे औरों को दिखाना मेरा कर्तव्य है।

*

जब मैं कहती हूं कि मैंने किसी को दीक्षा दी है, तो उसका मतलब होता है कि मैंने इस व्यक्ति के आगे अपने-आपको **शब्दों के बिना** प्रकट किया है, और वह यह देखने, अनुभव करने और जानने के योग्य है कि मैं 'कौन' हूं।

मेरा बड़प्पन

करूं क्या, मेरे भाग्य में ही ईंट है। जन्म तो किसी खाते-पीते घर में ही लिया पर सारे जीवन खाने-पीने से बढ़कर कुछ न पा सका। बहुत चाहा, जीवन में कुछ बन जाऊं, आकाश का तारा न सही, झाड़ी का जुगनू बनकर ही चमक सकूं, पर भाग्य में हो तब न! किसी ने ठीक ही कहा है:

भाग्य ही से भाग्य होता प्राप्त है।
भाग्य ही मुझको मिला फूटा हुआ।

शहर में आकर लीडर बनने की कोशिश की। बहुत-से लीडरों की दुम बनकर फिरा किया लेकिन जूतों के तलवे तो घिसे पर लाभ कुछ न हुआ। लीडरों का सामान ढोया इस आशा से कि "*कबहूं तो दीन दयालु के भनक परेगी कान*", लेकिन मैं वह उक्ति भूल गया था:

थोरे ही गुन रीझती बिसरायी वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भए आजकाल के दानि॥

अब वह जमाना चला गया जब हरि पण्डित नेहरू की सेवा-टहल करके बड़ा आदमी बन गया था।

हमारे शहर में स्काउट दल शुरू हुआ। सुन्दर रोबदार वर्दी, सीटी देखकर ही मन आकर्षित हुआ। जिधर से निकल जाओ उधर ही लोगों का जमघट हो जाये। सीटी बजा दो तो चलते लोग रुक जायें। मैंने सोचा: "चलो, यह अच्छी बात है। मैं भी स्काउट बनूंगा और तब सारे शहर की आंखें मुझपर केंद्रित हो सकेंगी।"

लेकिन उसी भाग्य ने अड़ंगा लगाया। मैं जो भर्ती होने गया तो मुझे बताया गया कि मेरी आयु

ज्यादा हो चुकी है। न पूछिये मेरा क्या हाल हुआ उस समय। अधिकारी मेरी रुंआसी शकल देखकर समझ गये। उन्होंने कहा :

"आपकी बहुत इच्छा हो तो स्काउट मास्टर बन जाइये, हमें जरूरत भी है।"

चलिये, डूबते को तिनके का सहारा। इसके लिये प्रशिक्षण लेना ही होगा, छः महीने एक पुलिस के सार्जेंट से प्रमाण आदेश और प्रमाण संगीत आदि सीखना होगा, फिर परीक्षा होगी और न जाने क्या-क्या होगा।

खैर, मैंने स्वीकार कर लिया, प्रशिक्षण के लिये रोज सवेरे परेड मैदान में हाजिर होना पड़ता था। गरमी हो या सरदी, मैंने कभी देर नहीं की। जीवन में चमकना मेरा उद्देश्य था और उसके लिये मैं सब कुछ करने को तैयार था।

खैर, यह तो ठीक है, पर क्षमता भी तो कोई चीज है। छः महीने के बाद मेरी परीक्षा ली गयी और परीक्षक ने मेरे नाम के आगे लिख दिया : "नेतृत्व की क्षमता नहीं है, अपने-आप चमकने की हवस में दूसरों को अवसर ही नहीं देता। परिश्रमी तो है पर बहुत ज्यादा खुदगरज। परीक्षण के तौर पर कुछ दिनों के लिये काम देकर देखा जा सकता है।"

खैर, मैंने हिम्मत न हारी। कुछ दिनों के लिये परीक्षा ही सही। मुझे एक अनुभवी स्काउट मास्टर के नीचे काम करने के लिये भेज दिया गया। उसने तीसरे दिन ही कह दिया :

"मियां, तुम काम-वाम तो कुछ करते नहीं, हमेशा दूर की हांकते रहते हो। बड़ा बनना है तो पहले बड़ों के पैरों की धूल बनो।"

मैंने गांठ बांध ली।

हमारे शहर में कलक्टर साहब की सबसे ज्यादा पूछ थी। मैं अपनी वर्दी डालकर उनके घर जा पहुंचा और लगा उनके घर जाने-आनेवालों का नियंत्रण करने। थोड़ी देर तो सब कुछ ठीक चला, मेरे इशारे पर बड़े लोगों की मोटरों को रुकना पड़ता था, साहब से मिलने के लिये मेरे आदेश की सबको प्रतीक्षा रहती थी। लेकिन हाय री बदकिस्मती! मेरा प्रशिक्षक सार्जेंट यहां आ पहुंचा। मुझे देखते ही उबल पड़ा :

"तुम इधर काहे आया? स्काउट ड्रेस पहनकर लोगों को ठगना मांगता?"

करीब था कि वह मुझे अर्द्धचन्द्र देकर रास्ते पर फेंक दे कि साहब बाहर निकल आये। उन्होंने सार्जेंट से पूछा : "मामला क्या है?"

उसके उत्तर से मुझे मालूम हुआ कि साहब के बंगले पर पहरा देने की व्यवस्था उसके हाथ में है और असली की गैरहाजिरी में मैंने उसका पद हड़प लिया था और लोगों ने मुझे वर्दी के कारण पहरेदार समझ लिया और जब दो मिनट बाद असली संतरी वापस आया तो वह मुझे देखकर डर गया। उसने समझा उसकी चोरी पकड़ी गयी और सार्जेंट ने ही उसे दण्ड देने के लिये मुझे यहां खड़ा कर दिया है। इसलिये वह माफी मांगने के लिये दौड़ा-दौड़ा सार्जेंट के घर पहुंचा और तब यह सारा भेद खुला।

यह सब तो मेरे लिये भी एक कहानी से कम न था। सार्जेंट मुझे पकड़कर हवालात में ले जाना चाहता था पर न जाने क्यों साहब को मेरा चेहरा देखकर हंसी आ गयी। मेरा साहस बढ़ गया, मैंने बढ़कर उनके कदम पकड़ लिये। साहब अंदर चले और मुझे भी इशारे से अपने साथ बुला लिया।

अंदर जाकर मैंने क्या देखा? कैसे कहूं, बस यही समझो कि हमारी कल्पनाओं का स्वर्ग धरती पर आ गया था। मैं ज्यादा पढ़ा-लिखा तो नहीं हूं, पर अपनी नानी-अम्मा से इतिहास, पुराण, भागवत वगैरह की बहुत-सी कथाएं और नाना जी से अंग्रेज अफसरों की शान-शौकत की बहुत-सी कहानियां, अलिफ-लैला की दास्तानें सुन चुका हूं।

मैं यही सोचा करता था कि एक दिन आयेगा जब मेरे घर में यह सब साज-सामान होगा, मेरी स्त्री (जिसका अस्तित्व अभीतक कल्पना लोक से बाहर नहीं निकला है, हां, वहीं पर नित नए रूप बदला करती है) हमेशा सोने-चांदी के कपड़े पहना करेगी। तो इस कमरे में घुसते ही मुझे ऐसा लगा कि यह मेरे कल्पना-लोक के कमरों में से एक है और कौन जाने साहब ने उसके असली मालिक को देखते ही पहचान लिया हो और अब उसे उसका कमरा सौंपने के लिये ही यहां लाये हैं।

खैर, साहब तो बैठ गये, मुझसे बैठने के लिये न कहा। मुझसे सारी कहानी सुनकर उन्हें बड़ा मजा आया और बोले : "अच्छा ! तुम्हें मेरा अरदली होना इतना पसंद है कि तुम बिना वेतन के काम करने को तैयार हो ? लेकिन क्यों ?"

तब मैंने अपना गुरु-मंत्र बताया कि बड़ा बनने के लिये बड़ों की पगधूलि बनना मेरे जीवन का प्रथम लक्ष्य है। साहब हो-हो करके हंस पड़े। बड़े ही भले आदमी लगे मुझे। भगवान् उनका भला करें। फिर बोले :

"अच्छा, तुम्हें कल से आठ दिन के लिये रखता हूं। मैं जब कभी बाहर जाऊं, तुम अरदली की तरह चल सकते हो। अगर तुम्हारा काम अच्छा हुआ तो तुम्हें रख लिया जायेगा, लेकिन इन आठ दिनों की कोई तनखाह न मिलेगी।"

अंधा क्या चाहे ? दो आंखें ! मैंने झट साहब को स्काउट का सलाम किया और सिर पर पैर रखकर घर की ओर दौड़ा। अब मैं सारे जिले के बड़े साहब का अरदली था और यह समाचार अपने सब साथियों को बताने की जल्दी में मुझे रास्ते में कुछ भी न दिखायी दे रहा था। सामने से एक बैलगाड़ी आ रही थी, भगवान् भला करे गाड़ीवान का जिसने एक चाबुक लगा कर मुझे जगा दिया वरना न जाने मेरा क्या हाल होता !

खैर, मैं घर पहुंचा। अपनी स्काउट मास्टर की वर्दी को अच्छी तरह धोया और इस्त्री करवाने की तरकीब सोचने लगा। घर में तो इस्त्री थी नहीं और मेरा कोई चाचा या मामा धोबी या दरजी न था जो मुफ़्त में कर देता। थोड़ी देर में मेरे दिमाग में विचार कौंध गया। कपड़ों की तह करके उनपर एक भारी-सा बक्सा रख दिया और उसके ऊपर मैं स्वयं जम गया।

फिर आयी जूतों की बारी, उनपर जरा-सा तेल लगाकर तवे की कालिख पोत दी। लीजिये, सस्ती पालिश भी हो गयी। यह सब करते-करते रात हो गयी। लेकिन अपने शरीर के लिये तो कुछ किया ही नहीं। लेकिन कोई डर की बात नहीं है, अभी तो साहब के यहां जाने के लिये बारह घंटे से भी ज्यादा हैं।

पहले मां की रसोई में से चुराकर थोड़ा-सा तेल मल लिया, फिर ख्याल आया कि पड़ोसी के यहां चम्पा के फूल हैं, थोड़े-से तोड़कर शरीर पर मल लूंगा, तेल और फूल मिलकर फुलेल बन जायेंगे। साहब भी मेरे शरीर से आनेवाली सुगंध से खुश हो जायेंगे।

पड़ोसी के घर की ओर लपका, लेकिन इससे पहले कि मैं उछलकर फूल तोड़ूं उनका कुत्ता मेरे ऊपर लपक पड़ा। वह तो खुदा भला करे कि मेरा तहमद कुत्ते के दांतों में फंस गया और मेरी टांग बच गयी। तहमद से तो हाथ धोना पड़ा पर "जान बची लाखों पाये"। और रात का समय था, किसी ने मुझे इस अवस्था में देखा भी नहीं।

अटल मृत्यु की तरह कहूं या अनिवार्य भविष्य की तरह कल आ ही गया। बक्से के नीचे से कपड़े निकाले। उफ ! मेरी बुद्धि पर पत्थर पड़े ! बक्से के नीचे रखते समय कपड़े कुछ गीले थे, बक्से ने उनपर अच्छी तरह जंग के दाग लगा दिये और इन्हें पहनकर मैं अच्छा-खासा चितकबरा बन गया। लेकिन अब ऐसे ही पहनने के सिवाय कोई चारा न था।

मां से विदा लेने लगा तो वह हंस पड़ी और बोली : "तू ने शायद कपड़े सुखाये नहीं, सील की गंध आ रही है।"

यह तो पहले ही कौर में मक्खी आ गिरी। मैंने सोचा, ठीक ही तो है, "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। बड़े आदमियों के जीवन में सदा कठिनाइयां आया करती हैं, मेरे लिये भी तो बड़प्पन का श्रीगणेश है।

मैं साहब के घर की ओर चला। चौक की घड़ी में आठ की तैयारी थी, मैं सकपका गया। आठ बजे तो साहब रंगजी के मंदिर में जानेवाले थे, मुझे तो देर हो गयी ! मैं दौड़ा मंदिर की ओर। हांफता-हांफता वहां जा पहुंचा। अभी साहब नहीं आये थे। मंदिर में आरती की तैयारी हो रही थी। मैंने अवसर का फायदा उठाया। अपनी सीटी बजाकर मैंने जोर से आदेश दिया : "ख़बरदार ! साहब के आने से पहले कोई मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता, निकलो सब लोग बाहर !"

कोई विशेष असर न होते देखकर मैंने अपना परिचय दिया : "मैं साहब कलक्टर बहादुर का विशेष मानव अरदली हूं और उनके आने की व्यवस्था करने के लिये भेजा गया हूं। जो मेरी बात न सुनेगा उसे हथकड़ी लगा दी जायेगी।"

जनता में थोड़ी घुस-पुस शुरू हुई। मैंने डंडा दिखाया तो दस-पांच आदमी खिसककर मंदिर से बाहर हो गये। मैंने कहा : "ठीक है, सब-के-सब फूल और नैवेद्य लेकर बाहर पंक्ति लगा दो। सबसे पहले साहब अंदर आयेंगे, उनके बाद तुम लोग अंदर जा सकते हो।

मैं अभी पंक्ति ठीक कर ही रहा था कि साहब की मोटर आ गयी। मैंने सोचा अपना पराक्रम दिखाने का अच्छा अवसर है। झट एक आदमी को जो पंक्ति में खड़ा न रह सकने के कारण बैठ गया था, ठोकर लगाते हुए कहा : "सुना नहीं ? खड़े हो जाओ सीधी तरह, साहब आ रहे हैं।"

मैंने सोचा था मेरी फुरती देखकर साहब खुश होंगे परंतु ऐसा लगा कि उन्होंने इस ओर देखा ही नहीं। वे अधमुंदी आंखों, हाथों में धूप-दीप लिये पंक्ति के अन्त में आकर खड़े हो गये। मुझे काटो तो लहू नहीं, फिर भी हिम्मत करके बड़प्पन का आखिरी दांव डाला। लेकिन पांसा उल्टा पड़ा।

मैंने साहब के सामने जाकर जोर से सलाम किया और कहा : "सरकार आगे आएं, मैंने रास्ता कर रखा है।"

लेकिन यह क्या ! साहब ने असंतोष दिखाते हुए मुंह पर उंगली रखी और धीरे से बोले : "बदतमीजी न करो ! भगवान् के घर सब बराबर हैं, मैं पंक्ति में ही ठीक हूं।"

मेरे ऊपर घड़ों पानी पड़ गया। मैंने समझ लिया कि यहां मेरी दाल न गलेगी और इससे पहले कि साहब को मेरी सारी करतूत का पता लगे मैं नौ दो ग्यारह हो गया। बड़प्पन के खण्डहरों को भी ढहते देख मेरी आंखों से झड़ी लग गयी, पर मैं कर ही क्या सकता था ?

स्थिरता और अभीप्सा

"स्थिरता, चाहे वह शुरू में एक अभावात्मक चीज ही मालूम होती हो, प्राप्त करना इतना कठिन है कि उसकी जरा-सी प्राप्ति को भी प्रगति का एक बहुत बड़ा कदम मानना चाहिये।

"वास्तव में स्थिरता अभावात्मक चीज नहीं है। वह सत्-पुरुष का अपना स्वरूप है और भागवत चेतना का भावात्मक आधार है। और चाहे जिस चीज के लिये अभीप्सा की जाये, चाहे जो प्राप्त हो, इसे बनाये रखना चाहिये। यहांतक कि अगर 'ज्ञान', 'शक्ति', 'आनंद' भी आयें

और इस आधार को न पायें, तो वे भी यहां नहीं टिक सकते और तबतक के लिये लौट जाते हैं जबतक भागवत शुद्धि और सत्पुरुष की शांति यहां स्थिर रूप से न हों।

"शेष भागवत चेतना के लिये अभीप्सा करो, लेकिन करो स्थिर गहरी अभीप्सा के साथ। वह तीव्र होने के साथ-साथ स्थिर हो सकती है, लेकिन अधीर, बेचैन या राजसिक उत्सुकता से भरी न हो।

"अतिमानस 'सत्य' केवल अचंचल मन और सत्ता में ही अपनी सत्य सृष्टि का निर्माण कर सकता है।"

मधुर मां, सत्पुरुष किसे कहते हैं ?

पुरुष ? सत्ता में यह क्या है ? ज्ञान। सचेतन सत्ता।

सच्ची अतिमानसिक सृष्टि क्या है ?

सच्ची सृष्टि का मतलब है नयी अतिमानसिक सृष्टि, जिसे हम यहां उपलब्ध करना चाहते हैं। जब हम नये रूपांतरित संसार की बात करते हैं तो उसका मतलब इसी अतिमानसिक सृष्टि से होता है।

"राजसिक उत्सुकता" का क्या मतलब है ?

"उत्सुकता" ? वह प्रचंडता है, उग्रता है। वह अत्यधिक उत्साह है; और "राजसिक" है—सत्ता में अत्यधिक क्रियाशील और उग्र तत्त्व, दुर्दान्त तत्त्व। राजसिक—यह सभी हर्षोन्मादों, विस्फोटों, उत्साहों और सभी उग्रताओं और आवेगों का और सभी अत्यधिक क्रियाशीलता का स्वभाव है, इसके विपरीत, तमस् है जड़, और सत्त्व है संतुलित। यह अत्यधिक क्रियाशील और उग्र तत्त्व है।

माताजी, क्या "अपनी चेतना को ऊंचा रखने" का मतलब है उच्चतर विचार पाने की कोशिश करना ?

यह तथ्य नहीं परिणाम होता है। जब तुम्हारी चेतना उच्चतर स्तर पर रहती है, तो स्वभावतः वह विचारों के लिये छलनी का काम करती है और केवल उच्चतर प्रकृति के विचारों को ही आने देती है। लेकिन यह तथ्य की अपेक्षा परिणाम है। अपनी चेतना को उच्चतर स्तर पर रखने का मतलब है, उसे सत्ता के निचले स्तरों से ऊपर उठाना, उसका मतलब है उसे प्रकाश में, शांति में, उच्चतर ज्ञान और सामंजस्य में बनाये रखना, यानी, अपनी चेतना को अपनी सत्ता में अधिक-से-अधिक ऊंचा रखना, ऐसे स्तर पर रखना जहां व्यक्ति सभी निम्न गतिविधियों से मुक्त हो। तब स्वभावतः, अगर चेतना वहां हो तो उसमें जो विचार आते हैं वे उच्चतर कोटि के होते हैं। और विचार चेतना की गति का एक आकारमात्र है, वह चेतना का द्रव्य नहीं है। एक विचारहीन चेतना होती है, चेतना की एक बहुत ऊंची अवस्था है जिस में कोई विचार नहीं होते। यह वह चेतना है जिसमें चीजों का पूर्ण ज्ञान हो सकता है, लेकिन वह विचारों में या शब्दों में व्यक्त नहीं होता। विचार क्रियावली का एक रूपमात्र है।

"नीरवता . . . ऊपर से होनेवाले अवतरण के द्वारा ज्यादा आसानी से प्रतिष्ठित हो सकती है।" "ऊपर से" का क्या मतलब है, मधुर मां ?

चेतना के उच्चतर स्तरों से। अगर तुम चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर खुलो और ऊपर से शक्ति का अवतरण हो, तो बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से, वह निचले क्षेत्रों में नीरवता स्थापित कर देती है, क्योंकि नीचे उतरनेवाली यह उच्चतर शक्ति उन क्षेत्रों पर नियंत्रण रखती है। यह शक्ति मन के उच्चतर क्षेत्रों से या उनके भी परे से, या अतिमनतक से आती है। तो जब यह शक्ति और चेतना नीचे आकर निचले क्षेत्र की चेतना में प्रवेश करती हैं तो स्वभावतः, यह चेतना शांत-स्थिर हो जाती है, क्योंकि ऐसा लगता है मानों, इसपर आक्रमण हुआ है, इसका रूपांतर करनेवाली उच्चतर ज्योति की बाढ़ आ गयी है।

वास्तव में, अपने मन में निरंतर नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र उपाय है। उपाय यह है: अपने-आपको उच्चतर क्षेत्रों की ओर खोलो, और इस उच्चतर चेतना, शक्ति और प्रकाश को निरंतर अपने अंदर, निम्न मानस में उतरने दो और उसपर अधिकार कर लेने दो। जब ऐसा होता है, तो इधर निम्न मानस हमेशा स्थिर-शांत और नीरव रह सकता है, क्योंकि यही क्रियाशील रहता है और सारी सत्ता को भरे रहता है। मन के सक्रिय हुए बिना तुम काम कर सकते हो, लिख और बोल सकते हो। मन अपने-आपमें एक निष्क्रिय यंत्र बन जाता है और ऊपर से आनेवाली यह शक्ति उसमें प्रवेश करती और उसका उपयोग करती है। और वास्तव में, नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र तरीका है; क्योंकि एक बार यह स्थापित हो जाये, नीरवता स्थापित हो जाये तो मन फिर हिलता-डुलता नहीं, जब यह शक्ति उसमें अभिव्यक्त होती है, तो वह इसीकी प्रेरणा से चलता है। वह एक बहुत स्थिर, बिल्कुल नीरव क्षेत्र के जैसा हो जाता है, और जब शक्ति नीचे आती है तो तत्त्वों को गतिशील बनाती है और उनका उपयोग करती है। वह मन के आलोड़ित हुए बिना उसके द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। मन बिल्कुल स्थिर रहता है।

मधुर मां, हम चेतना को मिश्रित चीजों से कैसे खाली कर सकते हैं?[1]

अभीप्सा के द्वारा, निचली गतियों के त्याग द्वारा और उच्चतर शक्ति को पुकार कर। अगर तुम अमुक गतियों को स्वीकार न करो, तो स्वभावतः, उन्हें पता लगेगा कि वे अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं, तो धीरे-धीरे उनका बल घटता जायेगा और वे आना बंद कर देंगी। अगर तुम हर निम्न प्रकार की चीज को अभिव्यक्त करने से इंकार कर दो, तो जरा-जरा करके वह चीज गायब हो जाती है, और तुम्हारी चेतना निम्नतर चीजों से खाली हो जाती है। यह अभिव्यक्त करना अस्वीकार करने से हो सकता है—मेरा मतलब है केवल क्रिया में ही नहीं, विचारों और भावनाओं में भी। जब आवेश, विचार, भाव आयें, तो अगर तुम उन्हें अभिव्यक्त करने से इंकार कर दो, अगर तुम उन्हें एक ओर धकेल दो और आंतरिक अभीप्सा और अचंचलता की स्थिति में रहो, तो आहिस्ता-आहिस्ता उनका बल घटता जाता है और वे आना बंद कर देते हैं। तो इस तरह चेतना निचली गतियों से खाली हो जाती है।

लेकिन, उदाहरण के लिये, जब अवांछनीय विचार आयें, तो यदि तुम उन्हें देखो, उनका अवलोकन करो और अगर तुम उनकी गतिविधि का अनुसरण करने में सुख अनुभव करो तो वे कभी आना बंद न करेंगे। जब अवांछनीय भावनाएं या संवेदन आयें तो भी यही बात होती है: अगर तुम उनकी ओर ध्यान दो, उनपर एकाग्रचित्त हो या उन्हें कुछ शौक से देखो, तो वे कभी बंद न होंगे। लेकिन अगर उन्हें ग्रहण करने से या व्यक्त करने से एकदम इंकार कर दो, तो कुछ समय बाद उनका आना बंद हो जायेगा। तुम्हें धैर्यशील और बहुत आग्रही होना चाहिये।

[1] "निश्चलता बनाये रखो और अगर कुछ समय के लिये वह खाली निश्चलता हो तो परवाह न करो; चेतना प्रायः उस पात्र की तरह होती है जिसे उसकी घुली-मिली या अवांछनीय चीजों से खाली करना पड़ता है; उसे कुछ समय के लिये तबतक खाली रखना पड़ता है जबतक वह नयी और सच्ची, ऋजु और पवित्र वस्तुओं से भरी न जा सके।"

किसी बड़ी अभीप्सा में, यदि तुम अपने-आपको किसी उच्चतर चीज के संपर्क में रख सको, अपने चैत्य पुरुष के प्रभाव में या किसी उच्चतर प्रकाश के साथ, और अगर तुम उसे इन नीची गतिविधियों के स्पर्श में ला सको, तो स्वभावतः, वे ज्यादा जल्दी बंद हो जायेंगी। लेकिन अभीप्सा के द्वारा इन चीजों को खींच सकने से पहले ही, तुम सतत आग्रह और धैर्यशील अस्वीकृति के द्वारा अपने अंदर इन चीजों के प्रकट होने को रोक सकते हो। जब ऐसे विचार आते हों जो तुम्हें पसंद नहीं हैं, तो तुम उन्हें बस, एक ओर झटक दो, और उनकी ओर जरा भी ध्यान न दो, तो कुछ समय बाद वे आना बंद कर देंगे, लेकिन तुम्हें यह चीज नियमित रूप से और आग्रह के साथ करनी चाहिये।

(श्रीमातृवाणी खंड ६ से)

'नहीं लिखे जाते गम्भीर लेख'

आह, आधी रात बीत गयी। घड़ी टिक टिक और टन टन करती जा रही है। मैं कब से फाउंटेनपेन खोले बैठी हूं पर होता हुवाता कुछ नहीं। मेरे मकान के और अड़ोस-पड़ोस के सब लोग सो चुके हैं, एक मैं ही आंखें फाड़े अनन्त की ओर ताक रही हूं। नींद आंखोंतक आ आ कर लौट जाती है, अभी मुझे फुर्सत ही कहां है। कल फिर से सवेरा होगा, मुझे स्कूल जाना ही पड़ेगा और फिर मास्टर जी मुस्कराते हुए पूछेंगे, 'क्यों भई हो गया तुम्हारा गृहकार्य ?' मैं क्या उत्तर दूंगी उन्हें ? उनकी मुस्कान और भी मुसीबत लिये रहती है। वे जरा कड़ककर बोलें तो मैं भी ऐंठ कर ऐसा उत्तर दे दूं कि उन्हें आटे दाल का भाव मालूम हो जाये। पर मुश्किल तो यह है कि वे इतने मधुर भाव से, इतने अपनेपन से बोलते हैं कि साधारण ना कहते हुए भी बुरा लगता है और मैं स्वयं मानने लगती हूं कि काम न करना मेरी कमजोरी है और मैं नीचा सिर किये वचन दे बैठती हूं, 'मास्टर जी, कल जरूर।'

फिर गृहकार्य कोई हौवा तो है नहीं मुझे उसका डर क्यों लगता है ? आखिर सभी लड़कियां कर लाती हैं, मैं कोई अनोखी तो हूं नहीं, हां, एक बात जरूर है, कोई हंसी दिल्लगी का निबंध लिखना हो, कोई मजाकिया स्केच तैयार करना हो या किसी पर फबती कसते हुए कहानी लिखनी हो तो आप एक नहीं दो गृहकार्य करवा लीजिये, मैं चूं भी करूं तो मेरा नाम नहीं। लेकिन मुश्किल तो यह है कि हमारे अध्यापक अपनी ही हांकते हैं, मेरी एक नहीं चलने देते। अभी कुछ दिन पहले की बात है मैं उनके साथ उलझ ही तो पड़ी। मैंने कहा, 'मुझसे नहीं लिखे जाते गम्भीर लेख। यह मेरे लिये असम्भव काम है।' कहने को कह तो दिया पर परिणाम भी जानती ही थी। उन्होंने युक्तियों की झड़ी लगा दी। कहा, 'अभी से विशेषज्ञ बनने का प्रयास न करो। अभी तो तुम्हें भाषा सीखनी है और जो कुछ लिखना है इसी उद्देश्य को सामने रखकर लिखना है। तुम्हें अपने दिमाग से काम लेना सीखना चाहिये, किसी भी विषय की गहराई में पैठकर वहां से मोती निकाल लाने की कला सीखनी चाहिये। भिन्न-भिन्न प्रकार के विषय लेने से तुम्हारी जानकारी बढ़ेगी, तुम्हें बहुत-सी बातों का पता लगेगा। बहुत-से विषयों का गहरा अध्ययन कर सकोगी, विषय के पक्ष-विपक्ष में सोचने की क्षमता आयेगी और एक समग्र दृष्टि पैदा होगी जिससे तुम एक कूप-मण्डूक न रहकर सार्वभौम नागरिक बन सकोगी। तुम्हें अन्नपूर्णानन्द और चुगताई के हास्य रस का भी आनन्द लेना चाहिये और श्यामसुन्दर दास और हजारी प्रसाद के गम्भीर लेखों में भी रस लेना चाहिये। तुम जिस विषय को उठा लो उसी पर कलम चलने लगे और तदनुरूप भाषा भी प्रवाहित होती जाये तभी कुछ बात है। अपने हास्य में भी तुम तभी कुछ जान ला सकोगी जब उसके पीछे कुछ सत्य हो अन्यथा वह एक छिछोरापन बनकर रह जायेगा और वह तो तुम्हें अभीष्ट नहीं है न।'

अरे बाप रे, इतनी युक्तियां, इतने बड़े-बड़े नाम और इतना लम्बा भाषण; मैं तो इसके भार के नीचे दब गयी। अब उत्तर में कहूं तो क्या कहूं? कुछ सूझे तब ना। मेरा दिमाग मानो सुन्न-सा हो गया और मैंने सुना, मेरे मुख से निकल रहा था, 'हां, बात तो ठीक है मैं प्रयास करूंगी।' लीजिये साहब, उसी दिन से प्रयास में लगी हूं। वह दिन था और आज की यह रात है—या यूं कहूं कि आज का दिन है क्योंकि बारह तो बज ही चुके हैं और, और कुछ बन पड़ा या नहीं केलेंडर से तारीख भी फाड़ चुकी हूं—मैंने कितने ही प्रयास किये हैं पर हजरत दिमाग में से कोई गम्भीरता का फीता निकलता नहीं दिखायी देता।

मैंने बहुत कोशिश की, खांसी, खखारी, चुप होकर लंबा-सा मुंह बनाकर बैठ गयी और कसम खा ली कि जबतक एक गम्भीर लेख तैयार नहीं हो जायेगा तबतक के लिये हंसी छोड़ मुस्कान को भी अपने पास न फटकने दूंगी। अच्छा साहब पहला कदम तो उठा लिया। लेकिन साथ ही ख्याल आया, गम्भीर शकल कैसी होती है यह भी तो देख लूं। कहीं ऐसा न हो कि गलत प्रकार की गम्भीरता आ जाये और काम बनते-बनते बिगड़ जाये या यूं कहिये, कहीं सारा गुड़ गोबर न हो जाये। निश्चय कर लिया कि दो चार गम्भीर लेखकों के फोटो सामने रखकर उनके जैसी मुख-मुद्रा बना लूंगी फिर गम्भीरता स्वतः ही मेरी निर्झरिणी से झरने लगेगी। बस फिर क्या था, लगी अखबार और किताबें ढूंढने। हिन्दी लेखकों के चित्र तो मेरे घर में हैं नहीं अब क्या करूं? नहीं, गम्भीरता तो सब जगह एक जैसी ही होती होगी, ऐसा तो न होगा कि एक भाषा में जिसे गम्भीरता कहते हैं उसे ही दूसरी भाषा में हास्य कहते हों, एं... हां... मैं इन साहित्यिक लोगों से बेजार हूं। इनके कभी मत ही नहीं मिलते, एक कहता है दही खट्टा दूसरा कहता है दही खट्टी, एक कहता है प्रभात आया दूसरा कहता है आयी प्रभात, फिर मैं ही क्यों इन लोगों का अनुकरण करूं, मैं भी तो अपनी अलग डफली बजा सकती हूं। मैं उनसे कुछ कम हूं क्या? हजारी प्रसाद और बनारसीदास द्विवेदी और चतुर्वेदी भले ही हों पर मेरे कंधे से भी नीचे ही रहते होंगे फिर उनका अनुकरण क्यों करूं?

पर हां, मैं कहां बहकी जा रही हूं। मैं तो गम्भीर लेखकों के चित्र जुटाने में लगी थी। आहा निकल आया, यह अलबम मिल गया। यह लीजिये ये हैं पगड़ीधारी राधाकृष्णन, ये रहे मूछोंवाले आइंस्टाइन, और ये हैं अष्टावक्र मश्रूवाला। ऊंहुं कुछ काम बना नहीं, इन लोगों के जैसी मुख-मुद्रा कौन बनाये, मेरी अच्छी खासी शकल बिगड़ जायेगी। इसमें किसी गम्भीर स्त्री का चित्र नहीं दीखता। देखूं और पन्ने पलट लूं। हां, लो काम बन गया। ये रहीं महादेवी वर्मा। मास्टर जी इनकी प्रशंसा करते नहीं थकते। कहते हैं, इनके अंदर गाम्भीर्य है, माधुर्य है, दृष्टि है और भगवान् जाने क्या क्या है। चलो, इन्हीं के जैसा बना जाये। साड़ी का पल्ला इस तरफ से कर के सिर पर डाल लूं—बाल कहीं दिखायी तो नहीं दे रहे। आईने में देख आऊं जरा... पर नहीं रात को आईना देखने से तो, कहते हैं मुंह पर झाइयां पड़ जाती हैं। अपना मुंह कौन खराब करे गम्भीर लेख के पीछे। अच्छा चलो इतना ही काफी है, अब मैं महादेवी वर्मा हूं, जो कुछ भी लिखूंगी अच्छा लिखूंगी, गम्भीर लिखूंगी और मास्टर जी उसपर लट्टू हो जायेंगे।

आ जा मेरी लेखनी, आज तेरा भाग्य भी चमका दूं। कहते हैं टेनिसन जिस कलम से कविता लिखते थे वह सैंकड़ों पाउंड में बिका है। आज मैं भी गम्भीर लेख लिखने बैठी हूं। महादेवी वर्मा अगर गम्भीर चीज लिख सकती हैं तो मैं क्यों नहीं लिख सकती। मेरे मास्टर की इच्छा है, मेरा निश्चय है और महादेवी की-सी वेशभूषा है, अब कमी किस बात की रह गयी है। तुझे प्रसिद्ध होना है मेरी लेखनी, तो आज स्वर्णिम अवसर है।

हां, वेशभूषा ठीक है। लेखनी प्रस्तुत है कागज सामने मेज पर है और मैं कुर्सी पर ध्यानावस्थित

हूं। मुश्किल बस इतनी ही है कि लेखनी चल नहीं रही। बहुत कहा-सुना, समझाया-बुझाया पर मेरी लेखनी टेनिसन और महादेवी की लेखनी के सामने मैदान में आने को तैयार न हुई। अरे भाई, यह पारकर ६१ है। कलमों में नवीनतम कलम—महादेवी के पास भी ऐसा नहीं है और टेनिसन ने तो इसे स्वप्न में भी न देखा था फिर यह चलता क्यों नहीं ?

हे भगवान् ! मैं हताश हुई जा रही हूं। शायद मास्टर जी की यह बात भी ठीक हो कि आदमी को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। दूसरों की नकल करने से 'कौआ चला हंस की चाल, गया अपनी भी भूल, लगा फुदकने' वाली बात न हो जाये। मास्टर जी ने एक जज की बात सुनायी थी। उसके दो भाई थे। दोनों ही अनपढ़ और उजड्डु। दोनों भाई खेती करते और जज साहब अदालत में जाते थे। किसानों की स्त्रियों को यह बात बहुत खली। आखिर उनके आदमी जज सहब से किस बात में कम थे कि जज तो मोटर में बैठकर साहब की तरह जाते हैं और ये दोनों बड़े भाई बैल लेकर खेत जोतने के लिये विवश होते हैं। दोनों स्त्रियों ने अपने-अपने पतियों के कान भरे। दोनों को बात जंच गयी और एक दिन दोनों ने मिलकर जज साहब को नोटिस दे दिया, 'आखिर हम भी तो उसी कोख के जाये हैं; आखिर तुम में ही ऐसा कौन-सा सुरखाब का पर लगा है कि तुम साहब बनकर मोटर में लद जाओ और अदालत की कुर्सी पर बैठो और हम दोनों तचती धूप में हल जोतते फिरें। सुन लो, कान खोलकर, अब से हम लोग अपने काम की बारी बांध लेंगे। बारी-बारी से हम तीनों एक-एक दिन जजी करेंगे और एक-एक दिन खेती।' छोटे भाई को बड़ों की आज्ञा माननी पड़ी। अगले दिन तड़के ही सबसे बड़े भाई ने सूट-बूट पहना। न कालर का ठिकाना था न टाई का, मौजे जूते भी अपनी अलग बहार दिखा रहे थे। बड़ी मुश्किलों से पतलून तो चढ़ा ली पर पेटी का क्या करे यह समझ में न आया। खैर, उसे हाथ में चाबुक की तरह लेकर मोटर में जा धमके और पहुंच गये अदालत में। मोटर से उतरते ही जो आदमी सामने आया उसे एक चाबुक रसीद कर दिया, 'देखता नहीं है अंधा है, हम जज साहब आ रहे हैं और तू रास्ते में खड़ा है।' दो एक को चाबुक लगा कि सारी अदालत में खलबली मच गयी। लोग कहने लगे, 'जरूर कोई आगरे से भागा हुआ है।' पुलिस के सिपाही ने नये जज साहब को हवालात की कुर्सी पेश कर दी।

उधर बेचारे जज साहब का बुरा हाल। कभी बैल की दुम ऐंठी, कभी कान मरोड़े पर वह न हिलने की कसम खाये बैठा था, उसे न हिलना था और न वह हिला। इन्हें बड़ा गुस्सा आया, कमबख्त मेरा हुकुम नहीं मानता। इन्होंने आव देखा न ताव उसको दो चार जड़ दिये और वह पघा तुड़ाकर यह जा वह जा। बैल दूसरों के खेत की फसल रौंदता, कुचलता भागा जा रहा था और दूसरे भाई को चिंता हो रही थी कि यह मुफ़्त की फौजदारी हो जायेगी और बैल को भी 'कांजी हौस' से छुड़ाना पड़ेगा। जज साहब के लिये इतना परिश्रम बहुत हो चुका था और वे घर की ओर लौट पड़े। वहां एक कुहराम मचा हुआ था। बड़े भाई की स्त्री ने सारा घर सिर पर उठा रखा था। ड्राइवर ने घर आकर बताया था कि कैसे नये साहब को पुलिस ने सरकारी मेहमान बना लिया था।

जज साहब मोटर में बैठ सीधे कचहरी पहुंचे और अपने भाई को छुड़ाया। तीनों मिलकर खूब मिले-भेंटे और निश्चय किया कि आगे से अपनी स्त्रियों की बुद्धि से नहीं चलेंगे और किसी दूसरे की नकल भी न करेंगे।

रह रह कर मुझे यही कहानी याद आ रही है। शायद मुझे भी महादेवी की नकल छोड़ देनी चाहिये। तब फिर करूं क्या समझ में नहीं आता। जिधर जाओ उसी तरफ रास्ता बंद। चलो, अब तो सो जाऊं दो बज रहे हैं। मास्टर जी पूछेंगे तो कह दूंगी—

'मुझसे नहीं लिखे जाते गम्भीर लेख।'

न शठो बुद्धिमत्तरः

पुराकाले कश्चिद् वाणिजः विदेशात् ईषत् धनं अर्जित्वा गृहं प्रत्यागच्छति स्म। नासन् तेषु दिनेषु यातायातसम्बद्धानि वाहनानि, रात्रौ कुत्रापि विश्रम्य दिने सः स्वयात्रामकरोत्। मध्ये मार्गम् कश्चित् शठः तममिलत् अपृच्छत् च—कुत्र गच्छसि भ्रातः ? वाणिजः सरलभावेन तमकथयत् यदहम् ईषत् धनं अर्जितुं विदेशं गतः, सम्प्रति च स्वनगरं प्रतिगच्छामि।

शठः तं महामूर्खम् मत्वा साभिप्रायम् अवदत्—अहो ! कीदृशः संयोगः। अहमपि तदेव नगरं गच्छामि। आवयोः द्वयोः अर्थे अधुना शेषयात्रा सुखकरी भविष्यति।

शठस्य उद्देश्यं तु भिन्नमेवासीत्। परस्परं संवदन्तौ तौ अग्रे असरताम्। वार्तालापप्रवीणः शठः अतिचातुर्येण एतत् अजानात् यत् तस्य जनस्य सम्पूर्णं धनं एकस्यां पोट्टलिकायां अस्ति। रात्रिः सञ्जाता। तौ कमपि नगरं प्राप्तौ। तत्र एकां यात्रिशालां वीक्ष्य तस्यां रात्रिविश्रामाय स्थितौ।

शठः शीघ्रमेव कृत्रिमनिद्रायाः उपक्रमम् अकरोत्। वाणिजः सत्यनिद्राम् अभजत। अर्धरात्रौ शठः निःशब्दम् उत्थाय धनस्य अर्थे सर्वत्र अन्वेषयत् किन्तु निष्फलम्। अन्ते विषण्णः, क्रुद्धः, निरुपायः सः अपि शेषरात्रिम् अस्वपत्।

परेद्युः वार्तालापे सः वाणिजं चातुर्येण अकथयत् एव यत् मन्ये त्वया परदेशे अधिकं धनं न उपार्जितम् अन्यथा स्वपरिवारस्य अर्थे बहूनि वस्तूनि आनीतानि स्युः।

वाणिजः अवदत्—भ्रातः, किञ्चित् धनं तु उपार्जितम् एव, वस्तूनि ते स्वाभिरुच्याः एव क्रेष्यन्ति।

एतत् श्रुत्वा शठः विश्वस्तः जातः यत् अस्ति अस्य सकाशे प्रचुरं धनं कुत्रापि। अद्य रात्रौ अन्वेषणीयम् एव।

तस्यां रात्रौ अपि सः समानां युक्तिमकरोत्, यदा सः विश्वस्तः यत् वाणिजः गाढनिद्रां भजते तदा धनस्य अर्थे तस्य महाप्रयासः पुनः आरब्धः। कटिबद्धः आसीत् सः धनं प्राप्तुं किन्तु किं सफलः जातः सः ? नैव !!

अन्यं कमपि उपायं न वीक्ष्य अन्ततः सः स्वशय्याम् अगच्छत् किन्तु निद्रां नैव अलभत। रात्रिः व्यतीता। प्रभाते वाणिजः स्वमित्रस्य मुखं वीक्ष्य अकथयत्—भो मित्र किं जातम् ? रात्रौ नैव सुप्तः किम्, तव नेत्रे शूने।

वाणिजस्य एतादृशं वचनं निशम्य शठः स्वं भावं रक्षितुं नाशक्नोत्, अवदत् च—त्वं मां मित्रम् इति कथयसि किन्तु जानासि नाहं तव मित्रं केनापि प्रकारेण यतो हि वस्तुतः अहमस्मि महाशठः, तव धनस्य चोरणं एव आसीत् मम एकमात्रम् उद्देश्यं तस्मात् त्वया सह मित्रवद् आचरम् किन्तु मया स्वीकर्तव्यं यत् यद्यपि मम ग्रामस्य जनाः मां महाशठं मन्यन्ते किन्तु अद्य अहं स्वकार्ये असफलः। रात्रिद्वयादहम् अन्वेषयामि तव धनं किन्तु न हस्तगता एका काकिणिका (कौड़ी) अपि। भो मित्र ! किं त्वं मत्तः अपि श्रेष्ठः शठः अथवा मिथ्यावादी, धनस्य अभावे अपि वदसि यत् धनमस्ति ?

वाणिजः सस्नेहं तमवदत्—मित्र ! नाहं शठः न च मिथ्यावादी, किन्तु मन्ये ईश्वरः मह्यं यथाकालं सद्बुद्धिम् अददात्। प्रथमदिनात् तव आचरणं तथा संदिग्धमासीत् यथा मया चिन्तितं यत् मम धनं सर्वाधिकं सुरक्षितं तव सकाशे एव भविष्यति तस्मात् रात्रौ उचितसमयं वीक्ष्य अहं तव बालिशस्य नीचैः एव धनस्य पोट्टलिकां स्थापयित्वा चोरस्य भयात् मुक्तः प्रवासे रात्रिद्वयं सुखेन सुप्तः यतो हि मया ज्ञातं यत् रात्रौ त्वं धनस्य अर्थे स्वस्य शय्यां विहाय सर्वत्र अन्वेषयिष्यसि, तव जागरणेन तृतीयजनस्य आगमनस्य प्रश्नः एव न उद्भवति तस्मात् मम धनं सर्वथा सुरक्षितम् आसीत्।

शठः वाणिजस्य इमां युक्तिं श्रुत्वा निरुत्तरः जातः। वाणिजः पुनरपि अवदत्—वस्तुतः मनुष्यमात्रस्य एव एषा दुर्बलता यत् स्वसकाशस्थं वस्तु त्यक्त्वा दूरस्य वस्तु अन्वेषयति।

शठः विलापमकरोत्—अहो ! मम कियत् दुर्भाग्यम् ! यत् मम हस्तगतमासीत् तत् अहं अन्यत्र सर्वत्र अन्वैषयम्।

वाणिजः पुनरपि अवदत्—पश्चात्तापः व्यर्थः सम्प्रति। एतत् आसीत् तव सौभाग्यं यत् अद्य त्वया किमपि शिक्षितम्—सर्वं धनं त्वयि वर्तते, लौकिकं वा तद् भवतु अलौकिकं वा। तव अर्थे पुरुषार्थः सत्यं धनम्। सत्यहृदयेन परिश्रमं कुरु, द्रक्ष्यसि यत् तव गोहे सर्वदा तावत् धनं भविष्यति यावता परधन-ग्रहणस्य विचारः एव न उद्भविष्यति।

—वन्दना

अक्तूबर १९८९ से सितम्बर १९९० तक के

मुख्य लेखों की सूची

साम्राज्य (५—९०); विदेशी आक्रमण (६—९०); युग-युग का भारत (७—९०); नवसृजन (८—९०); ग्रहणशीलता (९—९०)।

'सान्ध्य-वार्ताएं'—सत्ता के विभिन्न भागों के बारे में (१०—८९); सत्ता के विभिन्न भाग (११—८९); सौन्दर्य (१२—८९); अतिमानसिक स्तर इत्यादि के बारे में (१—९०); विभिन्न लोक (२—९०); मनुष्य तथा अन्यान्य लोक (३—९०); बीमारियां (४—९०); प्राणिक ऊर्जा (५—९०); विभिन्न देवता (६—९०); विभिन्न शक्तियां (७—९०); चेतना तथा अतिमानस (८—९०); देवलोक इत्यादि (९—९०)।

श्रीअरविंद की कविताएं—विद्युदणु, बाजी प्रभु (दीर्घ कविता) (१०—८९); अन्तहीन पराक्रम (११—८९); अभ्यागत (१२—८९); काम (१—९०); मुक्ति (२—९०); गुह्य योजना (३—९०); अनल पवन (४—९०); विश्व-नृत्य (५—९०); नीरवता का महाशब्द (६—९०); दिव्य श्रमिक (७—९०); दिव्य-श्रवण (८—९०); विश्वरूप आत्मा (९—९०)।

'कुछ माताजी के बारे में'—कुछ अद्भुत बातें (१०—८९); योग (११—८९); ध्यान (१२—८९); योग में प्रगति (१—९०); ध्येय (२—९०); विरोधी शक्तियां तथा श्रद्धा (३—९०); प्राणिक जगत् (४—९०); नैतिक सिद्धांत (५—९०); प्रेम—एक महान् शक्ति (६—९०); रोग तथा भय (७—९०); दिव्य प्रेम (८—९०); पथ-प्रदर्शक की भूमिका (९—९०)।

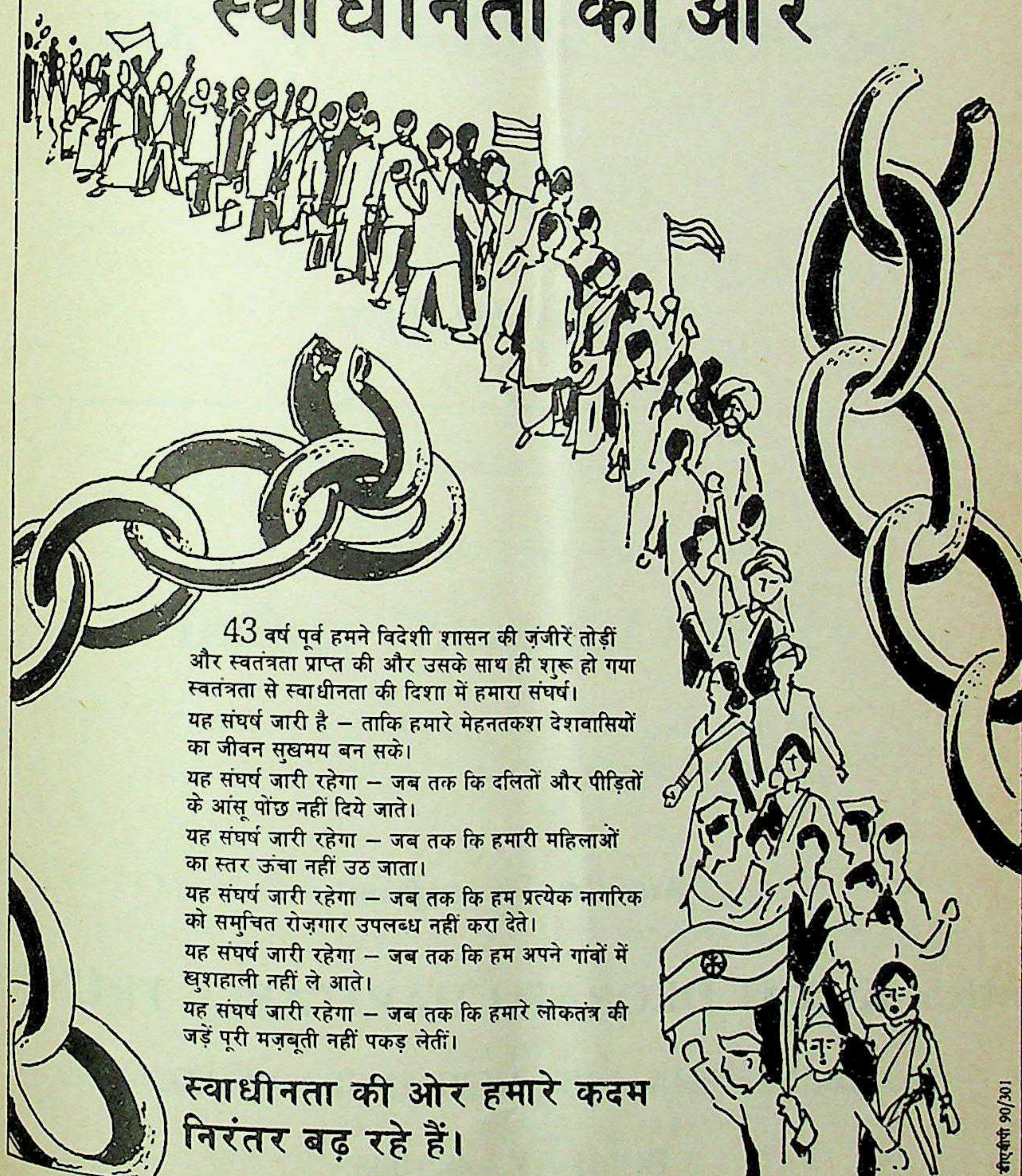
अन्य—नया शिवाला (१०—८९); अवसर (५—९०); ओंकारनाथ ठाकुर, देर हो रही है, दूर जाना है (७—९०); वन्देमातरम् का युग (माधव पंडित), सावित्री (छोटेनारायण) (८—९०); मेरा बड़प्पन, नहीं लिखे जाते गम्भीर लेख (९—९०)।

कहानियां—अनोखा अतिथि (अनुबेन) (१—९०); ज्योति से ज्योति की ओर (अनुबेन) (२—९०); आसमः एक घोड़े की आत्म-कथा (अनुबेन) (३—९०); चट्टान में परिवर्तन (४—९०); सिंहवाहिनी (५—९०); अनुकम्पा-भरी देन, चीता भी बदल गया (६—९०); तीन साथी (८—९०)।

'नयी कोंपलें'—एक बीज (कविता) (आनन्द अग्र०) (७—९०); असीम की चाह (कविता) (आनन्द अग्र०) (८—९०)।

'गैर्वाणी'—कः शूद्रः (१०—८९); मूल्याङ्कनम् (११—८९); अतिथिः (१२—८९); सरस-शिक्षा (१—९०); श्रेष्ठं वरणम् (२—९०); यस्य हृदयं शुद्धम्... (३—९०); योग्यः (४—९०); उपहारः (५—९०); भगवते अर्पणम् (६—९०); लोभः सर्वविनाशकः (७—९०); 'तीर्थभूता हि साधवः' (८—९०); न शठो बुद्धिमत्तरः (९-९०)।

दैनन्दिनी तथा 'प्रार्थना और ध्यान' हर महीने गये।


स्वतंत्रता से
स्वाधीनता की ओर
43 वर्ष पूर्व हमने विदेशी शासन की ज़ंजीरें तोड़ीं और स्वतंत्रता प्राप्त की और उसके साथ ही शुरू हो गया स्वतंत्रता से स्वाधीनता की दिशा में हमारा संघर्ष।
यह संघर्ष जारी है – ताकि हमारे मेहनतकश देशवासियों का जीवन सुखमय बन सके।
यह संघर्ष जारी रहेगा – जब तक कि दलितों और पीड़ितों के आंसू पोंछ नहीं दिये जाते।
यह संघर्ष जारी रहेगा – जब तक कि हमारी महिलाओं का स्तर ऊंचा नहीं उठ जाता।
यह संघर्ष जारी रहेगा – जब तक कि हम प्रत्येक नागरिक को समुचित रोज़गार उपलब्ध नहीं करा देते।
यह संघर्ष जारी रहेगा – जब तक कि हम अपने गांवों में खुशहाली नहीं ले आते।
यह संघर्ष जारी रहेगा – जब तक कि हमारे लोकतंत्र की जड़ें पूरी मज़बूती नहीं पकड़ लेतीं।
स्वाधीनता की ओर हमारे कदम निरंतर बढ़ रहे हैं।
डीएवीपी 90/301

"Work done in the right spirit is meditation."

— The Mother

सन्तोष बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, आन्तरिक स्थिति पर निर्भर होता है।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER



प्रस्तर देवी

देवों के नगर में, प्रतनु देवायतन में प्रतिष्ठित,
शिल्पित अंगों से देवी ने मुझपर किया दृष्टिपात,–
एक जीवन्त उपस्थिति अमर्त्य और दिव्य,
एक रूप जो सारी अनन्तता को देता प्रश्रय।

महान् जगन्माता और उसकी इच्छाशक्ति प्रबल
निःस्वर, सर्वशक्तिशाली, अबोधगम्य, वाग्-रहित
आकाश और पाताल में, मरुस्थल
और पृथ्वी की नितलीय निद्रा में अध्यासित।

सम्प्रति मन से आवरित वह है अवस्थित, और मौन,
निःस्वर, अबोधगम्य, सर्वज्ञ, रहती गोपन
जब तक हमारी आत्मा देखे, करे श्रवण
रहस्य उसकी मूर्तिमत्ता का विलक्षण,

उपासक में और इस निश्चल आकार में वही अनन्य,
एक सौन्दर्य एक रहस्य मांस या प्रस्तर से प्रच्छादनीय।

अनु० —अमृता भारती —श्रीअरविन्द

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. धरती पर मनुष्य ही पहला प्राणी है जो स्पष्ट रूप में उच्चारित ध्वनि का उपयोग करता है। वह सचमुच इसपर गर्व करता है और बिना सोचे-समझे, बिना विवेक के इसका उपयोग करता है। संसार उसके शब्दों के कोलाहल से बहरा हो गया है, इसलिये कभी-कभी मनुष्य को वनस्पति-जगत् की समस्वर नीरवता का अभाव खलता है।

२. जब हम अपनी इच्छानुसार मन को निश्चल-नीरव बनाना और ग्रहणशील निश्चल-नीरवता में उसे एकाग्र करना सीख जायेंगे तब ऐसी कोई समस्या नहीं रह जायेगी जिसे हम हल न कर सकें, कोई ऐसी मानसिक कठिनाई नहीं रह जायेगी जिसका कोई समाधान न प्राप्त हो जाये। जब विचार चंचल होता है तब वह अस्त-व्यस्त और शक्तिहीन हो जाता है; सजग शांति के अंदर ही ज्योति प्रकट हो सकती है और मनुष्य की क्षमताओं के नवीन क्षेत्रों को उन्मुक्त कर सकती है।

३. मन को अचंचल रखते हुए तुम सब कुछ कर सकते हो और इस तरह जो किया जाता है वह ज्यादा अच्छी तरह होता है।

४. **प्रश्न**—आपने एक बार मुझे लिखा था कि "तुम जो कुछ हो उसे प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण हैं अन्य सब लोग।" क्या आप मुझे यह बात जरा समझा सकती हैं?

उत्तर—और लोगों के अंदर जो चीजें तुम्हें सबसे अधिक धक्का पहुंचाती हैं वही हैं जिनके विरुद्ध तुम अपने अंदर संघर्ष कर रहे हो या जिन्हें अपने अंदर दबाने की कोशिश कर रहे हो। यह जानना तुम्हें धीरज धरना सिखलाता है।

५. **प्रश्न**—मधुर मां, हमें डर क्यों लगता है, डर कहां से आता है?

उत्तर—यह विरोधी शक्तियों की खोज है जिसे उन्होंने जीवित प्राणियों, मनुष्यों और पशुओं पर अधिकार जमाने के सबसे अच्छे साधन के रूप में बनाया है।

जो शुद्ध है, अर्थात् ऐकान्तिक रूप से भागवत प्रभाव में है, उसे डर नहीं होता।

६. **प्रश्न**—मधुर मां, क्रोध का अस्तित्व क्यों है?

उत्तर—शायद तुम यह जानना चाहते हो कि क्रोध कहां से आता है?

क्रोध प्राण पर लगे किसी अप्रिय आघात के प्रति उसकी उग्र प्रतिक्रिया है और जब उसमें शब्दों और विचारों का भी समावेश हो जाता है तो मन प्राण के प्रभाव को प्रत्युत्तर देता और उग्रता के साथ प्रतिक्रिया करता है। क्रोध की कोई भी अभिव्यक्ति आत्म-संयम के अभाव का चिह्न है।

७. **प्रश्न**—अपने जीवन में मुझे जब कभी कठिनाई का सामना करना पड़ता है तब कोई चीज मुझसे कहती है "यह सब तुम्हारे भले के लिये भागवत कृपा द्वारा किया गया है," क्या इस तरह सोचना अच्छा और लाभप्रद है?

उत्तर—न सिर्फ यह कि यह सोचना ठीक, अच्छा और लाभप्रद है बल्कि अगर तुम आध्यात्मिक मार्ग पर चलना चाहो तो यह मनोवृत्ति बिल्कुल अनिवार्य है। वस्तुतः यह पहला कदम है जिसके बिना तुम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। इसीलिये मैं हमेशा कहती हूं, "तुम जो कुछ करो, अपना **अच्छे-से-अच्छा** करो और परिणाम प्रभु के हाथ में छोड़ दो, तब तुम्हारा हृदय शांत होगा।"

८. **प्रश्न**—मधुर मां, मनुष्य इतना दुर्बल है कि वह अपने चारों ओर बहनेवाली हवा से, पढ़ी हुई

पुस्तक से या अपनी देखी हुई तस्वीर से प्रभावित होता है। वह बहुत असुरक्षित है।

उत्तर—यह तब होता है जब वह अपनी सचेतन सत्ता को अपने चैत्य केन्द्र के चारों ओर केन्द्रित नहीं करता, वही तो उसकी सत्ता का सत्य है।

९. **सच्चे** बनो।

१०. सृष्टि एक समग्र है जो अपनी समग्रता में एकमात्र लक्ष्य—भगवान्—की ओर बढ़ रही है—एक सामूहिक विकास के द्वारा जो सतत और अंतहीन है।

११. तुम अपनी कठिनाइयों के बारे में उसी हदतक अभिज्ञ होते हो जहांतक तुम उन्हें बदल सकते हो और उसी क्षण अभिज्ञ होते हो जब तुम उसे बदल सकते हो।

१२. **प्रश्न**—मधुर मां, मुझे अपने काम पर विश्वास नहीं है। मैं बहुत शर्मीला हूं। मेरा ख्याल है कि प्रगति करने के लिये आदमी को ज्यादा हिम्मतवाला होना चाहिये।

उत्तर—तुम्हें ज्यादा हिम्मतवाला नहीं, ज्यादा अध्यवसायी और दृढ़ होना चाहिये।

१३. अगर तुम व्यक्तिगत मानसिकता से ऊपर उठो और ऐक्य की चेतना में प्रवेश करो तो चीजों को समझ सकते हो।

१४. छिछला अवलोकन सहायता नहीं कर सकता और जबतक तुम चैत्य सत्ता के साथ संपर्क न साध लो, ज्यादा अच्छा यही होगा कि व्यर्थ विश्लेषण में समय काटने की जगह हमेशा अपना अच्छे-से-अच्छा करने की और तुम जितने अच्छे हो सकते हो उतने अच्छे होने की कोशिश करो।

१५. अपने-आपको जानने के लिये तुम्हें अपने-आपको उच्चतर और गहनतर चेतना से देखना होगा जो तुम्हारी प्रतिक्रियाओं और भावों के सच्चे कारणों को विवेक के साथ देख सके।

१६. लोग जो कुछ कहते हैं उसका महत्त्व नहीं होता क्योंकि मानव मूल्यांकन सदा एकांगी और इस कारण अज्ञानभरे होते हैं।

१७. . . . उसे इस अहंकार पर विजय पानी चाहिये और जैसे ही वह विजय पा लेगी वैसे ही उसके दुःख समाप्त हो जायेंगे।

१८. जिस क्षण तुमने किसी चीज को स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है तभी से उसे भरसक अच्छी-से-अच्छी तरह करना चाहिये।

१९. . . . तुममें से अधिकतर लोग इतने ज्यादा तामसिक हैं कि जबतक तुम पर सामान्य जीवन की कठिनाइयों के अंकुश न लगें तबतक तुम प्रयास नहीं कर सकते। तीव्र अभीप्सा ही इस मारक स्थिति को ठीक कर सकती है लेकिन अभीप्सा गायब है और तुम्हारी आत्मा सो रही है।

२०. सच्चाई और अध्यवसाय सभी के लिये अनिवार्य हैं।

२१. अगर तुम सच्चे और पूरी तरह ईमानदार हो तो मेरी सहायता निश्चित रूप से तुम्हारे साथ होती है और एक दिन तुम उसे जान जाओगे।

२२. हर चीज के पीछे भागवत कृपा को देख सकने के लिये तुम्हें भागवत ऐक्य की चेतना में निवास करना चाहिये।

२३. तुम्हें भीतर से अपनी निम्न प्रकृति का स्वामी बनना चाहिये—अपनी चेतना को दृढ़ता के साथ ऐसे क्षेत्र में स्थापित करके जहां वह समस्त कामना और आसक्तियों से मुक्त हो क्योंकि वहीं वह दिव्य ज्योति और शक्ति के प्रभाव तले होती है। यह एक लम्बा और अत्यधिक मांग करनेवाला परिश्रम है। इसे अचूक निष्कपटता और अथक अध्यवसाय के साथ हाथ में लेना चाहिये।

२४. जो कार्य को सम्पादित करते हैं उनमें शेखी बघारने की आदत नहीं होती। वे अपनी ऊर्जा को काम पूरा करने के लिये बनाये रखते हैं और परिणाम का यश शाश्वत प्रभु के लिये छोड़ देते हैं।

२५. जब तुम्हारे अंदर सच्ची मनोवृत्ति हो तो हर चीज सीखने का अवसर हो सकती है।

२६. भूल करने का तथ्य ही इस बात को प्रमाणित करता है कि तुम सत्ता के किसी भाग में सच्चे और निष्कपट नहीं हो। चैत्य सत्ता **जानती** है और कभी भूल नहीं करती परन्तु बहुधा हम उसकी बात पर कान नहीं देते क्योंकि वह उग्रता या तीव्रता के बिना बोलती है, वह हमारे हृदय की गहराई में एक मरमर होती है जिसे अनसुना कर देना बहुत आसान है।

फिर भी ऐसा होता है कि तुम **अज्ञान के कारण** गलत काम करते हो लेकिन जैसे ही अज्ञान का स्थान ज्ञान ले लेता है तो यह भूल-भ्रांति मिट जाती है और काम का तरीका भी एकदम बदल जाता है। अपने अज्ञान में मनुष्य जिसे क्षमा कहता है वह की हुई भूल-भ्रांति को मिटा देना या समाप्त कर देना है।

२७. . . . **सभी परिस्थितियों में जड़ता सबसे बुरी चीज है।**

अभीप्सा एकमात्र उपचार है—एक ऐसी अभीप्सा जो सदा सतत जलती हुई शुद्ध ज्वाला की तरह ऊपर उठती है और सत्ता की सभी अशुद्धियों को जला डालती है।

२८. **प्रश्न**—मधुर मां, मेरे अंदर अपने-आपको दोष देने और सभी गलतफहमियों के लिये अपने-आपको जिम्मेदार ठहराने की आदत है . . . मेरे अंदर बहुत जोर की हीनता-ग्रंथि भी है। यह सब कहां से आता है और मैं इनसे कैसे पिंड छुड़ा सकता हूं ?

उत्तर—यह सब तुम्हारे अहंकार से आता है जो अपने ही साथ बहुत ज्यादा व्यस्त रहता है और किसी और चीज के बारे में (उदाहरण के लिये भगवान् के बारे में) सोचने और अपने-आपको भूल जाने की जगह अपने-आपको दोष देने और अपनी आलोचना करना ज्यादा पसंद करता है।

२९. सुखी और शांत होने का सबसे अच्छा उपाय है भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के साथ सतत कृतज्ञता का अनुभव करना।

और भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सबसे अच्छा तरीका है उनके साथ तदात्म हो जाना।

३०. जागरूकता, सचाई, प्रयास का सातत्य और भागवत कृपा बाकी सब कुछ करेगी।

३१. **यह निश्चित बात है कि हम सभी दिव्य हैं लेकिन हम मुश्किल से इस चीज को जानते हैं और जिसे हम 'हम' कहते हैं वह हमारे अंदर वह अंश है जो इस बात से अनभिज्ञ है कि वह दिव्य है।**

*

भगवती मां मुझे आवश्यक बल दें ताकि मेरी निम्नलिखित प्रार्थना प्रभावकारी हो जाये—श्रीअरविंद और माताजी का बालक होने के नाते मुझे सबसे अधिक रस है सत्य में। वर दे कि प्रकृति में छिपा हुआ घमंड का पर्वत किसी प्रकार इस सत्य की, महिमामय सूर्य की गतिविधि को विकृत न कर पाये। मुझे तुच्छता से ऊपर उठा।

ऐसा न होने दो कि अंश की दृष्टि समग्र के बोध को छिपा सके और एक चरण के ब्यौरे लक्ष्य की एकाग्रता में बाधक न हो सकें।

आशीर्वाद।

—माताजी

१४ मई १९६३

सुधीर सरकार

सुधीर सरकार श्रीअरविंदाश्रम में आने-जानेवाले लोगों के लिये एक सुपरिचित व्यक्ति थे। आप उनके संपर्क में आने के बाद तटस्थ नहीं रह सकते थे। लोग या तो उनके प्रशंसक और प्रेमी बन जाते थे या उन्हें पागल मान लेते थे। वे अपने हास्य-विनोद और व्यंग्य के लिये सबके अंदर अपना विशेष स्थान बनाये हुए थे। उनके पुत्र मोना ने उनके बारे में 'स्पिरिट इंडोमिटेबल' नामक पुस्तक लिखी है। हम उसमें से कुछ अंश यहां देने की कोशिश कर रहे हैं।

अपने अस्सीवें जन्मदिन पर सुधीर सरकार अपने पुत्र मोना के साथ माताजी को प्रणाम करने गये। उस समय की बातचीत मोना ने अपने शब्दों में लिख ली थी। उसका भाव यहां दिया जा रहा है—

माताजी—आज तुम्हारे पिता का जन्म-दिन है ?

मोना—जी हां, माताजी।

माताजी—शुभ जन्म-दिन, आज वे कितने वर्ष के हुए ?

मोना—अस्सी के।

माताजी—अस्सी, अच्छी सम्माननीय उम्र है, लेकिन मामला क्या है, वे थके हुए मालूम हो रहे हैं, वे यहां कब से बैठे हैं ?

मोना—दस के पहले से।

माताजी— एक गुलदस्ता देते हुए उन्हें आशीर्वाद देती हैं और कहती हैं, "ये काफी मजबूत हैं"।

मोना—माताजी, ये हर रोज मार्चिंग करते हैं। अपना सब काम अपने-आप करते हैं और किसी से मदद नहीं लेते। कहते हैं, मैं जबतक जीता रहूंगा अपना काम आप करूंगा।

माताजी—यह अच्छी बात है, अच्छा प्रशिक्षण है। उनसे कहो कि मैं उनसे प्रसन्न हूं। (मेरे पिता की ओर मुड़कर) मैं तुम्हें इस अवस्था में देखकर खुश हूं। वे क्या चाहते हैं ? शायद मुझसे कुछ कहना चाहते हैं।

*

माताजी—तुम्हारे पिता ने श्रीअरविंद के लिये बहुत कुछ किया है। उन्होंने बहुत कष्ट सहन किये हैं।

मोना—लेकिन वे कभी किसी बात की शिकायत नहीं करते। एक बार उन्होंने काले पानी जाने से पहले श्रीअरविंद से पूछा, 'यदि मुझे बहुत यंत्रणाएं दी जायें तो ?' श्रीअरविंद ने उत्तर दिया, "तो मेरे बारे में सोचना, मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहूंगा।" और कई बार इनकी चमत्कारपूर्ण ढंग से रक्षा की गयी है। एक बार आसाम के जंगल में इनका रॉयल बंगाल टाइगर के साथ सामना हो गया। शेर इन्हें देखकर सिर्फ गुर्राया और फिर इनके सिर के ऊपर से छलांग मारकर चला गया। मेरे पिता साइकिल पर थे और कुछ न कर सकते थे।

माताजी—हां, जब भागवत कृपा रक्षा करती है तो ऐसा ही होता है। कोई नहीं जानता कि शेर निरस्त्र मनुष्य को क्यों नहीं निगल जाता। मन इन चीजों की व्याख्या नहीं कर सकता। इनके बारे में तर्क नहीं किया जा सकता।

मोना—वे कहते हैं कि जब वे अकेले और स्वप्निल होते हैं तो वे भूमिमाता को कष्ट से कराहते हुए सुनते हैं और भारतमाता की यंत्रणाओं पर कांपता-सा अनुभव करते हैं और इसे नहीं सह पाते।

माताजी—लेकिन श्रीअरविंद ने इसे ही भारतमाता के रूप में देखा और पूजा था। उनके लिये वह जीवित-जाग्रत् देदीप्यमान सत्ता थी जो हमारी आवश्यकताएं पूरी करती है।

मोना—माताजी, जब वे खेल के मैदान में मार्चिंग करते हैं तो उन्हें लगता है कि वे भारतमाता के वक्षस्थल पर मार्चिंग कर रहे हैं और हर कदम पर भारत के महिमामय पुनर्मिलन के लिये पुकारते हैं, जैसा श्रीअरविंद चाहते थे। उस समय उन्हें जयध्वनि सुनाई देती है।

माताजी—चीजों को देखने का उनका निराला ढंग है; उससे पता लगता है कि वे श्रीअरविंद के प्रति कितने निष्ठावान् हैं।

मोना—नलिनीदा कहते हैं कि मेरे पिता बिलकुल निर्भीक थे। उन्होंने ही नलिनी को अंडमान जाने से बचाया था[१]।

माताजी, मेरे पिता को लगभग सालभर तक श्रीअरविंद के साथ उनके मकान में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे पिता, बारीनदा, सरोजनी देवी और मृणालिनी देवी श्रीअरविंद के साथ रहते और उनकी थोड़ी-सी आमदनी में गुजारा करते थे।

उन दिनों श्रीअरविंद अंग्रेजी कविता में महाभारत का अनुवाद कर रहे थे। अनुवाद टाइप करते-करते वे मेरे पिता को अंग्रेजी भी पढ़ाते जाते थे। एक दिन मेरे पिता उनसे पूछ बैठे, "आप अनुवाद करने के साथ-साथ पढ़ाने का काम कैसे करते जाते हैं?" श्रीअरविंद ने उत्तर दिया, "अगर तुम अपनी क्षमताओं को भली-भांति प्रशिक्षित कर लो तो एक साथ बहुत-से काम कर सकते हो।"

एक बार मेरे पिता अस्वस्थ थे। वे अपने-आप पर काबू न रख सके और उन्होंने महाभारत के अनुवाद के कागजों पर उल्टी कर दी। श्रीअरविंद एक शब्द भी न बोले और उन्होंने अपने-आप पूरी सफाई की और मेरे पिता की परिचर्या की।

माताजी, मेरे पिता कहा करते थे कि मैं नहीं जानता कि श्रीअरविंद मनुष्य हैं या देवता। मुझे लगता है कि वे मनुष्य तो नहीं हैं क्योंकि मनुष्यों को गुस्सा आता है, उनकी पसंद-नापसंद होती है, परंतु श्रीअरविंद में ये चीजें नहीं थीं। मेरे पिता ने उन्हें नाराज करने की कई तरकीबें कीं लेकिन कभी सफल न हुए। कोई विश्वास न करेगा कि वे कितने धीर थे।

माताजी—हां, बात ठीक है, वे मनुष्य नहीं साक्षात् प्रभु थे।

मोना—जेल में भी मेरे पिता श्रीअरविंद की देखभाल करते थे। श्रीअरविंद अधिकतर समाधि में रहा करते थे और उनकी सेवा करने के लिये उनके पास किसी का रहना जरूरी था। मेरे पिता बहुधा कहते हैं कि श्रीअरविंद के शरीर का स्पर्श बड़ा आनन्ददायक होता था।

माताजी—उन्होंने श्रीअरविंद की सेवा की और इसका पर्याप्त पुरस्कार पाया।

एक और अवसर पर माताजी ने मोना से कहा, "तुम्हारे पिता के जैसे लोग, जिन्होंने भारत के क्रांति-काल में श्रीअरविंद की सेवा की, वे सचमुच अपने-आपमें एक अलग ही श्रेणी के थे। वे सब वीर सैनिक थे जिन्होंने अपना सब कुछ देशमाता के लिये न्यौछावर कर दिया। उनके लिये बस उस माता का ही अस्तित्व था। उनमें अडिग कर्तव्य-निष्ठा थी। वे भारत की मां के रूप में, अदिति के रूप में पूजा करते थे। सच्ची बात तो यह है कि वे साधारण मनुष्य न थे। वे किसी उच्चतर लोक से श्रीअरविंद का काम करने के लिये पृथ्वी पर आये थे।"

उन्होंने बहुत कष्ट सहे पर इससे उनके चरित्र में कोई फर्क नहीं आया। उनके अंदर यह क्षमता थी कि वे श्रीअरविंद के लिये सब कुछ कर सकते थे, हर चीज के लिये प्रयास कर सकते थे और सब

[१] शनाख्त के समय वे नलिनी को बचाने के लिये उनके आगे खड़े हो गये और ऐसा अभिनय किया मानों वही नलिनी हों। इससे असली नलिनी बच गये और इन्हें अंडमान जाना पड़ा।

कुछ उन्हें अर्पण कर सकते थे। वे उनकी ओर पूरी तरह खुले हुए थे और इसी कारण अपने काम में इतने सफल रहे। जैसा कि मैंने तुम्हें बतलाया, उनकी चैत्य सत्ताएं पूरी तरह व्यक्तिभावापन्न थीं और वे जानते थे कि उन्हें क्या करना चाहिये। वे इस साहस-कार्य में किसी अहंकारपूर्ण हेतु के लिये नहीं बल्कि देश-माता को अपना जीवन देने के लिये, देश पर अपनी जान न्यौछावर करने के लिये घुसे थे। उनमें से कितनों ने देश के लिये अपनी जान कुर्बान कर दी। उन्होंने अपना कर्तव्य पूर्ण श्रद्धा और निष्ठा के साथ पूरा किया। एक के बाद एक उन्होंने अपना जीवन चुपचाप विनम्रता से अर्पण कर दिया। वे सच्चे देश-भक्त, साहसी, उदात्त, वीर, निःस्वार्थ सेवक थे। श्रीअरविंद ने अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें गढ़ा था और उन्होंने अपने-आपको उनके अर्पण कर दिया। यह एकदम असाधारण चीज है।

मोना—जी हां, माताजी, उनमें भय का नाम तक न था। वे सब कुछ करने के लिये तैयार थे।

माताजी—हां, उन्हें यही सिखाया गया था—कर्तव्य-निष्ठा और पूर्ण आत्म-त्याग, क्योंकि उस समय कुछ गिने-चुने लोग श्रीअरविंद की सहायता करने के लिये पृथ्वी पर आये थे। उन्हें जो कुछ करना था वह उन्होंने कर दिया और अपनी परवाह किये बिना वे चल दिये। यह अध्याय समाप्त हो गया।

काले पानी में

सुधीर सरकार ने कहा, "अंग्रेज सरकार हमें छोटे-छोटे दलों में काले पानी भेज रही थी। वहां पहुंचते ही जेल के अधिकारी राजनीतिक बंदियों को साधारण बंदियों से अलग कर देते थे। शायद वे नहीं चाहते थे कि वे बंदी भी हमारी चिंगारी से सुलग उठें। उन्हें पता न था कि हम लोग किस धातु के बने हैं। शुरू-शुरू में उन्हें हमारा डर-सा लगता था और वे हमारा ख्याल रखते थे परंतु आगे चलकर उनके अंदर से छिपा हुआ दानव अत्याचारी प्रकट होने लगा।

हर बन्दी को रस्सी बनाना सीखना पड़ता था। नारियल के सूखे छिलकों को छीलकर पानी में भिगाया और फिर कूटा-पीटा जाता था, फिर रेशों को अलग-अलग करके फर्श पर रगड़ा जाता था ताकि उनमें से रस्सी बनायी जा सके। हमारे हाथ घायल और लहू-लुहान हो जाते थे लेकिन जेलवाले इसकी परवाह न करते थे। हमें दिन के लिये निश्चित मात्रा में रस्सी तैयार करनी ही पड़ती थी। कई बार तो हमारे हाथ इतने घायल हो जाते थे कि हाथ में लेकर मुंह में कौर देना भी मुश्किल हो जाता था।

हमारे काम बदलते रहते थे। कोल्हू पेरने के लिये देश में घोड़ों या बैलों का उपयोग हुआ करता था पर काले पानी में यह काम हम बन्दियों के लिये था। बन्दियों को बैलों की तरह जोत दिया जाता था। सारे दिन जुते रहने के बाद बैल आठ सेर से ज्यादा तेल न निकाल पाते थे, पर हममें से हर एक को दिन में पन्द्रह सेर तेल निकालना पड़ता था। कभी-कभी तीन बंदी एक साथ जोत दिये जाते थे और तब दिन में चालीस सेर तेल की मांग की जाती थी। यह काम सवेरे छह से शाम के छह तक चला करता था। इसका मतलब होता था, भारी जुआ गरदन पर लादे हुए तेजी से चालीस मील दौड़ना। ऊपर से जल्लाद-सा जमादार चिल्लाया करता दौड़ो, दौड़ो, तेजी से दौड़ो। हमारे खाने-पीने और आराम करने का समय कम कर दिया जाता था और वह समय भी मेहनत-मशक्कत के लिये लगा दिया जाता था। हम काम पूरा न कर पाते तो खाना बंद कर दिया जाता और रात को भी मेहनत करनी पड़ती और ऊपर से जेलर की गालियों की बौछार! ओह! क्या गालियां, जिन्हें भले आदमी मुंह से न निकाल सकें। हमारे कामों में तेल निकालने का यह सबसे ज्यादा कठिन काम था और सभी बंदी इससे कांपते थे। बिना अपवाद सभी को यह काम करना पड़ता था। बारीनदा (श्रीअरविंद के भाई) को भी इससे छुट्टी न मिल सकती थी, हालांकि वे बहुत दुर्बल शरीर और मलेरिया के रोगी थे। बहुधा

थके-मांदे बंदी अपने बीमार और टूटते हुए साथियों की सहायता कर दिया करते थे। हम लोगों में एक तरह का भाईचारा पैदा हो गया था लेकिन कभी-कभी हमारे अफसर बीमार, अशक्त, असहाय बंदी को कोल्हू से बांध देते थे और दूसरे बंदियों को उसमें जोतकर दौड़ाते थे। बेचारा घायल बंदी घसीटा जाता था और कोई उसकी कुछ भी मदद न कर पाता था। मनुष्य अपने भाई मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार कर सकता है! और वह भी सभ्य कहलानेवाला मनुष्य! कोल्हू में से टपकनेवाली तेल की बूंदें हमारे लिये रक्त की बूंदें होती थीं।

काले पानी में अफसरों ने हमारे शरीर को तोड़ने और नैतिक बल को बरबाद करने की भरसक कोशिश की। हम कहा करते थे, "हम तुम्हारे जेल के नियमों को मानने से इंकार करते हैं।" वे हमारे हाथ, पांव और कमर में हथकड़ी, बेड़ी और जंजीरें डालकर दीवार से लटका देते थे और कई-कई दिनतक हमें इस तरह आठ-आठ घंटे लटका रहना पड़ता था। इस तरह लटकाये जाने पर भी हमारा साथी उल्लासकर दत्त गाने-बजाने की मौज में आ जाता था और जंजीरों को दीवार से टकराकर संगीत पैदा करता था। उसके उल्लास की लहरें हमारे संताप को बहा देती थीं। अधिकारियों ने यह देखा तो हम सबको एकाकी कोठरियों में डाल दिया। इस तरह हम अपने संगी-साथियों और पुस्तकों से भी वंचित कर दिये गये।

कुछ दिनों बाद सार्जेंट जनरल ने कठोरता कम कर दी। उसने व्यवस्था कर दी कि हमलोग अलग-अलग टापुओं पर अलग-अलग तरह का काम कर सकें। एक आइरिश अफसर ने व्यवस्था की कि मुझे वाइपर कपास के खेत में काम मिल जाये। उसका मकान मेरे लिये हमेशा खुला रहता था और जब चाहूं उसमें जा सकता था। मैं उसकी मेज पर से कुछ स्टेशनरी हथियाकर बारीनदा के पास पहुंचा देता था और वे उसपर गुप्त पत्र भेज सकते थे। सरकारी मुहर के कारण ये चिट्ठियां बिना खोले ही कलकत्ता चली जाती थीं और इनके आधार पर बंगला और अंग्रेजी अखबारों में हमारे ऊपर होनेवाले नारकीय अत्याचारों का ढिंढोरा पीटा जाता था जिसके परिणामस्वरूप सारा देश उबल पड़ा था।

यहां सुधीरदा ने कहा, "मैं तुम्हें एक छोटी-सी घटना सुनाता चलूं जो है तो बहुत मामूली पर मेरे जीवन में इसका बहुत महत्त्व है। मैं तुम लोगों को बता चुका हूं कि हमें खाना बहुत ही कम मिलता था और अगर हम ज्यादा मांगते तो कोड़े पड़ते थे। एक दिन हमें बहुत तेज भूख लगी थी और उस दिन खाना और भी कम मिला। सारे दिन की कड़ी मेहनत के बाद भूख को संभाल पाना असंभव हो गया। क्षुधार्त बंदियों ने जहां कहीं गाय के चारे पर उनका हाथ पहुंच सका वहां से चारा बटोरकर उदरस्थ कर लिया। न जाने कैसे यह खबर चारों ओर फैल गयी और जेलर बहुत ही घबरा उठा। उसे डर लगा कि अगर हममें से कोई मर गया तो उन लोगों से जवाब-तलब किया जायेगा। डॉक्टरों ने हमें रेचक दिये और हमारे मल में से चारा निकला। जेलर को पश्चात्ताप तो हुआ परंतु परिणाम कुछ न आया। हां, इतना कहा जा सकता है कि इस घटना से हमने यह पाठ सीखा कि *'अन्नं वै ब्रह्म'*, अन्न को नष्ट न करना चाहिये।

जीवन अपनी गति से चलता रहा। हम लोगों के अंदर कहीं गहराई में स्थिर शांति स्थापित हो गयी थी। इस शांति ने, इस श्रद्धा ने हमें आश्वासन दिया कि अगर हमें नरक में भी झोंक दिया जाये तो हम वहां भी निभा सकेंगे। अंडमान जाने से पहले मैंने श्रीअरविंद से पूछा था कि अगर हमें असह्य यातनाएं दी जायें तो हमें क्या करना चाहिये। उन्होंने उत्तर दिया, "हमेशा मेरे बारे में सोचो, मैं तुम्हारे साथ रहूंगा", इसी मंत्र ने हमें बल दिया, साहस और धैर्य दिया।

*

हिम्मते मर्दां मददे खुदा

सुधीर अभी जेल से छूटे ही थे, अभी रोजी-रोटी का कोई उपाय न सूझा था। एक दिन वे अपने एक चचेरे भाई की दुकान में बैठे गप-शप कर रहे थे कि एक दानवाकार पठान आ धमका और इनके भाई के आगे अपना बड़ा-सा हाथ फैलाकर गुर्राया 'निकालो'। इनके भाई ने जेब में हाथ डालकर एक अठन्नी निकालकर पठान की हथेली पर रख दी। पठान उसे लेकर चलता बना। इनके भाई ने कहा, "यह बड़ा खूंखार आदमी है। अपने देश से हत्या करके भाग निकला है और यहां डेरा डाल रखा है। हर रोज हम लोगों की दुकानों पर आकर हाथ फैलाता है। सब के सब चुपचाप कुछ न कुछ पकड़ा देते और अपनी जान बचाते हैं। कोई न दे तो बस उसकी खैर नहीं।"

सुधीर तमतमा उठे, "तुम इसे क्यों सह लेते हो? तुम इतने सारे बंगाली हो और यह अकेला पठान।" भाई ने कहा, "तुम इसे जानते नहीं, एक बार एक दुकानदार ने इसे देने से इंकार किया तो इसने छुरा खींच लिया। सब घबरा गये और तब से कोई इसको मुंह नहीं लगाता। चलते समय यह कहता गया, "तुम पुलिस में जाकर देखना चाहो तो देख लो और अपनी जान से कीमत चुकाने के लिये तैयार रहो।"

सुधीर ने कहा, "अच्छा, कल मैं इसे कीमत चुकाऊंगा, तुम चिन्ता न करो।" भाई बहुत ही घबरा गया, उसने सुधीर से कहा, "कल मेरी दुकान में न आना, तुम्हें कुछ भी करने की जरूरत नहीं है।" सुधीर ने कहा, "नहीं, मैं कुछ न करूंगा।" दूसरे दिन सुधीर फिर से दुकान में आ धमके। पठान भी वहीं हाजिर हो गया और उसने पैसे मांगे। सुधीर बैठे हुए थे, जेब में हाथ डालकर उठ खड़े हुए और बोले, "तुम्हें पैसा चाहिये, आओ, मैं देता हूं", यह कहते हुए उन्होंने जेब से हाथ निकाला और पठान को तड़ा-तड़ जड़ दिये। पठान आश्चर्य में पड़ गया। उसे अपनी आंखों पर विश्वास न होता था। वह जमीन पर पड़ा हुआ था और सुधीर पूछ रहे थे, "और चाहिये, और चाहिये," यह कहते हुए और देते जा रहे थे। पठान अपने आपे में आया और गुर्राता हुआ बाहर निकल गया, "बाहर निकलो जरा, मैं तुम्हें मजा चखाऊंगा, तुम मौत को प्यारे हो जाओगे"। सुधीर ने गरजकर कहा, "चल भाग यहां से, जानता है मैं कौन हूं, मैं काले पानी से लौटा हुआ हूं; यहीं गला घोंटकर तेरा काम तमाम कर दूंगा।" पठान नौ दो ग्यारह हो गया।

आस-पास के सभी दुकानदार विचलित हो गये, सब एक स्वर से कहने लगे, "तुमने क्या कर दिया। अब वह न तुम्हें छोड़ेगा न हम लोगों को"। सुधीर ने हंसकर कहा, "अगर उसमें हिम्मत होती तो मुझे यहीं खतम कर सकता था। वह डरपोक है , हिजड़ा है हिजड़ा। अब वह यहां पांव न रखेगा" और हुआ भी यही। इस घटना के बाद उस इलाके में किसी ने उसकी शकल तक न देखी।

नागा संन्यासी

उत्तर भारत के नागे जब गुस्से में आते हैं तो बड़े भयंकर हो जाते हैं। सुधीर कहीं जाने के लिये रेल की प्रतीक्षा में एक स्टेशन पर खड़े हुए थे। रेल आयी तो लोगों से भरी हुई। वह जिस डब्बे में घुसे उसमें नागे भरे हुए थे। उन्होंने चारों ओर अपने बिस्तर बिछा रखे थे, इनके लिये कहीं स्थान न था। डब्बा बदलना भी संभव न था क्योंकि रेल चल पड़ी थी। इन्होंने लेटे हुए एक संन्यासी से विनय की कि मुझे भी बैठने लायक जगह दे दीजिये। संन्यासी गुर्राया और बोला, "तुम बंगाली कहीं के, भागो यहां से, किसी और डब्बे में जा बैठो"। इन्होंने बहुत अनुनय-विनय की पर उसने एक न सुनी और

गुर्राता चला गया। ऐसे लोगों के आगे झुक जायें तो वह सुधीर ही क्या हुए। उन्होंने गुरनिवाले संन्यासी के नीचे से उसका बिस्तर खींच लिया और उसे एक ओर धकेल दिया। उसकी खाली जगह पर कुछ असहाय यात्रियों को बिठा दिया और अपने-आप एक बक्से के ऊपर जम गये। डब्बा नागाओं से भरा था। अपने एक साथी का अपमान देखकर बहुत-से साथ मिलकर सुधीर पर झपट पड़े जो इतनों के बीच अकेले थे। वे चुपचाप एक कोने में बैठे रहे, डर के साथ तो उनका परिचय ही न था। संन्यासी उन्हें लड़ाई के लिये उत्तेजित करना चाहते थे परंतु सुधीर बड़े शांत भाव से बस इतना ही बोले, "जो मुझे हाथ लगायेगा वह मौत का मुंह देखेगा"। सब चीखते-चिल्लाते रहे पर किसीने हाथ उठाने का साहस न किया। उनके नेता ने उन लोगों को शांत करने की कोशिश की लेकिन व्यर्थ। उनके लिये तो यह प्रतिष्ठा का सवाल था। आखिर इनका गंतव्य स्थान आ गया और सुधीर उतरकर चले गये।

एक असाधारण घटना

यह घटना स्वयं सुधीर सरकार ने कइयों को सुनायी थी। खुलना में जब शाम को झुट-पुटा हो गया और मंदिरों में पूजा के शंख-घड़ियाल बज उठे तो सुधीर और उनके तीन भाइयों ने पश्चिम दिशा से चीखने-चिल्लाने की आवाजें सुनीं। बहादुर भाई उस ओर दौड़े और एक विशाल कोठी का फाटक खुला पाया। तीनों उसके अंदर घुस गये। फाटक अचानक धड़ाम से बंद हो गया लेकिन आस-पास कोई न था। तीनों की भरसक कोशिश के बावजूद दरवाजा न खुलना था, न खुला। कोई उपाय न देखकर वे आंगन की ओर बढ़े। और लो ! खुली जगह में दीवार के पार से उड़ती हुई बड़ी-बड़ी ईंटें आने लगीं। वे सावधानी से नौकरों के कमरों की ओर बढ़े क्योंकि उन्हें संदेह था कि इस सारी शरारत के पीछे नौकरों का हाथ होगा। लेकिन उन्होंने देखा कि नौकर थर-थर कांप रहे थे। उनके शरीर ठंडे पड़ गये थे और उनके मुंह से बोली न निकल रही थी। अब तीनों भाई मुख्य भवन की ओर मुड़े जहां ऊपर के दरवाजे और खिड़कियां धड़ा-धड़ खुल रहे और बंद हो रहे थे। चकराये हुये वे ऊपर पहुंचे और देखा कि गृहस्वामी, उनकी स्त्री और उनकी बेटी एक कोने में दुबके हुए हैं। इन युवकों को देखकर उनमें कुछ विश्वास आया। लेकिन हल-चल जारी रही। काले पानी से लौटे हुए एक सुधीर सरकार को छोड़कर सभी मानों मौत के भय से भयभीत थे। सुधीर की तो भय के साथ जान-पहचान तक न थी।

वे तीनों सुधीर को अपनी विपदा सुनाते रहे, कोई अपकारी दुर्भावनापूर्ण प्रेत उन लोगों को धर-पटक रहा था। उनके पास बचने का कोई रास्ता न था, उन्होंने अपने-आपको भाग्य के हाथों में छोड़ दिया और साथ ही अपने बचने की आशा भी छोड़ दी।

बद से बदतर होता गया। बड़े जोर का धड़ाका हुआ, गृहस्वामी के बाबा का फोटो धमाके के साथ जमीन पर गिरकर चकनाचूर हो गया। परिवार के लेखापाल ने अपने-आपको कहीं छिपा रखा था। भूतों ने उसे खोज निकाला और नौकरों के साथ दौड़ाते हुए ऊपर ले आये। किसी को दम लेने की फुरसत न मिल रही थी। एक बहुत बड़ा भारी बक्सा जिसे चार आदमी मिलकर मुश्किल से उठा पाते, कमरे भर में उठकर इधर-उधर चक्कर लगा रहा था और किसी भी क्षण इन लोगों पर गिरकर इन्हें चूर-चूर कर सकता था।

अचानक ये गड़बड़ें बंद हो गयीं और एक अजीब तरह का मौन छा गया। वातावरण भारी न रहा और मुसीबत टल-सी गयी। किसी की समझ में न आ रहा था कि अब क्या होगा। बूढ़ा आदमी भूखा था, वह खाने के लिये बैठ गया। अचानक रसोईघर में से एक बड़ी-सी नमकदानी उड़ती हुई आयी और उसके भोजन में उलट गयी। भयभीत लोगों ने घर छोड़कर भागने का निश्चय किया। अचानक

एक हंसिया उड़ता हुआ आया, जो भी उसके रास्ते में आता वह उसका गला काट सकता था। उस बला से बचने के लिये सब के सब जमीन पर लेट गये। लेखापाल ने कहा, "जब उस बड़े बक्से ने उड़ना शुरू किया तो मुझे संदेह हुआ, मुझे मालूम है कि उसमें गृहस्वामी ने अपने मृत पुत्र की जली हुई नाभि स्मारक के रूप में छिपा रखी है।"

यह भयानक कहानी सुनकर उन्होंने बक्से को खोलने की कोशिश की तो मानों साक्षात् नरक फट पड़ा। उन्होंने नाभि की भस्म को इकट्ठा किया और गंगा में पूरे विधि-विधान के साथ पधरा दिया। संकट का अंत हो गया, साथ ही सुधीर के अंदर अविश्वास का भी अंत हो गया और सुधीर को इस तरह की प्रेतात्माओं के अस्तित्व के बारे में विश्वास हो गया।

श्रीअरविंद की सेवा का अवसर

अपने संस्मरण सुनाते हुए सुधीर सरकार ने कहा, १९०७ का वर्ष था, मैंने सत्तरहवें वर्ष में पांव रखा था। विश्वविद्यालय की पढ़ाई का विचार तब मुझे सह्य न था। सारे देश में गप्पों का बाजार गर्म था कि भारत भर में क्रांति होने वाली है, कि डेढ़ लाख नागा संन्यासियों ने बंगाल की सहायता करने का बीड़ा उठाया है। मैं उत्साह से उबल रहा था। मैंने सोचना शुरू किया कि मैं साधारण मनुष्य से बहुत ऊंचा हूं और संसार भर में कोई काम मेरे लिये बहुत बड़ा या बहुत कठिन नहीं है।

कलकत्ते में समाचार फैला कि जमालपुर के दुर्गा के मंदिरों में मूर्त्तियां तोड़ दी गयी हैं तो हममें से सात व्यक्ति तुरंत आततताइयों को पाठ पढ़ाने के लिये दौड़ पड़े। हजारों आदमियों की भीड़ लग गयी और लड़ाई फूट पड़ी। हमें अपनी रक्षा के लिये हथियार उठाने पड़े। मेरे छह साथी हत्या के आरोप में पकड़े गये। अकेला मैं बड़ी मुसीबतों में से होकर बच निकला। कलकत्ते के अखबारों में मेरे गुणगान होने लगे। मुझे शंका थी कि शायद मुझे भगोड़ा समझकर मेरी निन्दा की जाये लेकिन हुआ उससे उल्टा। मैं विद्रोही दल का एक विशेष वीर बन गया और मुझे क्रांतिकारियों के शिरोमणि श्रीअरविंद की सेवा करने के लिये उनके घर में रहने का गौरव प्राप्त हो गया।

उनका मकान दो-मंजिला था जिसमें रहने लायक तीन कमरे थे, वहीं बैठकर श्रीअरविंद महाभारत का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद करते और उस जमाने के सबसे प्रसिद्ध पत्र 'वन्दे मातरम्' के लेख भी लिखा करते थे। इन सब कामों के साथ-साथ वे मुझे कार्लाइल की फ्रेंच क्रांति तथा वीर-पूजा आदि पुस्तकों के लेख समझाते भी जाते थे। पहली बार मैंने देखा कि आदमी अपने मन को कई विषयों में एक साथ लगा सकता है। मैं आखिर उनसे पूछ ही बैठा कि यह कैसे हो सकता है। श्रीअरविंद ने कहा, "यह बहुत कठिन नहीं है। अगर मन पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित हो और अभ्यास करे तो एक साथ अनेक कार्य कर सकता है।"

श्रीअरविंद का सरल स्वभाव, उनके शिष्टाचार, मैत्री और समानताभरे भाव ने मुझे अभिभूत कर लिया। मुझे आश्चर्य होता था कि क्या श्रीअरविंद इसी धरती के प्राणी हैं या किसी अन्य लोक से यहां आये हैं। फिर भी मेरे अंदर का शरारती बंदर उनकी परीक्षा लेना चाहता था। मैं कपट, कुचाल, संदेह, लुका-छिपी और धोखेबाजी के जीवन में पैदा हुआ और बढ़ा था। मैं अपने-आपको यह विश्वास न दिला पाता था कि कोई मनुष्य इतना ऊंचा हो सकता है। क्या सचमुच यह संभव है ? मैं उनकी ओर आकर्षित हुए बिना न रह सकता था। न जाने कितनी बार शरारतभरी आंखों से उनके अंदर मानव दुर्बलताएं खोजने की कोशिश की। परंतु हुआ क्या ? मुझे अपनी निम्न भावना पर लज्जित होना पड़ा।

महाभारत

श्रीअरविंद को महाभारत के काम में डूबे रहते देखकर मैंने एक दिन पूछा, "क्या आप महाभारत में लिखी हर बात पर विश्वास करते हैं?" उन्होंने अपनी सौंधी बंगला में रुकते-रुकते मुझे समझाया कि यह मान्यता कि पृथ्वी एक नाग के सिर पर रखी है उतनी ही सच है जितना हमारा अपना अस्तित्व। लेकिन हम उस दृष्टि को भूल चुके हैं जो ऐसी चीजों को देखती और समझती है। हम जिस दृष्टि से आज की चीजों को देखते हैं वह मानव दृष्टि का पूर्ण रूप नहीं है। सर्प प्राणिक शक्ति का प्रतीक है और समस्त प्राण-ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य धीरे-धीरे, जैव और अजैव, प्राणमय और निष्प्राण विकास के स्तरों को पार करते हुए सचेतन होता है। हम असंख्य जीवनों में विस्तार पाते हुए मानव चेतना तक पहुंचे हैं; वे सब परत पर परत हमारे अंदर गहरे संबंधों में जड़े हुए हैं। इस कारण सर्प और शृगाल, सिंह और चीता, ये सब हमारे पुराने संबंधी हैं। सर्प के साथ मनुष्य का संबंध ज्यादा निकटतर है। सभी प्राणियों के शरीर, शरीर के पीछे एक बीज-सत्ता, सूक्ष्म शरीर, सर्जन ऊर्जा रहती है; वह सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर के आने पर छिप जाता है। हिन्दुओं के विश्वास और उनकी मान्यताएं मिथ्या नहीं हैं। अब हमें उनका ज्ञान फिर से प्राप्त करना है। हमें अपने अज्ञान की वर्तमान अवस्था के कारण इतना अधिक दुःख-दर्द, इतनी दरिद्रता और तनाव को सहना पड़ता है।

जेल में योग

हर रोज स्नान के बाद श्रीअरविंद अपने रहने के स्थान का कोई कोना चुन लेते थे और वहां घंटों सिर नीचे और पैर ऊपर करके शीर्षासन में रहते थे। एक दिन बंगाल के गवर्नर बेकर साहब हमारा वार्ड देखने आये और श्रीअरविंद को इस अवस्था में देखकर ठिठक गये। वे आधे घंटे तक चुपचाप खड़े रहे परंतु श्रीअरविंद में कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं दिखायी दी। थककर गवर्नर वहां से चले गये। उन्होंने सोचा होगा कि यह कोई अज्ञेय क्रिया होगी। हमें लगा कि अब न जाने क्या होगा। हमने सोचा कि गवर्नर जरूर श्रीअरविंद से बातचीत करने आया होगा और उसे लगा होगा कि उसका अपमान किया गया। हो सकता है कि हम सबको भून डालने का हुकुम हो जाये। थोड़ी-सी बातचीत हो जाती तो शायद वह जरा नरम पड़ जाता।

जिस दिन हमारे साथी कनाई[1] ने नरेन्द्र गोस्वामी की हत्या कर दी तो गोलियों की आवाज ने हमारे दिलों को प्रफुल्लित कर दिया क्योंकि निश्चय यह हुआ था कि जैसे ही उसे पता लगेगा कि सहायता आ गयी है वह जेल तोड़ने का प्रयास करेगा लेकिन गोलियों की यह बौछार मुख्य द्वार से नहीं हस्पताल से आती हुई प्रतीत हुई। धीरे-धीरे हमें पता लगा कि कनाई ने हस्पताल के सामने ही नरेन्द्र गोस्वामी को पकड़कर उसका काम तमाम कर दिया था। खुशी के मारे हमारी नाचने-कूदने की इच्छा हो रही थी। गोलियों के साथ-साथ खतरे की घंटी भी बज उठी।

उस समय श्रीअरविंद स्नान कर रहे थे। वे बिलकुल सहज स्वाभाविक बने रहे मानों कुछ हुआ ही नहीं। मैं उनका शरीर पोंछ रहा था। उन दिनों मैं सिपाहियों की उपस्थिति में श्रीअरविंद को स्नान करवाया करता था। उन्होंने अपने लिये कुछ भी करना बंद कर रखा था। उन्होंने टीका-टिप्पणी करना भी बंद कर दिया था। वे हमेशा भूले-भूले से रहते थे। उपेन्द्र आदि ने देखा कि मैं मजबूत जवान पट्ठा हूं इसलिये उन्होंने मुझे श्रीअरविंद की सेवा में नियुक्त कर दिया था। मैंने श्रीअरविंद को बतलाया कि

[1] जिसके बारे में क्रांतिकारियों का एक गीत प्रसिद्ध है: जब से बंगाल में खेले हैं कन्हैया होली . . .

सन्तरी हम सबको अपनी-अपनी कोठरियों में घुस जाने का आदेश दे रहे थे और यह कि खतरे की घंटी इसलिये बज रही थी कि कनाई ने नरेन्द्र गोस्वामी का बेड़ा पार कर दिया था। अभी तक गोलियां सुनायी दे रही थीं। श्रीअरविंद को इन बातों का पता ही न था। वे धीरे-धीरे कोठरी में चले गये। यह हमारे लिये बहुत बड़ी घटना थी लेकिन ऐसा लगता था कि उन्होंने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया। उन्होंने इन घटनाओं के बारे में बाद में भी कुछ नहीं कहा। उनका मौन हमारी चुप्पी से एकदम भिन्न था। हमारा मौन तो केवल मुंह बंद कर लेना होता है। उनका मौन तो भीतर बाहर सब तरफ फैला हुआ होता था। शरीर की क्रियाएं, यहां तक कि निःश्वास तक बंद हो जाता था। जब मैं उसे न सह सकता तो अपने-आपसे पूछता क्या वे पागल हो गये हैं ? लेकिन मेरे अंदर कोई चीज इसे स्वीकार न करती थी। मैं जब कभी उनके संपर्क में आता तो उनकी ओर गहरा आकर्षण अनुभव करता, एक ऐसी सहानुभूति का अनुभव होता जो केवल अपने, स्वयं अपने के लिये हो सकती है।

जब श्रीअरविंद ने बोल-चाल बिलकुल बंद कर दी तो ऐसा लगता था कि वे कहीं और देख रहे हैं, वे किसी सुदूर लोक की द्वाभा में देख रहे हैं। वे अदालत जाते तो अपनी धोती मजदूरों की तरह कसकर पहनते थे और सूती शाल ऊपर डाल लेते थे। क्या यह ऐसे आदमी का वेश था जो आई० सी० एस० होने के नाते आसानी से डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट बन सकता था या फिर यह किसी फकीर का बाना था। वे किसी भी साधारण कैदी, चोर, डाकू आदि की तरह दीखते थे, उन्हें अपने वकीलों, चित्तरंजन दास और व्योमकेश के साथ कुछ भी बात नहीं करनी होती थी, उन्हें कोई सलाह-संकेत तक न देना होता था। वे कभी-कभी एक कोने में बैठे-बैठे बिना कारण हंसने लगते और उनका चेहरा लाल हो जाता था। केवल वही जानते थे कि इसका कारण क्या था। उनका चेहरा बच्चे के जैसा था जिस पर चिंता की एक भी लकीर न थी। उनके बाल देखकर लगता था कि उनमें से तेल चू रहा है और उनका चेहरा प्रफुल्लित मुस्कान से भरा रहता था। उनकी मुस्कान हम लोगों जैसी न होती थी। उनकी आंखों में से मानों आनन्द रिसता था। उनके शरीर में से बालक के कोमल शरीर की सी सुरभि आती थी। उनके नख आधे इंच के हो गये, उनके सिर और डाढ़ी के बाल लम्बे होते चले जाते। हमारे बालों में कभी वैसी चमक न दिखायी देती थी। एक दिन मैंने साहस करके पूछ लिया, "क्या यूरोपीय वॉर्डर आपको चोरी से तेल दे जाता है ?" वे न तो मुस्कराये और न उन्होंने कोई उत्तर ही दिया, मानों मेरी बात सुनी ही नहीं। रात को वॉर्डर आकर हमसे कहा करते, अरविंद अपना बिस्तर लपेटकर एक ओर रख देता है और सारी रात खड़ा रहता है। वॉर्डर उन्हें कभी तंग न करते थे, न तो लेट जाने के लिये कहते थे और न हम लोगों की तरह पुकार-पुकार कर उनकी हाजिरी ही ली जाती थी।

एक दिन एक स्कॉट वॉर्डर का दिमाग चल गया। उसने श्रीअरविंद को अपने कंधे पर उठा लिया और लगा नाचने। उसकी नाक बड़ी गाजर जैसी थी, बड़े भारी, चौड़े जबड़े थे और छोटी-छोटी आंखें। एक बड़ा विकृत-सा चेहरा था जिसका शान बढ़ाती थी भुतहा हंसी। सचमुच बड़ा ही वीभत्स दृश्य था। बेचारे की समझ में न आता था कि इस प्रफुल्ल अवस्था में क्या करे। श्रीअरविंद एकदम से चुपचाप बैठे रहे। उनके चेहरे पर न तो मुस्कान की रेखा थी न खीज का चिह्न। उन्होंने अपने-आपको छुड़ाने की कोशिश भी न की। ऐसा लगता था कि उनका शरीर तो पृथ्वी-लोक पर उस वॉर्डर के कंधों पर था, बाकी सारी चेतना कहीं और किसी और लोक में थी।

हमारे लिये पूरा एक वर्ष इसी तरह बीता। चित्तरंजन दास उनसे मिलने आया करते थे पर श्रीअरविंद उन्हें किसी प्रकार की कोई सहायता न देते थे। दास असहाय-से खड़े रहते और फिर निराश होकर देखते रहते, फिर अपनी आंखें पोंछते हुए चले जाते। हम लोग आपस में कहते, "जब इन राजनीतिक नेताओं पर करारी, निर्दय मार पड़ती है तो ये लोग या तो साधु बन जाते हैं या पागल हो जाते हैं।"

तीसरे पहर अदालत में हमें नाश्ता दिया जाता था—पूरी, सन्देश और पान। श्रीअरविंद सभी चीजें एक साथ खा लेते थे, इसलिये मुझे ठीक तरह खाने में उनकी सहायता करनी पड़ती थी। मुझे उनके पास बैठने में बड़ा मजा आता था और उनके शरीर को छूने की बहुत इच्छा होती थी, लेकिन साथियों के ताने के डर से ऐसा कर न पाता था। लेकिन कभी-कभी मैं चोरी से हाथ बढ़ाकर उनके कोमल शरीर और पैरों को छूता था, उनके सिर को सूंघता था, उन्हें खिलाता और उनका मुंह धोता था।

उनका दिया मंत्र

पूरे एक वर्ष के बाद जब मुकद्दमे की सुनवाई पूरी हो गयी तो अदालत की बैठक हुई फैसले की तारीख निश्चित करने के लिये। हम सब उपस्थित थे। श्रीअरविंद ने मुंह खोला और अपनी साधना और उपलब्धियों के बारे में बोलना शुरू किया। मुख्य श्रोता थे, उपेन्द्र बन्धोपाध्याय, उल्लासकर दत्त और नलिनीकान्त गुप्त। उन्होंने कहा, "वासुदेव नारायण ने मुझसे बात की और कहा कि मुझे अभी तुमसे बहुत-सा काम करवाना है, इसलिये मैं तुम्हें जेल से मुक्त करवा दूंगा।" हम सब इस अवसर का लाभ उठाकर अपने भविष्य के बारे में पूछने लगे। वासुदेव ने श्रीअरविंद को बतला दिया था कि हमें कैद की सजा होगी और उल्लास तथा बारीन को फांसी नहीं होगी। यह अवसर पाकर मैंने पूछा, "इस छोटी आयु में मैं जेल की कठिनाइयां कैसे सह पाऊंगा, अगर मैं कमजोर हो जाऊं और लड़खड़ाने लगूं तो मुझे क्या करना चाहिये ?" "मेरे बारे में सोचना, मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहूंगा।" कैसे मार्मिक शब्द थे ये। जेल के अंदर हो या जेल के बाहर, मैं जब कभी कठिनाई में पड़ा हूं, जब कभी संकट में आया हूं या मुझे असहाय अवस्था का अनुभव हुआ है तो मैंने हमेशा देखा है कि कठिनाई मेरे लिये आशीर्वाद बन गयी है। और अगर मुझे उसका सामना करना ही पड़ा है तो किसी ने संकट में से मेरा त्राण किया है।

बाद में निर्वासन-काल में जब कभी अंग्रेज शासकों ने हमारे ऊपर अत्याचार किये हैं तो हमने अनुभव किया कि श्रीअरविंद की करुणा हमारी रक्षा करने के लिये हमारे साथ रही है। गोलियों की बौछार और तरह-तरह के कष्टों के बीच एक स्वर्गीय आह्लाद हमें अपने ऊष्मा भरे आलिंगन में लपेटे हुए हमारी ढाल बना रहा।

श्री पुराणीजी

"क्षमा कीजिये डाक्टर, आपकी बात मान लूं तो मुझे सब काम-काज छोड़कर सारे समय बड़े ही जतन से इस शव को ढोना पड़ेगा। मैं पुनर्जन्म माननेवाला हूं, मेरे लिये इसी शरीर के साथ जीवन की इतिश्री नहीं हो जाती। लाखों जन्म देखे हैं और लाखों देखने बाकी हैं। जबतक शरीर काम देता है तबतक ठीक है, काम न दे सके तो उसे घसीटते रहने में क्या मजा है ?"

लगभग सत्तर वर्ष के पुराणीजी इंग्लैंड, जर्मनी, अमरीका, जापान, फ्रांस वगैरह का चक्कर लगाकर लौटे ही थे कि उन्हें हृदय का दौरा हो गया। इससे पहले रक्ततंच (थ्राम्बोसिस) दो बार 'मैं भी आऊं' पूछ चुका था पर पुराणीजी ने उसे अंदर घुसने की इजाजत न दी। अब उन्हें जरा सुस्ताते देख उसने जोर से पंजा मारा और पहलवान को गिरा लिया। शरीर पछाड़ खा गया। देखनेवालों ने सोचा, अब किस्सा खत्म। लेकिन जिसने जीवन भर कभी हार न मानी हो भला वह यम के प्रहार के आगे कैसे झुक जाता ? देखनेवालों ने देखा कि पुराणीजी इस घातक चोट को भी सह गये। स्थिति गंभीर थी।

भारत के सबसे बड़े हृद्रोग विशेषज्ञ को दिखाया गया। उन्होंने कहा, यह अपने-आपमें आश्चर्य की बात है कि यह रोगी इस अवस्था में भी जिंदा है। इसके उठने-बैठने पर, हिलने-डुलने पर नियंत्रण होना चाहिये। काम करने का तो ख्याल ही मन से निकाल देना चाहिये तब शायद कुछ दिन का आयुष्य और मिल जाये। भारतीय संस्कृति में पगे हुए पुराणीजी ने जो उत्तर दिया वह हम पहले ही देख आये हैं। इसका परिणाम क्या हुआ ? जो डाक्टर कुछ न करने के लिये कह रहे थे वही अपने संगी-साथियों को बुला लाये और उन्होंने आत्मा की अनश्वरता के बारे में बहुत-सी बातें सुनीं। जब आदमी भला-चंगा हो तब *"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि"* कहना बहुत सरल है पर जब जीवन और मृत्यु के बीच केवल एक सांस का पर्दा हो तब उस डाक्टर के सामने, जिसे लोग जीवनदाता मानते हैं, ऐसी बातें कह सकना किसी विरले ही का काम है।

लेकिन यह कोई आकस्मिक घटना न थी। पुराणीजी के पूर्वजों में मेवाड़ का रक्त बहता था। ऋषि दयानंद ने उनके घर को अतिथि बनकर पवित्र किया था। इनके पिता अपने नियमित जीवन और कर्तव्यपरायणता के लिये प्रसिद्ध थे। कहते हैं कि वह अपने विद्यालय में पढ़ाने के लिये आये, लड़कों से कहा 'पुस्तकें खोलो' और वहीं समाप्त हो गये।

पुराणीजी को छोटी आयु में ही श्रीअरविंद के दर्शन हुए और मानों उसी समय उनके भावी जीवन का कार्यक्रम अजाने ही निश्चित हो गया। देश परतंत्र था। गुलामी की जंजीरें उसे जकड़े हुए थीं। श्रीअरविंद इसके विरुद्ध जूझ रहे थे। नवयुवक पुराणी मानों मंत्रमुग्ध-से हो गये और उन्होंने धन-दौलत को ही सब कुछ माननेवाले गुजरात की भावी संतति को जगाने का बीड़ा उठाया। कुश्ती, लाठी, गतका, मलखम्ब आदि नाना प्रकार की कसरतों का प्रचार शुरू हुआ, बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस मील दौड़ने के, पहाड़ों पर और जंगलों में बाकायदा युद्धकला शिक्षण के कार्यक्रम शुरू हो गये। उन दिनों भले घरों के लड़के इस प्रकार की चीजों में भाग न ले सकते थे। व्यायाम करना या कुश्ती आदि में भाग लेना तो हुड़दंगों का काम था। ऐसे समय में पुराणीजी के चुम्बकीय व्यक्तित्व ने बारह-चौदह वर्ष के लड़कों को अपनी ओर खींचना शुरू किया। अच्छे भले घरों के लड़के मां-बाप का विरोध सह कर, कई तो मारपीट सहते हुए, लंगोट बांधकर पुराणीजी की व्यायामशालाओं में आने लगे। कसरत और खेल-कूद के साथ उन्हें भारतीयता की शिक्षा मिलती थी, खेल ही खेल में उन्हें बताया जाता था कि जीवन में कुछ और भी है जिसे प्राप्त किये बिना मनुष्य दो पांव पर चलनेवाला जानवर रह जाता है।

धीरे-धीरे जादू का असर बढ़ता गया, विरोधी भी पुराणी के प्रशंसक बनते गये। सारे गुजरात में 'वड़ील बंधु' पुराणी का असर फैल गया। नगर-नगर में, गांव-गांव में व्यायामशालाएं खुलने लगीं, सच्चरित्र युवकों की टोलियां देश के लिये कुछ करने के अरमान लिये हुए सुख-सुविधाओं को छोड़कर तपस्या का जीवन बिताने लगीं। खाना मिल गया तो खा लिया न मिला तो सूखे चने चबा लिये और कभी वह भी मुयस्सर न हुए तो हरिनाम लेकर पानी पी लिया। व्यायाम के साथ-ही-साथ कला, संस्कृति, धर्म आदि का अध्ययन भी चलता जाता था।

भारत को स्वाधीन कराने के लिये क्रांतिकारी कार्यक्रम तो बना लिया, उसके लिये पूरी तैयारी भी कर ली पर अनगिनत युवकों की जानों की बाजी लगा देना आसान काम न था। अपनी जिम्मेदारी पर पुराणीजी इतना बड़ा काम हाथ में न लेना चाहते थे, उन्हें अपने गुरु के सान्निध्य में आकर पथप्रदर्शन पाने की जरूरत मालूम हुई। उन दिनों पांडिचेरी जाना बहुत ही कठिन काम था। अंग्रेज सरकार को विश्वास था कि वहां बैठकर श्रीअरविंद गुप्त रूप से बम बना रहे हैं और अंग्रेजी राज्य का तख्ता उलटने की तैयारी कर रहे हैं। पांडिचेरी आनेवाले के साथ गुप्तचर छाया की तरह लग जाते थे। लेकिन जब ऊखली में सिर दिया तो मूसलों का क्या डर ? वह पहली बार १९१८ में पांडिचेरी आये। श्रीअरविंद

से इन्होंने अपने क्रांतिकारी कार्य के लिये आशीर्वाद मांगा। श्रीअरविंद ने कहा, "नहीं, भारत की स्वाधीनता के लिये इसकी जरूरत न होगी।" पुराणीजी के आग्रह करने पर गुरु ने कहा, "मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि भारत स्वतंत्र होगा और अवश्य होगा और उसके लिये क्रांति की जरूरत न होगी। ऊपर से हुकुम हो चुका है, भारत का स्वतंत्र होना उतना ही निश्चित है जितना सूर्य का उगना। उसके लिये उसे यथोचित नेता भी मिल जायेंगे। इसलिये जो आध्यात्मिक जीवन की पुकार सुन रहे हैं उन्हें आंतरिक काम पर ही अधिक जोर देना चाहिये।" हृदय के कपाट खुल गये। संशय, शंका, चिंता आदि को धो डाला गया और लगभग ढाई वर्ष के बाद पुराणीजी निश्चिंत होकर सो सके। यहां से वापिस जाकर उन्होंने सशस्त्र क्रांति का विचार छोड़ दिया और शरीर-गठन, चरित्र-निर्माण आदि के रचनात्मक काम में पूरी तरह से लग गये। यहां यह ख्याल रहे कि श्रीअरविंद के प्रभाव में आकर पुराणीजी शुरू से हर काम भगवान् का काम मानकर, भगवान् के लिये ही करते थे।

दो वर्ष बाद १९२० में पुराणीजी फिर पांडिचेरी आये। इस बार उन्हींके शब्दों में "इन दो वर्षों में श्रीअरविंद के शरीर की कांति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया था। पहले सामान्य बंगालियों की तरह उनका श्यामवर्ण था, चेहरे पर और आंखों में एक अलौकिक प्रभा थी। इस बार सीढ़ी चढ़ते ही मैंने सेब के जैसे लालिमा लिये हुए गाल और तेजस्वी, स्निग्ध गौर वर्ण देखा। श्रीअरविंद के शरीर में यह परिवर्तन देखकर मेरे मुंह से निकल पड़ा, 'आपको क्या हो गया है?' बाद में मालूम हुआ कि यह परिवर्तन साधना के परिणामस्वरूप हुआ था।"

इसके बाद १९२३ में पुराणीजी स्थिर रूप से श्रीअरविंद के साथ ही रह गये। यहां रहते हुए भी गुजरात की व्यायाम-संस्थाओं के साथ उनका संबंध बना रहा। उनके मार्गदर्शन के लिये लिखे गये पत्रों की कई किताबें छप चुकी हैं। आश्रम में रहते हुए उन्होंने श्रीअरविंद की बहुत-सी पुस्तकों का गुजराती में अनुवाद किया और बहुत-से स्वतंत्र लेख लिखे जिनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वैदिक साहित्य का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था और श्रीअरविंद के वेदभाष्य की दृष्टि से वैदिक शब्दों का एक कोश भी तैयार किया था। श्रीअरविंद के महाकाव्य 'सावित्री' पर एक ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा और इसी प्रकार अन्य अनेकानेक पुस्तकें रचीं। उनके बहुत-से लेखों के अनुवाद हिन्दी में भी छप चुके हैं। हिन्दी में तुलसी और कबीर का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था और अपने परम मित्र सुमित्रानंदन पंत के काव्य से भी वे अच्छा परिचय रखते थे।

इतना सब करते हुए भी पुराणीजी को देखकर कभी यह न लगता था कि उन्हें अवकाश नहीं मिलता। अपनी समस्या लेकर हर व्यक्ति उनसे मिल सकता या पत्र-व्यवहार कर सकता था, फिर चाहे वह पारिवारिक कलह से लेकर संस्थाओं के संगठनसंबंधी, साहित्य विषयक या किराये पर मकान लेने की समस्या क्यों न हो, हर एक का समाधान करने के लिये उनके पास यथेष्ट समय होता था। 'समय नहीं है' कहकर उन्होंने शायद ही कभी किसी को लौटाया हो। उनके व्यक्तित्व में एक आग थी जो हमेशा धधकती रहती थी और संपर्क में आनेवाले पर अपना प्रभाव डाले बिना न रहती थी। उन्हें देखने से ही शरीर में स्फूर्ति आती थी और उत्साह बढ़ता था। इतने काम-काज में लगे हुए पुराणीजी आश्रम में आनेवाले नये लोगों को जो पत्र लिखा करते थे वे सचमुच देखने लायक होते थे। उन पत्रों में वह पूरी जानकारी होती थी जिसकी किसी नये आदमी को जरूरत हो सकती है। उनमें यहांतक सूचना होती थी कि यहां मच्छर बहुत हैं, अपने साथ मच्छरदानी लेते आना, यहां सर्दी ज्यादा नहीं होती गरम कपड़ों की जरूरत नहीं है, यहां स्टेशन पर कुली को इतने पैसे देने होते हैं और रिक्शा का किराया इतना होगा। नया आदमी उन दिनों के पांडिचेरी के वातावरण में खो-सा जाता था। अजानी भाषा, पुलिस की दृष्टि, घरों की समस्या आदि से घबराहट होती थी। ऐसे समय पुराणीजी ही नये लोगों

के—चाहे वे राजा हों या रंक—सबसे अच्छे मित्र होते थे। इसी प्रकार के गुमनाम विद्यार्थी को लिखे हुए पुराणीजी के एक पत्र को देखकर गांधीजी के दो महारथी—श्री मशरूवाला और श्री धोत्रे—बोल उठे थे कि पुराणीजी के जैसे कामकाजी आदमी के पत्र में इतनी छोटी-छोटी बातें भी नहीं छूट पातीं, यह सचमुच आध्यात्मिकता का ही प्रभाव है।

१९४७ में श्रीअरविंद के जन्मदिन पर भारत स्वाधीन हुआ। गुजरात से बुलावा आया। लोगों का आग्रह था कि पुराणीजी आकर अपने गुरु की प्रसादी हमें भी दें। श्रीअरविंद का आशीर्वाद लेकर उन्होंने वहां की यात्रा की, उसके बाद कई अन्य प्रदेशों और देशों में भी जाना पड़ा। वे जैसे-जैसे भ्रमण करते गये वैसे-वैसे उनके लिये मांग बढ़ती गयी। लोग उनके संपर्क में आने और उनसे माताजी तथा श्रीअरविंद का संदेश सुनने के लिये आतुर होने लगे, उन्होंने श्रीअरविंद का एक जीवन-चरित्र लिखा और "श्रीअरविंद के साथ वार्तालाप" के कई भाग तैयार किये। जापान, यूरोप और अमरीका में विद्यालयों, विश्वविद्यालयों गिरजाघरों और अन्य सभा-सोसायटियों में न जाने कितने लोगों को उन्होंने श्रीअरविंद का संदेश सुनाया। उनके प्रभाव का कुछ अन्दाजा उन पत्रों से लग सकता है जो अभीतक आते जा रहे हैं।

विदेश यात्रा में अत्यधिक कार्यभार और अनियमित जीवन के कारण उनका शरीर कुछ थक-सा गया था, उसी समय हृद्रोग ने आकर उन्हें बहुत दुर्बल कर दिया और कुछ काल के लिये खाट की शरण लेनी पड़ी। उसके बाद शारीरिक श्रम तो बंद कर देना पड़ा परंतु लिखने-पढ़ने का काम वेग से चलता रहा। दस दिसम्बर १९६५ की शाम को पुराणीजी भले-चंगे थे, कुछ लोगों को ११ को सवेरे मिलने के लिये समय भी दिया था। रात को फिर से हृदय का दौरा हुआ, सवेरे साढ़े पांच के आस-पास चारों ओर नजर घुमायी मानों वहां आये हुए लोगों से विदा ले रहे हों और अपनी आंखें हमेशा के लिये मूंद लीं। कमरे में शांति का राज्य था, कहीं एक हिचकीतक न सुनायी दी। श्रीअरविंद के संदेशवाहक के यहां शोक कैसे आ सकता था। लोगों ने देखा पुराणीजी मरे नहीं, उनके पंच तत्त्व अपने-अपने मूल में जा मिले हैं।

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

सांस्कृतिक आदान-प्रदान

हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि किसी अन्य जाति से 'अच्छी चीज को ग्रहण करना और बुरी को छोड़ देने' का सूत्र निश्चित रूप से बहुत ही अधकचरा सूत्र है, यह सचमुच उन सूत्रों में से एक है जो सुनने में बहुत आकर्षक लगता है अतः ऐसे मनों पर बहुत जल्दी हावी हो जाता है जो गभीर रूप से चिन्तन करने में असमर्थ होते हैं और केवल सतही चीजों पर ही संतुष्ट हो जाते हैं, जब इस सूत्र को सचमुच क्रिया में लाया जाता है तो हम देखते हैं कि अपनी परिकल्पना में यह बहुत ही कमजोर है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि जब हम किसी वस्तु को 'ग्रहण करते' हैं तो उसके अच्छे और बुरे दोनों रूप गड्डु-मड्डु होकर एक साथ आ जाते हैं, उदाहरण के लिये अगर हम उस भयंकर, दैत्याकार, विवश करनेवाले उस विकराल आसुरिक सृजन को लें जिसे यूरोपियन व्यवसायवाद कहा जाता है—दुर्भाग्यवश परिस्थितिवशात् हम इसे अपनाने के लिये बाधित हैं—तो चाहे हम उसे उसके रूप में लें या सिद्धांत में, हम अधिक अनुकूल परिस्थितियां पाकर उससे अपनी सम्पत्ति तथा आर्थिक

साधनों को तो बढ़ा सकते हैं लेकिन निश्चित रूप से हम भी उसकी सामाजिक असंगतियों, नैतिक महामारियों तथा क्रूर समस्याओं के बंधनों में जकड़े जायेंगे और तब यह बात समझ में नहीं आती कि हम जीवन में आर्थिक लक्ष्य के दास बनने और अपनी संस्कृति के आध्यात्मिक तत्त्व को गंवाने से भला किस तरह बच पायेंगे ?

और इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में अच्छा और बुरा इन शब्दों का कोई निश्चित अर्थ नहीं है, ये हमारी कोई सहायता नहीं करते। अगर हमें इनका उपयोग करना ही पड़े—जहां इनका केवल सापेक्ष अर्थ ही होता है—अर्थात् नीतिशास्त्रीय अर्थों में नहीं, बल्कि जीवन के पारस्परिक आदान-प्रदान के विषय में, तो हमें इन शब्दों को एक व्यापक अर्थ देना होगा, प्रत्येक व्यक्ति के लिये इनकी अलग-अलग व्याख्या होगी; यानी जो भी वस्तु मुझे अधिक घनिष्ठ, अधिक उदात्त रूप में, आत्म-अभिव्यंजक सृजन की अधिक महान् और अधिक स्वस्थ संभावना के साथ स्वयं को ढूंढ़ने में सहायता पहुंचाती है वह अच्छी है; जो चीज मुझे अपनी दिशा से दूर ले जाती है, मेरी शक्ति को, मेरी समृद्धि को तथा मेरी आत्म-सत्ता की विशालता और उच्चता को क्षीण और क्षुद्र कर देती है वह मेरे लिये बुरी है। अगर प्रत्येक के लिये यही बात हो, अगर भेद को इस तरह समझ लिया जाये तो स्पष्ट रूप से किसी भी गभीर प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिये, जो वस्तुओं की तह में जाने की कोशिश करता है, यह चीज स्पष्ट हो जायेगी कि वास्तविक प्रश्न इस या उस औपचारिक ब्यौरे को ग्रहण करने का नहीं है, इसका तो केवल संकेतात्मक मूल्य होता है—उदाहरण के लिये विधवाओं का पुनर्विवाह—बल्कि प्रश्न तो है महान् प्रभावशाली विचारों को ग्रहण करने का; जीवन के बाहरी क्षेत्रों में सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता, समानता तथा लोकतंत्र जैसे महान् विचारों को अपनाने का। अगर हम इनमें से किन्हीं विचारों को अपनाते हैं—इसलिये नहीं कि ये आधुनिक या यूरोपीय हैं, जो अपने-आपमें कोई विशेष बात नहीं है—बल्कि इसलिये अपनाते हैं कि वे मानव हैं, कि वे आत्मा को फलप्रद दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, कि ये मनुष्य के जीवन के भावी विकास के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार हैं। उदाहरण के लिये अगर हम जनतंत्र के प्रचलित विचार को ग्रहण करने की बात कहते हैं—सचमुच यह विचार तो प्राचीन भारत में प्राचीन यूरोपीय राजतंत्र तथा समाज की भांति तत्त्व रूप में विद्यमान था, यद्यपि इसे पूरी तरह से कभी क्रियान्वित नहीं किया गया—तो इससे हमारा मतलब यह होगा कि हम अपने भावी जीवन के तरीके में इसे इस तरह जोड़ लें कि वह हमारे विकास को सुदृढ़ और पुष्ट बनाये। आत्मसात्करण का हमारे लिये अर्थ होगा चीजों को स्थूल रूप में, उनके यूरोपीय रूपों में नहीं ग्रहण करना चाहिये बल्कि जो चीज इसके अनुरूप हो, जो इसके भाव को प्रबुद्ध करे, जीवन तथा अस्तित्व-संबंधी हमारी परिकल्पना में इसके उच्चतम आशय का समर्थन करती हो उसकी ओर हमें वापिस लौटना होगा और फिर उस प्रकाश के साथ, उस चीज को अपने आचार-विचार में प्रवेश कराना होगा। यह बात हर एक क्षेत्र में लागू होती है, हम जिस किसी वस्तु को किसी दूसरे से लें उसे हमें पहले अपने धर्म के सांचे में ढालकर ही प्रयोग में लाना चाहिये तब उसे उचित मात्रा में, उचित रूप में आत्मसात् करके हम अपनी पद्धति, अपनी संस्कृति में विकास ला सकते हैं अन्यथा अस्तव्यस्तता का समावेश हो जायेगा और हम कहीं के न रहेंगे—न इधर के न उधर के।

इसके साथ-साथ हम यह भी कहते चलें कि चूंकि सावधानी के बिना किया गया आत्मसात्करण अस्तव्यस्तता लाता है अतः हम अपनी यह नीति अपना लें कि बाहर से आनेवाली प्रत्येक चीज का बहिष्कार कर दें; यह चीज न तो वांछनीय है न संभव ही है। प्रत्येक जीवन्त सत्ता बाहर से किसी चीज को लेकर उसे अपने नियम, अपने आकार में ढालती, उसे अपनी विशेषता प्रदान करती है और इस प्रक्रिया में जो चीज असंगत होती है, उसके लिये मारक होती है उसे वह स्वयं ही छोड़ देती है—यही

है सच्चा आत्मसात्करण। चूंकि हम सजीव हैं अतः हमारे पास आनेवाली चीजों का पूरी तरह से बहिष्करण हमारे लिये संभव नहीं है क्योंकि तब हम विभिन्नता में एकता की बात ही नहीं कर सकते, और सचमुच जीवन कोई कटा-छंटा, अलग-थलग माटी का टुकड़ा नहीं है; जीवन है आदान-प्रदान की प्रक्रिया और चारों ओर की चीजों के साथ यह आदान-प्रदान स्वास्थ्यकर स्थायित्व तथा विकास के लिये आवश्यक है। जो जीवन्त सत्ता इस तरह के आदान-प्रदान को त्याग देगी वह जड़ता तथा अवसाद के कारण शीघ्र ही दुर्बल होकर समाप्त हो जायेगी।

—वन्दना

'सान्ध्य-वार्ताएं' :

देवों, एशिया तथा यूरोप के बारे में

२२-८-१९२६

श्रीअरविंद—(एक शिष्य की ओर मुड़कर) कल तुम देवों के रूप के बारे में पूछ रहे थे कि क्या उनके अपने लोक में निश्चित रूप हैं। मैं उसके बारे में सोच रहा था और मुझे लगता है कि उनके निश्चित रूप हैं।

शिष्य—कहते हैं कि हर देव का अपना नित्य रूप होता है।

श्रीअरविंद—मुझे भी लगता है, लेकिन तुम उसे तबतक नहीं देख सकते जबतक तुम मानव चेतना से एकदम बाहर न हो जाओ। उनके ऐसे रूप हैं जिनसे वे अपने-आपको अन्य देवों से अलग कर सकते हैं और वे सचमुच जो हैं उसे प्रकट कर सकते हैं। ऐसा लगता है कि इस मामले में तीन बातें आती हैं। पहले यह कि हम जिस रूप को देखते हैं वह नित्य रूप का प्रतिबिम्ब हो, हो सकता है कि यह पूरा-पूरा न हो और सब लोकों के लिये एक समान न हो। वह जिस लोक में प्रतिबिम्बित होता है उसके अनुसार अलग-अलग हो सकता है, दूसरे, भक्त का मन उसमें कुछ भाग ले सकता है, तीसरे, दोनों का मिश्रण हो।

शिष्य—क्या देवों के रूप का मानव रूप से कोई साम्य होता है?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। लेकिन जो लोग सच्चिदानन्द चेतना में रुके बिना देवों की ओर निर्वैयक्तिक वृत्ति से जाते हैं, वे मानसिक स्तर को पार करके ऐसे स्तर में जाते हैं जहां वे देवों को मनुष्य जैसे रूप में देखते हैं। शायद इसी कारण वेद में देवों को पुरुष कहा गया है।

२४-८-१९२६

शिष्य—आपने कहा कि सच्चे देवों का जगत् अतिमानसिक है।

श्रीअरविंद—हां, कहीं-कहीं।

शिष्य—वह अतिमानस में है या उसके भी परे जाता है?

श्रीअरविंद—वह अतिमानस से शुरू होता है और आगे जाता है। हमें उसके बारे में चिंता करने की जरूरत नहीं, वहांतक पहुंचना ही काफी कष्टकर है।

शिष्य—उन्हें किसने बनाया ?

श्रीअरविंद—ऐसे बेवकूफी-भरे प्रश्न करने का क्या अर्थ है ? वे इतिहास के आरंभ से हैं।

शिष्य—देव और मनुष्य के व्यक्तित्व में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—वही जो तुम्हारे और छिपकली के व्यक्तित्व में है।

शिष्य—व्यक्तित्व का अर्थ है सत्ता और स्वभाव या प्रकृति ?

श्रीअरविंद—उसका अर्थ है विभिन्न सत्ताएं और विभिन्न प्रकृतियां। विभिन्न व्यक्तित्व मिलकर एक व्यक्तित्व बना सकते हैं।

शिष्य—क्या भारत का सामुदायिक व्यक्तित्व हमेशा से है ?

श्रीअरविंद—हां, जहांतक इतिहास को पता है। मुझे पता नहीं कि सुमेरियन काल में क्या रहा होगा।

शिष्य—इस सामुदायिक या यूं कहें अधि-व्यक्तित्व का स्वभाव कैसा होता है ?

श्रीअरविंद—तुम्हें भारतीय लोगों की विशिष्टताओं को देखना चाहिये तब तुम समझोगे कि अधि-व्यक्तित्व इससे मेल खानेवाली कोई चीज होगी। जब तुम मन के उस पार हो तो तुम उसे परे से देख सकते हो और यह देखते हो कि मन यहां, नीचे, किस तरह काम करता है। लेकिन जबतक हम यहां मन में हैं, हमें अपनी वर्तमान प्रकृति के नियमों के अनुसार चलना होगा।

शिष्य—मैं पूछना यह चाहता था कि अब भारत में जिस राष्ट्र का उदय होगा क्या उसके वही लक्षण होंगे जो यूरोप के राष्ट्रों के हैं या उससे कुछ भिन्न ?

श्रीअरविंद—स्पष्ट है कि वही नहीं हो सकता, वह उनसे कुछ अधिक होगा।

शिष्य—मेरी 'क' के साथ बहस हो रही थी जिसमें उसने कहा कि हमारे अंदर यूरोप की तरह कोई राष्ट्रीय चेतना नहीं है और मैं कह रहा था कि हमारे अंदर कुछ अधिक है।

श्रीअरविंद—शायद यूरोप में ऐसा सुस्पष्ट सामुदायिक व्यक्तित्व नहीं है जैसा भारत में है। यूरोप में कई सुस्पष्ट राष्ट्रीय व्यक्तित्व हैं जैसे इंग्लैंड का एक निश्चित राष्ट्रीय व्यक्तित्व है, इसी तरह फ्रांस में भी है। वे किसी तरह का सामुदायिक व्यक्तित्व बनाने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन वे उसे अभीतक कोई रूप नहीं दे पाये हैं।

यहां भारत में बात बिलकुल अलग है। यहां एक सुस्पष्ट और सुनिश्चित सामूहिक व्यक्तित्व पहले से है और भारतीय राष्ट्र के विभिन्न व्यक्तित्व और प्रारूप उसके रूपायन कहे जा सकते हैं, मानों वही इन सबमें अपने-आपको व्यक्त कर रहा है।

शिष्य—भारत के विभिन्न भागों में जो भेद हैं, क्या वे उसी एक सामुदायिक व्यक्तित्व के विभिन्न रूप हैं ?

श्रीअरविंद—ये ऐसे हैं जैसे इंग्लैंड में अंग्रेज, स्कॉटिश और वेल्श या जर्मनी में प्रशियन और बवेरियन। अगर यह स्पष्ट सामुदायिक व्यक्तित्व न होता तो भारत में राजनीतिक राष्ट्र बनाना संभव न होता।

एशिया का मामला ले लो। यहां एक सामुदायिक एशियाई व्यक्तित्व बनाने की कोशिश की जा रही है। लेकिन अभी कोई उसे एक राजनीतिक इकाई में लाने की कोशिश करे तो संकटपूर्ण, भयंकर असफलता होगी।

शिष्य—क्या यह सच नहीं है कि राष्ट्रीय चेतना सर्व-सामान्य, सार्वजनिक संकट के उत्तर में विकसित होती है। इसलिये विचार है कि जब एशिया को यूरोप से लड़ना होगा तो वह एक हो सकेगा और मानवजाति में तब एकता आयेगी जब हमें किसी और ग्रह से लड़ना पड़ेगा। (हंसी)

श्रीअरविंद—यह ऐक्य पैदा करने का प्राणिक तरीका है। यूरोप में यद्यपि सामुदायिक व्यक्तित्व तो

नहीं है पर एशिया और अफ्रीकावालों के विरुद्ध सर्वसामान्य मानसिकता, सर्वसामान्य संस्कृति और सर्वसामान्य वृत्ति तो है ही।

शिष्य—अफलातून (प्लेटो) का कहना है कि हर रूप का अपना एक 'भाव' होता है यानी हर रूप के पीछे उसके प्ररूप का एक निश्चित भाव होता है और व्यक्ति बदलता रहता है पर भाव बना रहता है।

श्रीअरविंद—लेकिन भाव कहां है ?

शिष्य—अफलातून में। (हंसी)

शिष्य—मुझे नहीं लगता कि अफलातून का अपने 'भाव' शब्द से अर्थ मानसिक अमूर्तिकरण से था। इसका अर्थ 'सृजनात्मक कल्पना' हो सकता है।

श्रीअरविंद—इन विषयों में अफलातून के विचार बहुत ज्यादा गणितीय थे। अगर उसका मतलब सृजनात्मक कल्पना था तो उसमें कई चीजें हैं। पहली चीज यह कि यह कोई मानसिक भाव नहीं बल्कि वह है जिसे मैं सद्वस्तु कहता हूं। यानी ऐसा भाव जिसमें वास्तविकता और शक्ति हो। हर रूप के साथ एक आदर्श प्ररूप होता है। भाव में पहले ही उसका अस्तित्व होता है—भौतिक रूप में आने से पहले सद्वस्तु में उसका प्ररूप होता है। हर चीज का पहला अस्तित्व चेतना में होता है फिर भौतिक में।

शिष्य—क्या यह महत्-ब्रह्म हो सकता है जिसकी बात गीता ने की है ?

श्रीअरविंद—मुझे मालूम नहीं कि अफलातून को अतिमानस का हल्का-सा आभास था या नहीं लेकिन उसका मन बहुत ज्यादा गणितीय था और उसने उसे बहुत कठोर, तर्कसंगत मानसिक रूपों में ढाला था। यह था यूनानी मानस।

—पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से

'कुछ माताजी के बारे में' :

मैं तुम्हारे साथ हूं

मैं तुम्हारे साथ हूं क्योंकि मैं तुम हूं या तुम मैं हो।

मैं तुम्हारे साथ हूं, इसके बहुत सारे अर्थ होते हैं, क्योंकि मैं सभी स्तरों पर सभी भूमिकाओं में, परम चेतना से लेकर अत्यन्त भौतिक चेतना तक तुम्हारे साथ हूं। यहां, पांडिचेरी में, तुम मेरी चेतना को अंदर लिये बिना श्वास भी नहीं ले सकते। वह सूक्ष्म-भौतिक में सारे वातावरण को लगभग भौतिक रूप में भरे हुए है, और यहां से दस किलोमीटर दूरतक ऐसा है। उसके आगे, मेरी चेतना को भौतिक प्राण में अनुभव किया जा सकता है, उसके बाद मानसिक स्तर तथा अन्य उच्चतर स्तरों पर हर जगह। जब मैं यहां पहली बार आयी थी तो मैंने भौतिक रूप से दस किलोमीटर नहीं, दस समुद्री मील की दूरी से श्रीअरविंद के वातावरण का अनुभव किया था। वह एकदम अचानक, बहुत ठोस रूप में, एक शुद्ध, प्रकाशमय, हल्का, ऊपर उठानेवाला वातावरण था।

बहुत समय पहले श्रीअरविंद ने आश्रम में हर जगह यह अनुस्मारक लगवा दिया था जिसे तुम सब जानते हो : "हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि, वास्तव में, वे हमेशा उपस्थित हैं।"

यह केवल एक वचन नहीं है, कुछ शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। मैं तुम्हारे साथ बहुत ठोस रूप में हूं और जिनमें सूक्ष्म दृष्टि है वे मुझे देख सकते हैं।

सामान्य रीति से मेरी 'शक्ति' हर जगह कार्यरत है, वह हमेशा तुम्हारी सत्ता के मनोवैज्ञानिक तत्वों को इधर-उधर हटाती और नये रूप में रखती तथा तुम्हारे सामने तुम्हारी चेतना के नये-नये रूपों को निरूपित करती रहती है ताकि तुम देख सको कि क्या-क्या बदलना, विकसित करना या त्यागना है।

इसके अलावा, मेरे और तुम्हारे बीच एक विशेष संबंध है, उन सबके साथ जो मेरी और श्रीअरविंद की शिक्षा की ओर मुड़े हैं—और, यह भली-भांति जानी हुई बात है कि इसमें दूरी का सवाल नहीं उठता, तुम फ्रांस में हो सकते हो, दुनिया के दूसरे छोर पर हो सकते हो या पांडिचेरी में हो सकते हो, यह संबंध हमेशा सच्चा और जीवित-जाग्रत् होता है। और हर बार जब पुकार आती है, हर बार जब इसकी जरूरत हो कि मुझे पता लगे ताकि मैं एक शक्ति, कोई प्रेरणा या रक्षा या कोई और चीज भेजूं, तो अचानक मेरे पास एक संदेश-सा आता है और मैं जो जरूरी होता है वह कर देती हूं। यह तो स्पष्ट है कि ये संदेश मेरे पास किसी भी समय पहुंचते रहते हैं, और तुमने कई बार मुझे अचानक किसी वाक्य या काम के बीच रुकते देखा होगा; यह इसलिये कि कोई चीज मेरे पास आती है, कोई संदेश आता है और मैं एकाग्र हो जाती हूं।

जिन लोगों को मैंने शिष्य रूप में स्वीकार लिया, जिन्हें "हां" कह दी है, उनके साथ संबंध से बढ़कर कुछ और होता है। उनमें मेरा एक निर्गत अंश होता है। जब कभी जरूरत हो तो यह निर्गत अंश मुझे चेतावनी देता है और मुझे बतलाता है कि क्या हो रहा है। वास्तव में मुझे सारे समय सूचनाएं मिलती रहती हैं, परंतु मेरी सक्रिय स्मृति में वे सब अंकित नहीं होतीं। तब तो मेरे अंदर बाढ़ आ जायेगी; भौतिक चेतना फिल्टर या छन्ने का काम करती है। चीजें एक सूक्ष्म स्तर पर अंकित होती हैं, वे वहां अप्रकट अवस्था में रहती हैं, मानों कोई संगीत ध्वन्यांकित तो कर लिया गया हो पर बजाया न गया हो, और जब मुझे अपनी भौतिक चेतना में कुछ जानने की जरूरत होती है, तो मैं इस सूक्ष्म भौतिक स्तर के साथ संपर्क जोड़ती हूं और रेकार्ड बजने लगता है। तब मैं देखती हूं कि चीजें कैसी हैं, उनका समय में विकास और उनका वास्तविक परिणाम क्या है।

और अगर किसी कारण से तुम मुझे चिट्ठी लिखो और मेरी सहायता मांगो और मैं उत्तर दूं, "मैं तुम्हारे साथ हूं," तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारे साथ की संचार-व्यवस्था सक्रिय हो गयी है, तुम कुछ समय के लिये, जितने समय के लिये जरूरी हो, मेरी सक्रिय चेतना में आ जाते हो।

और मेरे और तुम्हारे बीच का यह संबंध कभी नहीं टूटता। ऐसे लोग हैं जिन्होंने विद्रोह की अवस्था में बहुत पहले आश्रम छोड़ दिया था, और फिर भी मैं अपने-आपको उनके बारे में अवगत रखती हूं, उनकी देखभाल करती हूं। तुम्हें कभी त्यागा नहीं जाता।

सच तो यह है कि मैं अपने-आपको हर एक के लिये जिम्मेदार मानती हूं, उनके लिये भी जिनसे मैं अपने जीवन में बस निमिषमात्र के लिये मिली हूं।

यहां एक बात याद रखो। श्रीअरविंद और मैं एक ही हैं, एक ही चेतना हैं, एक और अभिन्न व्यक्ति हैं। हां, जब यह शक्ति या उपस्थिति, जो एक ही है, तुम्हारी वैयक्तिक चेतना में से गुजरती है, तो वह एक रूप, एक आभास धारण कर लेती है जो तुम्हारे स्वभाव, तुम्हारी अभीप्सा, तुम्हारी आवश्यकता, तुम्हारी सत्ता के विशेष मोड़ के अनुसार होता है। तुम्हारी वैयक्तिक चेतना, यह कहा जा सकता है, एक छन्ने या एक सूचक की तरह होती है जो दूसरी अनंत दिव्य संभावनाओं में से एक संभावना को चुनकर दृढ़ कर लेती है। वस्तुतः, भगवान् हर एक व्यक्ति को वही देते हैं जिसकी वह उनसे आशा करता है। अगर तुम यह मानते हो कि भगवान् बहुत दूर और क्रूर हैं तो वे दूर और क्रूर होंगे, क्योंकि तुम्हारे परम कल्याण के लिये यह जरूरी होगा कि तुम भगवान् के कोप का अनुभव करो; काली के पुजारियों के लिये वे काली होंगे और भक्तों के लिये 'परमानन्द'। और जिज्ञासुओं के लिये वे 'सर्वज्ञान' होंगे,

मायावादियों के लिये परात्पर 'निर्गुण ब्रह्म', नास्तिक के साथ वे नास्तिक होंगे और प्रेमी के लिये प्रेम। जो उन्हें हर क्षण, हर गति के आंतरिक निदेशक के रूप में अनुभव करते हैं उनके लिये वे बंधु और सखा, हमेशा सहायता करने के लिये तैयार, वफादार दोस्त रहेंगे। और अगर तुम यह मानो कि वे सब कुछ मिटा सकते हैं, तो वे तुम्हारे सभी दोषों, तुम्हारी सभी भ्रांतियों को बिना थके मिटा देंगे और तुम हर क्षण उनकी अनंत 'कृपा' का अनुभव कर सकोगे। वस्तुतः भगवान् वही हैं जिनकी तुम अपनी गहरी-से-गहरी अभीप्सा में आशा करते हो।

और जब तुम उस चेतना में प्रवेश करते हो जहां तुम सभी चीजों को एक ही दृष्टि में देख सको, मनुष्य और भगवान् के बीच संबंधों की अनंत बहुलता को देख सको, तो तुम देखते हो कि यह सब अपने ब्यौरे में कैसा अद्भुत है। अगर तुम मानवजाति के इतिहास को देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि मनुष्य जो समझे हैं, उन्होंने जिसकी इच्छा और आशा की है, जिसका स्वप्न लिया है, उसके अनुसार भगवान् कितने विकसित हुए हैं। वे किस तरह जड़वादी के साथ जड़वादी रहे हैं और हर रोज किस तरह बढ़ते जाते हैं और जैसे-जैसे मानव चेतना अपने-आपको विस्तृत करती है वे भी दिन-प्रतिदिन निकटतर और अधिक प्रकाशमान होते जाते हैं। हर एक चुनाव करने के लिये स्वतंत्र है। सारे संसार के इतिहास में मनुष्य और भगवान् के संबंध की इस अनंत विविधता की पूर्णता एक अकथनीय चमत्कार है। और यह सब मिलाकर भगवान् की समग्र अभिव्यक्ति के एक क्षण के समान है।

भगवान् तुम्हारी अभीप्सा के अनुसार तुम्हारे साथ हैं। स्वभावतः इसका यह अर्थ नहीं है कि वे तुम्हारी बाह्य प्रकृति की सनकों के आगे झुकते हैं,—यहां मैं तुम्हारी सत्ता के सत्य की बात कह रही हूं। और फिर भी, कभी-कभी भगवान् अपने-आपको तुम्हारी बाहरी अभीप्सा के अनुसार गढ़ते हैं, और अगर तुम, भक्तों की तरह, बारी-बारी से मिलन और विछोह में, आनंद की पुलक और निराशा में रहते हो, तो भगवान् भी तुमसे, तुम्हारी मान्यता के अनुसार, बिछुड़ेंगे और मिलेंगे। इस भांति मनोवृत्ति, बाहरी मनोवृत्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग यह नहीं जानते कि श्रद्धा कितनी महत्त्वपूर्ण है, श्रद्धा चमत्कार है, चमत्कारों को जन्म देनेवाली है। अगर तुम यह आशा करते हो कि हर क्षण तुम्हें ऊपर उठाया जाये और भगवान् की ओर खींचा जाये तो वे तुम्हें उठाने आयेंगे और वे बहुत निकट, निकटतर, अधिकाधिक निकट होंगे।

'नयी कोंपलें' :

अभावों को . . .

अभावों को जब-जब
कुछ और बारीकी से देखा
तो पाया : वे कल की पूर्णता के
अस्फुटित बीज थे
जिनमें जल पवन और सूर्य
के से प्रयत्न न्यून थे :
कुछ रहस्य थे वे
अब भौतिकता की विस्मृति के अंश
जिनकी गहनता में अनन्त प्रतिध्वनित था :
कुछ पिपासु स्फुल्लिंग थे वे
जिन्हें क्षुद्र अहम् के हविष्य की तृष्णा थी।
तब-तब
एक व्याकुलता-सी मर्म को भेद गयी
एक टीस-सी उठ आई
एक उत्साह-सा जगा
असीम के उत्तुंग तारों को
तोड़-तोड़ लाने का।
क्योंकि मैं भी एक अभाव ही हूं।

—आनन्द अग्रवाल

'नयी कोंपलें' :

कृपा

कल रात बहुत गर्मी थी और फिर बिजली भी चली गयी, इसीलिये मैं अपना बिस्तर लेकर छत पर चला गया। उस समय ग्यारह बजे होंगे। छत पर भी हवा नहीं चल रही थी। मैं कुछ देर तक लेटा रहा और हवाओं की प्रतीक्षा करता रहा; परंतु मैं बदकिस्मत था, बहुत देर बाद एक हवा का झोंका आया। झोंका तो क्या था केवल पड़ोस के पेड़ के कुछ पत्ते हिलते नजर आये। मैं सोचने लगा, क्या मैं फिर अपने कमरे में जाऊं जिसमें एक झरोखा है और वह भी कुछ ऊंचाई पर। कमरे में मुझे घुटन महसूस होती है और मेरा कमरा अबतक भट्टी की भांति तप रहा है।

मैं सोचने लगा उस काल कोठरी की अपेक्षा यहां कहीं अधिक ताजगी है और फिर ऊपर खुला आसमान भी तो है। मैं इन्हीं विचारों में डूबा रहा और जब इस विचार का सिलसिला टूटा तो मैंने अपने ऊपर विषाद रात्रि में उद्वेगभरे घने बादलों की सेना को बढ़ते देखा। यह सेना तारों को निगलती जा रही थी और फिर वह शशि को भी निगल गयी। देखते ही देखते इन बादलों ने सारे आकाश पर कब्जा कर लिया और मैंने छत पर कुछ बूंदें भी महसूस कीं।

मैं अपना बिस्तर लेकर उठा ही था कि मुझे एक बच्चे के रोने की आवाज सुनाई दी। जब छत से नीचे देखा तो मुझे कुछ भी नहीं दिखाई दिया। मैंने फिर वही आवाज सुनी, मैंने आवाज का अनुसरण किया तो देखा कि पगडंडी पर एक बालक सिकुड़कर सो रहा है। मैंने अंदाज लगा लिया कि इसी बालक की दर्दभरी पुकार मुझे क्षणभर पूर्व सुनाई दी थी। न जाने क्यों यह हादसा मेरे मन को छू गया। खैर मैं अपने कमरे में जाकर सो गया।

अगले दिन जब मैं स्कूल जा रहा था तब मैंने देखा कि उस बालक के पास दो व्यक्ति खड़े हैं। मैं समझ गया कि ये उसके जन्मदाता हैं। मां ने पुत्र को अपनी गोद में उठा लिया और पिता साइकिल लेकर आया, इस बीच मां ने अपने पुत्र को चुन्नी ओढ़ा दी। यह देख मैं समझ गया कि उस लड़के को बुखार था।

यह देख मुझे पिछली रात याद आयी जब मैं अपने कमरे में घुटन के मारे सो न सका और मजबूरन छत पर सोने चला गया। छत पर मैंने अपने कमरे की बहुत निन्दा की और उसे बहुत कोसा भी। हालात ने मुझे छत पर भी नहीं सोने दिया और मुझे वापस कमरे में धकेल दिया। परंतु अब मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरा कमरा इतना बुरा नहीं है जितना मैंने उसको अपने क्रोध में बना दिया था।

मैंने अपने-आपको धन्य माना क्योंकि उस लड़के की तुलना में मैं कहीं अधिक सुरक्षित हूं। इस अनुभव के बाद मैंने भगवान् को भी धन्यवाद दिया क्योंकि उन्हीं की कृपा से आज मेरे पास एक घर है।

—दिनेश चेनानी

गैर्वाणी :

आह्वानम्

अद्यत्वे कदाचित् स्तब्धाः चिन्तयामो वयम्—अन्ततः कस्मिन् चतुष्पथे तिष्ठन्ति विख्याताः भारतसुपुत्राः! यस्मिन् भारतवर्षे दुग्धस्य नद्यः वहन्ति स्म तत्रैव सम्प्रति नगरे नगरे, ग्रामे ग्रामे च वहन्ति शोणितनद्यः!!

हिंसा सर्वत्र करालद्रंष्टाः दर्शयित्वा पैशाचाट्टहासेन तथा संत्रासयते सर्वान् यथा विवशाः, असहायाः इव वयम् आत्मानम् अन्यान् च पृच्छामः—कस्मिन् चतुष्पथे वर्तामहे वयम् ?? प्रतीयते यथा विलुप्ता एव अहिंसा अस्मिन् संसारे। समाचारपत्रेषु पत्रिकासु च सर्वत्र एकः एव अनुनादः—हिंसा, हत्या, हाहाकारः . . .

हे भगवन् !

हे ईश्वर ! विचित्रं रचितः त्वया मनुष्यनामकः प्राणी। आभाद्वययुक्तः सः—तस्य गर्भे प्रकाशः अन्धकारश्च द्वावेव सम्मिश्रितौ। कदाचित् घोररात्रिः सञ्जायते, कदाचित् च प्रभातम्। किन्तु नागतः किं सः कालः यस्मिन् अन्धकार-रात्रिं निर्भिद्यात् चिरन्तनः प्रकाश-किरणः ?

कः जानाति ? सम्प्रति तु अन्धकारः घोरातिघोरः एव जायते। अद्यत्वे सम्पूर्णभारतवर्षे देशजातिधर्मसम्प्रदायादि-विषये तावन्तः अनावश्यककलहाः, हिंसाः च जायन्ते यत् हिन्दुयवनानां परस्परविद्वेषस्य या ज्वाला विभाजनात् परं बहुवारं प्रज्ज्वलिता सा सम्प्रति पुरातनी कथा इव जाता।

यः मानवः प्राणिषु 'श्रेष्ठम्' पदं प्राप्नोत् अपि तस्यार्थे नैतद् हास्यास्पदम् ? तस्य नृशंसतायाः आख्यानकानि दालिभक्तमिव प्रतिदिनं चर्वितचर्वितानि। प्राप्ता इदानीं सा अवस्था यदा तस्य मानवतायाः प्रकाशकाः प्रसङ्गाः जनान् विस्मापयन्ति !!

अस्तु एषा सत्यघटना न क्षते क्षारं अपि तु उपलेपः स्यात् इति विचारेण श्रावयामि किमपि—

पुरातनाख्यानम् एतत्—पेशावरनगरस्य दिसम्बरमासीयः असह्यशीतकालः। मध्यरात्रौ एका प्रतिच्छाया अपि मार्गे न दृश्यते। हठात् अग्निशमनकस्य टन्टन् इति स्वनः वातावरणं व्याप्तः। जनाः भीताः। क्षणेनैव अग्निः प्रचण्डरूपं धृत्वा ताण्डवनृत्यम् आरभत। काचिद् यवन-विधवा उच्चैः चीत्करोति स्म—"हा ! कः मम साहाय्यं करिष्यति, कः मम साहाय्यं करिष्यति ? अचिरमेव मम एकमात्रसम्पत्तिः, मद्गृहम् अग्नौ आहुतिः भविष्यति।"

सम्मर्दं भित्त्वा नदितः कश्चित् परुषस्वरः—दीयतां मह्यं जलनालम्। सर्वैः दृष्टं यत् कर्मचारिणां प्रतिवचनात् प्राक् कश्चित् सुदर्शनः बलिष्ठः च युवकः अर्धज्वलितां भित्तिम् आरोहत्। ताम् अलङ्घित्वा विधवायाः गृहप्राप्तिः असम्भवा आसीत्।

अग्निशामकाः आक्रोशन्—"कुतः प्राणान् सङ्कटे पातयसि, अचिरमेव एषा अर्धज्वलिता भित्तिः अपि धराशायिनी भविष्यति, अवतर, अवतर !"

किन्तु सः बलवान् अवतरणाय न आरूढवान्, स्वप्राणाः तेन विस्मृताः। सम्प्रति विधवायाः गृहरक्षणमासीत् तस्य अनन्यलक्ष्यम्, नीचैः स्थितजनानाम् आक्रोशः तस्य कर्णौ नैव प्रविष्टः। हस्ते नालं गृहीत्वा विधवायाः गृहे निरन्तरं तावत् जलवर्षामकरोत् यावत् अग्निः न अशाम्यत।

समीपस्थजनाः तु तस्य प्रशस्तिगानमकुर्वन्—कश्चिद् हिन्दुः यवन्याः अर्थे स्वप्राणान् सङ्कटे अक्षिपत् इति। विधवायाः सकाशे तु अश्रूणि विहाय नासन् कृतज्ञतायाः अन्ये उद्गाराः। स्मितवदनः युवकः एतावदेव अकथयत्—मातः, तव पुत्रवदस्मि अहं, पुत्रस्य प्रथमं कर्तव्यम्—मातुः रक्षा। तत् एव तु मया पालितम्। मा भव तथा विह्वला अन्यथा भारतवर्षस्य युवजनानाम् न एतावदपि सामर्थ्यम् इति अपमानं कुर्याः।

अहो, अपि शृणुथ यूयं, भारतवर्षस्य युवानः ! आह्वानम् एतत् युष्माकम् अर्थे।

ज्ञातुम् इच्छथ कः आसीत् एषः सुदर्शनः युवकः ? अयम् आसीत् महान् चलचित्राभिनेता पृथ्वीराजकपूरः।

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट दिल्ली के प्रकाशन : —

***हिन्दी के साहित्य-निर्माता—जयशंकर प्रसाद*—ले० प्रभाकर माचवे; मूल्य तीस रुपये।**

प्रसाद जी की शताब्दी के सिलसिले में हिन्दीवालों में उनके प्रति कुछ विशेष भाव जाग्रत् हुआ है, यह संतोष की बात है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके जीवन तथा उनकी विशेष कृतियों का संक्षिप्त और रोचक परिचय दिया गया है।

कामायनी, आंसू, कंकाल, तितली, मधुवा, चन्द्रगुप्त आदि का परिचय पढ़कर स्वाभाविक रूप से उनके साहित्य का अध्ययन करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

***अनौपचारिक शिक्षा का सही स्वरूप*—ले० दयाल चंद्र सोनी; मूल्य सौ रुपये।**

श्री दयाल चंद्र सोनी की यह पुस्तक पाठक को सोचने-समझने के लिये प्रेरित करती है। यह ग्रंथ उन सभी शिक्षाविदों के लिये पठनीय है जो भारतीय शिक्षा के सांस्कृतिक आधार के पक्षधर हैं। लेखक के मौलिक चिन्तन की झलक इस पुस्तक में पर्याप्त मात्रा में दिखाई देती है।

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

"Work done in the right spirit is meditation."

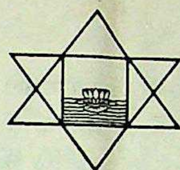
— THE MOTHER

अगर तुम कोई सच्ची बात नहीं कहना चाहते तो झूठ बोलने की जगह चुप रहो।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER



ईशत्व

मैं बैठा था संत्रास की महातरंगों के नृत्य के पीछे
कोलाहलपूर्ण मार्ग में जो प्रतीत होता था किसी भविष्यवादी की सनक का सृजन,
अनुभव किया अकस्मात्, प्रकृति के विवरों का करते हुए अतिक्रमण,
मेरे अंदर, आवृत करता मुझे प्रभु का दिव्य तन।

मेरे मस्तक के ऊपर एक महामस्तक था दृष्टिगत,
अमर्त्यता से प्रशांतिपूर्ण एक मुखमंडल
और एक सर्वशक्तिशाली दृष्टि जो धारे थी दृश्य जगत्
अपनी प्रभुता के वृत्त में विशाल।

उसके केशों में सूर्य और समीर हुए थे सम्मिश्रित;
मैं था वह और उसके हृदय में जगत् था सन्निहित :
मैंने बसाया था चिरंतन की शांति को अपने भीतर,
एकमेव की शक्ति जिसका सार कभी न सकता मर।

क्षण बीत गया और सब कुछ था पूर्ववत्
मैं संजोये था केवल वह स्मृति अमृत।

अनु० —अमृताभारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

नवंबर

१. भागवत प्रेम, सच्चा प्रेम अपना आनंद और अपना संतोष अपने ही अंदर पा लेता है, उसके लिये जरूरी नहीं है कि उसका स्वागत हो, उसकी सराहना हो या उसमें हिस्सा लिया जाये—वह प्रेम करने के लिये प्रेम करता है—उस फूल की तरह जो खिलता है।

इस प्रेम को अपने अंदर अनुभव करना अनिर्वचनीय सुख पाना है।

२. तुम अपनी प्रकृति में दिव्य बनकर ही दिव्य प्रेम कर सकते हो, और कोई मार्ग नहीं है।

३. योग का दबाव पड़ने के कारण जो इच्छाएं और वासनाएं ऊपर उमड़ आती हैं उनका अनासक्त रहकर, शांति के साथ मुकाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये विजातीय वस्तुएं हैं अथवा बाह्य जगत् की चीजें हैं जिनसे तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। उन्हें भगवान् को सौंप देना चाहिये ताकि भगवान् उनको अपने हाथ में ले लें और उनका रूपांतर कर दें।

४. जहां कहीं कपट है वहीं खतरा है।

५. क्या तुम भगवान् के पास यह कहते हुए आते हो : "मैं आपके साथ एक हो जाना चाहता हूं।" और तुम्हारे मन में होता है : "मैं शक्ति और भोग चाहता हूं?" सावधान! यदि ऐसा है तो तुम सीधे कगार के किनारे की ओर बढ़ रहे हो फिर भी सत्यानाश से बचना बहुत सहज है। एक बालक की तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माता के अर्पण कर दो, उनकी गोद में रहो, फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायेगा।

६. जबतक तुम मानवता के घेरे में हो और साधारण जीवन व्यतीत करते हो तबतक यदि तुम संसारी मनुष्यों से हिलो-मिलो तो इसमें कोई खास चिंता की बात नहीं; किंतु यदि तुम दिव्य जीवन की कामना रखते हो तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थिति के बारे में बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

७. . . . यदि पृथ्वी पर कहीं ऐसी ग्रहणशीलता जाग्रत् हो जाये, एक ऐसा उन्मीलन हो जाये जो अपनी पवित्रता में भागवत चेतना की किसी चीज को उतार लाने के लिये पर्याप्त हो तो जड़ जगत् में जो अवतरण या अभिव्यक्ति होगी वह केवल आंतरिक जीवन का ही रूपांतर नहीं करेगी बल्कि जड़-प्राकृतिक अवस्थाओं का भी, मनुष्य और प्रकृति में जो भौतिक अभिव्यक्ति हो रही है, उसका भी रूपांतर कर सकेगी।

८. भागवत चेतना का एक बिंदु भी यदि पार्थिव चेतना में प्रवेश कर जाये तो वह यहां की हर एक वस्तु का रूपांतर कर सकेगा।

९. अपने संकल्प को दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागों के साथ ऐसे व्यवहार करो जैसा कहना न माननेवाले बालकों के साथ किया जाता है। उनपर लगातार और ध्यानपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें अपनी भूल अवगत करा दो।

१०. तुम्हारी चेतना की गहराई में तुम्हारे अंदर रहनेवाले भगवान् का मंदिर, तुम्हारा चैत्य पुरुष है। यही वह केंद्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ता के विभिन्न भागों को, परस्पर-विरोधी गतियों को जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्य पुरुष की चेतना को और उसकी अभीप्सा को पा लो तो संदेहों और कठिनाइयों को नष्ट किया जा सकता है। इस काम में कम या अधिक समय तो लगेगा परंतु अंत में तुम अवश्य सफल होगे।

११. तुमने एक बार भगवान् की ओर मुड़कर कहा है : "मैं आपका होना चाहता हूं," और भगवान् ने "हां" कह दिया है तो समस्त जगत् तुमको उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केंद्रीय सत्ता ने समर्पण कर दिया है तो कठिनाई दूर हो गयी।

१२. बाह्य सत्ता तो एक जमी हुई पपड़ी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अंदर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परंतु यदि आंतर पुरुष ने एक बार, क्षण-भर के लिये ही सही, यह कह दिया : "मैं यहां हूं और मैं तुम्हारा हूं," तो मानों एक पुल बंध जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूप से जुड़ जायेंगे और आंतर तथा बाह्य दोनों एक हो जायेंगे।

१३. जो प्रेम भगवान् की ओर अभिमुख होता है उसे वह सामान्य प्राणिक भाव न होना चाहिये जिसे लोग यह नाम देते हैं, क्योंकि वह प्रेम नहीं केवल प्राणिक कामना है, हड़पने की वृत्ति है, हथिया लेने और एकाधिकार करने का आवेश है। केवल यही नहीं कि यह भागवत प्रेम नहीं है बल्कि इसे जरा-सी मात्रा में भी योग के साथ न मिलने देना चाहिये।

१४. भगवान् के लिये सच्चा प्रेम है मांग से मुक्त, उत्सर्ग और समर्पण से भरा हुआ आत्मोत्सर्ग। वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्तें नहीं लगाता, लेन-देन नहीं करता, ईर्ष्या, गर्व या क्रोध की उग्रता में रस नहीं लेता—क्योंकि ये चीजें उसके संगठन में नहीं हैं।

१५. मनुष्य जिसे प्रेम कहता है उससे सच्चा प्रेम बहुत दूर है।

१६. योग-साधना का सारा प्रयोजन ही यह है कि सत्ता के सभी बिखरे हुए भागों को इकट्ठा करके अविभाजित एकता में गढ़ा जाये। जबतक यह नहीं हो जाता तबतक कठिनाइयों से—उदाहरण के लिये संदेह, उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयों से तुम्हारा पिंड नहीं छूट सकता।

१७. सारा जगत् विष से भरा हुआ है और तुम हर सांस के साथ उसे अंदर ले रहे हो। यदि तुम किसी अवांछनीय मनुष्य के साथ थोड़ी-सी बातचीत करो अथवा इस प्रकार का मनुष्य तुम्हारे पास से होकर निकल जाये तो इतने से ही संभव है कि तुम उसके संक्रामक रोग को ग्रहण कर लो। महामारी के पास से गुजरना ही उसके जहर की छूत को लगा देने के लिये पर्याप्त है; इस जहर की उपस्थिति का तुम्हें पता हो यह जरूरी नहीं होता। तुम्हारी बहुत दिनों की कमाई कुछ क्षणों में नष्ट हो सकती है . . . अतः तुम्हें बहुत सावधान रहना चाहिये।

१८. यदि तुम सच्ची यौगिक स्थिति में रहना चाहते हो तो तुम्हें इस योग्य होना चाहिये कि भगवान् की ओर से जो कुछ आये उसे स्वीकार कर सको और आसानी से बिना पछताये छोड़ सको। "मैं कुछ नहीं चाहता" कहनेवाले वैरागी और "मुझे यह चाहिये" कहनेवाले संसारी मनुष्य—दोनों की मनोवृत्ति एक ही है। संभव है कि वैरागी अपने त्याग के भाव में उतना ही आसक्त हो जितना संसारी अपनी संपत्ति में।

१९. योग में सबसे पहली आवश्यक चीज है भगवान् के लिये अभीप्सा।

२०. दूसरी बात है इस अभीप्सा को सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवंत, ज्वलंत और जाग्रत् रखना। और इसके लिये जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता—भगवान् पर एकाग्रता जो उनके संकल्प और अभिप्राय के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के भाव से की गयी हो।

२१. बाहरी जगत् में जो सामान्य शक्तियां काम कर रही हैं उनके हाथों में अपने-आपको मत छोड़ो। अगर तुम्हें कोई कार्य बहुत जल्दी भी करना हो तो एक क्षण के लिये पीछे हट जाओ, तब तुम देखोगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे कि कितनी जल्दी और कितनी अधिक सरलता के साथ तुम्हारा काम हो जाता है।

२२. अगर कोई तुमसे नाराज हो तो उसके क्रोध के स्पदनों के जाल में मत फंस जाओ, बल्कि पीछे की ओर हट-भर जाओ और उसका क्रोध कोई आधार या प्रत्युत्तर न पाने के कारण गायब हो जायेगा। सर्वदा अपनी शांति बनाये रखो, उसे खोने के सभी प्रलोभनों का विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी कोई निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्दतक मत बोलो, बिना पीछे हटे कभी किसी काम में मत कूदो।

२३. सामान्य संसार से संबंधित जो कुछ भी है वह सब क्षणिक और नाशवान् है, इसलिये उसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके कारण तुम्हें बेचैन होने की जरूरत हो। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनंत है वही वास्तव में इस योग्य है कि हम उसे पावें, जीतें, अपने अधिकार में रखें। और वह है दिव्य ज्योति, दिव्य प्रेम, दिव्य जीवन . . . जब तुम यह समझ जाओगे कि सभी वस्तुएं सापेक्ष हैं, अर्थात्, अपने-आपमें उनका कोई अस्तित्व नहीं, वे अपने अस्तित्व के लिये दूसरी किसी चीज पर निर्भर हैं, तो कुछ भी क्यों न घटे, तुम पीछे हट सकोगे और वहां से उसे देख सकोगे; उस समय तुम शांत-स्थिर रहकर भागवत शक्ति को पुकार सकते और उत्तर की प्रतीक्षा कर सकते हो। उस समय तुम ठीक-ठीक यह जान जाओगे कि तुम्हें क्या करना चाहिये।

२४. इस आंतरिक शांति का अभ्यास करो, कम-से-कम थोड़ा आरंभ कर दो और तबतक अभ्यास करते रहो जबतक तुम्हें शांत रहने की आदत न पड़ जाये।

२५. प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूप-रेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिये खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिये उतना ही अधिक संभव होगा।

२६. निस्संदेह, साधारण जीवन में भी यही बात है—विषाद सदैव हानिकारक होता है। पर साधना में यह अधिक भयावह होता है क्योंकि वह लक्ष्य की ओर निर्विघ्न एवं द्रुत प्रगति में प्रबल बाधा बन जाता है।

२७. जब कोई व्यक्ति या कोई परिस्थिति तुम्हें ऐसे दोष के सम्मुख ला खड़ा करे जो तुम्हारे अंदर है और जिसका तुम्हें पता नहीं, तो पूरी तरह प्रसन्न होओ। रोने-धोने की जगह तुम्हें खुश होना चाहिये और उस खुशी में वह शक्ति प्राप्त करो जो उस चीज से तुम्हारा पिंड छुड़ा सके जिसे नहीं होना चाहिये।

२८. भगवान् की इच्छा अविद्या की विरोधी शक्तियों को छूते ही विकृत हो उठती है, इसलिये हमें संसार को बदलने और एक नयी व्यवस्था लाने के प्रयास में कभी ढील नहीं करनी चाहिये। हमें निष्क्रिय रूप से यह सोचने की जगह कि जो कुछ होता है हमेशा अच्छे-से-अच्छा ही होता है, जागरूक रहकर भगवान् के साथ सहयोग करना चाहिये।

२९. सब कुछ व्यक्तिगत अभिवृत्ति पर निर्भर है। जो परिस्थितियां पैदा होनेवाली हैं उनके सामने तुम यथासंभव ऊंची-से-ऊंची अभिवृत्ति धारण करो—अर्थात्, तुम अपनी चेतना को अपनी पहुंच की ऊंची-से-ऊंची चेतना के संपर्क में ले आओ,—तो विश्वास रखो कि उस स्थिति में जो कुछ होगा अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम इस उच्चतर चेतना से निचले स्तर पर गिरे वैसे ही, यह तो स्पष्ट है, अच्छी-से-अच्छी चीज नहीं होगी क्योंकि तुम स्वयं अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतना में नहीं होगे।

३०. तुम क्या थे इसकी चिंता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसीका चिंतन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसीमें तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुंह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वही है; वह है स्वयं "भगवान्"।

पिछले जन्मों की स्मृति के बारे में

६ मई, १९५३

"लोग प्रायः धरती पर मिलने से पहले इन (मानसिक या प्राणिक) स्तरों या लोकों में मिलते हैं। वे वहां इकट्ठे हो सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं और वे सब संबंध रख सकते हैं जो धरती पर होते हैं। कुछ लोग इन संबंधों के बारे में जानते हैं, कुछ नहीं जानते। कुछ लोग, वास्तव में अधिकतर लोग, आंतरिक सत्ता और आंतरिक संपर्क के बारे में अचेत होते हैं, फिर भी यह होता है कि जब वे संसार में कोई नया चेहरा देखते हैं तो वह उन्हें बहुत परिचित, जाना पहचाना लगता है।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (२१ अप्रैल)

यह बहुत हदतक तुम्हारी आंतरिक सत्ता की चेतना के स्तर पर निर्भर है। अधिकतर लोगों के लिये यह सब मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरों पर मिश्रण होता है। वे इस बारे में जरा भी सचेतन नहीं होते कि क्या हो रहा है। कुछ लोग सचेतन होते हैं और जब उनसे कहा जाता है : "मैं आपको इसी तरह जानता था, हां, मैं आपको घनिष्ठ रूप से जानता हूं। मुझे ऐसा लगता है पर यह छाप है बहुत अस्पष्ट-सी", तो उनको भी कुछ इसी तरह लगता है। बहुत कम लोग इतने विकसित होते हैं कि यह कह सकें : "मैंने आपको अमुक परिस्थितियों में देखा है", फिर भी ऐसा हुआ तो है।

और फिर वे हैं जिन्होंने थोड़ा-बहुत जान लिया है, जो कम या अधिक गुह्यवेत्ता होते हैं या बचकाने ढंग से पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि एक छोटे-से व्यक्ति ने चोगा पहन लिया है, और वह है शरीर, और जब यह कपड़ा गिर जाता है तो वह जाकर एक और पहन लेता है, फिर एक और . . . एक गुड़िया की तरह जिसके कपड़े बदले जाते हैं। उनके लिये यह बात ऐसी ही होती है : व्यक्ति शरीर उसी तरह बदलता है जैसे वह अपने कपड़े बदलता है। कुछ लोगों ने किताबें भी लिख डाली हैं जिनमें वे बंदर की योनि से लेकर अपने सभी जन्मों की सारी बातें बताते हैं ! लेकिन वास्तव में यह बिल्कुल बचपना है, क्योंकि हजार में से नौ सौ निन्नानवे उदाहरणों में केवल छोटी-सी केंद्रीय सत्ता ही मृत्यु के बाद बनी रहती है, बाकी सब घुल जाता है, टुकड़े-टुकड़े होकर इधर-उधर बिखर जाता है और व्यक्तित्व बिल्कुल नहीं बचता। भौतिक जीवन में, भौतिक जीवन के क्रिया-कलाप में कितनी बार चैत्य पुरुष सचेतन रूप से काम करता है ? . . . मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जो योग करते हैं या साधनारत हैं। मैं औसत लोगों की बात कर रही हूं जिनमें चैत्य क्षमता है, अर्थात्, जिनका चैत्य इतने पर्याप्त रूप में विकसित हो चुका है कि जीवन में हस्तक्षेप और मार्ग-दर्शन कर सके—कइयों में चैत्य के हस्तक्षेप के बिना बरसों-पर-बरस गुजर जाते हैं। और वे आकर तुमसे कहते हैं कि वे किस देश में पैदा हुए थे, उनके मां-बाप कैसे थे और वे किस घर में रहते थे, मकान के पास गिरजा की छत कैसी थी और जंगल कैसा था, इसी तरह की जीवन की एकदम सामान्य बातें बताते हैं ! यह एकदम मूर्खताभरी बात है क्योंकि ये सब चीजें तो मिट चुकी हैं और अब उनका कोई अस्तित्व नहीं। तुम्हारे अंदर जो स्मृति रह सकती है वह उस क्षण की हो सकती है जब कोई विशेष बात हुई हो, जिसे हम "मार्मिक" क्षण कह सकते हैं, जब चैत्य किसी आंतरिक पुकार के कारण या अनिवार्य आवश्यकता के कारण सहसा हस्तक्षेप करता है—चैत्य अचानक हस्तक्षेप करता है—और चैत्य-स्मृति पर वह चीज अंकित रहती है। जब चैत्य स्मृति हो तो तुम जीवन के उस **क्षण** की परिस्थितियों की

शृंखला को याद रखते हो, विशेष रूप से आंतरिक भावना को और उस समय कार्य करनेवाली चेतना को। और तब वह दूसरे संसर्गों के साथ चेतना में चला जाता है। उसके साथ ही आस-पास की चीजें भी चली जाती हैं, जैसे बोला हुआ एक शब्द, सुना हुआ एक वाक्य। लेकिन जो चीज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी, वह थी अंतरात्मा की अवस्था जिसमें तुम थे: क्योंकि वह बहुत स्पष्ट रूप से अंकित रहती है। ये चैत्य जीवन के क्षेत्र-चिह्न हैं, ऐसी चीजें हैं जिन्होंने गहरी छाप छोड़ी है और उसकी रचना में भाग लिया है, जब तुम्हें लगे कि तुम्हारा चैत्य पुरुष स्पष्ट, सतत रूप में निरंतर तुम्हारे साथ है, तो ऐसे क्षण तुम्हें याद रहते हैं। ये थोड़े-से हो सकते हैं, पर ये तुम्हारे जीवन की दीप्तियां हैं। तुम यह नहीं कह सकते: "मैं अमुक-अमुक व्यक्ति था, मैंने यह-यह किया। मेरा यह नाम था और मैं यह या वह करता था।" या फिर इसका मतलब होगा कि उस समय (यह विरल है) परिस्थितियों का ऐसा मेल था कि व्यक्ति घटना की तारीख या जगह, देश या युग निश्चित कर सकता है। यह हो सकता है।

स्वभावतः चैत्य पुरुष अधिकाधिक भाग लेता जाता है और स्मृतियों का समूह भी बढ़ता जाता है और तब व्यक्ति अपने जीवन का फिर से अवलोकन कर सकता है, लेकिन पूरे ब्यौरे के साथ नहीं। आदमी कह सकता है कि अमुक क्षणों में "चीज ऐसी थी," या "मैं ऐसा था।" अमुक क्षणों में, हां, जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण क्षणों में . . .। जरूरी बात तो यही है कि सत्ता का चैत्य पुरुष के साथ पूरी तरह से तादात्म्य हो—जिसमें सारी सत्ता चैत्य के चारों ओर संगठित हो, सारी सत्ता उसके छोटे-से-छोटे भाग, उसके सभी तत्त्व, उस सत्ता की सभी गतियां चैत्य केंद्र के इर्द-गिर्द हों। ये सब मिलकर अपने-आपको एकमात्र सत्ता में बना लें जो पूरी तरह से भगवान् की ओर मुड़ी हुई हो। तब यदि शरीर छूट जाये तो वह सत्ता बनी रहती है। समग्र रूप में रची हुई चेतन सत्ता ही ठीक-ठीक याद रख सकती है कि पिछले जन्म में और उससे पिछले जन्म में क्या हुआ था। वह अपनी चेतना का कोई भी अंश खोये बिना सचेतन रूप से एक जीवन से दूसरे जीवन में जा सकती है। धरती पर कितने आदमी इस भूमिकातक पहुंच पाये हैं? . . . मुझे नहीं लगता कि ऐसे लोग बहुत हैं और सामान्यतः उन्हें अपने अपूर्व अनुभव सुनाने में जरा भी रुचि नहीं होती।

कुछ लोग हैं जो दूसरों के जीवन सुनाते हैं।

हां, मैं जानती हूं। मैं बहुत-सी बातें जानती हूं। मैंने वह सब सुन रखा है जो कोई सुन सकता है। वे कहानी-पर-कहानी सुनाते जाते हैं। वे तुमपर निगाह डालते हैं और कहते हैं: "तुम अमुक व्यक्ति थे। तुमने यह-यह किया था।" मैं विश्वास दिलाती हूं कि यह सच नहीं है। क्योंकि मैं जानती हूं कि यह कैसे जाना जा सकता है कि तुमने अमुक व्यक्ति को कहां देखा था, वह कैसा था और अब कैसा है। यह कोई कहानी नहीं है कि तुम किताब में लिख डालो। जब तुम किसी के अंदर देखते हो, जब तुम्हें यथार्थ रूप में, चैत्य जगत् का बोध प्राप्त होता है जो तुम्हें यह क्षमता देता है कि तुम देख सको कि चैत्य कहां था, फिर अचानक तुम एक दृश्य, एक बिंब, एक रूप, एक शब्द देखते हो। एक प्रकार का संसर्ग होता है जिसके कारण अभीतक पिछले जन्मों की सहानुभूतियां और आकर्षण बने रहते हैं। लेकिन, जैसा कि मैं कह रही थी, ये जीवन में "क्षण" होते हैं। और इस तरह आदमी देखता है, विभिन्न क्षणों को देख सकता है, लेकिन सारे जीवन का वर्णन नहीं कर सकता।

मेरा ख्याल है श्रीअरविंद ने इस बारे में कुछ, बहुत मजेदार बात लिखी है—उन सब बड़े लोगों के बारे में जिनके नाम इतिहास में सुरक्षित हैं—अनेकों सीजर, अनेकों महान् व्यक्ति, नेपोलियन, शेक्सपीयर! वे कितने हैं! वे सैंकड़ों हैं! और उनकी कहानियां सुनो: "मैं यह था, मैं वह था, मैंने

यह किया।'' या उन बैठकों में देखो जहां तथाकथित ''प्रेतात्माएं'' आती और तुमसे बातचीत करती हैं। एक बड़ी संख्या में लोग प्रेतात्माओं के साथ खिलवाड़ करने में मजा लेते हैं। स्वतःलेखन और विशेष रूप से प्रेतात्माओं के साथ संपर्क साधने में मजा लेते हैं। कुछ बातूनी प्रेतात्माएं होती हैं जो एक ही समय अनेक स्थानों पर आती हैं, विशेषकर नेपोलियन जैसे लोग (मालूम नहीं उन्हें नेपोलियन के लिये विशेष आकर्षण क्यों है), हर जगह नेपोलियन आ जाता है और अपने जीवन की असाधारण घटनाएं सुनाता है, प्रायः ये घटनाएं परस्पर-विरोधी होती हैं, शायद एक ही समय पर कही जाती हैं! सचमुच वे बड़े सक्रिय लोग होते हैं। यह सारी चीज अत्यंत हास्यास्पद है—और असंभव है।

सचमुच ये छोटी-छोटी प्राणिक सत्ताएं होती हैं। आदमी के मर जाने पर उसकी जो इच्छाएं बनी रहती हैं और अपना आकार बनाये रहती हैं, उनकी सड़ांध से, तथा जो कल्पनाएं जमी रह गयी हैं लेकिन अभिव्यक्त होना और फिर से प्रकट होना चाहती हैं उनसे, इन सत्ताओं का वर्ग उत्पन्न होता है। कभी-कभी ये छोटी-छोटी प्राणिक सत्ताएं होती हैं, जो बहुत अनुकूल नहीं होतीं, जैसे ही वे देखती हैं कि लोग स्वतःलेखन, प्रेतात्माओं के साथ संपर्क आदि के साथ खेल रहे हैं, वे भी आकर खेलने लग जाती हैं। और चूंकि वे ऐसे क्षेत्र में होती हैं जहां से आदमी के विचारों को पढ़ सकना आसान है इसीलिये वे भली-भांति तुम्हें बता सकती हैं कि तुम्हारे दिमाग में क्या है। तुम जो आशा करते हो वे उसीके अनुकूल उत्तर देती हैं। तुम एक विशेष उत्तर चाहते हो, वे तुम्हारे पूछने से पहले ही उत्तर दे देती हैं! वे तुम्हें ठीक-ठीक ब्यौरे की बातें बता सकती हैं, वे कह सकती हैं कि तुम्हें यह-यह हुआ था, कि तुम्हारे परिवार के अमुक सदस्य . . .। वे बहुत अच्छी तरह जानती हैं। वे भली-भांति विचार पढ़ लेती हैं और तुम्हें विश्वास दिलाते हुए बातें बनाती हैं। तुम कह उठते हो: ''मैंने तो नहीं कहा था कि मैं विवाहित हूं और मेरे तीन लड़के और चार लड़कियां हैं। तब उसे यह सब कैसे मालूम हुआ?''—क्योंकि यह तुम्हारे सिर में था।

चैत्य स्मृति का एक बहुत विशेष स्वरूप होता है, एक अद्‌भुत तीव्रता होती है, पर उनका इस तरह वर्णन नहीं किया जा सकता . . .। वे जीवन के अविस्मरणीय क्षण होते हैं जब चेतना तीव्र, प्रकाशमय, सबल, सक्रिय और शक्तिशाली होती है और कभी-कभी ये जीवन के ऐसे मोड़ होते हैं जो जीवन की दिशा ही बदल देते हैं। लेकिन इससे तुम यह कभी नहीं कह सकते कि तुम कौन-से कपड़े पहने थे या किससे बातें कर रहे थे या तुम्हारा पड़ोसी कौन था या तुम किस प्रकार के खेत में थे।

—श्रीमातृवाणी खंड ५ से

'कुछ माताजी के बारे में' :

धर्म

धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है? क्या वह आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक है?

धर्म मानवजाति के उच्चतर मन की चीज है। वह मनुष्य के उच्चतर मन की गति है जिसके द्वारा वह यथाशक्ति अपने से परे की किसी वस्तुतक पहुंचना चाहता है, उस वस्तु को, जिसे मानवजाति 'ईश्वर', 'परमात्मा', 'सत्य', 'श्रद्धा', 'ज्ञान' या 'अनंत', किसी प्रकार की 'निरपेक्ष' सत्ता का नाम दे देती है। वह सत्ता मानव मन की पहुंच से बाहर है, फिर भी मन वहां पहुंचने की चेष्टा करता है। धर्म का मूल स्रोत

भले ही दिव्य हो; किंतु इसका प्रकट रूप तो दिव्य नहीं, मानव ही है। वास्तव में, हमें धर्म की जगह धर्मों की बात कहनी चाहिये; क्योंकि मनुष्य के बनाये हुए धर्म अनेक हैं। इन विभिन्न धर्मों का स्रोत भले ही एक न हो, पर उनकी रचना प्रायः एक ही प्रकार से हुई है। हमें ज्ञात है कि ईसाई-धर्म की स्थापना किस प्रकार हुई। जो धर्म ईसाइयत के नाम से विख्यात है निःसंदेह उसकी रचना ईसामसीह ने नहीं की थी, कतिपय विद्वान् और अत्यंत चतुर मनुष्यों ने मिलकर इस धर्म को वर्तमान रूप दिया था। जिस प्रकार इसकी रचना की गयी उसमें कहीं भी दिव्यता का लेशमात्र तक नहीं था, और जिस रूप में यह कार्य कर रहा है उसमें भी दिव्यता का कोई नाम-निशान नहीं है। और फिर भी जिस बहाने या जिस अवसर पर इस धर्म की स्थापना की गयी वह असंदिग्ध रूप से कोई अंतःप्रकाश था जो एक ऐसे पुरुष के द्वारा आया था जिसे 'दिव्य पुरुष' कहा जा सकता है। वह पुरुष जो किसी दूसरे लोक से यहां आया था तथा अपने साथ किसी उच्चतर भूमिका के 'ज्ञान' और 'सत्य' को इस पृथ्वी के लिये लाया था। वह आया और उसने अपने 'सत्य' के लिये कष्ट झेले; किंतु बहुत कम लोग उसकी वाणी को ठीक-ठीक समझ पाये, किसी विरले ने ही 'सत्य' को, जिसके लिये इस दिव्य पुरुष ने कष्ट झेले थे, पाने और उसपर दृढ़ रहने की परवाह की। गौतम बुद्ध संसार से अलग हो गये, ध्यान लगाकर बैठे और उन्होंने संसार के कष्टों और दुःखों से बाहर निकलने का, रोग और मृत्यु, इच्छा, पाप और क्षुधा से त्राण पाने का मार्ग ढूंढ़ निकाला। उन्होंने एक 'सत्य' का दर्शन किया और इस बात की कोशिश की कि इस सत्य को अपने इर्द-गिर्द जमा अनुयायियों और शिष्यों को बतायें और दें। परंतु उनके देह-त्याग से पहले ही उनकी शिक्षा की तोड़-मरोड़ शुरू हो गयी थी। बुद्ध के प्रयाण के बाद ही बौद्ध-धर्म ने एक ऐसे सुव्यवस्थित धर्म के रूप में सिर उठाया, जिसकी स्थापना बुद्ध के तथाकथित वचनों के कल्पित अर्थों के आधार पर हुई। परंतु शीघ्र ही, चूंकि उनके शिष्य तथा शिष्यों के शिष्य, इस बात पर सहमत न हो सके कि उनके गुरु ने क्या कहा था और उनके कथन का क्या अर्थ था, इसलिये मूल बौद्ध धर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाएं हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशिया के बौद्धपंथ आदि, कई मत हो गये जिनमें से प्रत्येक का दावा है कि उसके मत में ही बुद्ध की मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है। ईसामसीह की शिक्षा की भी यही दशा हुई; इसको भी उपयुक्त प्रकार से ही एक नियमबद्ध और संगठित धर्म का रूप दिया गया। बहुधा कहा जाता है कि ईसामसीह लौटकर आयें तो अपनी शिक्षा को उसपर लादे गये रूपों में न पहचान सकेंगे, और यदि बुद्ध यहां वापिस आयें और उनकी शिक्षा की जो दशा कर दी गयी है उसको देखें तो वे निरुत्साहित होकर तुरंत निर्वाण की ओर लौट जायेंगे! सभी धर्मों की कथा इसी प्रकार की है। सभी धर्मों का जन्म किसी महान् 'जगद्गुरु' के आविर्भाव को लेकर होता है। ये आते हैं, किसी भागवत सत्य को प्रकाशित करते हैं और स्वयं उसके मूर्तिमान् अवतार होते हैं। परंतु मनुष्य इस सत्य पर कब्जा जमा लेते हैं, इसका सौदा करते हैं, एक राजनीतिक संगठन-सा बना लेते हैं। ये लोग धर्म के साथ किसी शासनतंत्र को, किसी नीति को तथा कुछ कायदे-कानूनों को जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धांत और नियम, विधि-विधान, शास्त्रोक्त कर्म और उत्सव होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन उस धर्म के अनुयायियों के लिये अलंघ्य और अनिवार्य होता है। शासन की तरह, इसमें भी सच्चे भक्तों को पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करनेवालों तथा उन्मार्गगामियों को, धर्म-विरोधियों और धर्म-त्यागियों को सजा।

नियमित रूप से स्थापित इन धर्मों की ओर से जो पहली और मुख्य बात हमेशा कही जाती है वह है: "मेरा धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्म में है, बाकी के सभी धर्म या तो मिथ्या हैं या निम्नकोटि के हैं।" इस प्रकार के सिद्धांत को आधार बनाये बिना ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म टिक ही नहीं सकते। यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास न हो और तुम घोषणा न करो कि अद्वितीय या उच्चतम

सत्य तुम्हारे ही पास है तो तुम दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी मंडली न जुटा सकोगे।

इस प्रकार का भाव धार्मिक मन के लिये स्वाभाविक है; किंतु यही भाव धर्म को आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक बना देता है। धर्म के सिद्धांत और नियम मन के बनाये हुए हैं और, यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा जीवन-चर्या के लिये दी गयी इनकी व्यवस्था में अपने-आपको बंद रखो तो तुम उस आत्मा के सत्य को, जो समस्त नियमों और सिद्धांतों के परे, विशाल, महत् और स्वतंत्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवाद में, केवल उसीको संसार का एकमात्र सत्य मानते हो, रुक जाते हो और उसके साथ अपने-आपको बांध लेते हो तो तुम अपनी अंतरात्मा की उन्नति और विस्तार को रोक देते हो। परंतु यदि तुम धर्म को एक और दृष्टिकोण से देखो तो यह जरूरी नहीं है कि वह सभी मनुष्यों के लिये सदा बाधक ही हो। यदि तुम धर्म को मानवजाति की उच्चतर प्रवृत्तियों में से एक मानो, यदि तुम मनुष्य की अभीप्साओं को देख सको, पर यह न भूलो कि मनुष्य की बनायी हुई सभी चीजें आखिर अपूर्ण हैं, तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवनतक पहुंचाने में सहायक ही सिद्ध होगा। धर्म को गभीर और सच्ची लगन के साथ स्वीकार करके तुम उसके अंदर यह खोजने का प्रयास कर सकते हो कि उसमें सत्य क्या है, उसके अंदर कौन-सी अभीप्सा छिपी है, मनुष्य के मन और मनुष्य के संगठन द्वारा भगवान् की कौन-सी दिव्य प्रेरणा को वहां परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और यदि तुम उपर्युक्त बौद्धिक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ो तो अपने वर्तमान विकृत रूप में भी धर्म तुम्हारे मार्ग पर कुछ प्रकाश डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयास में कुछ-न-कुछ सहायता करेगा।

सभी धर्मों में हमें ऐसे लोग मिलते हैं जिनमें भावपूर्ण होने की बड़ी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलंत अभीप्सा से भरे होते हैं। परंतु उनका मन बहुत सरल होता है और वे ज्ञान के द्वारा भगवान् तक पहुंचने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। इस प्रकार की प्रकृतिवालों के लिये धर्म का उपयोग है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, कारण, मंदिरों में उत्सव आदि बाह्य क्रियाओं के द्वारा यह उनकी आंतरिक आध्यात्मिक अभीप्सा को एक प्रकार का सहारा देता और मदद पहुंचाता है। सभी धर्मों में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास किया है। परंतु उनकी आध्यात्मिकता धर्म की दी हुई नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्म में अपनी आध्यात्मिकता का समावेश किया है। ये लोग जहां कहीं रहते, जिस किसी संप्रदाय में पैदा होते, वहीं वही आध्यात्मिक जीवन जीते। वे जो कुछ हैं अपनी सामर्थ्य और अंतः सत्ता की किसी शक्ति के द्वारा बने हैं, न कि स्वीकार किये हुए धर्म के द्वारा। उनकी प्रकृति में यह शक्ति ऐसी है कि धर्म उनके लिये गुलामी या बंधन नहीं बन सकता। परंतु उनका मन बलवान्, स्पष्ट और क्रियाशील नहीं होता, इसलिये उन्हें इस बात की आवश्यकता होती है कि वे विश्वास करें कि इस या उस संप्रदाय में ही निरपेक्ष सत्य है और किसी विचलित करनेवाली शंका या संदेह के बिना वे अपने-आपको उसपर न्योछावर कर दें। मैंने सभी धर्मों में इस तरह के लोगों को देखा है और इन लोगों की श्रद्धा को डिगाना एक अपराध होगा। इस तरह के लोगों के लिये धर्म बाधक नहीं है। धर्म उनके लिये बाधक है जो और आगे बढ़ सकते हैं, किंतु जो आगे तो नहीं बढ़ सकते, पर 'आत्मा' के मार्ग पर कुछ दूरतक चल सकते हैं, उनके लिये सहायक हो सकता है। धर्म के कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नाम पर अत्यंत भयानक युद्ध लड़े गये हैं और भयंकर अत्याचार किये गये हैं तो दूसरी ओर इसने धर्मकार्य के निमित्त परम शौर्य और आत्म-बलिदान के भावों को भी जगाया है। मनुष्य के मन ने अपनी उच्चतम कर्मण्यताओं के द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शन-शास्त्र के समान धर्म भी उसीकी सीमा दिखाता है। यदि तुम धर्म के बाह्य रूप के गुलाम हो

जाओ तो यह बाधा है, एक बंधन है; किंतु यदि तुम इसके अंदर के सार का उपयोग करना जानते हो तो यह आध्यात्मिक भूमिका में कूद सकने के लिये सहायता देनेवाला तख्ता बन सकता है।

जो किसी विशेष मत में विश्वास रखता है अथवा जिसने सत्य के कुछ अंश को प्राप्त किया है, वह सोचने लगता है कि 'सत्य' को, समग्र और पूर्ण सत्य को, केवल उसीने पाया है। मानव स्वभाव ही ऐसा है। मानव प्राणियों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिये और अपने मार्ग पर चलने के लिये मिथ्या की मिलावट आवश्यक-सी प्रतीत होती है। यदि उन्हें अचानक 'सत्य' का दर्शन करा दिया जाये तो वे बोझ के नीचे कुचल जायेंगे।

हर बार जब भागवत सत्य एवं भागवत शक्ति का कुछ अंश पृथ्वी पर प्रकट होने के लिये उतरता है तो पार्थिव वातावरण में कुछ परिवर्तन आता है। जो ग्रहणशील हैं वे इस अवतरण के फलस्वरूप किसी दिव्य प्रेरणा, किसी स्पर्श की ओर उन्मुख हो जाते हैं, उनमें दिव्य दृष्टि खुलने लगती है। यदि वे जो कुछ प्राप्त हो उसे धारण करके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त कर सकें तो वे कहेंगे : "एक महान् शक्ति का अवतरण हुआ है; मैं उसके संस्पर्श में हूं और उसके बारे में मैंने जो कुछ समझा है वह तुमसे कहूंगा।" परंतु अधिकतर व्यक्ति, ऐसा नहीं कर पाते क्योंकि उनके मन संकुचित होते हैं। उन्हें एक प्रकाश मिलता है और वे उससे अभिभूत हो जाते तथा सहसा चिल्ला उठते हैं : "भागवत सत्य मेरे पास है, मेरा उसपर समग्र और संपूर्ण रूप से अधिकार है।" आज इस धरती पर कम-से-कम दो दर्जन ईसामसीह हैं, और शायद इतने ही बुद्ध भी हों; अकेले भारत में ही तुम जितने चाहो उतने अवतार पा सकते हो, छोटी-छोटी विभूतियों का तो कहना ही क्या है। इस तरह तो यह सब कुछ बेढंगा-सा दिखायी पड़ेगा; लेकिन यदि तुम उसके पीछे देखो तो पहली दृष्टि में यह जितना मूर्खतापूर्ण दिखायी देता है, उतना नहीं रहेगा। सत्य यह है कि मानव व्यक्तित्व को किसी दिव्य सत्ता या दिव्य शक्ति का संस्पर्श मिला है और वह अपनी शिक्षा और परंपरा के प्रभाव के कारण उसे बुद्ध, ईसामसीह या और किसी परिचित नाम से पुकारता है। यह कहना बड़ा कठिन है कि उस व्यक्ति के संस्पर्श में आनेवाली सत्ता या शक्ति स्वयं बुद्ध या ईसामसीह की थी, किंतु यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस सत्ता या शक्ति से प्राप्त होनेवाली प्रेरणा का मूल्य वही नहीं था जहां से ईसामसीह या बुद्ध को प्रेरणा मिलती थी। यह सर्वथा शक्य है कि इन मानव पात्रों में ऐसे किसी उद्‌गम से प्रेरणा आयी हो। यदि वे विनीत और सरल होते तो इतना ही कहकर संतोष मानते और इससे आगे न बढ़ते, वे कहते : "अमुक महान् आत्मा से मुझे यह प्रेरणा मिली है," किंतु इसकी जगह वे घोषणा कर बैठते हैं : "मैं ही वह महान् आत्मा हूं।" मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती थी जो इस बात का दावा करता था कि वह खुद ईसामसीह और बुद्ध, दोनों है ! उसने कुछ प्राप्त किया था, किसी सत्य का अनुभव किया था, अपने में और दूसरों में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन किया था। परंतु उसके लिये यह अनुभव बहुत ही उग्र था, यह सत्य उसके बस का न था। वह पागल-सा हो गया और दूसरे ही दिन गलियों में यह कहता हुआ फिरने लगा कि उसके अंदर ईसामसीह और बुद्ध, दोनों एक हो गये हैं।

अगर क्षण भर के लिये भी तुम्हारा भगवान् के साथ संपर्क हो चुका है तो तुम्हें उनके बारे में ऐसा दृढ़ विश्वास होगा जिसे कोई नहीं हिला सकता।

—श्रीमां

देवता, अतिमानस इत्यादि के बारे में

२४-८-१९२६

शिष्य—बौद्धों का विचार है कि रूप देव और अरूप देव दो तरह के देवता होते हैं। इसका क्या अर्थ हो सकता है?

श्रीअरविंद—मैं बौद्धों की पौराणिक गाथाएं नहीं जानता, लेकिन अरूप लोक से तुम्हारा मतलब क्या है?

शिष्य—चेतना का एक ऐसा लोक जहां देवों का कोई रूप नहीं होता शायद, या फिर ऐसा रूप होता है जो मानव रूप से इतना भिन्न है कि हमारे लिये उसकी गिनती रूप में नहीं होती।

श्रीअरविंद—देवों का कोई रूप नहीं होता, इससे तुम्हारा क्या मतलब है?

शिष्य—देवों के स्तर पर रूप नहीं हैं शायद।

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है? सभी रूपों का मूल वहीं है। चाहे तुम उसे अरूप लोक कह लो फिर भी उसका कोई रूप होगा। वहां के देव आपस में एक-दूसरे से भिन्न होते ही होंगे यानी उनका रूप होता होगा। अगर तुम कहो कि उनका मानव रूप नहीं होता तो बात समझ में आती है। जरूरी नहीं है कि सभी रूप मानव रूप हों।

शिष्य—कहते हैं कि सभी अमूर्त प्रत्यय या कल्पनाएं अरूप लोक की हैं, जैसे सौंदर्य का भाव।

श्रीअरविंद—सौंदर्य अमूर्त कल्पना नहीं है। यह मन से ऊपर के लोक में परम प्रभु की शक्ति है। मन के स्तर पर कल्पनाएं हुआ करती हैं। यह मन का तरीका है जिससे वह अपने से ऊपर की वास्तविकताओं को मूर्तित करता है। मन से ऊपर के लोक में कल्पनाएं नहीं होतीं, वहां वास्तविकताएं और शक्तियां होती हैं। उदाहरण के लिये तुम मन में अतिमानस के बारे में एक काल्पनिक अमूर्त धारणा बना लेते हो परंतु जब तुम अतिमानस तक पहुंचते हो तो तुम्हें पता लगता है कि वह अमूर्त या काल्पनिक हर्गिज नहीं है, वह जड़-भौतिक से भी अधिक तीव्र रूप में ठोस है, दुर्दमनीय रूप से ठोस, इसीलिये मैं उसे 'रीअल आइडिया' या सद्वस्तु या सत्य-संकल्प कहता हूं, अमूर्त भाव नहीं। उस अर्थ में भगवान् से बढ़कर ठोस कुछ भी नहीं है। अगर हम शुद्ध मानसिक स्तर पर भी हों तो भी देखेंगे कि मन बहुत ठोस और सत्य है लेकिन चूंकि हम भौतिक लोक में हैं इसीलिये हम हमेशा मन को अधिक अमूर्त मानते हैं। अतिमानस के आगे जड़ पदार्थ तो छाया मात्र रह जाता है!

शिष्य—यह ठोसपन कैसा होता है?

श्रीअरविंद—ठोसपन का भाव, राशि। शायद वेद का यही अर्थ था जब उसने अग्नि के बारे में कहा, 'प्रकाश में विस्तृत, शरीर में ठोस।' तुम कह सकते हो कि अतिमानस हीरे से अधिक कठोर और वायु से भी अधिक द्रव है।

(देवों के अवतरण के बारे में कई दिनों की बातचीत का सारांश)

एक वर्णनातीत परम पुरुष है जो सत्, चित्, आनंद में व्यक्त होता है। इसमें सत् सत्ताओं का वैश्व व्यक्तित्व है जिसके बाद आता है अपनी चार महा शक्तियों के साथ अतिमानस। अतिमानस में ऐक्य शासक तत्त्व होता है।

उसके बाद आता है देवलोक, अतिमानस के नीचे और अभिव्यक्तियों के पीछे। हिंदू संस्कृति के

देव—शिव, विष्णु आदि मनोमय लोक के नाम और बिंब हैं परंतु वे उन्हीं देवों की ओर संकेत करते हैं जो विश्व की अभिव्यक्ति का नियंत्रण करनेवाले दिव्य तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं।

नीचे अभिव्यक्त विश्व है जिसका लक्ष्य है आनंद में लौटना।

देवगत—देव और दानव—इस जगत् या सृष्टि को लक्ष्य की ओर ले जाने के लिये मनुष्य में अभिव्यक्त होते हैं। देव परिवर्तन लाने के लिये या एक नये तत्त्व को चरितार्थ करने के लिये अभिव्यक्त होते हैं।

अवतार इस तरह का, देवों का कार्य करने के लिये नहीं आते, वे धर्म-संस्थापन के लिये आते हैं और उनके साथ, इसी काम के लिये कुछ अन्य सत्ताएं भी आती हैं।

असुर घमंड की ओर संकेत करता है और किसी भी हालत में विनाश लाता है। अतिमानसिक सत्ता शोर मचाने के लिये नहीं परिवर्तन लाने के लिये नीचे आती है।

मैं अतिमानस को नीचे लाने की कोशिश कर रहा हूं। उसके लिये घटनाएं घटेंगी, परिस्थितियां तैयार की जायेंगी। तब प्राण या भौतिक में अंधकार न रहेगा। उच्चतम स्थिति से अतिमानस के अवतरण का निश्चय हो चुका है, तुम उसके मार्ग में बाधा नहीं दे सकते। हम जहां काम कर रहे हैं उसके दृष्टिकोण से कठिनाइयों को जानना और उनका लेखा-जोखा करना और उनके साथ उचित व्यवहार कर सकना लाभदायक है। बीच का रास्ता यह है कि तुम जानो कि वह आ रहा है और तुम न्यूनाधिक रूप से उसका मार्ग ठीक कर सकते हो।

अतिमानस धरती पर आ रहा है और अपने साथ सच्ची व्यवस्था नहीं, अभी तो अस्थायी व्यवस्था ला रहा है। जहां कहीं मार्ग खुला हो, वह उस ओर दौड़ पड़ता है। मार्ग बंद हो जाता है और विरोधी शक्तियां उठ खड़ी होती हैं। वह उन विरोधी शक्तियों का भी, उनके बावजूद अपने काम के लिये उपयोग कर सकता है। गलत तरीकों के कारण वातावरण में गड़बड़ी होती है।

मानवजाति पर अतिमानस का कुछ प्रभाव होगा लेकिन सृष्टि में मानवजाति ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज नहीं है। अतिमानस अभीतक अभिव्यक्ति का अंश नहीं बना है। मनुष्य पर उसका क्या प्रभाव होगा यह इसपर निर्भर है कि उसके यहां प्रतिष्ठित होने पर किस चीज को रखा और किसे फेंका जाता है। शक्तियों की गतिविधि के ऊपर वह अभिप्रेत हो चुका है लेकिन वह सुस्पष्ट नहीं है। शक्तियों की गतिविधि ने अभी अतिमानस को स्वीकार करने का फैसला नहीं किया है।

६-११-१९२६

शिष्य—कहते हैं कि रामकृष्ण कहा करते थे कि विवेकानंद शिव के अंश थे। क्या यह सच है?

श्रीअरविंद—इसमें कुछ सच है अवश्य। इन सभी देवताओं में से हर एक के कुछ गण—आंशिक शक्ति—होते हैं, हर एक गण देवता की किसी शक्ति का प्रतिनिधि होता है। उदाहरण के लिये 'क' जो यहां पांडिचेरी में साधना करने में सफल नहीं हो सका वह उच्चतर शक्ति के चार अंगरक्षकों में से एक का मूर्त रूप हो सकता था।

हो सकता है कि अभिव्यक्ति में बहुत जटिलता हो। तुम अपनी सत्ता के भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न देवों को अभिव्यक्त कर सकते हो। इन आंतरिक सत्यों को बिना कुछ बढ़ाये-चढ़ाये सीधे-सादे ढंग से लिया जाये। बाहरी मानव सत्ता में गड़बड़ नहीं करनी चाहिये। वह आधुनिक संस्थाओं की तरह चीजों का सिनेमा बना देना पसंद करती है। यह उसे बिगाड़ने का सबसे अच्छा तरीका है। एक और चीज है जिससे बचना चाहिये, वह है शोर मचाना। नाम और ख्याति के लिये प्राणिक कामना, हर चीज

को सिनेमा बना देने की वृत्ति, इन्हें एकदम धो डालना चाहिये। अगर दिव्य अभिव्यक्ति होनी हो तो अहंकार न होना चाहिये। जो कुछ शोर हो वह आनुषंगिक होना चाहिये। मैंने देव लोक के बारे में इसलिये बात की है क्योंकि इसके बारे में तुम्हें न बताना खतरनाक हो सकता है। मैंने यह इसलिये बताया ताकि जब वह उतरे तो मन समझ सके। मैं उसे भौतिक में उतार लाने की कोशिश कर रहा हूं। और इसमें बहुत देर न लगेगी और तब घटनाएं घटनी शुरू होंगी। पहले इसकी बात करना खतरनाक होता और अब न करना खतरनाक हो सकता है।

शिष्य—क्या हम उसे किसी तरह से रोक सकते हैं?

श्रीअरविंद—उच्चतम दृष्टिकोण से सब कुछ ठीक हो चुका है और हमारी हां, ना से कोई फर्क नहीं पड़ता। दूसरे दृष्टिकोण से तुम्हें अपने अंदर सब बाधाओं को देखना और उनकी ठीक व्यवस्था करनी चाहिये। एक बीच का रास्ता भी है। उसे तुम यूं ले सकते हो, उच्चतर शक्ति नीचे आ रही है और तुम्हें उसे ग्रहण करना है जैसा कि मैंने कहा, तुम चाहो तो उसके अवतरण को सरल या कठिन बना सकते हो।

शिष्य—वह कैसे?

श्रीअरविंद—अभीप्सा द्वारा, अंदर की ओर खुलकर जो उसे तुम्हारे अंदर आने दे। साथ ही अपनी प्रकृति की बाधाओं के बारे में अभिज्ञ होकर और शक्ति से यह प्रार्थना करके कि वह उन्हें हटा दे। तुम्हें इन चीजों की ओर पूरी तरह जाग्रत् रहना चाहिये।

९-११-१९२६

शिष्य—क्या आप वचन देते हैं कि देवों का लोक नीचे उतरेगा?

श्रीअरविंद—मैं किसी चीज का वचन नहीं देता, मैं तो बस इतना ही कहता हूं कि अगर अतिमानस नीचे उतर आये . . .

शिष्य—क्या हम उसमें बाधा दे सकते हैं?

श्रीअरविंद—नहीं, लेकिन तुम उसकी सहायता कर सकते हो।

शिष्य—क्या जगत् में उसका शोर न मचेगा?

श्रीअरविंद—तुम्हें शोर की आशा न करनी चाहिये। यह **नीरव** कार्य है। इसके प्रचार से विरोधी शक्तियां आकर्षित होंगी। तुम बाहरी काम तभी ले सकते हो जब वह तुम्हारे अंदर हो। जब तुम साधना मन में कर रहे हो तो आर्य[1] के जैसे मानसिक क्रिया-कलाप चल सकते हैं लेकिन जब यह प्राण में उतर आया तो मैंने वह सब बंद कर दिया।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग टॉक्स' से)

[1] एक अंग्रेजी मासिक पत्रिका जिसमें श्रीअरविंद के प्रायः सभी बड़े ग्रंथ पहले रूप में छपे थे। वे स्वयं उसके संपादक थे। —सं०

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

अंतर और बाह्य का सामंजस्य

हमने पिछले लेख में देखा था कि व्यक्ति के लिये किसी चीज का पूरी तरह से त्याग करना बहुत मुश्किल है क्योंकि वह अकेला नहीं है, समाज से घिरा हुआ है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने-आपमें एक इकाई, पृथक्ता है क्योंकि वह बहुत हदतक सचेतन है, लेकिन मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रूप से विशुद्ध पृथक्ता की अवस्था में होने पर भी वह औरों से कटकर अपना विकास नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यष्टिगत सत्ता में दोहरी क्रिया होती है—अंदर से होनेवाला आत्म-विकास जो उसकी सत्ता की सबसे बड़ी आंतरिक शक्ति है, जिसके द्वारा उसका अस्तित्व है और दूसरी क्रिया है बाहर से आनेवाले सुझावों, आघातों, संवेदनों इत्यादि को ग्रहण कर उन्हें अपनी व्यक्तिगत सत्ता के अनुकूल बनाकर अपने विकास तथा आत्म-क्षमता के साधनों के रूप में बदल देना। ये दोनों क्रियाएं एक दूसरे को काटती नहीं। ये वस्तुतः एक दूसरे की पूरक हैं। अगर तुम यह कहो कि ये कैसे पूरक हो सकती हैं भला—दो एकदम से भिन्न छोरों की क्रियाएं ? हां, अगर व्यक्ति इतना दुर्बल हो, उसके अंदर नाममात्र को भी इतनी आंतरिक शक्ति न हो कि अपने चारों ओर के जगत् के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार ही न कर सके, अपने विवेक, अपनी आंतरिक स्थिरता को पूरी तरह से तिलांजलि देकर समुद्र के थपेड़ों से आहत डाट की तरह समाज में इधर-से-उधर बस झकोले ही खाता रहे तो निश्चित रूप से ऐसे कमजोर व्यक्ति के लिये यह हानिकारक ही है। इसके विपरीत किसी स्थिर प्रकृतिवाले के लिये बाहर के आघातों, सुझावों इत्यादि को सम्यक् रूप में ग्रहण करने से उसके अंदर की आत्म-शक्ति अधिक तीव्र हो उठती है और वह अपने-आपको अधिक सर्वांग रूप में विकसित कर सकता है। एक है व्यष्टिगत आत्मा और दूसरी है विश्वात्मा—इन दोनों का धीरे-धीरे समन्वय ही व्यष्टि को समष्टिगत बना सकता है—जैसे-जैसे हम विकास-क्रम में ऊपर उठते हैं हम पाते हैं कि आंतरिक दृष्टि से हम बहुत प्रगति कर रहे हैं, यहांतक कि जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूप में अपने अंदर निवास करते हैं उनमें यह आश्चर्यजनक रूप में, कभी-कभी तो दिव्य परिमाण में बढ़ जाती है, लेकिन साथ ही हम यह भी देखते हैं कि ऐसे आंतरिक प्रधान मनुष्यों में बाह्य जगत् के आघातों, सुझावों इत्यादि को ग्रहण करने की शक्ति भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि सचमुच जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूप में अपने अंदर निवास करते हैं वे जगत् तथा इसके समस्त साधनों को व्यापक रूप में आत्मा के लिये प्रयोग में ला सकते हैं, और यह भी पूरी तरह सच है कि वे ही सचमुच अत्यंत सफलतापूर्वक संसार की सहायता कर सकते और इसे समृद्ध और शक्तिसंपन्न बना सकते हैं। जो मनुष्य अपनी आत्मा को सर्वाधिक चरितार्थ करता और उसीके द्वारा अपना जीवन-यापन करता है वही विश्वात्मा का सर्वाधिक आलिंगन कर सकता और उसके साथ एक हो सकता है; **स्वराट्** अर्थात् आत्म-स्वामी, ही सचमुच **सम्राट्** बन सकता है अर्थात् वह जिस जगत् में रहता है उसका सम्राट् या स्वामी बन सकता है और साथ ही आत्मा में अन्यों के साथ एक हो सकता है—यही है व्यष्टिगत आत्मा का विश्वात्मा के साथ मिलन। यही वह सत्य है जो प्राचीन भारत के आध्यात्मिक ज्ञान के महानतम रहस्यों में से एक है।

अतः अपनी सत्ता में निवास करना अर्थात् 'स्वधर्म' के अनुसार कार्य करना व्यक्ति की पहली आवश्यकता है। इस तरह न कर सकने का अर्थ है समुद्र के थपेड़ों के संग बहना अर्थात् जीवन में शिथिलता, दुर्बलता, अकौशल, चारों ओर की शक्तियों के द्वारा दब जाने का भय, अस्त-व्यस्तता, और

अंत में जीवनी शक्ति का ह्रास और विनाश। लेकिन इसका अर्थ केवल अपने अंदर बंद हो जाना नहीं है। हमारे चारों ओर का जीवन हमें जो साधन या उपकरण प्रदान करता है उसे आत्मसात् कर काम में न ला सकना भी बहुत बड़ी भूल है। किसी स्वस्थ व्यक्ति के लिये बाहरी प्रभाव, संवेदन, विचार या आघात ऐसे उत्तेजक की तरह काम कर सकता है जो उसकी आंतरिक सत्ता को बाहरी असामंजस्य, असंगति इत्यादि के प्रति सचेत कर दे और तब व्यक्ति के अंदर उस असंगति या विकार को ठीक करने का आवेग उठता है, प्रक्रिया शुरू हो जाती है और इस तरह व्यक्ति अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन में अधिक समृद्ध हो जाता है। उसके अंदर के बंद दरवाजों पर खटखटाहट होती है तो उसके अंदर की सुप्त शक्तियां जग सकती हैं और बाह्य का अंतर के साथ समन्वय हो सकता है। यह सच है कि ऐसे परिवर्तनों के समय व्यक्ति पर बहुत-से आक्रामक प्रभाव हों और संभवतः कुछ या अधिक समय के लिये उसे कठिनाइयों तथा परेशानियों से गुजरना पड़े, संकट और भय उसके साथ लगे रहें लेकिन इसके साथ ही साथ उसके अंदर एक महान् विकास, रूपांतर भी हो सकता है, उसे शक्तिशाली नवजन्म का अवसर भी प्राप्त होता है।

—वंदना

सूअरों से मुठभेड़

"न जाने भगवान् को बैठे बिठाये क्या सूझी होगी कि सूअरों की सृष्टि कर डाली। काला-काला रंग, भद्दा-सा शरीर, भौंडी-सी थूंथनी और जरा-सी पूंछ, कोई पूछे, इनमें जरा-सा सौंदर्य भी मिला दिया होता तो उनका क्या बिगड़ जाता और फिर ऊपर से तुर्रा यह कि दो पैसे की भी अक्ल नदारद। अगर ये न बने होते तो क्या कमी रह जाती इस सृष्टि में . . .।" 'क' बोलती ही चली जा रही थी, बोल क्या रही थी मानों दिल का गुबार निकाल रही थी और वह भी आंधी की गति से।

"अरे हुआ क्या, कुछ तो कहो, आज वराह भगवान् की संतान पर क्यों बरस रही हो, क्या बिगाड़ दिया उन्होंने तुम्हारा ?" मैंने बड़े शांत भाव से पूछा।

"हां, आप तो ऐसे ही हैं, आपको क्या, कोई मरे या जिये। हमारे ऊपर क्या बीतती है यह जानने की आपको क्या पड़ी है, बस आ गये अपने वराह भगवान् की संतान का पक्ष लेकर।" वह उबल पड़ी। "हे भगवान् ! यह अच्छी मुसीबत आयी। लेना एक न देना दो। कुछ हुआ सूअर और कनकम्मा के बीच में और लपेट में आ गया मैं बेचारा, खैर।"

"अच्छा कनकम्मा सुनो तो . . . तुम दो पैरोंवाले सूअरों की बात कर रही हो या चार पैरोंवाले . . .।"

मेरा वाक्य पूरा भी न हुआ था कि कनकम्मा बीच में ही झपट पड़ी, "हां, हां रहने दीजिये। आपको बड़ी चिंता है न मेरी। जानती हूं, मुझे कुछ हो जाता तो कोई दवा दारू तो दूर रही हल्दी फिटकरी तक न लगाता। हां, मेरा मजाक उड़ाने के लिये सब तैयार हैं . . .।"

"नहीं, नहीं कनकम्मा, बात ऐसी नहीं है। मैं मजाक तो नहीं कर रहा। तुम्हें न जाने क्यों भ्रम हो जाता है कि मैं मजाक ही किया करता हूं। ठीक-ठीक बता दो। दो पांववाला होगा तो अभी जाकर अदालत का दरवाजा खटखटाऊंगा और चार पांववाला . . .।"

कनकम्मा ने मेरे वाक्य को पूरा न होने दिया। रुआंसी-सी शकल बनाकर न जाने क्या बड़बड़ाती हुई बड़ी ठसक के साथ कमरे के बाहर हो गयी। अब सचमुच मुझे चिंता ने आ दबोचा। कौन जाने कनकम्मा को क्या हुआ होगा। न जाने किसने क्या कष्ट दिया होगा और ऊपर से मैंने भी नाराज कर

दिया। खैर मैंने सुरक्षा इसीमें समझी कि एकदम घर से बाहर हो जाऊं और कुछ समय बाहर बिताकर एक अठन्नी की जलेबियां लेकर घर लौटूं। कनकम्मा को जलेबियां बहुत पसंद हैं, उन्हें देखते ही गुस्सा काफूर हो जायेगा।

बाहर निकला ही था कि एक भीड़ दिखायी दी। लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे। मैं इतना ही समझ पाया कि यहां भी कुछ सूअरों की बात चल रही थी। भई वाह, यह खूब रही। सूअरों की बात के डर से घर छोड़ा और यहां बाहर फिर वही सूअर। आखिर इसके पीछे रहस्य क्या है ? मैं लोगों की बातें सुनने के लिये खड़ा हो गया। मेरे अंदर भी शर्लकहोम्स जाग गया। इस सारी बात की गवेषणा करनी ही होगी। मैंने भी भीष्म प्रतिज्ञा कर ली कि इस मामले की तहतक पहुंचने से पहले पानी न पिऊंगा।

भीड़ की ओर कदम बढ़ाया ही था कि मेरे परिचित शर्मा जी चिल्ला पड़े, "अरे महात्मा, बड़ी लंबी आयु है तुम्हारी, आओ, आओ, यह देखो अपनी कनकम्मा के पराक्रम।" सब की आंखें मानों मुझपर गड़ी हुई थीं। आप जानते ही हैं, जब बहुत लोग आपको देख रहे हों तो सीधा चलना भी मुश्किल हो जाता है। मेरी भी अजीब-सी हालत हो रही थी। खैर किसी तरह आगे बढ़ा। सामने देखा तो मेरे हाथों के तोते उड़ गये। मेरे पड़ोसी का लड़का सड़क पर उकडूं बैठा हुआ साइकिल के कल पुर्जे उठाने की कोशिश कर रहा था। साइकिल तो मेरी ही थी। उसकी यह हालत कैसे हो गयी ? उसे लाया कौन और तोड़ा किसने। मैं अंदर-ही-अंदर उबल रहा था, साथ ही डर भी लग रहा था, "हे दीनानाथ रक्षा करना, हे महावीर बाबा, दो पैसे का भोग लगाऊंगा मुझे बचाना। मेरा नुकसान करनेवालों का . . .

अब यह सुनाने में जितना समय लग रहा है उसका दसवां हिस्सा भी न लगा होगा। दो-तीन मित्र मेरे ऊपर झपट पड़े। बोले, "लो अपनी साइकिल। अब फिर से न देना कनकम्मा जैसों के हाथ में।" हाश ! डर दूर हुआ, गुस्सा काफूर हुआ, जान में जान आयी। पूछा, "अरे भई, बात क्या है कुछ तो कहो। कनकम्मा तो घर में है और मेरी साइकिल यहां अंजर-पंजर होकर पड़ी है। इस सारे का रहस्य क्या है ?"

अब उन लोगों ने देखा कि मैं सचमुच कुछ न जानता था तो एक साथ दो चार लोग लगे मुझे समझाने। सारी चिल्लपौं थी, कुछ समझ में ही न आ रहा था क्योंकि हर एक दूसरे की आवाज को दबा कर अपनी हांकने की कोशिश कर रहा था। बड़ी देर के बाद सारी कहानी समझ में आयी, मुझसे छिपाकर कनकम्मा ने बाइसिकल सीखना शुरू किया था। कहते हैं, सीखेगो नाऊ को, कटेगो किसान को। सीखना तो उन्होंने शुरू किया और मुसीबत आयी मेरी साइकिल की। आज भी वे साइकिल चलाने का अभ्यास कर रही थीं। सामने से सूअर जा रहे थे। बस फिर क्या था, सूअरों को देखकर साइकिल भड़क गयी और लगी इधर-उधर भागने। सूअरों ने समझा साइकिल उनके साथ कबड्डी खेल रही है, वे भी उसे पकड़ने के लिये इधर से, उधर से आने लगे। साइकिल ने उनको चकमा देना चाहा पर अपने-आप चारों खाने चित् जा गिरी और कनकम्मा को उछालकर दूर फेंक दिया। कनकम्मा उठी, इधर-उधर देखा, धूल झाड़ी और यह चिल्लाती हुई कि सूअर भी कैसे बेवकूफ हैं जरा समझ नहीं है उनके अंदर, देखते नहीं कि साइकिल आ रही है और बस, चले आते हैं सामने, मानों सारा रास्ता उनके बाप का हो, साइकिल को वहीं धूल में लोटते हुए छोड़कर वह घर में घुस गयी।

अब समझ में आयी सारी बात। कनकम्मा का गुस्सा भी समझ में आ गया। मैं कभी साइकिल के अंजर-पंजर को देखता हूं कभी अपने फटे हाल को और समझ में नहीं आता कि हंसूं या रोऊं।

(एक ही घटना पर दो दृष्टियां)

जीवट

क्यों ? मैं भगवान्‌जी को इस पत्ते पर लिखकर अरजी नहीं भेज सकती क्या ? दो-पाये क्या करते हैं पता नहीं, लेकिन हम गरीबों के लिये तो बस वे ही हैं एकमात्र माई-बाप। क्या लिखूंगी ? अरे यही कि वे जो अजीबोगरीब दोपाये हैं न, एकदम राक्षस के जैसे ! उन्होंने मुझे अपने घर से निकाल दिया है। मैं बेचारी नन्हीं जान उनके सामने कर ही क्या सकती थी ?

तू पूछ रही है कौन-सा घर ! वही तालाब के किनारे महल-सा कुछ है न, उसमें मैंने ऊंची मंजिल पर अपना घर सजाना शुरू किया। वाह ! वह इतनी बड़ी अटारी दोपाये ने कैसे खड़ी की होगी ? वह . . . वह तो जैसे पेड़ हैं, पौधे हैं, तालाब हैं, वैसे ही भगवान्‌जी ने भेजी है ! तू क्या मुझसे ज्यादा जानती है ? दोपायों का घर है वह ? पागल तो नहीं हुई ? उन्होंने अपने-आप बनाया है ? दोपाये जो चलना नहीं जानते, दौड़ना नहीं जानते, जिनके दुमतक नहीं कि यह जा वह जा ! मैं दस कदम चलूं तो वह दो कदम चल पाता है।

सुन तो ! उसने मेरी मंजिल के नीचे घर जमाया, मैंने सोचा, "ठीक है, जाने दो, मुझे जमीन पर थोड़े ही घर बसाना है ! ये बेचारे ऊपर आ नहीं सकते, नीचे रहने दूं।" मेरा घर कितना बढ़िया था ! न धूप आती थी, न वर्षा की एक बूंद ! खैर, मैं मजे से रहने लगी। राक्षस दोपायों का थोड़ा डर तो लगता था लेकिन मैंने देखा वे मुझे बिल्कुल तंग नहीं करते, सोचा, "पड़ोस अच्छा मिला।" राक्षस जैसे बड़े थे इसलिये मैं सावधान थी। थे तो इतने बड़े-बड़े शरीर लेकिन थक जाते थे बड़ी जल्दी; सोचो ! उन्हें दोपहर को भी सोना पड़ता था और तब मैं भी चुपचाप अपने घर रहती, ऊपर से झांकती, जैसे ही उठ बैठते, मैं बाहर भाग जाती।

एक दिन मैं घर से निकली, शाम को नया बिस्तर लेकर आयी तो देखा, मेरा घर गायब ! एकदम गायब हो गया था। मैंने ऊपर, नीचे सब जगह ढूंढ़ा लेकिन मेरा प्यारा, सलोना घर न मिलना था, न मिला। हताश होकर मैं बहुत रोई। उस रात किसी तरह कहीं सिकुड़ कर सो गयी।

कहते हैं न, सवेरा नयी शक्ति, नयी फुर्ती लाता है ? तो बस मैंने भी अपने मन से कहा, "हिम्मते मर्दां मददे खुदा" मैं फिर से बिस्तर लेने निकल पड़ी, पर हाय री किस्मत, जब लौटी तो देखा, दानवाकार दोपायों ने न जाने क्या बड़ी पहाड़-सी चीज लाकर सामने रख दी कि मैं अंदर ही न घुस पायी। मैंने बाहर से कितनी मिन्नतें कीं, उन निर्दय दोपायों ने मुझे देखकर भी अनदेखा किया। उनका पत्थर-दिल जरा भी न पसीजा।

इस तरह मेरा सब कुछ लुट गया। मैं बाहर बैठी-बैठी अपने नसीब को कोस रही थी कि मैना, बुलबुल, सोनचिरैया सब दोपहर को आंगन में इकट्ठे होकर अलापने, गाने लगे। मेरे तन-बदन में आग लग रही थी और उनको मुशायरा सूझ रहा था। गुस्से में आकर मैंने उनकी ओर दौड़-दौड़कर उन्हें भगाया। इसे देखकर एक राक्षसी दोपाया हंसकर अपने साथी से कहने लगा, "देखा, कितने गुस्से में है। सब पक्षियों को भगा रही है। बेचारे ये तो रोज इस समय चहकने आते हैं लेकिन आज महारानी नाराज हैं तो किसी को टिकने न देंगी, न खुश रहने देंगी।" उसकी बात सच थी, मन करता था कि इन दोपायों को भी अपनी तरह बेघर-बार कर दूं लेकिन उनसे डर लगता है। हैं भी कैसे डील-डौलवाले, मेरे जैसी सैंकड़ों गिलहरियां इनमें से बन जायें। अब मैं भगवान् चमरपुच्छ को छोड़कर किसकी शरण में जाऊं। उनकी कृपा से पीछे रहनेवाली मैं भी नहीं हूं। अपना नया घर सजाना शुरू कर

दिया है। दोपायों ने मेरे अटरम सटरम को निकाल बाहर कर दिया था मैं उसीको लेकर फिर से अपना नया संसार बसाने की कोशिश में लग गयी हूं। इसे कहते हैं जीवट ! और इसमें हम जल्द हिम्मत हारनेवाले दोपायों से बहुत आगे हैं।

—अनुबेन

गिलहरी की दास्तान

घर से निकाले गये हम सड़क पर भटक रहे थे कि हवा के एक झोंके ने गाल सहलाकर पूछा—क्या हाल है जनाबा का ? हमारी भौंहें तन गयीं, मुंह से बेसाख्ता निकल पड़ा—

न छेड़ ए **नकहते बादे बहारी**[1] राह लग अपनी
तुझे अठखेलियां सूझी हैं हम बेज़ार बैठे हैं।

जी हां, हम सचमुच बेज़ार, बेबस, बेघर और न जाने क्या-क्या बने बैठे थे—कसूर क्या था हमारा ?—बेकसूरी का कसूर ! पहले सोचा करते थे, वाह, अल्लाह की हम पर कितनी मेहरबानी है कि हमें रहमदिल तो बनाया, पड़ोसी खांसता है तो हमारे गले में खराश होने लगती है, रास्ता चलते मुसाफिर का बच्चा बुक्का फाड़कर अपना हारमोनियम बजाता है तो हमारा कलेजा भीग-भीग जाता है, सामनेवाले मकान में पानी की किल्लत हो तो हमारा हमाम उनकी ख़िदमत में चौबीसों घंटे खुला रहता है, किसी आवारा कुत्ते की टांग टूट जाये तो हमारे सारे दिन पर मनहूसी पुत जाती है और अगर सड़क पर कोई मेमना अपनी मां से बिछुड़कर मिमियाता सुनायी दे तो हम फौरन उसकी मदद करने पर आमादा हो जाते हैं, और न जाने किस-किस को देखकर क्या-क्या नहीं गुजरती है हमारे दिल पर, लिखने बैठें तो फेहरिस्त का अगला सिरा न दीखे। लोग-बाग हमपर हंसते हैं, कभी खुल्लम-खुल्ला, कभी मूंछों ही मूंछों में, पूछ बैठते हैं—काजीजी दुबले क्यों ?—कोई बतला दो कि हम बतलायें क्या। यह सवाल हमारे सर्जनहार से क्यों नहीं पूछा जाता जो हमारे जिगर को गलती से मोम का गढ़ बैठे, जरा-सी हरारत हुई नहीं कि पसीजने लगता है, लेकिन फिर भी हमें अपने मोम के कलेजे का कोई ग़म नहीं, हम तो उस अल्लाह का लाख बार शुक्रिया अदा करते हैं कि हमें संगदिल तो न बनाया, तोबा, तोबा हमारी आपा को ही देख लीजिये, संगदिल नहीं तो और क्या हैं, सुबह की नमाज़ की गूंज सारे आलम में सुकून[2] का माहौल पैदा कर रही थी कि हमारे कानों में आपा के शब्दों के हथौड़े बजने लगे—खतम कर दूंगी, इसने समझ क्या रखा है, रोज-रोज आकर इतना सत्यनास कर जाता है; हड़बड़ा कर आंखें खोलीं तो पाया, आपा हाथ में झाड़ू का परचम[3] लिये फर्श पर पड़ी किसी नाचीज़ पर बरस रही थीं, उसे इस दुनिया से फना कर देने की कसमें खा रही थीं, हमारा कलेजा रेलगाड़ी की तरह धड़धड़ाने लगा, हां फिर किसी चूहे की जान पर बन आयी है, हम एक बार नहीं कई बार उन्हें समझा चुके हैं, डांट चुके हैं, डरा चुके हैं, धमका चुके हैं कि इस तरह जीव-हत्या करती चली जाओगी तो क़यामत के दिन ये सारे चूहे, तिलचट्टे, छिपकलियां अपने शिकायतनामे अल्लाह मियां को पेश करेंगे, यहांतक कि चींटियां भी तुम्हें न छोड़ेंगी, लेकिन उनके पत्थर दिल को हमारी दरियादिली कतई नहीं भिगो पाती, उल्टा हमीं पर बरस पड़तीं—हां, हां, मारूं नहीं, तुम्हारी तरह इन्हें दामन में बांधे-बांधे फिरूं, खुद फाका रखकर इनकी बारात को न्यौत आऊं, हां, हां, इन्हें पालकर खुद अपने ही घर मेहमान की तरह

[1] वसंत के पवन की सुगंध। [2] शांति। [3] झंडा।

रहना तुम्हें ही मुबारक हो . . . अब आपा के कौन मुंह लगे, आखिर वे आपा जो ठहरीं, हम भी मुंह बिचकाकर कह बैठते हैं—हुं, ठीक है, रहें अपने घर सेठानी की तरह हमारी बला से !!

हमारे दिल की किताब का पहला सफा तो आप पलट चुके हैं अब आगे की दास्तान भी सुनना चाहेंगे ?

वाक़्या यह हुआ कि शायद हमारी दरियादिली का डंका इन्सानों में ही नहीं हैवानों में भी पिट गया, प्यास से बेदम उस कौए ने उस दिन जो हमारी छत के नल से बूंद-बूंद पानी पिया तो हमारी आंखें नम हो आयीं, उस दिन से हमने छत पर चील-कौओं के लिये तश्तरियों में प्याऊ खोल दिये। अब छत पर सवेरे, दोपहर, शाम जिस महफिल की मसर्रत हमें मयस्सर होती, वह इर्द-गिर्द के लोगों में हसरतअंगेज़ निगाहों का बायस होती, धीरे-धीरे हमारे घर के अंदर भी चहल-पहल शुरू हो गयी, हम अपने-आपमें फूले नहीं समाते कि हमारे सिवाय कौन है ऐसा बंदा इस इलाक़े में जिसके हाथों से चिड़िया दाना चुग लेती हो, जिसके पेट पर गिलहरियां धमा-चौकड़ी मचाती हों, जिसके प्याऊ पर किसी की रोक-थाम नहीं और ज़िसकी छत पर फाख्ता का जोड़ा उतरता हो। लेकिन जब कभी आपा आ जातीं तो हमारे घर को अजायबघर, पिंजड़ा और न जाने क्या-क्या नाम देकर फिर कभी क़दम न रखने की कसमें खा-खा कर ही हमेशा लौटतीं . . . यह और बात है कि ये क़समें सिर्फ उसी वक्त के लिये हुआ करती थीं।

वह रात भयानक थी, बिजली की उस भरपूर गरज ने हमारी नींद को चिटका कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया, हम होशो-हवास में अभी आ भी नहीं पाये थे कि फिर से बेहोशी का-सा आलम छाने लगा—हमारी रेशमी साड़ी दरवाजे से बाहर आहिस्ता-आहिस्ता खिंची चली जा रही थी—'चोर' यह दहशत-भरा लफ्ज अभी हमें अपने चंगुल में जकड़ ही रहा था कि खटर-पटर की आवाजें कमरे के अंदर से भी आने लगीं, हमारा खून जम गया—अंदर और बाहर के चोर के बीच अकेला इंसान !! कभी सूईटपक ख़ामोशी तो कभी खौफ़नाक आवाजें। क्या बतायें आपको अब, दिल और दिमाग दोनों अपने-आपको खो बैठे थे। वह लंबी रात हमारे लिये क़यामत का नमूना बन गयी, ग़नीमत यही हुई कि सवेरे तक हमारा दिल धड़कना जारी रख सका और उधर सवेरे-सवेरे पता नहीं आपा कहांसे नमूदार हो गयीं, बस हमारी जो घिग्घी बंधी तो उनके हाथ के तोते उड़ गये। धीरे-धीरे सारी बात सुनी-समझी और फिर लगीं हमीं पर बरसने—और पालो गीदड़ चमगादड़ का कुनबा। रेशमी साड़ी को कुतर-कुतर कर रूमाल बनाया तुम्हारे ही घर पल रहे मोटे चूहे ने, रात की खौफ़नाक आवाजें तुम्हारी उन्हीं गिलहरियों के खानदान की थीं जिन पर तुम दिन में जान देती हो . . . फिर तो आपा ने सचमुच आपा का लबादा ओढ़ हमारे चमचमाते हुए घर की सफाई की मुहिम[1] का ऐलान कर दिया, हम सकते में आ गये, उनकी उठा-पटक से हमारा दिल बैठने लगा। अचानक वह चीखीं—मिल गया, मिल गया। शायद उनके हाथ अलादीन का चिराग लग गया था—आह क्या बतायें अब आपको, ऐसा खूबसूरत, मुलायम गिलहरी का आशियाना था वह जिसमें जन्नत का सुख नसीब हो और हमारे मेहमान ने उसे संवारा था हमारे ही गुमशुदा बुंदों, रूमाल, अगूंठियों से। इधर हम फिदा हो रहे थे अपनी गिल्लो रानी की सूझ-बूझ पर उधर आपा ने उनको निकाल फेंकने का हुक्म दे डाला—या अल्लाह ! उनकी ऐसी संगदिली का तो हमें ख़ाब में भी ख्याल न आया था। अगर उनमें ज़र्रा भर इंसानियत होती तो ऐसे अलफाज़ मुंह से निकाल पातीं क्या ? कैसी-कैसी मिन्नतें नहीं कीं हमने और बदले में हमें भी अपने ही घर से निकल जाने का हुक्म मिल गया। किसी और की क्या हम ऐसी बेरहमी बर्दाश्त कर लेते ? लेकिन आपा की नाराज़गी के सामने अब हमारा और कुछ बोलना नक्कारखाने में तूती की आवाज

[1] अभियान।

बनकर रह जाता। देखते ही देखते आपा ने हमारे लहराते बियाबान की बहार को ख़िज़ां[1] में बदल डाला। बढ़ई बुलवा लायीं, बोलीं—देख, तेरे कमरे के दरवाजे के सामने आज ही जाली का दरवाजा लगवाये देती हूं, कमरा हवादार और रौशन रहेगा और दिन-रात चूहे, बिल्ली, गिलहरी के घुसने के ख़ौफ़ से तू निजात पा जायेगी। हमारा दिल कह उठा—बख्शो भी बिल्ली, तोता लंडोरा[2] ही जियेगा, चहल-पहल के बगैर हमारा गुलिस्तान कब्रिस्तान न बन जायेगा! लेकिन क्या हम उनके दिल से अपनी फरियाद की सुनवायी की उम्मीद कर सकते थे... अचानक दरवाजे पर चीं चीं की दस्तक हुई। हमारी हमजोली गिलहरी अपने ही घर लौटी लेकिन आज का यह बदला हुआ मंज़र और माहौल देख हमसे आंखों ही आंखों में पूछ बैठी—भई, मामला क्या है, हमें अंदर आने न दोगी क्या? अश्कों को ज़ब्त करने की कोशिश में हमारा कलेजा मुंह को आ गया, उधर गिल्लो रानी हमारी ख़ामोशी देख अदब से चूम के आस्ताना लौट पड़ीं।

उनके पलटते ही हमारे दिल में यादों का सैलाब उमड़ आया। हम भी बेघर-बार हो गये, बगीचे में उतरकर, भटकते-भटकते जब "बादे बहारी" ने गाल पर प्यार से चिकोटी काटी तो उसीपर बरस पड़े। वह भी चालाक निकली, आहिस्ता-आहिस्ता धकेलते, सरकाते हमें हमीं के दरवाजे पर ले आयी—नज़र उठाकर देखा तो एतबार न हुआ—हमारे घर के बाहर की खुली छत पर जहां रोज शाम को तोता, मैना, सोनचिरैया, बुलबुल और न जाने किन-किन कव्वालों की महफिल जमती थी आज वहां अलग ही नजारा था, हमारी गिल्लो इधर से उधर, उधर-से-इधर फिरकी की तरह चक्कर काटती हर एक चिड़िया को खदेड़ती फिर रही थी मानों कह रही हो—भाग जाओ, सब भाग जाओ यहां से, यह मेरी मिल्कियत है तुम्हारी नहीं... हमारी नज़रों से नज़रें मिली नहीं कि उसकी भाग-दौड़ दोगुनी हो गयी—"अरे कल इसके लिये जो अपने थे वे आज बेगाने हो गये" के ख्याल ने हमारे अपने गाल पर मानों एक तमाचा जड़ दिया। और उसने अपनी कहरभरी तेज निगाहों के तमाचे हमपर ऐसे जड़े कि हमारी बत्तीसी हिल गयी—तुमसे अपने शीशमहल में मेरा गरीबखाना न सहा गया और तुम उसे तहस-नहस किये बिना न रह सकीं, अरे कोई तुम इंसानों से पूछे कि खुदा के इतने बड़े जहान में जहां-तहां सीमेंट के आशियाने लटकाकर उन्हें अपनी मिल्कियत बतलाना ज्यादती नहीं है क्या? उसने तो अपने मुल्क से तुम्हारे आशियाने यूं तोड़-तोड़कर तुम्हें बेघर न किया—फिर हमीं पर यह जुल्म क्यों? कितने चुभते हुए थे उसके बेबाक अलफाज़... हम आपा के सामने यह दलील पेश करने के लिये आगे बढ़े नहीं कि दिल धक् से रह गया—हमारे कमरे के दरवाजे के सामने जाली का दरवाजा लग चुका था और आपा वहीं खड़ी थीं, बोल उठीं—अरे कहां चली गयी थी, देख, मैंने सारा पुख्ता इंतजाम करवा दिया है तेरे लिये। तेरे अजायबघर को घर की सूरत दे दी है, अब मैं चली, मुझे देर हो रही है। खुदाहाफिज़।

वास्तव में अब खुदा ही हमारा हाफिज़ था, खुदा ने जिन हाफिज़ों को भेजा था उन्हें तो आपा ने ऐसी बेदर्दी से खदेड़कर निकाल फेंका कि अब वे हमारी भलमनसाहत पर कभी एतबार कर पायेंगे क्या?

हमारे घर का जाली का दरवाजा आज भी इस उम्मीद से खुला रहता है कि शायद किसी रोज ऊपरवाला हमपर रहम कर दे और हमारे दरवाजे पर वह दस्तक सुनायी दे जिसे सुनने के लिये हमारी रूह कब से बेताब हो रही है... लेकिन मेहरबानी करके जरा ख्याल रखिये कि यह दस्तक आपा के कानों के दरवाजेतक न पहुंचने पाये...

—वंदना

[1] पतझड़। [2] दुमकटा।

कश्चित् विचारः

ह्यः एव दूरदर्शने 'द वर्ल्ड दिस् वीक्,'—इति कार्यक्रमे अपश्यं सिङ्गापुर-नामकं लघुदेशं स्फटिकम् इव स्वच्छं सुन्दरञ्च—लघुवीथयः वा प्रशस्तमार्गाः वा यातायातवाहनानि अथ वा गृहाणि—सर्वमेव दर्शनीयस्थलवद्। तत्रत्यजनाः अपि तथा संस्कृताः, सुशिक्षिताः सचेतनाः च दृश्यन्ते स्म यत् दूरदर्शनं पश्यन् प्रत्येकम् अनायासम् अकथयत्—अहो! एतत् खलु देशानां प्रतिमानम्। अहमपि अचिन्तयम्—ईदृशः स्वच्छः देशः निस्सन्देहं प्रशंसार्हः, सचेतनाः जनाः अस्य देशस्य ननु। तत्क्षणं दूरदर्शने श्रुतं यत् अत्र स्वच्छतायाः अर्थे बहवः निर्बन्धाः वर्तन्ते यथा—यदि कोऽपि मार्गेषु लघुकर्गजखण्डमपि क्षिपेत्, सार्वजनिकशौचालयानि मलिनानि वा त्यजेत्, धूम्रपाननिषिद्धस्थानेषु धूमवर्ती सेवेत तदा तथा भयङ्करः अर्थदण्डः दातव्यः यत् तस्मादेव भीताः जनाः सावधानाः आचरन्ति। मनसि विचारः उद्भूतः—दण्डात् कः न बिभेति। मम मित्राणां मतम् आसीत्—मनुष्यः अस्त्येव एतादृशः प्राणी यः अङ्कुशप्रचोदनं विना ऋजुमार्गं न अवलम्बते। आसीत् सर्वेषाम् एकस्वरेण एषा एव मतिः यत् भारतस्य उद्धारायापि ईदृशाः एव केचित् कठोरनियमाः आरोपणीयाः, तदैव मार्गेषु मालिन्यभाण्डारः, सर्वत्र धूम्रपानं इत्यादि—बहुविध-दुर्गुणानाम् अन्तः सम्भवेत् अन्यथा 'जापान', 'अमेरिका', 'सिङ्गापुर' इत्यादि—समृद्धदेशानां सम्मुखे अस्माकं स्थानं निकृष्टादपि निकृष्टतरं भविष्यति . . .

दूरदर्शनं दृष्ट्वा गृहं प्रत्यागच्छन्तीं मां मार्गे एकः एव विचारः अक्षोभयत्—किं भारतवासिनः तथा हेयाः ? विदेशीयानां भारतं प्रति एषः उपालम्भः तु निरपवादरूपेण वर्तते यत् यातायातसम्बद्धान् नियमान् विस्मृत्य जनाः स्वैरं यानानि चालयन्ति, नगरस्वच्छतायाः सौन्दर्यस्य च अत्र अभावः दृश्यते, सर्वत्र कोलाहलः वर्तते . . . विदेशीयाः एतदपि निस्सङ्कोचं स्वीकुर्वन्ति यत् भारते विपन्नानां वदने अपि प्रसन्नतायाः सन्तोषस्य च यादृशः भावः तिष्ठति तादृशः विदेशे सर्वविधसम्पन्नानां मुखे अपि दृष्टिगोचरः न भवति। अस्य प्रत्यक्षं प्रमाणं वयं पदे-पदे प्राप्नुमः।

गृहं प्राप्तया मया हठात् पूजायाः घण्टानादः श्रुतः। प्रफुल्लितमनाः अचिन्तयम्—मन्ये भारतवर्षमेव एकमात्रम् एतादृशः देशः यत्र यावन्ति दिनानि ततोऽधिकाः उत्सवाः। स्ववितर्दीम् (वितर्दी—छज्जा) आगत्य भावमुग्धा अहं सम्मुखस्थमन्दिरे आरतिम् अपश्यम् अलक्षयं च तान् निर्धनान् येषां वदनानि ईश्वरं प्रति कृतज्ञताभावैः भास्वराणि . . .

तदैव दूरदर्शने दर्शितानि विदेशीयानां मुखानि अस्मरम्, यन्त्रचालितानामिव तेषां जनानां मुखमुद्रा अपि तथा यान्त्रिकी कठोरा च यथा स्मितिः अपि कृत्रिमा ! अस्मरं च मित्राणां वचनानि येषां मतेन भारतेनापि विदेशीयानाम् आचरणम् अनुसर्तव्यम् !!

मनसि प्रश्नः प्रस्फुरितः—अपि तथा कुर्वन्तः भारतीयाः समृद्धतराः भविष्यन्ति ? नाचरेयुः भारतवासिनः तत्कुक्कुरवत् येन अन्यरोटिकालोभेन स्वमुखस्य रोटिका अपि हारिता।

नास्ति अस्य एषः उपसंहारः यत् भारतीयानां दृष्टिः पाश्चात्यविरोधिनी भवेत् न च वाञ्छनीया अद्यत्वे प्रचलिता पाश्चात्यं भौतिकचाकचिक्यं दृष्ट्वा भारतस्य युवगणस्य तत्प्रति आकर्षणवृत्तिरपि।

अस्ति एषः सः सन्धिकालः यदा 'स्वभावं' न त्यक्त्वा पाश्चात्यजगत् भारतं च परस्परम् आदानं प्रदानं च कुर्याताम्। ईदृशस्य हितकर-सामञ्जस्यस्य अर्थे आशामहै वयम् सर्वे।

—वन्दना

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधना-पद्धति

शांति, स्थिरता, अचंचलता और निश्चल-नीरवता

शांति, अचंचलता, स्थिरता और निश्चल-नीरवता इनमें से हर एक शब्द की अपनी अर्थ छटा है परंतु उनकी व्याख्या करना सरल नहीं है।

अचंचलता एक ऐसी स्थिति है जिसमें कोई बेचैनी या गड़बड़ नहीं होती।

स्थिरता ऐसी स्थिति है जिसे कोई हिला नहीं सकता, कोई गड़बड़ उसपर असर नहीं डाल सकती—यह अचंचलता की अपेक्षा कम नकारात्मक है।

शांति और भी अधिक भावात्मक स्थिति है जिसके साथ स्थिर, सामंजस्यपूर्ण विश्राम और मुक्ति का भाव रहता है।

निश्चल-नीरवता ऐसी स्थिति है जिसमें या तो मन या प्राण की कोई गति होती ही नहीं या फिर एक महान् नीरवता होती है जिसे कोई ऊपरी सतह की गति छेद या बदल नहीं सकती।

*

अचंचलता नकारात्मक चीज है, यह गड़बड़ का अभाव है।

स्थिरता सकारात्मक शमन है जो ऊपरी गड़बड़ों के बावजूद रह सकता है।

शांति ऐसी स्थिरता है जो गहरी होकर भावात्मक रूप में शांत निःशब्द आनंद जैसी होती है।

निश्चल-नीरवता विचार की सभी गतियों और क्रियाशीलता के स्पंदनों का अभाव है।

*

पहला चरण है निश्चल मन, निश्चल-नीरवता एक बाद का चरण है। पहले अचंचलता होनी चाहिये। अचंचल मन से मेरा मतलब है ऐसी मानसिक चेतना जो विचारों को अपने अंदर आते हुए और गति करते हुए देखती है लेकिन अपने-आप यह अनुभव नहीं करती कि वह सोच रही है या विचारों के साथ एक हो रही है या उन्हें अपना कह रही है। जैसे एक शांत प्रदेश में राहगीर दिखायी देते और गुजर जाते हैं उसी तरह विचार या मानसिक गतिविधियां उसमें से गुजर जाती हैं। अचंचल मन उनका अवलोकन करता है या अवलोकन करने की परवाह भी नहीं करता लेकिन दोनों अवस्थाओं में वह न तो सक्रिय बनता है न अपनी अचंचलता खोता है।

*

मन को इस तरह अचंचल बनाना कि कोई विचार ही न आये, आसान नहीं है और उसमें समय लगता है। सबसे जरूरी चीज है मन में अचंचलता का अनुभव करना, ताकि अगर विचार आयें तो वे मन को उत्तेजित न करें, उसे अपनी पकड़ में न लें, उसे अपने पीछे न चलायें, बल्कि चुपचाप निकलकर चले जायें। पहले मन विचारक न होकर विचारों के आने-जाने का साक्षी होता है। इसके बाद वह विचारों पर ध्यान दिये बिना उन्हें जाने दे सकता है और वह स्वयं अपने अंदर या अपनी चुनी हुई वस्तु पर बिना कष्ट के एकाग्र हो सकता है।

साधना में करने लायक पहली चीज है मन में व्यवस्थित शांति और नीरवता को पाना। अन्यथा तुम्हें अनुभूतियां हो सकती हैं लेकिन कोई चीज स्थिर न होगी। सच्ची चेतना नीरव मन में ही निर्मित हो सकती है।

अचंचल मन का यह अर्थ नहीं है कि कोई विचार या मानसिक गतिविधियां नहीं होंगी। मतलब यह है कि ये केवल सतह पर होंगे और तुम अपनी सच्ची सत्ता को इनसे अलग, अपने भीतर देखोगे। वहां वह इनसे अलग, अपने भीतर, अवलोकन करती है पर बह नहीं जाती। वह उनका निरीक्षण और मूल्यांकन कर सकती है और जिसे त्यागना है उस सबको त्याग सकती और जो कुछ सच्ची चेतना और सच्ची अनुभूति है उसे स्वीकार कर सकती और रख सकती है।

मन की निष्क्रियता अच्छी है परंतु सावधान रहो, केवल सत्य और भागवत शक्ति के स्पर्श के आगे ही निष्क्रिय बनो। अगर तुम निम्नतर प्रकृति के सुझावों और प्रभावों के प्रति निष्क्रिय हो तो तुम प्रगति न कर सकोगे या फिर अपने-आपको विरोधी शक्तियों के आगे खोल दोगे जो तुम्हें योग के सच्चे पथ से दूर ले जा सकती हैं।

माताजी के आगे इस स्थिर अचंचलता और मन की स्थिरता और अपने अंदर बाह्य प्रकृति से अलग खड़ी हुई, प्रकाश और सत्य की ओर अभिमुख आंतरिक सत्ता के सतत भाव के लिये अभीप्सा करो।

*

अचंचलता तब होती है जब मन या प्राण उद्विग्न, बेचैन, विचारों और भावों की ओर खिंचे हुए या उन से भरे न हों। विशेष रूप से जब मनुष्य इनसे निर्लिप्त हो और इन्हें ऊपरी सतह की गतिविधि मानता हो तो हम कहते हैं कि मन या प्राण अचंचल है।

स्थिरता अधिक भावात्मक स्थिति है, केवल बेचैनी, अत्यधिक सक्रियता या उद्विग्नता का अभाव नहीं। जब स्पष्ट, बड़ी या प्रबल प्रशांति हो जिसे कुछ भी तंग नहीं करता या नहीं कर सकता तब हम कहते हैं कि स्थिरता स्थापित हो गयी है।

*

रिक्त मन और स्थिर मन में यह भेद है: जब मन रिक्त होता है तब कोई विचार नहीं होता, कोई धारणा नहीं होती, किसी प्रकार की कोई मानसिक क्रिया नहीं होती, रूपायित विचार के बिना वस्तुओं का केवल एक अनिवार्य बोध रहता है। लेकिन स्थिर मन में मानसिक सत्ता का पदार्थ अचल होता है, इतना अचल कि कोई चीज उसे व्याकुल नहीं कर सकती, अगर विचार और क्रियाएं आयें भी तो वे मन में से बिल्कुल नहीं आतीं बल्कि मन में से ऐसे गुजर जाती हैं, जैसे स्तब्ध वातावरण में पक्षी आकाश में गुजरते हैं। वे गुजर जाते हैं, किसीको परेशान नहीं करते और अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ते। चाहे हजारों चित्र, अधिक-से-अधिक उग्र घटनाएं उसमें से होती हुई निकल जायें तब भी स्थिर अचंचलता बनी रहती है मानों मन का ताना-बाना ही ऐसा है कि उसका द्रव्य शाश्वत और अविध्वस्य शांति का बना हो। जिस मन ने यह स्थिरता पा ली है वह तीव्रता और सशक्त रूप में कार्य शुरू कर सकता है लेकिन वह अपनी आधारभूत अचंचलता को बनाये रखेगा। वह अपने-आप किसी चीज का आरंभ न करेगा। वह ऊपर से वस्तु को प्राप्त करेगा और अपनी ओर से कुछ भी जोड़े बिना, चुपचाप स्थिरता से, बिना आवेग के, उसे मानसिक रूप देगा यद्यपि उसमें सत्य का आनंद और स्थानांतरण की सुखद शक्ति और ज्योति रहेगी।

*

स्थिरता बलवान् और भावात्मक, दृढ़ और ठोस अचंचलता है। जब कि अचंचलता केवल अभावात्मक यानी उत्पात का अभाव है।

शांति एक गभीर अचंचलता है जिसमें कोई उपद्रव नहीं आ सकता—प्रतिष्ठित सुरक्षा और मुक्ति के अर्थों में अचंचलता।

*

शांति स्थिरता से अधिक भावात्मक है। एक अभावात्मक स्थिरता हो सकती है जो केवल उत्पात या कष्ट का अभाव है। लेकिन शांति हमेशा एक भावात्मक चीज होती है जो न केवल स्थिरता की तरह छुटकारा लाती है बल्कि अपना आनंद या अमुक तरह की खुशी भी लाती है।

*

शांति में अचंचलता के भाव के साथ एक सामंजस्य भी होता है जो मुक्ति का भाव और पूर्ण संतोष देता है।

*

तुम्हें पीछे की शांति और तुम्हारे अपने अंदर स्थित 'किसी अधिक सत्य' में रहना और अपने-आपको वही अनुभव करना सीखना चाहिये। बाकी सबको अपना सच्चा स्व नहीं बल्कि बदलती हुई या बार-बार ऊपरी सतह पर आती हुई गतिविधियों का प्रवाह मानना चाहिये। जब तुम्हारा सच्चा स्व ऊपर आयेगा तो इनका जाना निश्चित है।

शांति ही सच्चा उपचार है . . . अपने सिर के ऊपर और चारों ओर शांति का अनुभव करना पहला चरण है। तुम्हें उसके साथ नाता जोड़ना चाहिये और उसे तुम्हारे अंदर उतरना और तुम्हारे मन, प्राण और शरीर को भर देना और तुम्हें चारों ओर से घेर लेना चाहिये ताकि तुम उसमें निवास करो—क्योंकि, यह शांति तुम्हारे साथ भागवत उपस्थिति का एक चिह्न है और एक बार तुम्हें यह मिल जाये तो बाकी सब आना शुरू करेगा।

*

ऊपरी सतह पर भले उपद्रव हो परंतु आंतरिक सत्ता में प्रतिष्ठित शांति का अनुभव करना एक सामान्य बात है। वस्तुतः योगी, समस्त सत्ता में पूर्ण समता का अनुभव कर पाये, उससे पहले की यही सामान्य अवस्था है।

*

जब एक बार शांति पूरी सत्ता में सब जगह पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाये तो ये चीजें (निम्नतर प्राण की प्रतिक्रियाएं) उसे हिला न पायेंगी। पहले वे सतह पर लहरियों की तरह आ सकती हैं और फिर केवल सुझावों के रूप में, जिन्हें तुम देखते हो या देखने की भी परवाह नहीं करते परंतु दोनों ही अवस्थाओं में वे अंदर नहीं घुसतीं, न प्रभाव डालतीं या विघ्न पैदा करती हैं।

*

इसे समझाना कठिन है परंतु यह एक पहाड़ जैसी चीज है जिसपर तुम पत्थर फेंकते हो। अगर पहाड़ सब जगह सचेतन हो तो वह पत्थरों का स्पर्श अनुभव करेगा परंतु वह इतना हल्का और बाहरी होगा कि उसपर जरा भी असर न पड़ेगा और अंत में वह प्रतिक्रिया भी गायब हो जायेगी।

*

अगर शांति या निश्चल-नीरवता पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाये तो सतह पर चाहे जितनी गतिविधियां हों वे उसमें बाधा न दे सकेंगी और न उसे समाप्त कर सकेंगी। वह सारे विश्व की गतिविधियों को वहन करते हुए भी जैसी कि वैसी बनी रहेगी।

*

जब मन नीरव निश्चल हो तो शांति रहती है और शांति में ऐसी सब चीजें आ सकती हैं जो दिव्य हों।

*

स्वयं निश्चल-नीरवता और शांति उच्चतर चेतना के भाग हैं—बाकी सब निश्चल-नीरवता और शांति में आता है।

*

मन के लिये मौन हो जाना, विचारों से मुक्त और अचंचल होना, अवांछनीय नहीं है। बहुधा जब मन निश्चल हो जाता है तो ऊपर से एक विशाल शांति का पूरा-पूरा अवतरण होता है। उस विस्तृत प्रशांति में ऊपर की निश्चल-नीरव आत्मा की उपलब्धि अपने पूरे विस्तार के साथ सब जगह फैल जाती है।

*

सहज नीरव स्थिति का तुरंत हमेशा के लिये रह सकना संभव नहीं है लेकिन जबतक सतत आंतरिक नीरवता न आ जाये, एक ऐसी नीरवता जिसे कोई बाहरी क्रिया, आक्रमण का कोई भी प्रयास या उपद्रव क्षुब्ध न कर सके, तबतक इसे तुम्हारे अंदर विकसित होते जाना चाहिये।

तुम जिस स्थिति का वर्णन करते हो वह यथार्थ रूप में इस आंतरिक निश्चल-नीरवता का विकास दिखलाती है। अंततः इसे अपने-आपको समस्त आध्यात्मिक विकास और क्रिया-कलाप के आधार के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिये। इस बात की कोई परवाह नहीं कि तुम यह नहीं जानते कि इस नीरवता के भीतर या उसके पीछे क्या हो रहा है। क्योंकि योग में दो अवस्थाएं हैं, एक जिसमें सब कुछ निश्चल-नीरव होता है, कोई विचार, भाव या गति नहीं होती, यद्यपि मनुष्य औरों की तरह कार्य करता रहता है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें एक नयी चेतना सक्रिय हो जाती है और अपने साथ ज्ञान, हर्ष, प्रेम और अन्य आध्यात्मिक भावों और आंतरिक क्रियाकलाप को लाती है। लेकिन साथ ही एक आधारभूत निश्चलता या अचंचलता बनी रहती है। आंतरिक सत्ता के विकास के लिये दोनों अवस्थाएं जरूरी हैं, नितांत निश्चल स्थिति, हल्केपन, रिक्तता और मुक्ति की स्थिति जो दूसरी स्थिति को तैयार करती है और जब वह आये तो उसे सहारा देती है।

अचंचलता को बनाये रखो और चिंता न करो अगर वह कुछ समय के लिये रिक्त अचंचलता हो। बहुधा चेतना एक ऐसे पात्र की तरह होती है जिसे मिश्रित या अवांछनीय वस्तुओं से खाली करना पड़ता है और उसे कुछ समय के लिये तबतक खाली रखना पड़ता है जबतक उसे नयी और सच्ची, उचित और शुद्ध वस्तुओं द्वारा भर न दिया जाये। एकमात्र चीज जिससे बचना चाहिये वह है प्याले का फिर से पुरानी गंदली वस्तुओं से भरा जाना। अपने-आपको ऊपर की ओर खोलो, बहुत चुपचाप, स्थिरता के साथ, बहुत अधिक बेचैन उत्सुकता से नहीं, उस नीरवता में शांति के आगमन को पुकारो और एक बार शांति आ जाये तो आनंद और भागवत उपस्थिति को पुकारो।

*

सभी अवस्थाओं में, सत्ता के सभी भागों में समचित्तता और शांति, यही यौगिक स्थिति की पहली नींव है। या तो प्रकाश (जो अपने साथ ज्ञान लाता है) या शक्ति (जो बल और नाना प्रकार की गतिशीलता लाती है) या आनंद (जो प्रेम और सत्ता का उल्लास लाता है) प्रकृति की वृत्ति के अनुसार बाद में आ सकते हैं। लेकिन शांति पहली शर्त है जिसके बिना और कोई चीज स्थायी नहीं हो सकती।

*

शांति से भरा हुआ होना, हृदय का अचंचल होना; दुःख से पीड़ित न होना और हर्ष से उत्तेजित न होना, यह बड़ी अच्छी स्थिति है। रही बात आनंद की तो अगर मन शांत हो और हृदय सामान्य सुख-दुःख से मुक्त हो तो आनंद न केवल अपनी तीव्रता बल्कि अधिक स्थायी दृढ़ता के साथ आ सकता है। अगर मन और हृदय बेचैन, बदलते हुए, चंचल हों तो एक तरह का आनंद आ सकता है परंतु वह प्राणिक उत्तेजना के साथ मिला रहता है और स्थिर नहीं रह सकता। पहले तुम्हें शांति और स्थिरता को चेतना में प्रतिष्ठित कर लेना चाहिये तब एक ऐसी ठोस नींव बन जाती है जिसपर आनंद अपने-आपको फैला सकता है और फिर चेतना और प्रकृति का एक स्थायी भाग बन सकता है।

विस्तार

आखिर तुम्हें साधना का सच्चा आधार मिल गया। यह अचंचलता, शांति और समर्पण, बाकी सबके—ज्ञान, बल, आनंद के आने के लिये उचित वातावरण है। वह पूर्ण हो जाये . . .।

अभी तुम्हें मन में शांति की जो अचंचल चेतना प्राप्त है, उसे केवल स्थिर ही नहीं, विस्तृत भी होना चाहिये। तुम्हें हर जगह उसका, अपने-आपको और सबको उसके अंदर अनुभव करना चाहिये। इससे कार्य में स्थिरता को आधार के रूप में लाने में भी सहायता मिलेगी।

तुम्हारी चेतना जितनी अधिक विस्तृत होगी उतना ही अधिक तुम ऊपर से प्राप्त कर सकोगे। शक्ति सारे तंत्र में उतरकर बल, प्रकाश और साथ ही शांति ला सकेगी। तुम अपने अंदर जिसे संकीर्ण और सीमित अनुभव करते हो वह तुम्हारा भौतिक मन है, वह तभी विस्तृत हो सकता है जब अधिक विस्तृत चेतना और प्रकाश नीचे उतरे और प्रकृति पर अधिकार कर ले।

*

जब चेतना संकीर्ण और व्यक्तिगत होती है या शरीर में बंद रहती है तो भगवान् से प्राप्त करना कठिन होता है, वह जितनी अधिक विस्तृत हो जाये उतना ही अधिक प्राप्त कर सकती है। एक समय

आता है जब वह अपने-आपको सारे जगत् के बराबर विस्तृत अनुभव करती है और समस्त भगवान् को अपने अंदर ग्रहण कर सकती है।

*

विस्तार और स्थिरता यौगिक चेतना के आधार और आंतरिक विकास और अनुभूति के लिये सबसे अच्छी परिस्थितियां हैं। अगर भौतिक चेतना में विस्तृत स्थिरता स्थापित की जा सके जो सारे शरीर तथा उसके सभी कोषाणुओंतक पर अधिकार किये हुए और उनको भरे हुए हो तो यह इसके रूपांतर के लिये आधार बन सकता है। वस्तुतः इस विस्तार और स्थिरता के बिना रूपांतर मुश्किल से संभव हो सकता है।

*

अगर तुम अपने हृदय में विस्तार और स्थिरता रख सको और साथ ही माताजी के लिये प्रेम भी तो सब कुछ सुरक्षित है क्योंकि इसका अर्थ होता है योग के लिये दोहरा आधार, ऊपर से उच्चतर चेतना का अपनी शांति, स्वतंत्रता और प्रशांतता के साथ अवतरण और चैत्य का उद्घाटन जो समस्त प्रयास या समस्त सहज गतिविधि को सच्चे लक्ष्य की ओर उन्मुख रखता है।

अपने-आपको माफ कर देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अन्दर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।

—श्रीमां

"Work done in the right spirit is meditation."

— THE MOTHER

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय समर्पण है।

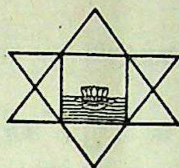
—श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER



अंतरवासी विश्वपुरुष

मेरे आत्मालिंगन में संपूर्ण जगत् है अंतर्विष्ट :
मुझमें स्वाति और पुष्य नक्षत्र होते हैं प्रदीप्त।
जब मैं देखता कोई भी रूप जीवंत
एक अन्य मुखाकृति लिये मैं करता अपना ही दर्शन।

जो मुझे देखते वे सब नयन हैं केवल मेरे ही नयन;
मेरा है हर वक्ष में धड़क रहा एक हृदय उसका स्पंदन।
संसार के सुख मुझमें मदिरा सम प्रवहमान,
इसके लक्ष्य दुःख-ताप मेरी यंत्रणाएं महान्।

फिर भी इसके समस्त कार्यकलाप मेरी सतह पर
बहती तरंगें हैं केवल; अंतर में सदा स्थिर,
मैं हूं आसीन कालरहित, स्पर्शातीत, अजात;
मेरे शांत दर्पण में छाया हैं सकल पदार्थ।

मेरी विशाल परात्परता विश्व-चक्र को करती है धारण;
सागर में मुक्तावत् मैं हूं इसमें प्रच्छन्न।

अनु० —अमृता भारती *—श्रीअरविंद*

दैनन्दिनी

दिसंबर

१. अपने अंदर संपूर्ण समन्वय का निर्माण करो ताकि जब समय आये तो संपूर्ण सौंदर्य अपने-आपको तुम्हारे द्वारा प्रकट कर सके।

२. अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुकूल कोई भी युक्तियुक्त व्यायाम-पद्धति व्यायाम करनेवाले को अपना स्वास्थ्य सुधारने में सहायता देगी। और फिर मनोवृत्ति का महत्त्व ज्यादा है। यौगिक वृत्ति से अपनायी गयी, कोई भी सुनियोजित, वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित व्यायाम-पद्धति यौगिक कसरत हो सकती है और उसमें भाग लेनेवाला शारीरिक स्वास्थ्य और नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से पूरा लाभ उठा सकता है।

३. प्र०—मैं केवल सुंदर होना चाहता हूं।
उ०—सचाई के साथ व्यायाम करो और तुम सफल हो जाओगे।

४. अगर कोई नियंत्रण में रहने की क्षमता नहीं रखता हो तो वह जीवन में कोई भी चिरस्थायी मूल्य की चीज करने में असमर्थ होता है।
तुम्हें हर चीज में, हर हालत में अपना संतुलन बनाये रखना चाहिये।

५. प्र०—हमारा योग किस अर्थ में साहस-कार्य है?
उ०—उसे एक साहस-कार्य कहा जा सकता है क्योंकि यह पहली बार है कि कोई योग भौतिक जीवन से बच निकलने की जगह उसका रूपांतर करने और उसे दिव्य बनाने का लक्ष्य अपना रहा है।

६. प्र०—क्या सुखी होना जीवन का लक्ष्य है?
उ०—यह तो चीजों को ऊट-पटांग ढंग से रखना हुआ।
मानव जीवन का लक्ष्य है भगवान् को खोजना और उन्हें अभिव्यक्त करना। स्वभावतः इस खोज से सुख मिलता है; परंतु यह सुख अपने-आपमें लक्ष्य न होकर एक परिणाम है। एक सामान्य अनुवर्ती परिणाम को जीवन का लक्ष्य मान बैठने की यह भूल ही मनुष्यजाति पर आनेवाली अधिकतर विपदाओं का कारण है।

७. . . . अनुशासन, नियमितता, शिष्ट व्यवहार, साहस, अध्यवसाय, प्रयास में धीरता शब्दों की अपेक्षा उदाहरण से अधिक अच्छी तरह सीखे जाते हैं। और यह तो पक्की बात है कि बच्चों के सामने वह कभी मत करो जिसके लिये तुम उन्हें मना करते हो।

८. शिक्षक की मनोवृत्ति होनी चाहिये प्रगति के लिये सतत संकल्प, वह बच्चों को जो सिखाना चाहता है केवल उसीको ज्यादा अच्छी तरह जानने के लिये ही नहीं बल्कि उससे भी बढ़कर वे क्या बन सकते हैं यह दिखाने के लिये उसका जीवंत उदाहरण बनना ही वस्तुतः उसकी वृत्ति होनी चाहिये।

९. अध्ययन कभी बंद नहीं होना चाहिये।

१०. "परम प्रभु", "पूर्ण चैतन्य", केवल तू ही ठीक-ठीक जानता है कि हम क्या हैं, हम क्या कर सकते हैं, हमें क्या प्रगति करनी है जिससे हम तेरी सेवा के योग्य और समर्थ हो सकें—जैसा कि हम चाहते हैं। हमें अपनी संभावनाओं के प्रति सजग-सचेतन बना, अपनी कठिनाइयों के प्रति भी ताकि हम निष्ठा के साथ तेरी सेवा करने के लिये उनपर विजय पा सकें!
भगवान् का सच्चा सेवक बनने में ही परम आनंद है।

११. बिना अनुशासन के शारीरिक शिक्षा संभव नहीं है। कठोर अनुशासन के बिना स्वयं शरीर भी काम न कर सकेगा। असल में, इस तथ्य को न स्वीकारना ही व्याधियों का मुख्य कारण है। पाचन, वृद्धि, रक्त-संचरण सब, सब कुछ ही तो एक अनुशासन है; चिंतन, गतियां, चेष्टाएं सभी तो एक अनुशासन है। यदि अनुशासन न हो तो लोग तुरंत बीमार पड़ जाते हैं।

१२. बलवान् और स्वस्थ बनने से शरीर को कभी कोई हानि नहीं पहुंच सकती।

१३. उनका संग कभी न करो जो कीचड़ के मार्ग पर हैं क्योंकि तुम्हारे अपने साथी ही तुम्हें कलंक लगायेंगे।

प्राणिक संबंध हमेशा खतरनाक होते हैं।

भगवान् के प्रति प्राण का संपूर्ण, निरपेक्ष निवेदन ही एकमात्र समाधान है।

१४. हर शक्ति या सामर्थ्य का अन्य शक्तियों और सामर्थ्यों पर प्रभाव होता है और यह प्रभाव पारस्परिक होता है। इस निरंतर और व्यापक अस्त-व्यस्तता या प्रभाव से बचने के लिये केवल एक ही रास्ता है: ऐकांतिक रूप से भागवत चेतना पर एकाग्र होना और अपने-आपको दिव्य चेतना की ओर खोलना।

१५. अगर तुम अपनी कामनाओं के स्वामी नहीं हो तो तुम अपने विचारों के स्वामी नहीं हो सकते। अपने-आपको दुर्बल बनाकर नहीं, केवल बल, संतुलन और शांति में ही तुम अपनी कामनाओं पर विजय पा सकते हो।

१६. मन जितना अज्ञानी होता है उतनी ही ज्यादा आसानी से हर उस चीज का मूल्यांकन करता है जिसे वह नहीं जानता या जिसे समझने में वह अक्षम है।

१७. हर चीज को भगवान् को पाने का साधन बनाया जा सकता है।

जिस चीज का महत्त्व है वह है वह भाव जिससे काम किया जाता है।

मैं काम और योग में फर्क नहीं करती। निवेदन और आत्म-समर्पण भाव से किया गया काम अपने-आपमें योग है।

१८. भगवान् के प्रति निवेदित किये गये कार्य के द्वारा ही चेतना सबसे अच्छी तरह विकसित होती है। आलस्य और अकर्मण्यता का अंत तमस् में होता है। वह निश्चेतना में पतन है। वह समस्त प्रगति और प्रकाश के विपरीत है।

अपने अहंकार को जीतना, केवल भगवान् की सेवा में निवास करना—यही सच्ची चेतना को प्राप्त करने का आदर्श और सबसे छोटा मार्ग है।

१९. कोई भी भौतिक संगठन, उसकी पूर्णता का स्तर चाहे जो हो, मनुष्यों के दुःख-दारिद्र्य का समाधान लाने में समर्थ नहीं है।

कष्टों से छुटकारा पाने के लिये भी मनुष्य को चेतना के उच्चतर स्तरतक उठना होगा और अपने अज्ञान, अपनी सीमाओं और स्वार्थपरता से ऊपर उठना होगा।

२०. अगर तुम दुनिया को बदलना चाहते हो तो अपने-आपको बदलो। अपने आंतरिक रूपांतर द्वारा यह प्रमाणित करो कि सत्य-चेतना जड़ भौतिक जगत् पर अधिकार कर सकती है और धरती पर भागवत एकता अभिव्यक्त की जा सकती है।

२१. बाहर की किसी चीज को अपने तक आने और अपने-आपको परेशान न करने दो। लोग जो सोचते, करते या कहते हैं उसका बहुत कम महत्त्व है। एकमात्र चीज जिसकी गिनती है वह है भगवान् के साथ तुम्हारा संबंध।

२२. काम के लिये चिंता न करो, जितनी स्थिरता और शांति से काम करोगे वह उतना ही ज्यादा प्रभावकारी होगा।

२३. जबतक तुम निजी विचारों, मतों, पसंदों से ऊपर नहीं उठ सकते तबतक तुम अच्छे कार्यकर्ता नहीं बन सकते। जबतक तुम्हारे अंदर निजी पसंदें हैं तबतक तुम ठीक वह चीज न कर पाओगे जिसकी जरूरत है।

२४. अंतरात्मा भगवान् है जिसने भगवान् होना छोड़े बिना व्यक्तिरूप धारण किया है। अंतरात्मा के अंदर व्यक्ति और भगवान् सदा एक रहते हैं।
अतः अपनी अंतरात्मा को पाने का अर्थ है भगवान् के साथ एक होना।
अतः यह कहा जा सकता है कि अंतरात्मा का काम है मनुष्य को सच्ची सत्ता बनाना।

२५. मानव सत्ता विभिन्न भागों से बनी है जो कभी-कभी स्पष्ट रूप से अलग-अलग होते हैं। वे केवल चैत्य प्रभाव और क्रिया के नीचे एक हो सकते हैं। अपने उद्यम में डटे रहो और तुम निश्चित रूप से सफल होगे।

२६. भय गुप्त स्वीकृति है। जब तुम किसी चीज से डरते हो तो इसका यह अर्थ है कि तुम उसकी संभावनाओं को स्वीकार करते हो और इस तरह उसकी पकड़ को मजबूत बना देते हो। कहा जा सकता है कि वह अवचेतन स्वीकृति है। भय को बहुत तरीकों से जीता जा सकता है। साहस, श्रद्धा, ज्ञान इनमें से कुछ हैं।

२७. प्र—अवसाद के हमलों से कैसे बचा जाये?
उ—अवसाद पर ध्यान न दो और इस तरह काम करते जाओ मानों उसका अस्तित्व ही न हो।

२८. कठिनाइयों का पूर्व-दर्शन न करो। इससे उन्हें पार करने में मदद नहीं मिलती। इससे उन्हें आने में मदद मिलती है।

२९. कठिनाइयां हमेशा हमसे प्रगति करवाने के लिये आती हैं। कठिनाई जितनी बड़ी होगी, प्रगति उतनी ही बड़ी हो सकती है।
विश्वास रखो और सहन करो।

३०. व्यवस्था और सामंजस्य के बिना भौतिक जीवन नहीं हो सकता। जब यह व्यवस्था बदली जाये तो उसे आंतरिक विकास के आदेशानुसार बदलना चाहिये न कि बाहरी नयेपन के लिये। केवल निम्न प्राणिक प्रकृति का कुछ हिस्सा ही सदा बाहरी परिवर्तन, नयेपन के ही लिये नयेपन की चाह करता है।
सतत आंतरिक विकास द्वारा मनुष्य सतत नवीनता और जीवन में अक्षय रस पा सकता है। और कोई संतोषजनक उपाय नहीं है।

३१. जब तुम साधना करते हो तो बाहरी वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिये। आवश्यक आंतरिक शांति किन्हीं भी परिवेशों में स्थापित की जा सकती है।

————

भविष्य उन लोगों के लिये संभावनाओं से भरा होता है जो अपने-आपको उसके लिये तैयार करना जानते हैं।

श्रीमां

बच्चों की शिक्षा

आप कहती हैं कि मनुष्य को "यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि अंत में सत्य की विजय होगी।" परंतु यह दृढ़ विश्वास तो मनुष्य जो कुछ साधारण जीवन में सीखता है उससे बहुत भिन्न, और बहुधा उसके बहुत विपरीत प्रतीत होता है ?

हां। साधारण तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि प्रकृति में सभी वस्तुएं सर्वदा बुरे रूप में समाप्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन लोगों की कहानी जानता है जो अपने जीवन में महान् सफलता का उपभोग करने के बाद शोचनीय अंत को प्राप्त हुए, उन लोगों की कहानी जानता है जिनमें असाधारण क्षमताएं थीं और जिन्होंने अंत में उन्हें खो दिया; उस राष्ट्र की कहानी जानता है जो दीर्घकालतक एक अद्‌भुत सभ्यता का उदाहरण था—सभ्यता लुप्त हो जाती है और राष्ट्र एक ऐसी शोचनीय वस्तु में बदल जाता है कि कोई याद भी नहीं कर पाता कि वह पहले क्या था। ऐसा लगता है कि पृथ्वी का इतिहास ऐसी जीतों की कहानी है जिनके बाद हारें आती हैं, ऐसी हारों की कहानी नहीं जिनके बाद जीतें आती हैं।

परंतु वास्तव में जब कभी वैश्व और दिव्य वस्तुओं का प्रश्न उठता है विराट् दर्शन-शक्ति तथा दिव्य ज्ञानशक्ति की आवश्यकता होती है जिसमें यह जाना जा सके कि सत्य किस प्रकार अभिव्यक्त होता है। संसार में एक प्रकार की सामान्य निराशावादी दृष्टि है जो कहती है कि वस्तुएं अच्छे रूप में भले शुरू हों पर समाप्त बुरे रूप में ही होती हैं; वास्तव में दुर्बलता, धूर्तता, मिथ्याचार और दुष्टता ही वे चीजें हैं जो सर्वदा प्राधान्य प्राप्त करती प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि जिन लोगों ने संसार को अपने निजी व्यक्तिगत आयाम के अंदर देखा है उन्होंने कहा है कि संसार बुरा है और जितनी जल्दी संभव हो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिये और उससे बाहर निकल जाना चाहिये। गुरुओं ने यह शिक्षा तो दी है, परंतु उनकी शिक्षा केवल यही सिद्ध करती है कि उनकी दृष्टि अत्यंत संकीर्ण है तथा उनके मानवीय व्यक्तित्व के आयाम से सीमित है।

वास्तव में, प्रकृति की गतियां ज्वार-भाटे की तरह होती हैं : वे आगे बढ़ती हैं, फिर पीछे हटती हैं, आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं; इसका अर्थ होता है, वैश्व जीवन में और पार्थिव जीवन में भी, उतरोत्तर प्रगति, यद्यपि ऊपर से देखने में यह प्रगति पीछे के हटाव से कट जाती है। परंतु ये पीछे के हटाव केवल बाहरी रूप हैं, ठीक जैसे आदमी आगे कूदने के लिये पीछे हटता है। तुम पीछे हटते हुए प्रतीत होते हो पर वह केवल और आगे जा सकने के लिये होता है।

परंतु तुम मुझसे कहोगे कि यह सब तो बहुत ठीक है, पर एक बच्चे को यह विश्वास कैसे दिलाया जाये कि सत्य की विजय होगी ? कारण, जब वह इतिहास पढ़ेगा, जब वह प्रकृति का अवलोकन करेगा तो वह देखेगा कि वस्तुएं सर्वदा अच्छे रूप में समाप्त नहीं होतीं।[1]

[1] सन् १९६३ में, जिस समय यह वार्त्तालाप प्रकाशित हुआ, श्रीमाताजी ने आनुषंगिक रूप से निम्नांकित मंतव्य व्यक्त किया : "तो भी, मूलतः जबतक मृत्यु विद्यमान है वस्तुएं सर्वदा बुरे ढंग से समाप्त होती रहेंगी। जब मृत्यु पर विजय प्राप्त हो जायेगी अर्थात् जब नयी प्रगति करने के लिये 'निश्चेतना' में वापस जाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी—केवल तभी यह संभव होगा कि वस्तुएं बुरी तरह समाप्त न हों।

"विकास की, कम-से-कम पार्थिव विकास की, सारी प्रक्रिया इसी प्रकार की है (मैं नहीं जानती कि अन्य ग्रहों में यह कैसे होती है!) परंपराओं का कहना है कि विश्व की सृष्टि होती है, फिर वह प्रलय में खिंच जाता है, फिर एक नया विश्व आता है और इसी प्रकार चलता रहता है। और उनके मतानुसार हमारा यह सातवां विश्व होना चाहिये, और सातवां होने के कारण यह वह विश्व है जो प्रलय में वापस नहीं जायेगा बल्कि पीछे हटे बिना निरंतर प्रगति करता रहेगा। इसी कारण आज मानव-सत्ता में स्थायित्व की और अविच्छिन्न प्रगति की यह आवश्यकता विद्यमान है। यह इसलिये है कि समय आ गया है।"

बच्चों को जगत् में भागवत अभिव्यक्ति को देखना सिखाना चाहिये न कि उस पक्ष को जो बुरे तौर पर समाप्त होता है।

नहीं; यदि बच्चा यह समझे कि भगवान् जगत् से भिन्न हैं तो उसकी यह भावना कि प्रत्येक वस्तु बुरे रूप में समाप्त होती है, बिल्कुल उचित होगी।

बच्चों को भागवत न्याय की भावना देनी चाहिये।

परंतु उस विषय के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते, क्योंकि अभी जगत् जैसा है उसमें यह न्याय अभिव्यक्त नहीं होता।

फिर भी, यदि कोई जरा-सी गहराई के साथ वस्तुओं का निरीक्षण करे तो वह देखता है कि प्रगति हो रही है, वस्तुएं अधिक अच्छी, और अच्छी-से-अच्छी होती जा रही हैं, यद्यपि ऊपर से देखने में उनमें कोई सुधार नहीं होता। और कुछ ऊंचाई पर बैठी हुई चेतना के लिये यह बिल्कुल स्पष्ट होता है कि समस्त अशुभ—कम-से-कम हम जिसे अशुभ कहते हैं—समस्त मिथ्यात्व, जो कुछ 'सत्य' के विपरीत है वह सब, समस्त दुःख-कष्ट, समस्त बाधा-विरोध एक प्रकार के असंतुलन का परिणाम है। मैं समझती हूं कि जो व्यक्ति इस उच्चतर स्तर से वस्तुओं को देखने का अभ्यासी है वह तुरत देखता है कि बात ऐसी ही है। परिणामतः, विश्व किसी असंतुलन पर स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहुत समय पहले ही विलीन हो गया होता। हम अनुभव करते हैं कि विश्व के मूल में कोई परमोच्च 'संतुलन की स्थिति' अवश्य रही होगी, और संभवतः, जैसा कि हमने उस दिन कहा था, एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए संतुलन की अवस्था रही होगी, संतुलन की ऐसी अवस्था जो उस सबके ठीक विपरीत होगी जिसे हमें "अशुभ" कहना सिखाया गया है और जिसे हम यह नाम देने के अभ्यस्त हो गये हैं। कोई शुद्ध "अशुभ" नहीं है, बल्कि एक प्रकार का "अशुभ" है, कम या अधिक आंशिक असंतुलन है।

यह बात बहुत सरल ढंग से बच्चों को सिखायी जा सकती है। यह बात भौतिक वस्तुओं की सहायता से दिखायी जा सकती है कि कोई वस्तु संतुलित अवस्था में न होने पर गिर सकती है, जो वस्तुएं संतुलन की स्थिति में होती हैं केवल वे ही अपने स्थान और कालावधि को बनाये रख सकती हैं।

एक दूसरा भी गुण है जिसे बहुत छोटी उम्र से ही बच्चों में पैदा करना चाहिये : वह है व्याकुलता को, नैतिक अशांति को अनुभव करने का अभ्यास जिसे वह उस समय अनुभव करता है जब वह कोई काम कर डालता है, इसलिये नहीं कि उससे उसे न करने के लिये कहा गया था, इसलिये नहीं कि वह दंड से डरता है, बल्कि सहज-स्वाभाविक भाव से अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, एक बच्चा दुष्टतावश अपने एक साथी को चोट पहुंचाता है; अब, यदि वह अपनी सामान्य, स्वाभाविक स्थिति में है तो बेचैनी अनुभव करेगा, अपनी सत्ता की गहराई में दुःख अनुभव करेगा, क्योंकि उसने जो कुछ किया है वह उसके आंतरिक सत्य के विपरीत है।

कारण, समस्त शिक्षाओं के बावजूद, विचार-बुद्धि जिन सब चीजों को सोच-समझ सकती है उन सबके बावजूद, उसकी सत्ता की गहराई में कोई ऐसी चीज है जिसमें एक पूर्णता का, महानता का, सत्य का बोध है और इस सत्य का विरोध करनेवाली समस्त गतिविधियों के द्वारा उसका दुःखद रूप में खंडन किया गया है। यदि बच्चा अपनी परिस्थितियों के द्वारा, अपने चारों ओर के शोचनीय उदाहरणों

के द्वारा नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् यदि वह अपनी सामान्य अवस्था में है तो वह अपनी सत्ता के सत्य के विपरीत कोई बात करने पर, सहजभाव से, किसीके कुछ कहे बिना, एक प्रकार की बेचैनी अनुभव करेगा। और ठीक यही चीज है जिसपर आगे चलकर उसकी प्रगति का प्रयास आधारित होना चाहिये।

कारण, यदि तुम अपनी प्रगति का आधार बनाने के लिये किसी एक शिक्षा या किसी सिद्धांत को ढूंढ़ना चाहो तो तुम ऐसी कोई चीज कभी नहीं पाओगे—अथवा, अधिक यथार्थ रूप में कहा जाये तो, तुम कोई और ही वस्तु पाओगे, क्योंकि वातावरण, युग, सभ्यता के अनुसार दी हुई शिक्षाएं एक-दूसरे से एकदम विपरीत होती हैं। जब एक आदमी कहता है : "यह अच्छा है", तो दूसरा उसी युक्तितर्क तथा उसी प्रभावशाली शक्ति के साथ कहता है : "नहीं, यह बुरा है", परिणामतः, इस चीज के ऊपर निर्माण नहीं किया जा सकता। धर्म ने सर्वदा एक सिद्धांत स्थापित करने का प्रयास किया है। वह तुमसे कहेगा कि यदि तुम इस सिद्धांत का अनुसरण करो तो तुम सत्य में रहोगे और यदि न करो तो मिथ्यात्व में जा गिरोगे। परंतु ऐसी चीजें किसी परिणाम पर नहीं पहुंचातीं। उन्होंने केवल गड़बड़झाला ही उत्पन्न किया है।

बस एक ही सच्चा मार्गदर्शक है और वह है आंतरिक पथप्रदर्शक जो मानसिक चेतना के भीतर से नहीं गुजरता।

स्वभावतः ही, जब कोई बच्चा सर्वनाशी शिक्षा प्राप्त करता है तो वह अपने अंदर की इस नन्हीं-सी सच्ची सत्ता को बुझा देने का अधिकाधिक प्रयास करता है, और कभी-कभी तो वह इतना सफल हो जाता है कि उसके साथ अपना समस्त संपर्क खो देता है और साथ-ही-साथ भले-बुरे को पहचानने की शक्ति भी खो देता है। यही कारण है कि मैं इस चीज पर अधिक जोर देती हूं और यह कहती हूं कि अत्यंत छोटी अवस्था से ही बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि उनके अंदर, पृथ्वी के अंदर, विश्व के अंदर एक आंतर सत्य विद्यमान है, और इस सत्य की क्रिया के फलस्वरूप ही वे, यह पृथ्वी और यह विश्व अपना जीवन धारण करते हैं; यदि वह सत्य न होता तो बच्चा कभी न जीवित रहता, थोड़े समयतक जो वह जीता है उतना भी न जी पाता, और प्रत्येक चीज जैसे ही अस्तित्व में आती वैसे ही विलीन हो जाती। और चूंकि यही विश्व का सच्चा आधार है, इसलिये स्वभावतः इसीकी विजय होगी; और जो कुछ इसका विरोध करता है वह उतने दिन तक नहीं बना रह सकता जितने दिन यह बना रहता है, क्योंकि यह 'तत्' है, शाश्वत वस्तु है जो कि विश्व के मूल में विद्यमान है।

निस्संदेह, प्रश्न यह नहीं है कि बच्चे को दार्शनिक व्याख्याएं बतायी जायें, पर उसे भली-भांति यह अनुभूति दी जा सकती है कि जो अपने अंदर की इस नन्हीं, बहुत नीरव वस्तु का अनुसरण करने से इस प्रकार के आंतरिक सुख-संतोष और कभी-कभी तीव्र हर्ष का अनुभव कराती है, वही चीज उसे अपने विपरीत कोई कार्य करने से रोकेगी। इसी प्रकार के अनुभव पर शिक्षा आधारित हो सकती है। बच्चे के अंदर यह धारणा बैठा देनी चाहिये कि जबतक वह अपने अंदर यह सच्चा संतोष नहीं प्राप्त कर लेता जो एकमात्र स्थायी वस्तु है तबतक कोई चीज स्थायी नहीं हो सकती।

क्या कोई बच्चा एक वयस्क की तरह इस आंतरिक सत्य के प्रति सचेतन हो सकता है ?

बच्चे के लिये यह बिल्कुल स्पष्ट है, क्योंकि यह शब्द या विचार की किसी जटिलता से रहित एक प्रकार का बोध है—बस, वहां वह चीज होती है जो उसे चैन देती है और वह चीज होती है जो उसे बेचैन बनाती है (यह आवश्यक रूप से हर्ष या शोक नहीं है जो केवल तभी आते हैं जब बात बहुत तीव्र होती है)। और यह सब एक वयस्क की अपेक्षा बच्चे में बहुत अधिक सुस्पष्ट होता है, क्योंकि

वयस्क में सर्वदा ही मन होता है जो कार्य करता है और उसके सत्य-बोध को मेघाच्छन्न कर देता है।

बच्चे को सिद्धांत बतलाना एकदम निरर्थक है, क्योंकि ज्यों ही उसका मन जागृत होगा वह तुम्हारे सिद्धांतों को काटने के लिये हजारों युक्तियां खोज लेगा, और इस विषय में वह ठीक ही होगा।

बच्चे के अंदर की यह छोटी-सी सत्य वस्तु उसके चैत्य पुरुष में विराजमान भागवत उपस्थिति है—यह पौधों और जानवरों में भी होती है। पौधों में यह सचेतन नहीं होती, जानवरों में चेतन होना आरंभ करती है और बच्चों में बहुत सचेतन होती है। मैं ऐसे बच्चों से मिली हूं जो पांच वर्ष की अवस्था में अपने चैत्य पुरुष के विषय में अपनी १४ वर्ष की अवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक सचेतन थे, और १४ वर्ष में पच्चीस वर्ष की अपेक्षा अधिक सचेतन थे; और अधिकतर, जिस क्षण से बच्चे स्कूल जाते हैं जहां वे उस ढंग का तीव्र मानसिक प्रशिक्षण पाते हैं जो उनका ध्यान उनकी सत्ता के बौद्धिक अंश की ओर खींच ले जाता है, वे लगभग सर्वदा और लगभग पूर्ण रूप में अपने चैत्य पुरुष के साथ का यह संपर्क खो देते हैं।

यदि तुम केवल एक अनुभवी निरीक्षक होते, यदि तुम आंखों में ताककर बता सकते कि व्यक्ति के अंदर क्या हो रहा है! . . . ऐसा कहा जाता है कि आंखें अंतरात्मा का दर्पण हैं; यह एक बोलने का प्रचलित ढंग है, यदि आंखें तुम्हारे सामने चैत्य पुरुष को प्रकट नहीं करतीं तो इसका कारण यह है कि वह बहुत दूर पीछे की ओर है, बहुत-सी चीजों से ढका हुआ है। सावधानी के साथ छोटे बच्चों की आंखों में ताको और तुम एक प्रकार की ज्योति देखोगे—कुछ लोग उसे स्पष्टता या सरलता कहते हैं—पर इतनी सच, इतनी सच! वह संसार को आश्चर्य के साथ ताकता है। हां, आश्चर्य का यह भाव, चैत्य पुरुष का आश्चर्य है जो सत्य को देखता है पर संसार के विषय में बहुत नहीं समझता, क्योंकि वह इस संसार से बहुत दूर है। बच्चों में यह चीज होती है पर जैसे-जैसे वे अधिक सीखते हैं, अधिक बुद्धिमान बनते हैं, अधिक शिक्षित होते हैं, यह चीज लुप्त हो जाती है, और तुम उनकी आंखों में सभी प्रकार की चीजें देखते हो : विचार, कामनाएं, आवेग, दुष्टताएं आदि, —परंतु इस प्रकार की नन्हीं लौ, जो इतनी पवित्र होती है, अब वहां नहीं होती। और तुम निश्चित रूप से यह जान सकते हो कि वहां मन घुस आया है और चैत्य पुरुष बहुत दूर पीछे चला गया है।

जिस बच्चे में अभी समझ सकने योग्य पर्याप्त विकसित मस्तिष्क नहीं है उसकी ओर यदि तुम संरक्षण या स्नेह या उत्सुकता या संवेदना की एक तरंग भेजो तो तुम देखोगे कि वह भी प्रत्युत्तर देता है। परंतु तुम यदि, उदाहरणार्थ, एक चौदह वर्ष के लड़के को लो जो कॉलेज में पढ़ता है, जिसके माता-पिता सामान्य लोग हैं और जिसके साथ बुरा व्यवहार होता रहा है, तो उसका मन बहुत अधिक सामने की ओर होगा; उसमें कोई कठोर चीज होती है, चैत्य पुरुष पीछे की ओर चला जाता है। ऐसे लड़के तरंग का प्रत्युत्तर नहीं देते। हम कहेंगे कि वे काठ या पत्थर से बने हैं।

यदि बच्चे के अंदर आंतरिक सत्य, चैत्य पुरुष में विद्यमान भागवत उपस्थिति इतनी सचेतन है तब तो फिर यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चा एक छोटा-सा जानवर है—कहा जा सकता है क्या ?

क्यों नहीं? जानवरों में भी कभी-कभी बहुत तीव्र चैत्य सत्य विद्यमान रहता है। स्वभावतः ही, मैं समझती हूं कि एक पशु की अपेक्षा एक बालक में चैत्य पुरुष कुछ अधिक गठित, कुछ अधिक सचेत होता है। परंतु मैंने जानवरों के साथ, केवल जानने के लिये, परीक्षण किये हैं, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मनुष्यों में मैंने कुछ गुणों को बहुत शुद्ध, बहुत सरल गुणों को बहुत ही विरल लोगों में देखा है।

उन्हीं गुणों को मैंने पशुओं में देखा है, जैसे बिल्लियों में : मैंने बिल्लियों का बहुत अध्ययन किया है; यदि कोई उन्हें भली प्रकार जाने तो वे अद्‌भुत प्राणी हैं। मैंने ऐसी माता-बिल्लियों को देखा है जिन्होंने अपने बच्चों के लिये पूर्णतः अपने-आपको उत्सर्ग कर दिया—लोग इतने अधिक आदर के साथ मातृ-प्रेम की चर्चा करते हैं, मानों यह शुद्ध रूप में कोई मानवीय विशेषत्व हो। परंतु मैंने माता-बिल्लियों के अंदर साधारण मनुष्य की क्षमता के परे की मात्रा में इसे अभिव्यक्त होते हुए देखा है। मैंने एक माता-बिल्ली को देखा है जो तबतक अपना खाना कभी छूती भी नहीं थी जबतक कि उसके बच्चे अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण न कर लें। मैंने एक दूसरी बिल्ली को देखा है जो आठ दिन तक लगातार अपने बच्चों के पास, स्वयं अपनी कोई आवश्यकता पूरी किये बिना पड़ी रही, क्योंकि वह उन्हें अकेले छोड़ने से डरती थी; और एक बिल्ली अपने बच्चे को यह सिखाने के लिये कि एक दीवाल से एक जंगलेतक कैसे कूदना चाहिये, पचास बार से अधिक एक ही क्रिया दुहराती रही और मैं इतना और जोड़ दूं कि वह ऐसी सावधानी, बुद्धिमत्ता, कुशलता के साथ करती रही जो बहुत-सी शिक्षित औरतों में नहीं होती। और यह ऐसा क्यों था ?—क्योंकि वहां कोई मानसिक हस्तक्षेप नहीं था। यह एकदम स्वाभाविक सहजप्रवृत्ति थी। परंतु सहजप्रवृत्ति है क्या चीज ?—जाति-विशेष में विद्यमान भगवान् की उपस्थिति और वही है पशुओं का चैत्य; व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत चैत्य।

मैंने पशुओं में सभी प्रकार की भावात्मक, स्नेहात्मक, भावुकतापूर्ण प्रतिक्रियाओं को, सभी प्रकार की भावनाओं और बोधों को देखा है जिनके लिये मनुष्य इतना गर्व करते हैं। बस, अंतर इतना है कि पशु उनके विषय में बातें नहीं कर सकते और कुछ लिख नहीं सकते, इसलिये हम उन्हें निम्न कोटि के प्राणी मानते हैं, क्योंकि वे जो कुछ अनुभव करते हैं उनके बारे में पुस्तकों की बाढ़ नहीं ला देते।

जब मैं बच्चा था, यदि मैं कोई बुरी बात करता तो तुरंत बेचैनी का अनुभव करता और उसे फिर न करने का निर्णय करता। तब मेरे माता-पिता भी मुझसे उसे कभी न करने के लिये कहा करते। क्यों ? क्योंकि मैं स्वयं ही उसे कभी न करने का निश्चय कर लेता ?

बच्चे को कभी डांटना-फटकारना नहीं चाहिये। माता-पिताओं की बुराई करने के लिये मुझे दोष दिया जाता है ! परंतु मैंने उन्हें यह करते हुए देखा है, और हां, मैं जानती हूं कि नब्बे प्रतिशत माता-पिता उस बच्चे को डांटते-फटकारते हैं जो अपने-आप कोई भूल स्वीकार करने के लिये आता है; वे बच्चे की बात धैर्यपूर्वक सुनने के बजाय और उसे यह समझाने के बजाय कि उसका दोष क्या है और उसे कैसे कार्य करना चाहिये, कहते हैं : "तुम बड़े दुष्ट हो। चले जाओ, मुझे अभी फुरसत नहीं।" और बच्चा, जो कि अच्छी भावना के साथ आया था, बिल्कुल आहत होकर लौट जाता है और यह भावना लेकर जाता है कि "भला मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया ?" तब बच्चा यह देखता है कि मेरे माता-पिता पूर्ण नहीं हैं—जो बात स्पष्ट ही आज के दिन उनके विषय में सही है—वह देखता है कि वे गलत हैं और वह अपने-आपसे कहता है : "वह मुझे क्यों डांटते हैं, वह भी तो मेरे जैसे ही हैं।"

—श्रीमातृवाणी खंड ४ से

— — — —

ऐसा हो कि नया प्रकाश धरती पर फैले और मानव जीवन की अवस्था को बदल दे।

—श्रीमां

''भारतीय संस्कृति के आधार'' पर आधारित :

सिद्धांत

हम देख आये हैं कि एक होती है सामूहिक अर्थात् देशीय आत्मा और दूसरी है वैयक्तिक आत्मा। सामूहिक आत्मा वैयक्तिक आत्मा से इस रूप में भिन्न होती है कि वह बहुत सारी वैयक्तिक आत्माओं का समूह होने के कारण तथा अपने अंदर बहुत सारे सामूहिक परिवर्तनों को करने में समर्थ होने के कारण अधिक आत्मावलंबी होती है। उसमें निरंतर एक आंतरिक आदान-प्रदान चलता रहता है जो शेष मानवजाति के साथ आदान-प्रदान के सीमित रहने पर भी प्राण-शक्ति, विकास तथा विकसनशील क्रिया-कलाप को काफी समयतक बनाये रखने के लिये पर्याप्त हो सकता है। यूनानी संस्कृति ने—मिस्र तथा फिनीशिया और अन्य पूर्वीय देशों के प्रभावों तले विकसित होने के बाद—अ-यूनानी ''बर्बर'' सभ्यताओं से अपने-आपको एकदम से अलग कर लिया और वह कई शताब्दियोंतक समृद्धिशील परिवर्तनों तथा आंतरिक आदान-प्रदान के द्वारा अपने ही अंदर, आंतरिक रूप से जीवन-यापन करने में समर्थ हुई। प्राचीन भारत में भी हम इसी तरह की संस्कृति का दृष्टांत पाते हैं, वह चारों ओर की अन्य सभी संस्कृतियों से गहरा विभेद रखती हुई अपने ही अंदर सशक्त तथा सबल रूप से जीवन-यापन करती थी, आंतरिक आदान-प्रदान तथा परिवर्तन से इसकी जीवनी-शक्ति की समृद्धता अधिकाधिक बढ़ती गयी। चीन की सभ्यता इसी तरह के दृष्टांत का तीसरा उदाहरण है। लेकिन भारतीय संस्कृति ने कभी बाह्य प्रभावों का पूरी तरह से बहिष्कार नहीं किया; इसके विपरीत, भारत के अंदर ये महान् विशेषताएं, शक्तियां रही हैं कि वह बाह्य तत्त्वों को चुनावपूर्वक आत्मसात् कर सकता था, उन्हें अपने अधीन रखकर उन्हें रूपांतरित कर सकता था; उसने प्रत्येक बड़े तथा अभिभूत करनेवाले आक्रमण से अपनी रक्षा की लेकिन जिस किसी चीज ने उसे आकर्षित या प्रभावित किया उन चीजों का अपने अंदर समावेश कर लिया और समावेश करते समय उसने उस चीज को ऐसे विशिष्ट परिवर्तन में से गुजारा जिससे वह नया तत्त्व उसकी अपनी संस्कृति में ढलकर समस्वर हो गया। लेकिन आजकल के युग में उस तरह की कोई प्रबल पृथक्ता—जो प्राचीन सभ्यताओं की विशेषता थी—संभव नहीं रही; समस्त मनुष्यजाति एक-दूसरे के इतनी निकट आ गयी है कि वह चाहे या न चाहे, लेकिन लोगों के बीच एक तरह की अपरिहार्य जीवन-एकता स्थापित हो रही है। हमारे सामने आज एक अधिक कठिन समस्या उपस्थित है कि इस महत्तर परस्पर-क्रिया के दबाव के अधीन हम कैसे जीवन-यापन करें तथा इसके प्रभावों पर अपनी सत्ता का नियम कैसे लागू करें।

भारत अपनी वर्तमान स्थिति को देखकर तथा अपने अतीत की समृद्धि को याद करके अगर केवल इसी दुःख में डूबा रहे कि भारत क्या से क्या हो गया तो यह समस्या के समाधान से अधिकाधिक दूर हटकर जड़ता तथा निष्क्रियता में जा गिरना होगा। यह तो निश्चित है कि यूरोपीय आक्रमण से पहले हम जो थे उस स्थिति में अब पहुंचा नहीं जा सकता, और फिर से वही बन जाने का प्रयास करना या भविष्य में आधुनिक परिस्थिति तथा आवश्यकता के दावों की उपेक्षा करने का कोई भी प्रयत्न हमें पूर्ण असफलता की ओर ले जायेगा। बीच के उस युग की—जिसमें हम पश्चिमी दृष्टिकोण से अभिभूत थे—कुछ एक विशेषताओं पर हम चाहे जितना दुःख-शोक मनायें, या हम उस दृष्टिकोण से पीछे हटकर जगत् को देखने के अपने विशिष्ट तरीके की ओर चाहे कितना भी अग्रसर क्यों न हों, फिर भी हमारे अंदर इस बीच जो अनिवार्य परिवर्तन हो गया है उसके एक विशेष तत्त्व से छुटकारा नहीं पा सकते, ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य अपने जीवन के कुछ साल पहले जो वह था उस ओर लौटकर अपनी

अतीत की मनोवृत्ति को पूर्ण तथा अक्षुण्ण रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। समय तथा उसके प्रभाव न सिर्फ उसके ऊपर से गुजर गये हैं बल्कि उसे अपने साथ-साथ बहा कर अपनी धारा में आगे भी ले गये हैं। हम अपनी सत्ता के पुराने रूप की ओर नहीं लौट सकते लेकिन हम निःसंदेह आगे बढ़कर अपने-आपको अधिक व्यापक रूप में पुनः प्राप्त कर सकते हैं और अपनी इस प्रगति में हम बीच के उस अनुभव का अधिक जीवंत, अधिक वास्तविक, अधिक आत्मनिष्ठ रूप से प्रयोग करेंगे। हम आज भी अपने अतीत की महान् भावना तथा आदर्शों के मूल भाव के साथ विचार कर सकते हैं लेकिन हमारे चिंतन करने, हमारे बोलने, समझने का रूप इस तथ्य मात्र से बदल गया है कि नये विचार तथा अनुभव अस्तित्व में आ गये हैं; हम अपने आदर्शों को आज पुराने ही नहीं बल्कि नये प्रकाश में भी देखते हैं, हम अपने नये दृष्टिकोणों की बढ़ी हुई शक्ति द्वारा उनकी पुष्टि करते हैं, यहांतक कि हम जिन पुराने शब्दों का व्यवहार करते हैं वे भी हमारे लिये एक परिवर्तित, अधिक विस्तृत तथा अधिक समृद्ध अर्थ पा लेते हैं। और फिर यह बात भी सच है कि हम किसी संकुचित अर्थ में केवल "अपने-आप" ही नहीं बने रह सकते क्योंकि हमें अनिवार्य रूप से अपने चारों ओर के आधुनिक जगत् के बारे में जानना, उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होगा, नहीं तो हम जीवित ही नहीं रह सकते। और बाह्य चीजों को इस तरह समझना, जानना हमारी आंतरिक सत्ता में परिवर्तन लाता है, क्योंकि यह तो अनिवार्यतः सच है कि मेरा मन अपनी सत्ता के सभी भागों के साथ, जिस चीज का अवलोकन करता तथा क्रिया करता है, उसके द्वारा परिवर्तित हो जाता है, जब वह अपनी प्रेरणा के द्वारा कार्य करने की नयी प्रवृत्तियों की ओर जगता है तब परिवर्तित हो जाता है, यहांतक कि अगर वह किसी चीज का निषेध या खंडन करता है उस समय भी उसके अंदर परिवर्तन आ जाता है, मन की तरह मेरा जीवन भी, जीवन-संबंधी जिन प्रभावों का इसे सामना करना पड़ता है उनके द्वारा परिवर्तित होता ही रहता है। अंततः यह सच है कि हम आधुनिक जगत् के महान् प्रभावशाली विचारों तथा समस्याओं के साथ संबंध रखने से बच नहीं सकते। आधुनिक जगत् अबतक मुख्य रूप से यूरोपियन है, अर्थात् एक ऐसा जगत् है जिसपर अभीतक यूरोपीय मानसिकता तथा पाश्चात्य संस्कृति का आधिपत्य है। हम इस प्रधानता में सुधार करने, एशियाई तथा भारतीय संस्कृति के प्रभुत्व की पुनःस्थापना करने तथा इनकी सभ्यता के महान् मूल्यों को सुरक्षित रखने और उनको विकसित करने का दावा करते हैं लेकिन एशियाई तथा भारतीय मानस अपने प्रभुत्व को सफलतापूर्वक तभी स्थापित कर सकता है जब कि वह वर्तमान की समस्त समस्याओं का सामना करके एक ऐसा हल निकाले जो उसके अपने आदर्शों तथा अपनी भावना का समर्थन करे।

अतः, हमारा सिद्धांत है—अपनी मूल भावना, प्रकृति तथा आदर्शों के प्रति निष्ठा, नये युग तथा नयी परिस्थितियों में अपने विशिष्ट रूपों का सृजन लेकिन साथ-साथ बाह्य प्रभावों के साथ सबल तथा प्रभुता के साथ व्यवहार, यानी जिसका अर्थ केवल बहिष्कार करना नहीं बल्कि आत्मसात् करना भी है। इस प्रकार हमें संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र पर दृष्टिपात करना होगा और भारतीय मूलभाव और भारतीय आदर्श को दृष्टि में रखते हुए यह देखना होगा कि हम किस प्रकार क्रिया करके एक विजयशील भविष्य की ओर बढ़ सकते हैं।

—वंदना

— — — —

हे प्रभु, वर्ष का अंत हो रहा है और हमारी कृतज्ञता तेरे आगे झुक रही है।

—श्रीमां

१५ अगस्त १९२३

श्रीअरविंद ने १५ अगस्त १९२३ के बारे में कहा: पहले हम इस दिन को, मेरे भौतिक जन्मदिन को प्राणिक ढंग से मनाया करते थे। उसमें आंतरिक सत्य का बीज तो होता था किंतु अभिव्यक्ति प्राणिक ही हुआ करती थी। अब मैं चाहता हूं कि अगर यह दिन मनाया जाये तो वह उस सत्य के साथ मेल खाता हुआ हो जिसका यह प्रतीक है।

तुम सब उस अतिमानसिक सत्य के बारे में जानते हो जिसे हमारे जीवन में उतरना है। आज के दिन वह सत्य प्रतीक रूप लेता है लेकिन उसके नीचे आने में बहुत-सी बाधाएं हैं। पहले हैं मन और मानसिक भाव जो ऊपर से आते हुए सत्य को पकड़ कर अपने ही उद्देश्य के लिये उसका उपयोग करना चाहते हैं। उदाहरण के लिये प्राण या जीवनी-शक्ति को लो जो इस उच्चतर शक्ति को पकड़कर उसे अशुद्ध क्रियाओं में उंडेलना चाहते हैं। जो सत्य उतर रहा है वह मानसिक नहीं, अतिमानसिक है। उसके भली-भांति काम कर सकने के लिये जरूरी है कि सभी निचली शक्तियां अतिमानस भावापन्न हो जायें। निचली शक्तियां इस उच्चतर सत्य का उपयोग अपनी सामान्य निम्नतर गतिविधियों की तुष्टि के लिये करना चाहती हैं। जब मनुष्य जीवन के सुखों में लगा होता है या अपना जीवन अपने स्वार्थों को पूरा करने की तलाश में लगाये रहता है तो सचमुच उसमें और उसके द्वारा निम्नतर वैश्व शक्तियां ही सुख भोगती हैं।

यह उच्चतर शक्ति अपनी पूरी शुद्धि में काम कर सके इसके लिये जरूरी है कि आदमी ऊपर की महान् शक्ति की ओर खुल सके, अपने-आपको उसे सौंप सके और जो कुछ उच्चतर सत्य के रास्ते में आता है उसे हटा सके। समर्पण की क्षमता इन्हीं तीन चीजों पर निर्भर है।

मैं पिछले कई वर्षों से इसी काम में लगा हूं कि इन अड़चनों का सामना करके उन्हें हटाया जाये, रास्ता साफ और तैयार किया जाये ताकि काम तुम्हारे लिये बहुत ज्यादा कठिन न रहे। जहांतक मेरी मदद का सवाल है यह पूरी तरह निर्भर है तुम्हारी ग्रहणशक्ति पर, इस बात पर कि तुम कहांतक सहायता को ले सकते हो। लोगों का ख्याल है कि आज हर साधक को एक नयी अनुभूति होगी। यह निर्भर है सत्य को अपने अंदर ले सकने की तुम्हारी क्षमता पर। वास्तविक आध्यात्मिक समर्पण कोई और ही चीज है लेकिन अगर तुममें से किसीने जरा-सी मात्रा में उसकी हल्की-सी छाया भी पा ली तो १५ अगस्त का उद्देश्य पूरा हो गया।

१५ अगस्त १९२३

(श्रीअरविंद शाम के छह बजे बाहर आये।)

शिष्य—क्या हम आपकी साधना की वर्तमान स्थिति के बारे में कुछ जान सकते हैं?

श्रीअरविंद—(स्पष्ट धीमी आवाज में) मैं उसे स्थिति या हालत नहीं कह सकता, यह एक जटिल गति है। मैं इस समय अतिमानस को भौतिक चेतना में, भौतिक से भी नीचे लाने में लगा हूं। स्वभाव से ही भौतिक जड़ है और सचेतन नहीं होना चाहता। वह बहुत अधिक प्रतिरोध करता है और बदलने के लिये अनिच्छुक है।

वेद की भाषा में ऐसा लगता है कि जमीन की खुदाई हो रही है। यह सचमुच ऊपर के अतिमानस से नीचे के अतिमानस की ओर खोदना ही है। सत्ता सचेतन हो गयी है और ऊपर-नीचे की गति सतत

चलती रहती है। वेद इसे 'दो छोर' कहते हैं जो सर्प के सिर और पूंछ हैं। ये चेतना को घेरते और पूर्ण बनाते हैं। मैं देखता हूं कि जबतक जड़ द्रव्य का अतिमानवीकरण नहीं हो जाता तबतक मन और प्राण भी पूरी तरह अतिमानव नहीं बन सकते। इसलिये भौतिक को स्वीकारना और रूपांतरित करना होगा। मैं अतिमानस के उच्चतम स्तर को भौतिक चेतना में लाने की कोशिश कर रहा हूं। आंतर्भासिक मन की त्रिविध क्रियाओं के साथ मेल खाती हुई अतिमानस की तीन परतें हैं। पहली को मैं व्याख्यात्मक (इंटरप्रेटेटिव) अतिमानस कहता हूं। मैं इसे व्याख्यात्मक इसलिये कहता हूं कि जो मन के लोक में संभावना है वह अतिमानस में जाकर शक्यता बन जाती है। व्याख्यात्मक अतिमानस सब प्रकार की शक्यताएं तुम्हारे आगे रख देता है। जो घटनाएं भौतिक जगत् में घट सकती हैं, वह उनका मूल कारण तुम्हें दिखा देता है। जब अंतर्भास अपने समान अतिमानसिक रूप में बदलता है तो वह व्याख्यात्मक अतिमानस बन जाता है।

दूसरा है जिसे मैं प्रतिनिधि (रिप्रेजेंटेटिव) अतिमानस कहता हूं। वह शक्यताओं की वास्तविक गतिविधि का चित्रण करता है और यह दिखाता है कि क्या हो रहा है। जब अंतःप्रेरणा अतिमानसिक रूप में परिवर्तित होती है तो प्रतिनिधि अतिमानस का रूप धारण करती है। यह उच्चतम अतिमानस नहीं है। तुम कुछ क्रिया करनेवाली शक्यताओं को जान लेते हो और बहुत बार यह कह सकते हो कि क्या होगा या अमुक चीज कैसे हुई या हो सकती है लेकिन कोई निश्चितता नहीं होती। अंत में है अनिवार्य या आदेशात्मक (इंपेरेटिव) अतिमानस जो अंतःप्रकाश से मेल खाता है। यह हमेशा सत्य होता है और कोई चीज उसके विरुद्ध खड़ी नहीं रह सकती। यह अपनी अंतर्निष्ठ शक्ति से अपने-आपको परिपूर्ण करता हुआ ज्ञान है।

मुझे इन तीनों में भेद करना है और अनिवार्य अतिमानस को भौतिक में उतारने की कोशिश करनी है। इस तरह ऊपर और नीचे की सतत गति चलती रहती है। अब पूरी सत्ता सचेतन बन गयी है लेकिन अब जरूरत इस बात की है कि कोई शक्ति भौतिक पर आक्रमण न कर सके। दूसरी चीज होगी अंदर की चीजों पर अनिवार्य (आदेशात्मक) अतिमानस को लगाना और तीसरे उसे बाहरी चीजों पर प्रयोग में लाना। अभी, जो भी शक्ति शरीर पर आक्रमण करे उसे अतिमानसिक शक्ति से हटाकर दूर किया जा सकता है। लेकिन जब प्रक्रिया पूरी हो जायेगी तो कोई भी सचेतन विरोधी शक्ति शरीर पर आक्रमण कर ही न सकेगी। इन बातों में मैं एक विशेष कार्यक्रम का अनुसरण कर रहा हूं जो पांडिचेरी आने पर मेरे आगे रखा गया था।

शिष्य—फिर प्रश्न है भौतिक अमरता का।

श्रीअरविंद—हां, यदि शरीर उन्मुक्त बन जाये, उसपर कोई आक्रमण न हो तो उसे रखना या छोड़ना अपनी इच्छा पर होगा। व्यक्ति उसे त्यागने के लिये स्वतंत्र होगा। वास्तव में अनंत कालतक वही शरीर बनाये रखने के लिये बाधित होना बहुत उबाऊ और नीरस होगा।

शिष्य—क्या उदाहरण द्वारा मन और अतिमानस की प्राप्तियों का भेद समझाया जा सकता है?

श्रीअरविंद—मैं एक उदाहरण दे सकता हूं। जब मैंने मानसिक समता प्राप्त की तो महीनोंतक उसमें किसी चीज ने बाधा नहीं दी। यह शांकर मत की समता थी लेकिन असली आध्यात्मिक समता तो तब आती है जब आदेशात्मक अतिमानस का अवतरण होता है। शक्ति की आत्म-निश्चितता ही दिव्य समता लाती है।

पहले ज्ञान की इच्छा-शक्ति और ज्ञान संकल्प या यूं कहो शक्ति और अपने-आपको कार्यान्वित करनेवाले ज्ञान में फर्क करने में कुछ कठिनाई होती थी। अब वह नहीं है।

शिष्य—यह कार्य कब समाप्त होगा?

श्रीअरविंद—समय की कोई निश्चित सीमा नहीं हो सकती।

शिष्य—पिछली बार आप पर जो आक्रमण हुआ था वह कैसा था?

श्रीअरविंद—जब कभी मैं साधना के एक चरण को पार करनेवाला होता हूं तो सचेतन विरोधी शक्तियां आकर पहले सत्ता में कोई चीज उभारती हैं और मुझे दिखाकर कहती हैं, 'यह देखो, तुमने इसे नहीं जीता है।' वे आक्रमण भी कर सकती हैं।

शिष्य—क्या वेद में अतिमानस का विचार है?

श्रीअरविंद—हां, बहुत स्पष्ट है यद्यपि वैदिक ऋषियों ने आरोहण, उसकी ओर चढ़ने पर जोर दिया है, लौटने और निम्न प्रकृति को जीतने और उसे रूपांतरित करने पर नहीं।

शिष्य—क्या यह कहा जा सकता है कि भौतिक की विजय का विचार भी वेद में है?

श्रीअरविंद—हां, विचार निश्चित रूप से है।

शिष्य—क्या आप किसी ऐसे मनुष्य को जानते हैं जो अतिमानस को भौतिक स्तरतक उतार चुका हो?

श्रीअरविंद—नहीं, मैं नहीं जानता।

शिष्य—क्या गीता में अतिमानस को नीचे लाने पर जोर दिया गया है?

श्रीअरविंद—नहीं, वहां कर्म पर जोर है, अतिमानस पर इतना अधिक नहीं, इसके अतिरिक्त गीता में बहुत-सी चीजें हैं।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'सांध्य-वार्ताओं' से)

कुछ माताजी के बारे में :

विशाल दृष्टि

एक भागवत चेतना यहां उपस्थित है जो समस्त अभिव्यक्तियों के अंदर अपना मार्ग तैयार करती हुई सब लोगों के द्वारा काम कर रही है। आज इस पार्थिव भूमिका पर वह जितनी अधिक शक्ति के साथ काम कर रही है उतनी शक्ति से उसने पहले कभी नहीं किया था। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें किसी रूप में या कुछ परिमाण में इस चेतना का स्पर्श प्राप्त होता है; किंतु जो कुछ उन्हें प्राप्त होता है उसे वे विकृत कर डालते हैं, उसके अंदर से अपनी ही कोई चीज खड़ी कर लेते हैं। दूसरे ऐसे होते हैं जो इस स्पर्श का अनुभव तो करते हैं, किंतु उसकी शक्ति को नहीं सह सकते और उसके दबाव से पागल हो जाते हैं। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें इस शक्ति को ग्रहण करने की क्षमता और इसे सहने की ताकत होती है और यही लोग पूर्ण ज्ञान के पात्र, प्रभु के चुने हुए यंत्र और प्रतिनिधि होंगे।

यदि तुम्हें, जिस धर्म में तुम पैदा हुए या पले हो उसका वास्तविक मूल्य आंकना हो अथवा अपने देश या समाज को उसके यथार्थ रूप में देखना हो, यदि तुम्हें यह जानना हो कि जिस परिस्थिति में तुम जा पड़े हो या घिरे हुए-से हो वह कितनी सापेक्ष है तो केवल पृथ्वी-पर्यटन करके यह देख लो कि जिस चीज को तुम अच्छा समझते हो वही चीज दूसरी जगह बुरी समझी जाती है, और जो कुछ एक स्थान में बुरा समझा जाता है उसीका दूसरे स्थान पर अच्छा कहकर स्वागत किया जाता है। सभी देशों का और सभी धर्मों का जन्म अनेकविध परंपराओं और रूढ़ियों के समूह में से हुआ है। इन सभी में तुम्हें संत, शूर-वीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही-साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम यह अनुभव करोगे कि यह कहना कितना हास्यास्पद है : "चूंकि मैं इस धर्म में पला हूं, इसलिये

यही धर्म सच्चा है; चूंकि मैं इस देश में पैदा हुआ हूं, इसलिये यही देश सब देशों में उत्तम है।" इसी तरह का दावा अपने परिवार के विषय में भी किया जा सकता है और कहा जा सकता है : "चूंकि मैं एक ऐसे परिवार का हूं जो किसी स्थान में इतने वर्षों या शताब्दियों तक रहा है, इसलिये उसकी परंपराओं और रूढ़ियों से मैं बंधा हुआ हूं; केवल ये परंपराएं और रूढ़ियां ही आदर्श हैं।"

वस्तुओं का आंतरिक मूल्य तभी होता है और वे वास्तविक भी तभी होती हैं जब उन्हें अपने स्वतंत्र चुनाव के द्वारा प्राप्त किया जाये, तब नहीं जब वे थोपी गयी हों। यदि तुम अपने धर्म के बारे में निश्चित होना चाहो तो तुम्हें स्वयं उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने देश के बारे में निश्चित होना चाहो तो तुम्हें स्वयं उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने परिवार के बारे में निश्चित होना चाहो तो उसे स्वयं तुम्हें चुनना चाहिये। "संयोगवश" जो कुछ भी मिलता जाये, उसीको यदि तुम बिना छान-बीन के स्वीकार करते चलो तो तुम्हें इस बात का निश्चय कभी नहीं हो सकता कि वह वस्तु तुम्हारे लिये अच्छी है या बुरी, वह तुम्हारे जीवन के लिये सत्य है या नहीं। उन सभी चीजों से जो प्राकृतिक परिस्थितियों अथवा विरासत में मिली वस्तुओं के रूप में तुम्हारे इर्द-गिर्द जमा हो गयी हैं, जो प्रकृति की अन्य यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा बनी और तुमपर जबरन लाद दी गयी हैं, किनारा करो; अपने अंतर में प्रवेश करो और वस्तुओं को शांत और अनासक्त होकर देखो। उनका मूल्य आंको और स्वतंत्र रूप से चुनो। तभी तुम अपने आंतरिक सत्य के साथ यह कह सकोगे : "यह मेरा परिवार है, यह मेरा देश है, यह मेरा धर्म है।"

यदि हम अपने अंदर की गहराई में थोड़ी दूरतक भी उतरें तो हमें पता लगेगा कि हममें से हर एक के अंदर एक ऐसी चेतना है जिसका अस्तित्व अनंतकाल से चला आ रहा है और जो अपने-आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करती आयी है। हममें से हर एक भिन्न-भिन्न देशों में जन्म ले चुका है, हमारे भिन्न-भिन्न राष्ट्र रहे हैं, हमने भिन्न-भिन्न धर्मों का अनुसरण किया है। तो हमें अंतिम को ही सर्वोत्तम क्यों मान लेना चाहिये ? इन सब जन्मों में विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मों द्वारा हमने जिन अनुभवों का संग्रह किया है वे हमारी चेतना की उस आंतरिक निरवच्छिन्नता में, जो प्रत्येक जन्म में हमारे साथ लगी हुई है, जमा रहते हैं। हमारे इन भूतकाल के अनुभवों द्वारा रचे गये अनेक व्यक्तित्व वहां रहते हैं और जब हमें अपने अंदर रहनेवाले इस समूह का ज्ञान होता है तो सत्य के किसी विशेष रूप को ही एकमात्र सत्य, किसी एक देश को ही अपना एकमात्र देश और किसी एक धर्म को ही एकमात्र सत्य धर्म कहना असंभव हो जाता है। ऐसे लोग हैं जो पैदा तो किसी एक देश में होते हैं, किंतु उनकी चेतना के मुख्य तत्त्व स्पष्ट रूप से किसी दूसरे देश के होते हैं। यूरोप में जन्मे हुए कुछ ऐसे लोगों से मेरी भेंट हुई है जो अत्यंत स्पष्ट रूप से भारतीय थे; ऐसे लोग भी मुझे मिले हैं जो जन्मे तो भारतीय शरीर को लेकर, किंतु थे स्पष्ट रूप से यूरोपियन। जापान में मेरी ऐसे लोगों से भेंट हुई है जिनमें कुछ तो भारतीय थे और कुछ यूरोपियन। और ऐसे लोगों में से यदि कोई किसी ऐसे देश में चला जाये अथवा किसी ऐसी सभ्यता में प्रवेश करे जिसके साथ उसका मेल है तो वह यह अनुभव करेगा मानों वह अपने ही घर में हो।

यदि तुम्हारा लक्ष्य मुक्त होना, "आत्मा" की मुक्ति को प्राप्त करना है तो तुम्हें उन सब बंधनों का त्याग करना चाहिये जो तुम्हारी सत्ता के आंतरिक सत्य नहीं हैं, बल्कि अवचेतना की आदतों के कारण पैदा होते हैं। यदि तुम अपने-आपको पूर्ण, निरपेक्ष और अनन्य भाव से भगवान् के अर्पण करना चाहते हो तो संपूर्ण रूप से करो; अपनी सत्ता के टुकड़ों को इधर-उधर बंधा न रहने दो। शायद तुम आपत्ति करो कि अपने बंधनों को संपूर्ण रूप से काट डालना सहज नहीं है ! परंतु क्या तुमने अपने भूतकाल की ओर दृष्टिपात नहीं किया और यह नहीं देखा कि इन थोड़े-से वर्षों में ही तुम्हारे अंदर कितने परिवर्तन हुए हैं। इस तरह पीछे देखते समय प्रायः हमेशा तुम अपने-आपसे पूछते हो कि यह कैसे हुआ कि तुमने इस तरह अनुभव किया या अमुक परिस्थितियों में इस तरह काम किया। कभी-कभी अपने दस साल

पहले के रूप को तुम पहचान भी नहीं सकते। तो फिर, जो कुछ था या है उसके साथ तुम अपने-आपको बांध कैसे सकते हो अथवा पहले से ही यह कैसे नियत कर सकते हो कि भविष्य में क्या होगा और क्या नहीं ?

तुम्हारे सब संबंध चुनाव की आंतरिक स्वतंत्रता के आधार पर नये सिरे से स्थापित होने चाहियें। ये परंपराएं जिनमें तुम पले हो या रहते हो, वे परिस्थिति के दबाव द्वारा या सर्वसाधारण मन द्वारा अथवा दूसरों की रुचि द्वारा तुमपर लादी गयी हैं। तुमने एक प्रकार से बाध्य होकर ही इन्हें स्वीकारा है। स्वयं धर्म भी मनुष्यों पर लादी हुई चीज ही है; इसे प्रायः कोई धार्मिक भय अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकार की विभीषिका का भाव पीछे से सहारा दिये रहता है। भगवान् के साथ तुम्हारे संबंध में इस प्रकार के आरोपण का कोई स्थान नहीं हो सकता; यह संबंध सर्वथा स्वतंत्र रूप से तुम्हारे मन और प्राण की पसंदगी के अनुसार उत्साहपूर्ण तथा आनंद से भरा होना चाहिये। वह कैसा एकत्व होगा जिसमें व्यक्ति कांपे और कहे : "मैं बाध्य होकर कर रहा हूं, मेरे पास और उपाय ही नहीं है ?" सत्य स्वतःसिद्ध है और उसे जगत् पर लादने की आवश्यकता नहीं। उसे मनुष्यों के द्वारा स्वीकारे जाने की आवश्यकता नहीं मालूम होती; वह स्वतःस्थित है, वह अपने बारे में लोगों की राय या उनके समर्थन के कारण नहीं जीता। परंतु जो धर्म की स्थापना करता है उसे बहुत-से अनुयायियों की आवश्यकता होती है। लोग किसी धर्म की ताकत और महानता को उसके अनुयायियों की संख्या को देखकर नापते हैं, यद्यपि असली महानता उसमें नहीं है। आध्यात्मिक सत्य की महानता संख्या पर निर्भर नहीं होती। मेरा एक नवीन धर्म के अधिपति से, जो उस धर्म के संस्थापक का पुत्र था, परिचय था। मैंने उसे एक बार यह कहते हुए सुना कि अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ वर्ष लगे हैं और अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ, किंतु पचास वर्ष के अंदर ही हमारे धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। "सो आप देखती हैं," उसने कहा, "हमारा धर्म कितना महान् है !" धर्म भले ही अपनी महानता को अनुयायियों की संख्या के परिमाण में कूता करें, किंतु "सत्य" का यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह "सत्य" ही रहेगा। औसत मनुष्य बड़े-बड़े दावे करनेवालों के प्रति आकर्षित हो जाता है। वह उधर नहीं जाता जहां शांत भाव से "सत्य" की अभिव्यक्ति हो रही हो। बड़ी-बड़ी बातें बनानेवालों को ही ढिंढोरा पीटने और विज्ञापन देने की आवश्यकता होती है; क्योंकि इसके बिना वे लोगों को बड़ी संख्या में आकर्षित नहीं कर सकेंगे। जो इस बात की परवाह किये बिना कार्य किये जाता है कि लोग इसके संबंध में क्या कहेंगे, वह इतना विख्यात नहीं होता, इतनी आसानी से जन-समुदाय को अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। परंतु "सत्य" को किसी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं, वह अपने-आपको छिपाता नहीं, पर अपना ढिंढोरा भी नहीं पीटता। वह अपनी अभिव्यक्ति से ही संतुष्ट रहता है, परिणामों की ओर से वह बेपरवाह रहता है, उसे न तो स्तुति की खोज होती है, न वह निंदा से भागता है। संसार उसे स्वीकार करे तो वह आकर्षित नहीं होता, और अस्वीकार किये जाने पर विचलित नहीं होता।

जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें मन के महल और प्राण की मचानों के ढाए जाने के लिये तैयार रहना चाहिये, तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिये तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व को और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बंधनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिंता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसीका चिंतन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसीमें तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुंह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वही है; वह है स्वयं "भगवान्"।

विरोधी शक्ति

जब किसी सत्ता पर किसी विरोधी शक्ति का अधिकार हो तो उसके चैत्य पुरुष का क्या होता है ?

यह अधिकार की अवस्था पर निर्भर है। साधारणतः, यह एक क्रमशः बढ़नेवाली चीज होती है। पहले एक प्रभाव होता है जिसके आगे आदमी झुक जाता है, लेकिन थोड़ा-थोड़ा करके झुकता है, अपनी सत्ता में पूरी तरह भी नहीं, कुछ हिस्सों में और कुछ समय के लिये। यह पहली स्थिति है। दूसरी स्थिति में प्रभाव स्थायी हो जाता है और सत्ता का एक भाग भ्रष्ट हो जाता है और वह हमेशा इस प्रभाव के आगे झुकता रहता है और उसे अभिव्यक्त करता है। उसके बाद जिस सत्ता ने यह प्रभाव डाला है वह इस भाग में प्रवेश करने की कोशिश करती है। साधारणतः, इससे संघर्ष पैदा होता है, एक प्रकार का आंतरिक युद्ध होता है। आदमी पर संकट आते हैं, कभी-कभी स्नायविक वीभत्स दौरे आते हैं। प्रतिरोध के प्रयास में दोनों भागों में सदा संघर्ष चलता है जिससे बड़ा असंतुलन, यहांतक कि शारीरिक असंतुलन भी पैदा हो जाता है। लेकिन अगर व्यक्ति प्रतिरोध करना न जानता हो, उस पकड़ को हटा देने में सफल न हो, तो धीरे-धीरे वह सत्ता, जिसने व्यक्ति के एक भाग पर कब्जा कर लिया है, शोषक भुजाओंवाले अष्टभुज जंतु की तरह अपनी भुजाओं को धीरे-धीरे सब जगह फैला देता है और अंत में पूरा-पूरा अधिकार कर लेता है। पूरे अधिकार के समय या तो शक्तिग्रस्त व्यक्ति पूरी तरह असंतुलित हो जाता है या वह एक प्रकार का पिशाच बन जाता है और चैत्य पुरुष उसे छोड़ जाता है।

सौभाग्यवश, ऐसे उदाहरण विरल ही होते हैं। साधारणतः, मनुष्य में अंतरात्मा प्रतिरोध करने के लिये काफी मजबूत होती है और बहुधा हमें ऐसे उदाहरण ही मिलते हैं कि जिनमें अगर चैत्य काफी मजबूत न हो और अपने से अधिक बड़ी शक्ति का सहारा लेना न जानता हो, इस प्रभाव को निकाल देने और अपने-आपको मुक्त करने में समर्थ न हो जाये, तबतक दोनों भागों में सतत संघर्ष चलता रहता है। पूर्ण भूत-बाधा के चरम उदाहरणों में ही चैत्य व्यक्ति को छोड़कर चला जाता है। ऐसे उदाहरण बहुत ही विरल होते हैं, बहुत ही विरल। कभी-कभी मृत भ्रूण जन्म लेता है, यानी, ठीक जन्म के समय या उसके कुछ मिनटों बाद बच्चा मर जाता या फिर दो-एक घंटे में, बस, उसी समय। ऐसे उदाहरणों में होता यह है कि चैत्य पुरुष इस शरीर का उपयोग न करने का निश्चय कर लेता है। लेकिन, उदाहरण के लिये, अगर जच्चे-बच्चे की देख-रेख करनेवाला डॉक्टर होशियार हो या नर्स होशियार हो और कृत्रिम श्वास या ऐसे उपायों द्वारा जान वापिस ले आये तो बहुधा विरोधी सत्ता शरीर पर अधिकार कर लेती है। ऐसे उदाहरण हैं, जो बच्चे मरे हुए मालूम होते थे, यानी, जिनका चैत्य शरीर छोड़ गया था, उनके पूरी तरह मरने से पहले, कोई प्राणिक सत्ता उस शरीर में घुस गयी और उसका स्थान ले लिया। ऐसे उदाहरण ज्ञात हैं। और ये सत्ताएं शैतान होती हैं। जीवन में वे सचमुच शैतान बन जाते हैं। ऐसे बहुत नहीं हैं।

प्राण-जगत् की कुछ सत्ताएं हैं जो जरा उच्चतर स्तर की हैं, उदाहरण के लिये, जो असुर का अंश हैं, जिन्होंने किसी-न-किसी कारण परिवर्तित होने के लिये प्रयत्न करने का, भगवान् का विरोधी न रहने का, भगवान् के साथ संपर्क पैदा करने का निश्चय किया है। वह सत्ताएं जानती हैं कि इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि वे किसी मानव शरीर के साथ तादात्म्य साध लें, ताकि किसी चैत्य पुरुष के अधिकार में रह सकें। वे मानव शरीर में अवतार लेती हैं, परंतु चैत्य को भगाने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उसके विपरीत, चैत्य पुरुष के प्रभाव की अधीनता स्वीकार करके उसके द्वारा परिवर्तित होने के

लिये। ऐसे उदाहरण भी बहुत नहीं होते, फिर भी पाये जाते हैं। ऐसे उदाहरणों में इन लोगों में विलक्षण क्षमताएं होती हैं, लेकिन सामान्यतः उनमें अपवादिक कठिनाइयां भी होती हैं, क्योंकि उनके अंदर जिस शक्ति ने अवतार लिया है वह अब भले वैसी न हो, पर कम-से-कम अभीतक तो विरोधी शक्ति रही है; और विद्रोह की गतिविधियों से तुरंत पिंड छुड़ाना कठिन होता है, समझे; कभी-कभी इसमें सफलता पाने में पूरा जीवन लग जाता है।

इनमें से कुछ आसुरिक शक्तियों ने अपने-आपको बदलने की कोशिश की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्हें अपने चुने हुए शरीर को छोड़ देना चाहिये था, क्योंकि वे अपने-आपको बदल नहीं सकीं। यह काम उनके लिये बहुत अधिक कठिन था, वह बहुत अधिक प्रयास की मांग करता था।

लेकिन ये सब उदाहरण, जिनके बारे में मैंने अभी कहा है, बहुत विरल होते हैं, समझे। हम यह नहीं कह सकते कि ऐसी बातें होती हैं और हर मोड़ पर मिल जाती हैं : यह सज्जन असुर का अवतार है या वह दूसरा भूत-बाधाग्रस्त है। ऐसे उदाहरण बहुत, बहुत विरल होते हैं।

लेकिन, दुर्भाग्यवश, विरोधी शक्तियों का प्रभाव बहुत होता है, उनके प्रभाव में आने और उसे अभिव्यक्त करने की घटनाएं बहुत होती हैं और विशेष रूप से उन लोगों में जो पहले से काफी शुद्धि किये बिना योग शुरू कर देते हैं; या अहंकारपूर्ण इरादों से योग आरंभ करते हैं। जो लोग महत्त्वाकांक्षा या घमंड के कारणों से योग शुरू करते हैं उनके साथ यह बहुत बार होता है कि वे अपने-आपको कुछ विरोधी शक्तियों के प्रभाव के अधीन कर देते हैं।

और ऐसे लोग भी हैं जो एक तरह से . . . इसे कैसे कहा जाये ? . . . किसी प्रभाव के अधीन होते हैं, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता, लेकिन . . . उदाहरण के लिये, कुछ अंतरात्माएं होती हैं जो जन्म लेने के लिये अमुक प्रकार का वातावरण चुनती हैं, क्योंकि उनके ख्याल से वहां उन्हें वे अनुभव मिल सकेंगे जो वे चाहती हैं। किन्हीं परिस्थितियों के कारण उस वातावरण में कोई विरोधी प्रभाव क्रियाशील होता है; अतः वे जिस शरीर को अपनाती हैं वह किसी हदतक विरोधी प्रभाव में होता है और उन्हें सारे जीवन घोर संघर्ष करना पड़ता है। वे किसी समय-विशेष पर, जैसा कि मैंने कहा—अगर वे अपने से ज्यादा बड़ी शक्ति पर निर्भर रहना जानें—तो वे जीत सकती और बहुत बड़ी विजय पा सकती हैं। विरोधी शक्तियों के प्रभाव से पिंड छुड़ा सकना बहुत बड़ी विजय है। यह सचमुच एक ऐसी विजय है जो आदमी के अपने व्यक्तित्व के पार जाती है और उसका समस्त धरती के वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अपने ऊपर प्रभाव डालनेवाली विरोधी शक्ति पर व्यक्ति की विजय उस दिन की ओर एक बड़ा कदम है जब धरती पूरी तरह से विरोधी शक्तियों के अस्तित्व से मुक्त होगी। यह धरती के लिये एक बड़ी प्रगति का प्रतीक है।

मधुर मां, विरोधी शक्तियों को कैसे परिवर्तित किया जा सकता है ?

अगर वे चाहें तो क्यों नहीं बदल सकतीं ? सारे विश्व में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका एकमात्र वही स्रोत न हो, यानी, वही परम स्रोत, और सभी चीजों की तरह विरोधी शक्तियों का भी वही स्रोत है। अगर वे अपना विद्रोह छोड़ दें, अपना अलगाव छोड़ दें, और अपने मूल स्रोत की ओर वापिस जाने की अभीप्सा करें तो वे भी निश्चय ही बदल सकती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य को अपने दोषों को बदलने के लिये जितने प्रयास की जरूरत होती है उससे उन शक्तियों को बहुत ज्यादा प्रयास की जरूरत हो सकती है। बहुत ज्यादा प्रयास की जरूरत होगी, साथ ही बहुत गहरे प्रयास की, क्योंकि उनके विद्रोह की जड़ें ऊपरी नहीं, गहरी होती हैं। पर, फिर भी, वे बदल सकती हैं। उनमें शक्ति भी

होती है। यह बहुत शक्तिशाली सत्ताएं होती हैं जो अगर बदलने का निश्चय कर लें तो बदल सकती हैं और भगवान् के काम के लिये अद्‌भुत यंत्र बन सकती हैं। वही सत्ताएं जो बहुत अधिक विरोधी थीं, वही अद्‌भुत यंत्र बन सकती हैं।

मैं किसीको तलाश कर रही हूं जिसने कहा था कि उसे कोई प्रश्न पूछना है। वह सुजाता है। कहां बैठी है वह ? दुनिया के उस छोर पर ! मैं उसकी आवाज कभी न सुन पाऊंगी। तुम्हें क्या पूछना था ?

मधुर मां, क्या मैं आपसे एक और प्रश्न पूछ सकती हूं ? क्या मानसिक असंतुलन का भी यही कारण होता है ? (पवित्र दोहराते हैं :) क्या मानसिक असंतुलन का भी यही कारण होता है ?

बहुत बार, पर हमेशा नहीं। मानसिक असंतुलन और भी बहुत-से कारणों से हो सकता है। उनमें से एक यह भी हो सकता है कि दिमाग की बनावट में कुछ दोष हो, मस्तिष्क में अपर्याप्तता हो। यह भी कहा जा सकता है कि मस्तिष्क की यह अपर्याप्तता किसी आंतरिक प्राणिक असंतुलन की अभिव्यक्ति हो सकती है। मस्तिष्क की अपर्याप्तता साधारणतः, आनुवंशिक होती है या अवयव की खराबी होती है, फिर भी . . . यानी, ऐसी चीज जो गर्भ-धारण के समय ही पैदा होती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसी अतिरिक्त प्रभाव के कारण है : यह कोई ऐसा प्रभाव था जिसने जन्म से पहले ही क्रिया की थी और यह जरूरी नहीं है कि जो इस मानसिक असंतुलन का शिकार है वह किसी विरोधी प्रभाव की सीधी अधीनता में है। यह किसी कुरचना का परिणाम हो सकता है।

जब लोग अपने मन में विभक्त होते हैं, अपने मन के एक भाग में सत्य और रूपांतर के लिये अभीप्सा करते हैं और एक दूसरे भाग में इन चीजों को नहीं चाहते, केवल प्रतिरोध ही नहीं, बल्कि विद्रोह करते हैं—और यह बहुधा होता है—तो इससे दिमाग में भयंकर आंतरिक संघर्ष पैदा हो जाता है। यह पहले मानसिक होता है, फिर मस्तिष्कीय। इसकी वजह से गंभीर मानसिक असंतुलन हो सकता है।

ऐसे उदाहरण हैं जिनमें निश्चित रूप से किसी गलत सुझाव, विरोधी प्रभाव की ओर उद्‌घाटन के कारण, जो उद्‌घाटन किसी गलत गतिविधि—विद्रोह, घृणा या किसी तीव्र कामना की गतिविधि—के परिणामस्वरूप होता है। किसी गलत गति के कारण—उदाहरण के लिये, क्रोध के कारण—आदमी किसी विरोधी शक्ति के प्रति खुल सकता है और अपने अंदर एक ऐसा प्रभाव ला सकता है जिसका परिणाम हो भूत-बाधा। अगर सत्ता में एक भाग सचेतन हो और गलत गति और प्रभाव से पिंड छुड़ाने की प्रबल इच्छा हो तो, आरंभ में इन चीजों को ठीक करना अपेक्षया अधिक सरल होता है। अगर अभीप्सा सच्ची और निष्कपट हो तो अपेक्षया सफलता ज्यादा आसान होती है, लेकिन अगर तुम उसपर आत्म-संतोषभरी नजर डालो और अपने-आपसे कहो : "आह, चीज ऐसी ही है, यह और तरह हो ही नहीं सकती," तो बात खतरनाक हो जाती है। तुम्हें शत्रु को अपने अंदर कभी न बरदाश्त करना चाहिये। जैसे ही उसकी उपस्थिति का पता लगे, उसे उठाकर बहुत दूर, जितनी हो सके उतनी दूर, निर्ममता के साथ फेंक दो।

—श्रीमां

विष्णु दिगंबर

भगवान् की लीला बड़ी मजेदार होती है। कभी लगता है कि आदमी का सब कुछ छिन गया लेकिन उसके पीछे भागवत करुणा काम करती है और उसके पास जो कुछ था, जो कुछ हो सकता था, उससे भी ज्यादा मिल जाता है। कोई लगभग अंधा हो जाये और आप कहें, भगवान् की बड़ी कृपा है तो कैसा लगेगा ? लेकिन कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है। यहां ऐसी ही एक कहानी सुनिये।

पूना से लगभग डेढ़-सौ मील दूर एक छोटे-से गांव बुसंदवाड़ में एक ब्राह्मण परिवार में एक लड़के का जन्म हुआ। इस अवसर पर न बाजे बजे न उत्सव हुआ। लड़का बाप की कथा-वार्ता सुनता हुआ, कीर्तन में भाग लेता हुआ बड़ा होता जा रहा था। बाप स्वप्न ले रहा था कि मेरा बेटा पढ़-लिखकर क्लर्क बाबू बनेगा। पैसा कमायेगा और प्रतिष्ठा पायेगा। लेकिन भाग्य में तो उसके लिये कुछ और ही लिखा था।

एक दिन आतिशबाजी छोड़ते हुए उसका मुंह झुलस गया और आंखों में घाव हो गया। आंखों के बिना जीवन तो अंधकारमय होता ही है। इस घटना से बच्चे का जीवन ही नहीं, सारे परिवार का जीवन अंधकारमय हो गया। आसपास के डॉक्टरों को दिखाया। मुंह के घाव तो ठीक हो गये पर आंखों का कष्ट दूर न हुआ। बालक देख तो सकता था पर अधिक नहीं। बाप की यह महत्त्वाकांक्षा कि उसका बेटा क्लर्क बाबू और फिर छोटा-मोटा अफसर बने, अभी से ही खतम होती दीख रही थी।

इस गांव के राजा ने बालक विष्णु को अपने मित्र मिरज के राजा के यहां भेज दिया जहां ज्यादा अच्छा इलाज होने की संभावना थी। मिरज के राजा वस्तुतः बुसंदवाड़ के राजा के संबंधी लगते थे। उन्होंने बालक विष्णु को अपने बच्चे की तरह रखा, अच्छे-से-अच्छे डॉक्टरों से चिकित्सा करवायी लेकिन लाभ कुछ न हुआ। बाप का पेशा अपनाकर कीर्तन करने के लिये भी तो आंखें चाहियें। विष्णु न कीर्तनकार बन सकता था न अफसर। सबको उसकी चिंता सताने लगी।

विष्णु चिकित्सा के लिये डा० भड़भड़े के घर जाया करता था और कभी-कभी उनके यहां गा भी लेता था। भड़भड़े इसके गाने से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा, इतनी सुरीली और बुलंद आवाज कम ही सुनायी देती है। उन्होंने विष्णु के पिता से कहा, "इसे तो आप गायक ही बनाइये।"

पिता मान गये और डॉक्टर की सिफारिश से मिरज महाराज की स्वीकृति भी मिल गयी। उन दिनों यह मामूली बात न थी। नाच-गान का पेशा बहुत नीचा समझा जाता था और इस पेशे के लोगों को समाज में कोई स्थान न मिलता था।

मिरज महाराज के कहने से उनके दरबारी गायक बालकृष्ण बुवा इचलकरंजीकर ने विष्णु को संगीत सिखाना स्वीकार कर लिया। बुवा ग्वालियर घराने के बहुत बड़े गायक थे। विष्णु को गुरु-सेवा के लिये उनके घर का काम-काज भी करना पड़ता था। रोज दो-तीन घंटे पदों को याद करने में और रियाज करने में लगते थे, तीन घंटे गले को साधने के लिये और दो-तीन घंटे गुरु के साथ बैठकर गान सीखने में। आगे चलकर वह रोज तेरह-चौदह घंटे परिश्रम किया करते थे। संगीत के आधुनिक विद्यार्थी चौदह दिन में एक घंटा काम करके अपने-आपको निपुण समझने लगते हैं।

इन दिनों में विष्णु ने देखा कि गायक चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, समाज उसे नीची दृष्टि से ही देखता है। मिरज में और आसपास जब कोई समारोह होता था तो सब बड़े लोगों को निमंत्रण मिला करता था पर दरबारी गायक होते हुए भी बुवा की कहीं पूछ न होती थी। यह बात उसके किशोर मन को बहुत खटकी और उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह इस स्थिति के विरुद्ध युद्ध करेगा और गायकों को समाज में सम्मानित करवाकर रहेगा।

इन्हीं दिनों दो-एक समारोह ऐसे हुए जिनमें विष्णु दिगंबर को तो राजा के साथ संबंध के नाते बुलाया गया पर उनके गुरु की उपेक्षा की गयी। यह सहना उनके लिये मुश्किल हो गया। इससे गुरु-शिष्य के संबंध में भी दरार पड़ने की संभावना थी। संगीत तो काफी सीख ही लिया था, उन्होंने सोचा, चलो अब अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ किया जाये।

राजा की स्वीकृति मिलने की तो आशा न थी इसलिये एक दिन विष्णु दिगंबर चुपके-से खिसक पड़े और औंध तथा सातारा की यात्रा की। वहां गाकर इन्होंने अपनी पहली आमदनी की और वहां से बड़ौदा जा पहुंचे। बड़ौदा योग्य व्यक्तियों के लिये चुम्बक था। वहां के राजा-रानी बहुत प्रगतिशील उदार विचारों के थे परंतु प्रश्न यह था कि दरबार तक पहुंच कैसे हो ?

धुन के पक्के लोगों के मार्ग में कठिनाइयां तो बहुत आती हैं पर उनका बस नहीं चलता। विष्णु दिगंबर ने एक राम-मंदिर में डेरा डाला और वहां हर रोज ब्राह्म मुहूर्त में गान करने लगे। ब्राह्म मुहूर्त की शांति और उसमें सुमधुर कंठ से गान ! लोगों की भीड़ लगने लगी। होते-होते समाचार राजमहल में भी पहुंच गया। रानी की उत्सुकता जागी। उसने नवीन गायक को दरबार में गाने का निमंत्रण भेज दिया। अंधा क्या चाहे दो आंखें। विष्णु दिगंबर का उद्देश्य था समाज में गायकों को ऊंचा स्थान दिलाना, यह एक अच्छा अवसर हाथ लगा।

विष्णु दिगंबर दरबार में जा पहुंचे। वहां रिवाज यह था कि पहले दरबारी गायक गाया करते थे और बाद में अतिथि गाता था। पर इस छोटी आयु के लड़के को देखकर दरबारी उस्तादों के तेवर चढ़ गये। उन्होंने कहा, 'पहले अतिथि का गान हो, पीछे हमारी बारी आयेगी।' विष्णु दिगंबर ने इसे चुनौती के रूप में लिया, अपना तानपुरा उठाया और सबसे ऊंचे स्वर में गाना शुरू किया। अब क्या था ! गायकों को छोड़ बाकी दरबार मंत्रमुग्ध हो गया। गान तीन घंटेतक चलता रहा और किसी को पता भी न लगा।

जब अतिथि ने तानपुरा रख दिया तो दरबारी गायकों की बारी आयी। हरएक एक-एक गीत गाकर हट गया ! किसी का रंग न जमने पाया। अंत में दरबार के मुख्य गायक फैज मुहम्मद खां ने तानपुरा उठाया। उन्होंने सोचा, चलो, इस ब्राह्मण छोकरे को उसीके बराबर ऊंचे स्वर में गाकर हराया जाये। उन्होंने तानपुरा खूब ऊंचे स्वर से छेड़ा पर गला साथ देने से इंकार कर गया। खां साहब की भद्द हो गयी। रानी ने विष्णु को बुलाया, ७०० नकद और सम्मान का दोशाला दिया और साथ ही इशारे से कह दिया कि जल्द ही बड़ौदा छोड़कर चले जाओ। ईर्ष्यावश यहां के गायक तुम्हारी हत्या तक कर सकते हैं।

विष्णु दिगंबर बड़ौदा से चलकर गुजरात, काठियावाड़ की अनेक रियासतों में चक्कर लगाते रहे। उन दिनों साधारण आदमी कभी अच्छा गाना न सुन पाते थे क्योंकि अच्छे गायक राजा महाराजों और रईसों के यहां ही गाया करते थे। इन्होंने जलसे करने शुरू किये जिनमें साधारण लोग भी आ सकते थे। आज हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि उन दिनों यह कितना बड़ा क्रांतिकारी काम था।

जलसे करते-कराते यह जूनागढ़ के पास पहुंचे। वहां गिरनार पर जाकर देवी के दर्शन करने की इच्छा हुई। और यह अपने दल सहित पहाड़ पर चढ़ने लगे। अचानक वर्षा शुरू हो गयी और इन्हें एक जगह शरण लेनी पड़ी। वर्षा समाप्त होने पर विष्णु दिगंबर ने अपने साथियों को आगे भेज दिया और अपने-आप वहीं रह गये।

चारों ओर का दृश्य बड़ा रमणीय था। उसे देखकर विष्णु दिगंबर ने गाना शुरू कर दिया। गाते गये, गाते गये। इन्हें लगा कि कोई छिपकर उनका गाना सुन रहा है, इन्हें बात अच्छी न लगी। गाना बंद कर दिया और इधर-उधर देखने लगे। कहीं ओट में एक संन्यासी खड़ा था।

इन्होंने उससे पूछा, "तुम गाना-वाना समझते भी हो या यूं ही खड़े हो ?"

उसने कहा, "थोड़ा-बहुत समझ लेता हूं।"

गायक ने कहा, "तो बताओ मेरा गाना कैसा लगा ?"

संन्यासी ने कहा, "अच्छा ही था पर उसमें कई त्रुटियां थीं।"

गर्वीले युवक को बड़ी ठेस लगी। वह बोला, "चलो, तुम गाकर दिखाओ।"

संन्यासी बोला, "तुम मेरे लिये तो नहीं गा रहे थे फिर मैं तुम्हारे लिये क्यों गाऊं ? यदि तुम्हारा सौभाग्य होगा तो तुम्हें मेरा गाना सुनने का अवसर मिल जायेगा।"

युवक तिलमिला उठा और वहां से चल दिया। काफी दूर निकल जाने के बाद उसके कान में बड़े मधुर संगीत की आवाज आयी। विष्णु दिगंबर आवाज के स्रोत की खोज में निकल पड़े। अंत में उन्होंने देखा, वही संन्यासी देवी की प्रतिमा के आगे आंखें मूंदे गा रहे हैं।

गर्व चूर-चूर हो गया। युवक ने संन्यासी के पैर पर सिर रख दिया और उससे माफी मांगी। फिर संन्यासी के पीछे पड़ गये कि मुझे अपना शिष्य बना लीजिये।

संन्यासी ने कहा, "तुम्हारे जैसा राजसी आदमी दैवी-कृपा नहीं प्राप्त कर सकता। तुम्हारे भाग्य में सांसारिक जीवन लिखा है। तुम उत्तर की ओर जाओ। वहीं तुम्हें पूरी सफलता और ख्याति मिलेगी, लेकिन तुम्हें उद्दण्डता छोड़कर नम्रता सीखनी होगी और अपनी कला ईश्वर के चरणों में अर्पित करनी होगी।" और संन्यासी वहां से चला गया।

विष्णु दिगंबर इधर-उधर चक्कर लगाते हुए, कहीं सीखते, कहीं सिखाते हुए लाहौर जा पहुंचे और वहां उन्होने गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। कुछ दिनों में यह विद्यालय लोकप्रिय हो गया और अच्छे-अच्छे घरों के लड़के-लड़कियां गान सीखने के लिये आने लगे। अबतक विष्णु दिगंबर पंडित जी कहलाने लगे थे।

पंडित जी इधर-उधर घूम-घामकर जलसे करके, गाने सुनाकर एक ओर भद्र समाज में गान की प्रतिष्ठा कर रहे थे दूसरी ओर अपने विद्यालय के लिये पैसा भी जमा करते जा रहे थे। इसी बीच महाराजा कश्मीर ने उनका गान सुना और उन्हें कश्मीर में बस जाने का निमंत्रण दिया परंतु पंडित जी अपना विद्यालय छोड़ने के लिये तैयार न थे। हां, उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि महाराज जब गाना सुनना चाहें तब उन्हें बुला लिया करें। इस पर महाराज ने विद्यालय को मासिक १५० का अनुदान देना शुरू कर दिया।

पंडित जी ने देखा कि साधारण गायक संगीत को साधारण जनों के लिये सुलभ बनाने में सफल नहीं हो सकते। उन्होंने संगीत मिशनरी तैयार करने की ठानी। इस दल के लोगों को विद्यालय में सब तरह के काम करने पड़ते थे और इधर-उधर बहुत चक्कर लगाने पड़ते थे। उनके साथ एक कड़ी शर्त यह थी कि उनका आचरण और उनका व्यक्तिगत जीवन ऐसा होना चाहिये जिसपर कोई उंगली न उठा सके।

चक्कर लगाते-लगाते विष्णु दिगंबर उदयपुर जा पहुंचे। महाराणा को संगीत का शौक न था। उन्होंने पंद्रह मिनट गाने के लिये कहा। विष्णु समय के बहुत पाबंद थे। पंद्रह मिनट होते ही गाना बंद कर दिया। महाराणा ने पूछा यह क्या, तो बोले "पंद्रह मिनट हो गये।" उन्होंने कहा, "और पंद्रह मिनट।" उन्होंने फिर से गाना शुरू किया, और फिर पंद्रह मिनट बाद चुप हो गये। महाराणा बिगड़ गये और बोले, "यह क्या बदतमीजी है ?" गायक बोला, "साहब, आपका ही तो हुकुम था।" महाराणा बोले, "अच्छा चलो अब की गाते जाओ समय की परवाह मत करो।" विष्णु दिगंबर गाते गये और महाराज मंत्रमुग्ध होकर सुनते गये। गान समाप्त होने पर उन्होंने विष्णु दिगंबर को बहुत आदर-सम्मान के साथ भेंट-पूजा देकर विदा किया।

उदयपुर में पंडित जी की सफलता देखकर कई लोगों से नहीं रहा गया और रास्ता चलते हुए पंडित जी

पर आक्रमण कर दिया, परंतु पंडित जी के कुछ भक्त भी आ गये और उन्होंने पंडित जी को बचा लिया।

पंडित जी को दिन-रात यही चिंता लगी रहती थी कि संगीत का उद्धार कैसे हो, उसकी प्रतिष्ठा कैसे हो। इसके लिये उन्होंने अनथक परिश्रम किया और अपने जीवनकाल में ही काफी सफलता पायी। लाहौर की सफलता देखकर पंडित जी ने बंबई में भी एक गंधर्व महाविद्यालय खोला। विद्यार्थी तो बहुत आ गये पर पैसा उस अनुपात में न आया। कलाकार ने इस बात की परवाह न की। पैसा उधार लेकर बड़े भवन खड़े कर दिये।

पहला महायुद्ध छिड़ जाने की वजह से इनके काम में अड़चनें बढ़ गयीं। लोगों ने सलाह दी, चीजों के दाम बढ़ गये हैं, मकान बेच दीजिये, पांच लाख मिल जायेंगे, सारा कर्ज चुकाने के बाद विद्यालय को एक नया किंतु छोटा रूप देने की संभवाना रहेगी। पंडित जी को यह बात जंची नहीं, इसमें संगीत का अपमान लगा और वह धन इकट्ठा करने के लिये निकल पड़े। १९२४ में जब पंडितजी जी तोड़ मेहनत कर रहे थे, उनके महाजनों ने उनकी इमारतों को नीलाम करके दो लाख सोलह हजार प्राप्त कर लिये।

पंडित जी पर और उनसे बढ़कर उनके काम पर यह बहुत बड़ा आघात था। धन के आगे विद्या परास्त हो गयी। इसके बाद उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। लेकिन इस समय तक उनके संगीत के मिशनरी सारे भारत में फैल चुके थे। ओंकार नाथ, पंडित खरे, विनायक पटवर्धन, नारायण राव व्यास आदि अनेक संगीत-महारथी इनके नाम की ध्वजा फहरा रहे थे। इनका बेटा जिया तो थोड़े ही दिन पर संगीत जगत् में अपना नाम कर गया। आज भी उसके रिकार्ड अच्छी संख्या में बिकते हैं।

सन् १९३१ में मिरज में पंडित जी ने अपनी इहलीला समाप्त कर डाली। अंतिम दिनों में वह अखंड रामधुन सुना करते थे। जबतक रामधुन चलती रहती वह शांत पड़े रहते, वह जरा रुकी नहीं कि वह बेचैन हो उठते थे।

पंडित जी के जीवन की दो-एक मजेदार घटनाएं भी लगे हाथों सुनते चलिये। एक बार किसी बड़े संगीत-सम्मेलन में जहां महाराज सयाजी राव गायकवाड़ भी मौजूद थे, किसी ने पंडित जी से पूछा, "आपने इतने दिनों में कितने तानसेन तैयार कर दिये ?"

पंडित जी ने झट उत्तर दिया, "तानसेन तैयार करना तो स्वयं तानसेन के बस का भी न था। पर मैंने ऐसा काम जरूर किया है जिसे तानसेन न कर पाये थे। मैंने देश के कोने-कोने में ऐसे हजारों लोग तैयार कर दिये हैं जो तानसेन के संगीत का रस ले सकते हैं।"

एक बार किसी राजा के यहां पंडित जी की मंडली गानेवाली थी। इन्हें समय से पहले तैयार होकर पहुंचने की आदत थी। (जिससे अन्य गायक बहुत नाराज हुआ करते थे) यह पहुंचे तो देखा, श्रोताओं के लिये बढ़िया कुर्सियां हैं और गायक-मंडली को जमीन पर बैठना होगा। इन्होंने कहा, "हम आपके प्रतिष्ठित लोगों के चरणों में नहीं बैठेंगे। या तो हमारे लिये एक मंच हो और अगर वह संभव न हो तो हमारे लिये भी कुर्सियां बिछा दी जायें।" बात राजातक पहुंची। इतने कम समय में मंच तैयार करना संभव न था। कुर्सियां रखी गयीं और इनके दल ने कुर्सी पर बैठकर ही गाया-बजाया। इस घटना का महत्त्व समझ सकने के लिये पहले बतायी गयी संगीत की और गायकों की अवहेलना की बात याद कर लीजिये।

इसी तरह एक और सभा में समाचार आया कि एक राजा साहब संगीत सुनने के लिये आनेवाले हैं। उनके नौकर आकर गद्दा तकिया लगा गये। राजा साहब आकर आधे लेटकर संगीत सुनने के लिये तैयार हो गये।

पंडित जी ने कहा, "संगीत का यह अपमान मेरे सामने नहीं हो सकता।"

राजा झट संभलकर बैठ गये। और तब संगीत आरंभ हुआ।

विष्णु दिगंबर का जीवन हमें यह सिखाता है कि आदमी के अंदर दृढ़ निश्चय हो तो वह सब प्रकार की कठिनाइयों को पार करके लक्ष्यतक पहुंच सकता है।

प्रयास

प्रयास स्वाभाविक रूप से क्यों नहीं आता?

क्योंकि जैसा श्रीअरविंद ने कहा है, साधारण मनुष्य की भौतिक प्रकृति तामसिक-सी है। स्वभावतः वह प्रयास नहीं करती। लेकिन प्राण प्रयास करता है। लेकिन वह, साधारणतः, स्वयं अपने संतोष के लिये प्रयास करता है। लेकिन वह प्रयास करने के लिये पूरी तरह से सक्षम है, क्योंकि यह उसके स्वभाव में है। वास्तव में, मैं यह नहीं कह सकती कि तुम कोई भी प्रयास नहीं करते, तुम बहुत-सी चीजों के लिये बहुतेरा प्रयास करते हो बशर्ते कि तुम्हारी मरजी हो, या किसी-न-किसी कारण से तुम्हें लगे कि यह जरूरी है। तुम्हारा मतलब योग के लिये सतत प्रयास से है। ऐसे लोग भी हैं जो यहां योग करने आये हैं या कम-से-कम यह सोचकर आये हैं कि वे योग के लिये आये हैं, और फिर भी, बहुत प्रयास नहीं करते, चीजें जैसे आयें, जिस तरह आयें उसी तरह स्वीकार कर लेते हैं। मुझे नहीं लगता कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ देने से भौतिक प्रकृति सहज रूप से किसी प्रयास की ओर बढ़ती है। उसे कुछ क्रिया-कलाप की जरूरत तो होती है, लेकिन बहुत कम। यहां बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा का सिद्धांत स्वाधीनता का सिद्धांत है, संक्षेप में कहें तो, समस्त जीवन गतिविधि की यथासंभव अधिक-से-अधिक स्वाधीनता पर आधारित है; यहां नियम, नियंत्रण, प्रतिबंध आदि घटाकर कम-से-कम कर दिये गये हैं। अगर तुम इसकी तुलना उस तरीके से करो जिससे माता-पिता साधारणतः अपने बच्चों को प्रशिक्षित करते हैं, वे हमेशा कहते रहते हैं : "यह मत करो", "तुम यह नहीं कर सकते", "यह करो", "जाओ, वह करो", इस तरह के हुकुम और नियम होते हैं, तो इन दोनों में बहुत फर्क है।

स्कूलों और कॉलेजों में हमारे यहां की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर नियम होते हैं। चूंकि यहां तुमपर प्रगति करने की निरपेक्ष शर्त नहीं लादी जाती, तो जब तुम्हारी मरजी होती है, तब तुम प्रगति करते हो, जब नहीं होती तो नहीं करते, और तुम चीजों को अधिक-से-अधिक आसानी से लेते हो। कुछ लोग हैं—मैं यह बात निरपेक्ष भाव से नहीं कहती—कुछ लोग हैं जो कोशिश करते हैं, लेकिन वे सहज रूप से कोशिश करते हैं। निश्चय ही, आध्यात्मिक दृष्टि से यह कहीं अधिक मूल्यवान् है। तुम जो प्रगति इसलिये करते हो क्योंकि तुम्हें अपने अंदर उसके लिये आवश्यकता मालूम होती है, क्योंकि यह एक प्रेरणा है जो तुम्हें सहज रूप से आगे बढ़ाती है, वह तुम्हारे ऊपर नियम के रूप में लादी नहीं गयी है—यह प्रगति, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, कहीं अधिक श्रेष्ठ है। तुम्हारे अंदर जो कुछ चीजों को अच्छी तरह करना चाहता है, सहज रूप से, सचाई के साथ करना चाहता है; वह कोई ऐसी चीज है जो तुम्हारे अंदर से आती है। वह इसलिये नहीं है कि तुम्हें अच्छा करने पर पुरस्कार और बुरा करने पर दंड देने का वचन दिया गया है। हमारी पद्धति इनपर आधारित नहीं है।

हो सकता है कि किसी समय कोई ऐसी चीज आ जाये जो तुम्हें यह संकेत दे कि तुम्हारे प्रयास की सराहना की गयी है, लेकिन प्रयास इसे दृष्टि में रखकर नहीं किया गया था; यानी, पहले से ऐसे वचन नहीं दिये जाते और न उन्हें संतुलित करने के लिये कोई दंड का विधान रखा जाता है। यहां का यह रिवाज नहीं है। साधारणतः, चीजें ऐसी हैं, इस तरह से व्यवस्थित होती हैं कि काम अच्छी तरह करने का संतोष ही सबसे अच्छा इनाम होता है और बुरी तरह करने पर आदमी अपने-आपको दंड दे लेता है, इस तरह कि वह अपने-आपको अभागा, दुःखी और बेचैन अनुभव करता है, और सचमुच उसके लिये यह सबसे ज्यादा ठोस दंड है। और इस तरह आंतरिक आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इन गतिविधियों का उनकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है जो बाहरी नियम का परिणाम हों।

—श्रीमातृवाणी खंड ६ से

कृपादृष्टिः

भारतवर्षे वयं बहुशः तादृशीः कथाः प्राप्नुमः यासु देवदेवीनां संलापरूपेण गभीराणि सत्यानि उद्घाट्यन्ते। तादृशीम् एव अविस्मरणीयां कथामेकाम् अहं सद्यः एव निजछात्रान् अश्रावयम्।

अथ कदाचित् देवी पार्वती महेश्वरं अपृच्छत्—नाथ ! किं खलु प्राणिनां दैवम् अपरिहार्यम् ? किम् एषा उक्तिः पूर्णतया सत्या—

"यद् धात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।"

सुमन्दं विहस्य शिवः अभणत्—देवि, स्वयं परीक्ष्यताम्, अनुभवः खलु मूल्यवान्।

अथ देवी पार्वती धराम् अवतीर्णा। पृथिव्यां नानाप्राणिषु सा एकां लघुपिपीलिकां परीक्षणार्थम् अवरयत्। ताम् एकस्मिन् लघुसम्पुटे स्थापयित्वा तत् च दृढं रुद्ध्वा अचिन्तयत्—पश्येयं सम्पुटे अस्याः भाग्योदयं कः कुर्यात् !

स्वर्गं प्राप्य देवी सम्पुटं सुरक्षितस्थाने स्थापयित्वा पिपीलिकायाः सम्बन्धे सर्वथैव व्यस्मरत्। अथ कदाचित् शिवः तामपृच्छत्—देवि, त्वया बहुपूर्वं कथितमासीत् यत् पृथिव्याः भाग्यपरीक्षणार्थम् एका पिपीलिका आनीता। किं खलु अघटत, अहमपि श्रोतुमुत्सुकः। शिवेन स्मारिता सा "अहो वराकी, सा तु भोजनेन विना तस्मिन् सम्पुटे दिवङ्गता स्यात्, मया जीवहत्या कृता भगवन्, सर्वथैव व्यस्मरं ताम्" इति अतिदुःखेन कथयन्ती सत्वरं सम्पुटमानयत्। तद् उद्घाट्य चकितचकिता सापश्यत्—न केवलं पिपीलिका सुखेन जीवति अपि तु तण्डुलकणोऽपि तस्मिन् सम्पुटे वर्तते। आश्चर्यमूर्त्तिरिव देवी पार्वती शिवम् अपृच्छत्—देव, आश्चर्याणाम् अपि आश्चर्यं पश्यामि। अत्यन्तसावधानतया मया रुद्धा सम्पुटे एकाकिनी लघुपिपीलिका, विशेषेण च निरैक्षे यत् न स्यात् भोजनस्य कणोऽपि तत्र। किन्तु किं पश्यामि सम्प्रति !! तण्डुलकणम् ? कथमेतत् शक्यम्, हे देव ? प्रतीयते एषा भवतः एव लीला, भवान् एव चातुर्येण अस्याः रक्षामकरोत्।

हसन् शिवः अवदत्—देवि ! न मम एषा लीला चातुर्यं वा। अहं तु सम्पुटं प्रथमं वारं पश्यामि, भवत्याः व्यापारेषु कुतः हस्तक्षेपं कुर्यामहम् ?

किन्तु देवी पार्वती कथमपि विश्वसितुं न अशक्नोत् यत् पिपीलिकायाः जीवनदाने शिवस्य कृपाहस्तः नासीत्। मुहुर्मुहुः सा ईश्वरं प्रहेलिकासमाधानाय प्रार्थयत्। शिवस्य च प्रत्येकं वारं समानमेव उत्तरम् आसीत् यत्, मम कृपादृष्टिः नापतत् अस्याम्...

निजछात्रान् अहम् एतावदेव श्रावयित्वा क्षणं विरता, बालकान् च अपृच्छम्—यूयं किं चिन्तयथ ?

प्रत्येकबालकः स्वमतं प्रकाशयितुम् उत्सुकः आसीत्। एकेन उक्तम्—कैलासपर्वते देवानां प्रबला शक्तिः वर्तते, तया एव सः निरपराधी जीवः रक्षितः।

अन्येन कथितम्—पिपीलिकायाः अन्तस्थः ईश्वरः एव तां रक्षति यतो हि ...

तृतीयेन तस्य वचनमाक्षिप्य मध्ये एव उदितम्—आम्, यतो हि सा पिपीलिका अन्तःस्थम् ईश्वरं प्राणरक्षणार्थं निश्छलभावेन आह्वयत्, सः एव अदृश्यशक्त्या तण्डुलकणमपि सम्पुटे प्रावेशयत्।

एकस्याः बालिकायाः मतमासीत्—शिवः तु आशुतोषः, पिपीलिकायाः उत्कटप्रार्थना तस्य एव कर्णौ गता स्यात्, सः एव सत्यप्रार्थनाम् अशृणोत्...

झटिति अन्या बालिका अपृच्छत्—तदा तु शिवः मिथ्यावादी, सः पुनः पुनः देवीं पार्वतीम् अकथयत् यत् मम कृपादृष्टिः नैव पतिता पिपीलिकायाम् इति।

प्रथमा बालिका अभणत्—नहि, नहि सः सत्यवादी किन्तु दिवारात्रि बहूनां प्रार्थनाः तस्य सकाशे गच्छन्ति, सः नैव अजानात् यत् तासु पिपीलिकायाः प्रार्थना अपि आसीत्—निष्कपटहृदयानां प्रार्थनासु सा अपि फलीभूता।

लघुबालकानाम् उत्तराणि श्रुत्वा हृदयं मे पुलकितम्।

सस्वरं बालकैः कथितम्—आर्ये, कथय वस्तुतः किम् एतदेव अभवत्?

आम्, आम् बालकाः, युष्माकं सर्वेषाम् उत्तराणि सत्यानि। शिवः भिन्नरूपेण एतादृशमेव उत्तरं दत्त्वा देव्याः प्रहेलिकासमाधानमकरोत् इति अकथयमहम्।

—वद, वद, सत्वरं वद। किं कथितं तेन?—सर्वैः चीत्कृतम्।

अहं कथायाः अन्तम् अश्रावयम्—

पार्वतीदेव्याः निवेदनेन अन्ते सर्वज्ञः प्रभुः अभणत्—देवि! यां पिपीलिकां स्वयं जगदम्बा वरदहस्तेन उद्धृत्य धन्यामकरोत् किं तां कालोऽपि स्प्रष्टुम् उत्सहेत! देवि अन्नपूर्णे, पिपीलिकायाः रोधनसमये तवैव तिलकात् तण्डुलकणः अपतत् सम्पुटे...

जगदम्बे! स्वस्यैव कृपादृष्टिं पातयित्वा माम् उपालभसे अवदत् शिवः सहासम्।

—वन्दना

[कुछ पाठकों की इच्छा है कि संस्कृत कहानी का संस्कृत न जाननेवालों के लिये उल्था दिया जाये; अतः इस अंक से हम संक्षेप में ऐसा करने का प्रयास कर रहे हैं।—सं०]

एक बार पार्वतीजी ने शिवजी से उत्सुकतावश पूछा कि भगवन्, प्राणियों का भाग्य अटल है क्या? शिवजी ने मन्द-मन्द मुस्कुराकर कहा, "देवि, स्वयं परीक्षा करके देख लो, अनुभव से बड़ी कोई चीज नहीं।"

देवी पार्वती पृथ्वी पर उतरीं। अपने परीक्षण के लिये उन्होंने एक चींटी को चुना। उसे बड़ी सावधानी से एक छोटे-से डिब्बे में बन्द किया, विशेष रूप से इस बात का ख्याल रखा कि किसी भी तरह उसे खाना न मिल पाये और मन ही मन सोचा—"देखें, इसका भाग्य कौन पलटेगा इस बन्द डिब्बे में!"

स्वर्ग पहुंचकर उन्होंने शिवजी को सारी बात सुनायी और पता नहीं कैसे वे चींटी के बारे में बिल्कुल भूल ही गयीं। एक दिन अचानक शिवजी द्वारा याद दिलाने पर उन्हें चींटी की सुध आयी, जीवहत्या के भय ने उन्हें बेचैन कर दिया, लेकिन डिब्बा खोलकर देखती क्या हैं कि चींटी न केवल जिन्दा है बल्कि अंदर चावल का एक अधकुतरा दाना भी पड़ा है। आश्चर्यचकित पार्वतीजी ने शिवजी से चावल के दाने का रहस्य पूछा और उनसे बार-बार कहा—"भगवन्, हो न हो, चींटी पर आपकी कृपादृष्टि पड़ी है।" शिवजी ने हर बार नकारात्मक उत्तर दिया।

अंत में प्रभु ने पार्वतीजी की समस्या का समाधान करते हुए कहा—"हे देवि, जिस प्राणी को स्वयं जगदम्बा का स्पर्श प्राप्त हो जाये उसे फिर स्वयं कालदेव भी छूने का साहस कर सकता है क्या? अन्नपूर्णे, चींटी को डिब्बे में रखते समय स्वयं तुम्हारे ही मस्तक के तिलक से चावल का एक दाना अंदर गिर गया था।

"देवि, स्वयं अपनी कृपादृष्टि डालकर मुझे उपालम्भ दे रही हो!" शिवजी ने मुस्कुराते हुए कहा।

समता

पूर्ण समता के प्रतिष्ठित होने में समय लगता है और वह तीन बातों पर आश्रित होती है—आंतरिक समर्पण द्वारा भगवान् के प्रति अंतरात्मा का आत्म-निवेदन, ऊपर से आध्यात्मिक स्थिरता और शांति का अवतरण और सभी अहंकारमय, राजसिक समता का विरोध करनेवाली भावनाओं का सुरक्षित, दीर्घकालीन अध्यवसायपूर्ण त्याग।

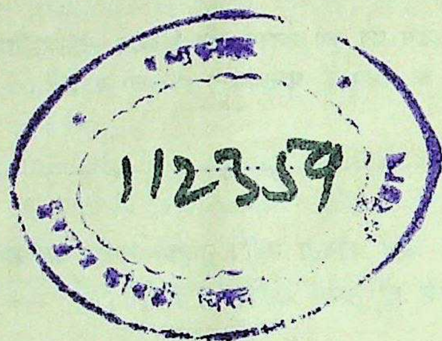
करने लायक पहली चीज है हृदय का पूर्ण उत्सर्ग और निवेदन—आध्यात्मिक स्थिरता और समर्पण की वृद्धि अहंकार, रजोगुण आदि के त्याग के प्रभावकारी होने की शर्त हैं।

अपने-आपको माफ कर देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अन्दर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।

—श्रीमां

"Work done in the right spirit is meditation."

— THE MOTHER



अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय समर्पण है।

—श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER